आयोजन में न्यूनाधिकरूपेण (आयोजन के स्वरूपानुपात से) चारों ही भाव अवश्यमेव समन्वित रहेंगे। और यही भारतीय पारिभाषिक चतुष्पर्वा मानव के चतुष्पर्वा सांस्कृतिक-आयोजन की मूलस्वरूपव्याख्या होगी, और यही वह निकषा (कसौटी) होगी, जिसके माध्यम से ही सांस्कृतिक-आयोजनों की प्रामाणिकता-उपादेयता का मूल्याङ्कन सम्भव बन सकेगा।

२५-भारतीय मानव के व्यक्ति-परिवार-समाज-राष्ट्र-अनुबन्ध से चार विभिन्न संस्थान-

"आयोजन के स्वरूपानुपात से न्यूनाधिक रूप से प्रत्येक आयोजन में मानवीय चारों पर्वों के गुण-धर्म्म समन्वित रहेंगे" इस वाक्यसन्दर्भ का अभी स्पष्टरूप से समन्वय न हो सका। क्या तात्पर्य्य है-'न्यूनाधिक' का ?, इसी प्रासङ्गिकी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए पुनः इस सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर देना आवश्यक हो जाता है । अवधानपूर्वक इस निवेदन को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए इसलिए कि, इसी प्रतिपाद्य वर्गीकरण के माध्यम से सांस्कृतिक आयोजनों के श्रेणि-विभागों का यथावत् समन्वय सम्भव बन सकेगा।

प्राकृतिक-तत्त्व, शक्ति-गुण-धर्म्मों-से समद्भूत व्यक्तिमानव के तत्त्व-गुण-धर्म्म-हीं सर्वप्रथम उसके परिवाररूप छोटे समाज में अभिव्यक्त होते हैं । पारिवारिक-स्वल्पसमाज (छोटा समाज) ही मानवव्यक्ति का उत्तरभावी दूसरा व्यक्ति है। इस व्यक्ति के तत्त्व-गुण-धर्म्मादि ही इसके बृहत्रूप 'समाज' नामक महान् परिवार के स्वरूप में अभिव्यक्त होते हैं । ऐसे समाजों का अभिव्यक्त स्वरूप ही अन्ततोगत्वा 'राष्ट्र' रूप में परिणत होता है । यों प्राथमिक **व्यक्तिमानव** ही **परिवारमानव**, परिवारमानव ही **समाजमानव**, एवं समाजमानव ही अन्ततोगत्वा **राष्ट्रमानव**, इन चार वर्गभावों में परिणत हो रहा है। बात थोड़ी अवधानपूर्वक समझने समझाने जैसी है।

२६-व्यक्तिमानव के व्यक्तित्त्व की मूलप्रतिष्ठा—

'व्यक्ति' का अर्थ है-'अभिव्यक्तित्त्व', एवं अभिव्यक्तित्त्व का सम्बन्ध है एकमात्र आत्मा (भूतात) से। जिस मानव का स्वरूप आत्माभिव्यक्तित्त्व से व्यक्त रहता है, वही मानव-'व्यक्ति' कहलाया है, एवं ऐसे व्यक्तिमानव का व्यक्तित्त्व ही समाज में प्रतिष्ठित माना गया है । आत्माभिव्यक्तित्त्व से पराङ्मुख मानव केवल बुद्धिः-मनः-शरीरजीवी बना रहता हुआ आत्माभिव्यक्तित्त्वशून्य कृमि-कीट-पक्षी-पशु-प्राणिवर्ग में हीं अन्तर्भूत मान लिया गया है । अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, चारों पर्वों में से मानव का आत्मपर्व ही 'मानवव्यक्ति' के व्यक्तित्त्व की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव व्यक्तिमानव को हम **'आत्मप्रधानवर्ग'** ही कहेंगे।

२७-पारिवारिक मानव, और-'परिवार' शब्दार्थ का समन्वय—

इसी आत्मपर्व की साक्षी में बुद्धि के तत्त्वावधान में मानव दाम्पत्यजीवनात्मक-मनःशरीरपर्वों की मन्थनप्रक्रिया से जो नवीन प्रतिनिधि अभिव्यक्त करता है, वही इसका 'परिवार' माना गया है, जो इसकी आत्मसीमा में, दूसरे शब्दों में आत्माभिव्यक्तित्त्वरूपा व्यक्तिसीमा में हीं अन्तर्भूत है। इसी आधार पर श्रुति

ने-'आत्मा वै जायते पुत्रः' यह सिद्धान्त स्थापित किया है। क्या अर्थ है-'परिवार' रूप * 'परिवार' शब्द का ?। उत्तर स्पष्ट है। परिवार के द्वारा मानव परितः-चारों ओर से उसीप्रकार से अपने गृहस्थधर्म्म का, आश्रमजीवनपद्धति का संवरणात्मक संरक्षण करने में समर्थ बन जाता है, जैसेकि खड्गकोश (म्यान) से खड्ग सर्वात्मना सुरक्षित रहता है। अतएव खड्कोश को भी-'परिवार' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। निश्चयेन गृहस्थानुबन्धिनी पारिवारिक-जीवनपद्धति ही वह सर्वोत्कृष्ट जीवनपद्धति है, जिसमें मर्य्यादितरूप से, पूर्ण उत्तरदादित्त्वरूप से सुप्रतिष्ठित-व्यवस्थित रहते हुए परिवार के सभी सदस्य स्व-स्व-स्वरूप-संरक्षण-वर्द्धन की सुविधाएँ भी प्राप्त करते रहते हैं, एवं उन बाह्य-अमर्य्यादित अनाचारों से भी पारिवारिक व्यक्तियों का संत्राण होता रहता है, जिससे वे व्यक्तिमानव सर्वथा वञ्चित ही हो जाते हैं, जो परिवारव्यवस्था की उपेक्षा कर देते हैं। अथवा तो पारिवारिक उत्तरदायित्त्व का वहन ही नहीं करते। ऐसे उन्मर्य्यादित व्यक्ति अकर्म्मण्य बनकर नष्ट हो जाते हैं, अथवा तो उन्मर्य्याद बनकर-अमर्य्यादित कर्म्मों में आसक्त होकर नष्ट हो जाते हैं। अतएव भारतीय समाजशास्त्रियोंनें-गृहस्थाश्रमानुगता-परिवारव्यवस्था (कौटुम्बिक-व्यवस्था) को ही मानवजीवन के अभ्युदय-निःश्रेयस की मूलप्रतिष्ठा माना है, जो दुर्भाग्यवश आजके आत्मनिष्ठाशून्य प्रजासमाजवादात्मक धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र के द्वारा निर्म्मित संस्कृतिविरुद्ध विधानों से (कानूनों से) उच्छिन्न होती जा रही है। इति नु महद्दुःखास्पदम्।

२८-सर्वसमन्वयात्मक पारिभाषिक-'परिवारमानव'—

'परितः-वार्य्यते-अनेन, परितः-वारणं-येन-परितः-क्रियते वा अनेन' इत्यादि निर्वचनों से अनुप्राणित 'परीवारात्मक' परिवार के 'परितः' उपसर्ग का अर्थ है-'चारों ओर से'। क्या अर्थ है-इस-'चारों ओर' का ?। उत्तर स्पष्ट है। मानव के आत्मा-मन-बुद्धि-शरीर-ये चार वैय्यक्तिक पर्व ही तो मानव के 'चारों ओर' (दिक्) हैं। निश्चयेन महारम्भ-चतुष्पर्वात्मक-महाविश्व में संघर्ष करता हुआ एकाकी मानव अपने इन चारों पर्वों को स्वयं एकाकीरूप से सुव्यवस्थित-मर्य्यादित-सुविकसित नहीं कर सकता, नहीं रख सकता। यही तो 'परिवार' का महान् बीज है, जिसका-'एकाकी न-रमते-तद्द्वितीय-मैच्छत्-पतिश्च, पत्नीच' इत्यादि श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है। इसी कामबीज ने मानव को परिवाररूपा-प्राथमिक सामाजिकता प्रदान की है, जिसके सुव्यवस्थित-मर्य्यादित क्षेत्र में मानव के चारों पर्व चारों ओर से सुरक्षित, एवं विकसित हैं। मानव व्यक्ति के आत्मादि चारों वैय्यक्तिक पर्व ही परिवार में कुलवृद्ध-युवासमर्थ पुत्र-नारीवृन्द-बालवृन्द-रूप से अभिव्यक्त हुए हैं, जिसकी-'मानवस्वरूपमीमांसा' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में विशद व्याख्या कर दी गई है। कुलवृद्ध मानव स्वयं है, यही इस के अपने प्रथम भूतात्मपर्व का प्रातिस्विक स्वरूप है। समर्थ युवापुत्र ही कुलवृद्ध भूतात्मनिष्ठ व्यक्तिमानव के बुद्धिपर्व का प्रतीक बनता है। नारीवृन्द ही इस के मनः-पर्व का, एवं बालवृन्द ही इस के शरीरपर्व का विकसित-

---

* वरणार्थक- वृञ्' धातु से घञ्-प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न-'परि' उपसर्ग समन्वित 'परिवार' के ह्रस्व को दीर्घ हो जाता है, 'परीवारः' बन जाता है, जो लोक में-व्यवहारसौकर्य्यानुबन्ध से आज-'परिवार' रूप से प्रचलित है।

पारिवारिक रूप है । यों चतुष्पर्वा व्यक्तिमानव ही तथोक्त परिवारओजात्मिका कामना से चतुर्विध-पारिवारिक-संस्थानों में विभक्त हो कर सुरक्षित बन जाता है । एवं यही मानवपरिवार का संक्षिप्त स्वरूप-परिचय है ।

व्यक्तिमानवश्चतुष्पर्वा १	परिवारमानवश्चतुष्पर्वा २	
१-मानवस्य-भूतात्मा—	तत्प्रतिनिधिः-स्वयं मानव एव कुलवृद्धः	—सो ऽयं-समन्वयात्मकः-पारिभाषिकः 'परिवारमानवः'
२-मानवस्य-बुद्धिः——	तत्प्रतिनिधिः-मानवस्य समर्थो युवापुत्रः	
३-मानवस्य-मनः——	तत्प्रतिनिधि -परिवारस्य नारीवर्गः	
४-मानवस्य-शरीरम्----	तत्प्रतिनिधिः-परिवारस्य-बालवर्गः	

२९-ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-रूप-समाजबीज का प्रादुर्भाव—

विश्व बहुत बड़ा है, जब कि गृहस्थ विश्व की महत्ता के समतुलन में अणोरणीयान् ही बना हुआ है । अवश्य ही जो प्राणी प्रकृतिमात्र के ही अवयव हैं, अतएव जिन में आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व का अभाव है, अतएव जो केन्द्रात्मक अवयवी मनु से असंसृष्ट हैं, वे प्राणी अपने प्राकृतिक-अवयवभूत-यथाजात-प्राकृत स्वरूप से ही सर्वात्मना तुष्ट बने रहते हैं । अतएव इन का व्यक्तित्वशून्य (आत्माभिव्यक्तित्वशून्य) व्यक्तित्व इन की वैय्यक्तिक सीमा में हीं परिसमाप्त हो जाता है । अतएव न तो इन में चतुष्पर्वात्मक-वैय्यक्तिक विकास ही है, न चतुष्पर्वात्मिका परिवारव्यवस्था ही । मानव मानव है, मनु का औरस अपत्य-वह आत्मभाव है, जिस के गर्भ में सम्पूर्ण प्रकृतिमण्डल समाविष्ट है । मानव बुद्धि-मनः-शरीर-भावों से जहाँ प्रकृति है, वहाँ अपने आत्मभाव से पुरुष है, मानव है, प्रकृति का सञ्चालक है । अतएव केवल गृहस्थभाव से भी इस की आत्ममहिमा सर्वात्मना सुशान्त नहीं होती । अतएव भूयः-अकामयत-भूयान्स्याम्-इसप्रकार की भूमारूपा-बहुत्त्व कामना-'एकोऽहं-बहु स्याम्' रूपेण निरन्तर प्रक्रान्त ही बनी रहती है, और यही भूमाकामना बनती है-समाजरूप महान् परिवार का बीज, जिसका क्रमशः ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-इन चार ही भावों में विकास हुआ है, जिसका स्वरूप निबन्ध के प्रथम प्रकरण में-'ब्रह्म वा इदमग्र--एक एवासीत् । स नैव व्यभवत् । तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत--क्षत्रम्' इत्यादि श्रौत-सन्दर्भ के द्वारा बतलाया जा चुका है ।

३०-सर्वसमन्वयात्मक पारिभाषिक-'समाजमानव'—

मानव का भूतात्मा ही ब्रह्म है, बुद्धि क्षत्र है, मन ही विट् है, शरीर ही पौष्णरूप शूद्र है । इसी रूप से मानव के, किंवा व्यक्तिमानव के भूतात्मभावात्मक ब्रह्मभाव से ब्रह्मभावप्रधान 'ब्राह्मणवर्ण' का आविर्भाव हुआ । मानव के बुद्ध्यात्मक क्षत्रभाव से क्षत्रभावप्रधान 'क्षत्रियवर्ण' का आविर्भाव हुआ ।

मानव के मनोमय विड्भाव से विड्भावप्रधान 'वैश्यवर्ण' का व्यक्तीभाव हुआ। एवं मानव के शरीरात्मक शूद्रभाव से ही शूद्रभावप्रधान-'शूद्रवर्ण' का प्रादुर्भाव हुआ। यह चातुर्वर्ण्य ही भारतीय समाज की मूलप्रतिष्ठा बना, जिसका सुविशद वैज्ञानिक निरूपण अन्य निबन्धों में हीं द्रष्टव्य है। ब्राह्मणमानव समाज का भूतात्मा है, क्षत्रिय मानव समाज की बुद्धि है, वैश्यमानव समाज का मन है, शूद्रमानव समाज का शरीर है। चारों वर्णों का स्व-स्व-वर्णधर्म्मों में उत्तरदायित्वपूर्वक प्रतिष्ठित रहते हुए रागद्वेषशून्यतापूर्वक-चारों का 'सम्' रूप से, समन्वय रूप से, सममञ्जनरूप से एक दूसरे के पूरक बने रहना हीं भारतीय-समाजव्यवस्था का सम्पूर्ण इतिवृत्तरहस्य है। परिवारमानव-व्यवस्थारूप स्वल्पसमाज में जो स्थान कुलवृद्ध का है, इस बृहत्समाज में वही स्थान 'ब्राह्मण' का है। जो स्थान वहाँ समर्थ युवापुत्र का है, वही स्थान यहाँ 'क्षत्रिय' का है। जो स्थान वहाँ नारीवर्ग का है, वही स्थान यहाँ 'वैश्य' का है। एवं जो स्थान वहाँ बालवृन्द का है, वही स्थान यहाँ शूद्रवर्ग का है। दूसरे शब्दों में मानवीय भूतात्मा ही कुलवृद्धात्मक पारिवारिक द्वार से समाज का ज्ञानशक्तिप्रधान ब्राह्मणवर्ग बना है। मानवीया बुद्धि ही समर्थ युवापुत्रात्मक पारिवारिक द्वार से समाज का पौरुषशक्तिरूप-क्रियाशक्तिप्रधान-क्षत्रियवर्ग बना है। मानवीय मन हीं नारीवर्गात्मक पारिवारिक द्वार से समाज का अर्थमूलक कामप्रधान वैश्यवर्ग बना है। एवं मानवीय शरीर ही बालवर्गात्मक-पारिवारिक द्वार से समाज का काममूलक अर्थप्रधान शूद्रवर्ग बना है। और यों व्यक्तिमानव ही परिवारपर्वों के द्वारा अपने आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीररूप चारों ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-धर्म्मात्मक चार पर्वों से क्रमशः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-इन चार सामाजिक वर्गों में परिणत हो गया है। एवं यही व्यक्तिमानव का तीसरा प्रक्रम है। यह स्मरण रहे कि, चातुर्वर्ण्य-जड़चेतनात्मक पदार्थमात्र में विद्यमान है, जिस इस प्राकृतिक रहस्य को न जानने के कारण हीं आज का भावुक मानव प्रकृतिसिद्ध-अतएव सनातन इस वर्गभेदचतुष्टयी के उच्छेद का वृथा प्रयास करता हुआ प्रकान्तर से, किन्तु अव्यवस्थितरूप से तत्स्थान में नवीन-नवीन वर्गभावों का ही सर्जन करता जारहा है, जैसाकि अन्य सामयिक निबन्ध के-**'क्या हम मानव हैं'** इस प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

१-भूतात्मा—	तदनुगतः-कुलवृद्धः—	तद्द्वारेण-ब्राह्मणवर्णाविर्भावः (ब्रह्म)—ज्ञानम्
२-बुद्धिः—	तदनुगतः-युवापुत्रः—	तद्द्वारेण-क्षत्रियवर्णाविर्भावः (क्षत्रम्)-क्रिया
३-मनः—	तदनुगतः-नारीवर्गः—	तद्द्वारेण-वैश्यवर्णाविर्भावः (विट्)-अर्थमयः कामः
४-शरीरम्—	तदनुगतः-बालवर्गः—	तद्द्वारेण-शूद्रवर्णाविर्भावः (पौष्णम्)-काममयोऽर्थः
व्यक्तिमानवः १	परिवारमानवः २	समाजमानवः ३

३१–राष्ट्रीय मानव की राष्ट्रीयता का मूलबीज—

क्या बृहत्समाजरूप–भूमाभाव पर आत्मनिष्ठ मानव का भूमाभाव उपशान्त हो गया ?, नेति होवाच। अभी तो वह महतोमहीयान् राष्ट्र जागरूक है, जिसकी भूमा मानवसमाज को प्रतिक्षण अपनी ओर आकर्षित करती रहती है। यही भूमाकर्षण वह कामबीज है, जो सामाजिक मानव को आगे चल कर 'राष्ट्रीय–मानव' के राजसिंहासन पर आरूढ कर देता है, जिस सिंहासन पर समारूढ होते ही **व्यक्तिमानव–परिवारमानव–समाजमानव**, तीनों ही वर्ग आस्थाश्रद्धापूर्वक इस महान् राष्ट्रदेवता के चरणों में अपने आपको समर्पित कर देते हैं–स्वस्वोत्तरदायित्व संरक्षण पूर्वक। यही यहाँ का निष्कण्टक–अजिह्म (अकुटिल–ऋजु) राजपथ माना गया है, जिस पर समारूढ मानव का व्यक्तित्त्व, परिवार, समाज, सभी प्रकृतिसिद्ध तन्त्र, स्व–स्व–महान् उत्तरदायित्वों पर मर्य्यादा पूर्वक सुव्यवस्थित रहते हुए राष्ट्र–पुष्टि–तुष्टि–तृप्ति–शान्ति के उपोद्बलक बने रहते हैं।

३२–'राजते' का समन्वय और राष्ट्रशब्द का स्वरूप–दिग्दर्शन—

दीप्त्यर्थ **'राज्'** धातु (राज्–दीप्तौ) से सम्पन्न 'राष्ट्र' का अर्थ होता **है–'राजते'**। जिसप्रकार सौर–तेज सर्वत्र रोदसीब्रह्माण्ड में अच्छिद्रपवित्ररूप से (निरपवादरूप से) आसमन्तात्–प्रदीप्त रहता है, एवमेव जिस राष्ट्र के व्यक्ति, व्यक्तिसमष्टिरूप परिवार, परिवारसमष्टि रूप समाज अपने अपने उत्तरदायित्वों का सत्य–धर्म्म–निष्ठापूर्वक निर्वाह करते हुए पुष्ट–तुष्ट–तृप्त–शान्त बने रहते **है**, वह राष्ट्र ही 'राजते' पद का अधिकारी बना करता है, जिसका सञ्चालन समाज के चतुर्द्धा विभक्त–पूर्वोक्त–सामाजिक चारों वर्गों के समसमन्वय से ही होता रहता है। दूसरे शब्दों में जिस राष्ट्र के ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र चारों सामाजिक वर्ग स्व–स्व–तन्त्रों में निष्ठापूर्वक प्रतिष्ठित रहते हुए, एक दूसरे के पूरक बनते हुए समष्टिरूप से अपने देश को अपनी निष्ठाएँ अर्पित करते रहते हैं, उस देश की शारीरिक–पुष्टि, मानसिक-तुष्टि, बौद्धिक-तृप्ति, एवं आत्मिक-शान्ति, सर्वात्मना समन्वित रहती हुई देश को सभी विभूति–समृद्धि–ऐश्वर्य्यों से आलोकित करतीं रहतीं हैं। और यही सममञ्जनलक्षण–सामाजिक–वर्गों के निष्ठार्पण से अनुप्राणित देश का राजत्त्व है। ऐसा देश ही–'राजते' लक्षण–'राष्ट्र' कहलाया है। ऐसे राजते लक्षण राष्ट्र के स्वरूपसंरक्षक सामाजिक वर्ग ही–'राष्ट्रीय' मानव कहलाए है, जो कि सामाजिक मानवों का ही भूमाभावात्मक–महीयान् स्वरूप है। समाज महान् था, राष्ट्र महीयान् है, महामहिम है।

३३–सत्तातन्त्रप्रवर्त्तक–'नीतितन्त्र', एवं तद्व्यवस्थापक निष्ठामूर्त्ति ब्राह्मण—

क्या तात्पर्य्य हुआ–**'निष्ठार्पण का'** ?। अपने भूमाभावात्मक प्रज्ञाबल से ही इस तात्पर्य्य का समन्वय कीजिए !। राष्ट्रनिर्म्माता चारों वर्गों की निष्ठाओं का स्वरूप–समन्वय ही इस तात्पर्य्य को समन्वित कर देता है। समाज भूतात्म स्थानीय–ज्ञानशक्तिप्रधान-ब्रह्मवीर्य्ययुक्त ब्राह्मणवर्ग की निष्ठा का आधार है–राष्ट्र का ज्ञानविज्ञानात्मक वह मौलिक सांस्कृतिक साहित्य, जिससे ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी बन कर तत्त्वचिन्तन में सफलता प्राप्त करता हुआ शास्त्रप्रामाण्य के आधार पर राष्ट्रसञ्चालन की सुनिश्चितता–**'नीति'** निर्द्धारित करता है। सत्य–धर्म्मात्मिका–यह 'नीति' ही ब्राह्मणनिष्ठा की स्वरूपव्याख्या है।

३४–सत्तातन्त्रात्मक 'अनुशासनतन्त्र', एवं तद्व्यवस्थासंरक्षक नैष्ठिक क्षत्रिय—

इस नीति को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाता हुआ क्षात्र सत्तातन्त्र, किंवा सत्तातन्त्रात्मक क्षात्र तेज अपने पौरुषरूप कर्म्मबल से उस नीति के द्वारा समाज को स्व–स्व–कर्त्तव्यों में मर्य्यादापूर्वक नियन्त्रित रखता है। वह नियन्त्रणसूत्र ही 'अनुशासनतन्त्र' है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा (आभ्यन्तर–प्रतिष्ठा) धर्म्मनीति मानी गई है, एवं तूलप्रतिष्ठा (बाह्य–प्रतिष्ठा) राजनीति मानी गई है। जबतक राजनीति धर्म्मनीति के अनुरूप शासनतन्त्र में प्रयुक्त होती रहती है, तबतक तो ब्राह्मण तटस्थ ही बना रहता है सत्तातन्त्र से। किन्तु जब सत्तातन्त्र दुर्भाग्यवश बहिर्मुख बनता हुआ अपनी राजनीति के प्रयोग में धर्म्मनीति की उपेक्षा कर बैठता है, तो धर्म्मनीतिनिरपेक्ष वह सत्तातन्त्र निश्चयेन प्रकृतिविरुद्ध जाता हुआ कालान्तर में अराजकता का ही सर्जक बन बैठता है। एवं ऐसी अराजकतावस्था में–'**ब्रह्मैव सन्नियन्तृस्यात्**' रूपेण स्वयं ब्राह्मण को ही समाज का उद्बोधन कराना पड़ता है। एवं इस परम्परा से सत्तातन्त्र को उद्बोधन प्रदान कराता हुआ राष्ट्रीय ब्राह्मण पुनः सत्तातन्त्र को प्रकृतिस्थ बना देता है। निवेदन यही करना है कि, राजनीतिरूप अनुशासनतन्त्र ही सत्तातन्त्रात्मक समाज (क्षात्रसमाज) की प्रधान निष्ठा है।

३५–सत्तातन्त्रानुगत - 'गणतन्त्र', एवं तद्व्यवस्थानुगत निष्ठाशील वैश्य—

राष्ट्रीय भौतिक–परिग्रहों के क्रय–विक्रयरूप वाणिज्यात्मक–व्यवसाय का, राष्ट्र के प्रमुख अर्थबलात्मक कृषिकर्म्म का, एवं राष्ट्र के जीवनीय रसात्मक* गोरक्षणकर्म्म का, इत्थंभूत महान् कर्म्मों का अनुवर्त्मा वैश्य-वर्गात्मक समाज अपनी मनोऽनुगता गणवृत्ति से–(सहसमन्वयवृत्ति से)–ही राष्ट्र की अर्थशक्ति को सुगुप्त–सुरक्षित रखता है। तभी तो इसे–'**गुप्त**' उपाधि से समन्वित किया गया है। सभेयरूपा गणता ही इसकी मूलनिष्ठा है। इतस्ततः सर्वत्र अनुधावन करते हुए–सभी समानसहयोगियों से वातावरण का अध्ययन करते हुए ही वैश्य महानुभाव इस 'गण' (समूह) रूपा सामूहिक–व्यवसाय–पद्धति से ही अपने तथाकथित महान् उत्तरदायित्व का संरक्षण–परिबर्द्धन करते रहने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। अतएव इस 'गणात्मिका' तन्त्रबुद्धि को ही व्यवसायबुद्धि कहा गया है, जिसके द्वारा अर्थात्मिका लक्ष्मी का अनुग्रहात्मक निग्रह सफल बन जाया करता है। यों–'गणतन्त्रता' (सामूहिक–तन्त्रता–सहकारिता) ही वैश्यसमाज की मूलनिष्ठा बनी हुई है। एकाकी वैश्य तबतक राष्ट्रीय व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर ही नहीं सकता, जबतक कि यह समानसहयोगियों के–गणों से परामर्श नहीं कर लेता। तभी तो इसे 'सभेय' (सभाप्रिय) श्रेष्ठसमाज माना गया है। अपने सहज मनस्तन्त्र से वैश्यसमाज आदावन्ते च नम्र बना रहता हुआ निश्चयेन अपने गणतन्त्र में सफलता प्राप्त कर तद्द्वारा राष्ट्रलक्ष्मी का सञ्चय करता हुआ इसे निर्व्याजरूप से राष्ट्रदेवता के चरणों में समर्पित करता हुआ अपनी सुगुप्ता 'श्रेष्ठ' (सेठ) उपाधि को सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित कर लेता है।

*** स्वादु–पाकरसं–स्निग्धं–ओजस्यं–धातुवर्द्धनम्।**
प्रायः पयः,–''तत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्'' ॥

—अष्टाङ्गहृदये

३६-सत्तातन्त्रानुवर्त्मा-'प्रजातन्त्र', एवं तदनुगामी लोकभावुक शूद्र—

अब केवल शरीरधर्म्मा चतुर्थ वर्ग शेष रह जाता है, जिसकी निष्ठा का एकमात्र अवलम्ब शरीर ही बना रहता है । उत्पत्तिक्रम में-'प्रजनन'-'जन्म'-अभिधाओं का प्रधान-सम्बन्ध न आत्मा से माना जाता, न बुद्धि से, न मन से । अपितु-शरीर ही 'प्रजनन' कर्म्म का प्रधान प्रतीक माना गया है । प्रजनन का ही पारिभाषिक नाम है-'**प्रजाति**', प्रजाति ही 'प्रजा' का मूलाधार है, जिसका अर्थ है-'**प्रजायते**' । शरीर ही 'जन्म' शब्द का मुख्य अधिकारी है । इसी जननसम्बन्ध से प्रजा को-'**जन**' कहा गया है । शरीर से शरीर का सन्तनन-विस्तार-होता है । अतएव जनरूपा प्रजा को 'सन्तान' भी कह दिया जाता है, जैसा कि-"**प्रजा स्यात्, सन्ततौ-जने**" इत्यादि अमरवचन से स्पष्ट है । यही प्रजातन्त्र, किंवा जनतन्त्र की स्वरूप व्याख्या है, जिसका अर्थ है-शरीरतन्त्र, किंवा भूततन्त्र ।

३७-जनतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र की इच्छा का स्वरूप-विश्लेषण, एवं वर्गोच्छेदमूला भ्रान्ति—

उक्त तन्त्र की प्रधान इच्छा मानी गई है-**अन्नवस्त्र की समस्या का समाधान** । शरीरधर्म्मप्रधान एक बालक जो चाहा करता है, उसी की व्यक्तरूपा शरीरधर्म्मप्रधाना प्रजा उससे अधिक और चाह भी क्या सकती है ? । खान-पान की सुव्यवस्था, आवश्यकतानुसार निवासगृहों की सुविधा, प्रकाश-पानी-उद्यान-आदि कतिपय परिशिष्ट शारीरिक व्यवस्थाएँ हीं पर्य्याप्त हैं-प्रजावर्ग के लिए । यदि सत्तातन्त्र शरीरधर्म्मप्रधान प्रजावर्ग के लिए ये शारीरिक व्यवस्थाएँ करने में नहीं, तो इनके आश्वासन में भी यदि चतुर है, तो भावुक-प्रजा की भक्ति इसे अनायासेनैव मिल सकती है, जिसका कि प्रत्यक्ष निदर्शन वर्त्तमान युग बना हुआ है । अतएव चतुर सत्तातन्त्र प्रत्येक सम्भव-असम्भव उपाय से प्रजावर्ग को आश्वस्त करते रहने में हीं अपना समस्त बल-पौरुष-खर्च करता जा रहा है । 'हरिजन आन्दोलन' का इससे अधिक और कुछ भी तथ्य नहीं है । जब इतर वर्गों का प्रश्न सामने आता है, तो सत्तातन्त्र उद्घोष कर देता है कि, 'हम वर्गभेद का मूलोच्छेद ही कर डालेंगे', जब कि-न सृष्ट्यारम्भ से आजतक वर्गों का उच्छेद हुआ, न यावच्चन्द्रदिवाकरौ वर्गोच्छेद सम्भव ही ।

३८-जनतन्त्र की असन्तोषपरम्पराओं का नग्न चित्रण—

तथ्य इस उच्छेद-घोषणा का यही है कि, अन्य वर्गों में मानसिक-बौद्धिक-जो चेतना बची रह गई है, एवं वर्त्तमान भूतशिक्षा भी जिस शेष चेतना को थोड़ा बल प्रदान करती ही रहती है, वह आज सर्वात्मना उद्विग्न है । इसके उद्वेग से शरीरधर्म्मा प्रजावर्ग प्रभावित न हो जाय, इसीलिए तो उक्त उच्छेदघोषणा को प्रमुखता दी जारही है, जिसकी व्याख्या की जारही है-'**वर्गहीन प्रजासमाजवाद**' । एवं मध्यमवर्ग की रही सही भी स्वतन्त्र चेतना भूतभार से सर्वात्मना अभिभूत हो जाय, जिसके फलस्वरूप यह वर्ग भी निश्चेतनभाव में परिणत हो कर 'प्रजाकोटि' में आजाय, तदर्थ हीं शिक्षापद्धति को-'मल्टीपर्पज' जैसे व्यामोहक यन्त्र से यन्त्रित करने की चेष्टा की जारही है । इसकी प्ररोचनात्मिका यह व्याख्या की जारही है कि, "**दस्तकारी-शिल्प-कृषि-एवं अन्यान्य-गृह उद्योग भी यदि यहाँ का शिक्षित सीख लेगा, तो फिर यह परमुखापेक्षी न बन कर अपने भरण-पोषण में स्वावलम्बी बन जायगा । यों शिक्षा इसके लिए अभिशाप न बन कर वरदान हीं बन जायगी**" । एक ओर यों शिक्षितों को

स्वावलम्बनता के प्रलोभन से शिक्षात्मक-चेतनक्षेत्र से पराङ्मुख बनाने का प्रयास, तो दूसरी ओर-**'जो मल्टीपर्पजपद्धति से शिक्षा में कौशल प्राप्त करेंगे--उन्हीं को राज्यसेवा (नौकरी) में प्रमुखता दी जायगी'** इस घोषणा से परावलम्बनतालक्षणा दासता के लिए आह्वान । कैसे इन परस्पर विरोधी भावों का समन्वय--सम्भावित मान लिया जाय ? । और फिर जो जनगण शिल्प-कला-कृषि-गृहोद्योगादि में परम्परया सिद्धहस्त है, उसके शिल्प-कलादि को आज किस सीमापर्य्यन्त प्रोत्साहन मिल रहा है ?, यह प्रश्न भी एक गम्भीर समस्या ही बनता जारहा है । 'कॉपरेटिव सोसायटी' नामक महा अम्भ के निर्म्माण में कुशल परिगणित अमुक वर्ग के लोकव्यवहारधुरीण प्रमुख व्यक्ति तो इन सुविधाओं से लाभ उठा ले जाते हैं । एवं वे वास्तविक-शिल्पी-उद्योगी-श्रमजीवी-इन लाभों के संस्मरणबोध से भी आज वञ्चित ही बने हुए हैं । यही व्यवस्था कृषिसुविधा के सम्बन्ध में घटित-विघटित हो रही है । यों अथ से इति पर्य्यन्त घोषणात्मक आयोजनों के अतिरिक्त उस रोग का निदान तो आज सर्वथा उपेक्षित ही बनता जारहा है, जिस निदान के बिना कोई भी औषधि लाभ कर ही नहीं रही । प्रत्युत लाभ के स्थान में वे सभी उपचार उत्तरोत्तर राष्ट्र की शक्तियों को अभिभूत ही करते जारहे हैं । **'मर्ज़ बढ़ता ही गया, ज्यों ज्यों दवा की'** इस लोकसूक्ति को चरितार्थ करने वाले, मूलनिष्ठाओं से वञ्चित, साथ ही नितान्त भावुकतापूर्ण सभी उपाय--आयोजन--आन्दोलन--आज उस जनतन्त्र को भी सन्तुष्ट नहीं कर पा रहे, जिस की एकमात्र इच्छा का केन्द्र शरीर ही बना हुआ है । फिर अन्य वर्गों के सम्बन्ध में तो विचारोत्थानिका ही व्यर्थ है ।

३६-शरीरव्यामोहनमूलकमात्र- मानवता, मानवधर्म्म, सत्य, अहिंसा, पञ्चशील, सहास्तित्त्व, आदि आदि व्यामोहक शब्दों के द्वारा राष्ट्रस्वरूपविमोहन—

और यह सब कुछ अकाण्डताण्डव प्रक्रान्त है आज **मानवता, मानवधर्म्म, सत्य, अहिंसा, प्रेम, सहास्तित्त्व,** आदि आदि आदर्श शब्दों के उद्घोष के साथ । मानों एक मात्र **'शरीर'** का ही नाम मानवता, किंवा मानवधर्म्म है । क्या मानवता-मानवधर्म्म की परिसमाप्ति केवल शरीर पर ही परिसमाप्त है ?, जिसकी अनन्यचिन्ता से ही आज के राष्ट्रीय मानव चिन्तित बने हुए हैं । क्या मन-बुद्धि-आत्मा-ईश्वर आदि का कोई स्थान नहीं है मानवता, किंवा मानवधर्म्म के, अथवा तो सत्य-अहिंसा-आदि के क्षेत्र में ? । बिना इस प्रश्न के तत्त्वसम्मत समाधान के कदापि कोई भी मानव भारतीय मानव को तो केवल शरीरधर्म्मों के प्रलोभनमात्र से अपने तन्त्रों में निष्ठापूर्वक दीक्षित नहीं कर सकता । अन्यान्य वर्गों को तो जाने दीजिए । जिस शरीरधर्म्मा प्रजावर्ग को सत्तातन्त्र ने अपना अभय क्षेत्र मान रक्खा है, उसमें भी अधिक मानवश्रेष्ठ भारतीय--उस आत्मानुगता श्रद्धा आस्था से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः ओतप्रोत हैं, जिन को परःशताधिक भी शारीरिक प्रलोभन भारतीया सांस्कृतिकी धर्म्मनिष्ठा से विचलित नहीं कर सकते । पतितपावनी भगवती भागीरथी गङ्गा जिन परमश्रद्धालु प्रजागृहों में तरङ्गायित हो पड़ती हों, उन्हें केवल-'हरिजन' नाम-व्यामोहन से कदापि भारतीय निष्ठा से पराङ्मुख नहीं किया जासकता । अतएव अन्नवस्त्र-समाकुलिता केवल शरीरचिन्ता की निवृत्ति को ही 'मानवता' का सर्वस्व मापदण्ड मान बैठने से कदापि कम से कम भारतराष्ट्र का तो कोई सा भी आयोजन-निर्म्माण-(सांस्कृतिक-आयोजन)--तो स्वप्न में भी श्रेयः-प्रेय (हितकर-रुचिकर) नहीं माना जा सकता ।

४०–शरीरयात्रामात्रासक्त सत्तातन्त्र का महान् व्यामोहक तर्काभासात्मक तर्क—

यही वह दृष्टिबिन्दु है, जिसे आधार बना कर एक बार वर्त्तमानयुग के भाग्यविधाता पुन: भारतीय मानव की भावुकता से लाभ उठाने के लिए आतुर हो पड़ते हैं। आतुरतावश ही वैसा ही व्यामोहक तर्क उपस्थित कर ही तो डालते हैं, जिससे सहसा क्षणमात्र के लिए आत्मनिष्ठ भी भारतीय मानव की निष्ठा विकम्पित होने लगती है। व्यामोहक तर्क का स्वरूप यही है कि—"**जबतक राष्ट्र की शारीरिक चिन्ता का समाधान नहीं हो जाता, सहज भाषा में जब तक राष्ट्र अपनी उदरज्वाला उपशान्त नहीं कर लेता, तबतक इसके अन्य सभी प्रयास व्यर्थ हैं। कोई भी बुद्धिमान् इस प्रत्यक्षदृष्टानुभूत तथ्य के साथ कदापि गजनिमीलिका नहीं कर सकता। अतएव सर्वप्रथम राष्ट्रीय–सत्ता का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह मुख्यरूप से राष्ट्र की ग़रीबी हटावे, लक्ष–लक्षमित–भूखों को पेट भर भोजन मिलने के आयोजनों को सफल बनाये। एकमात्र इसी पावन उद्देश्य से हमारी सत्ता ने सर्वप्रथम इसी कर्म्म को प्रधान लक्ष्य बनाया है।**"

४१–व्यामोहक शब्दजाल, एवं तदनुगता प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से राष्ट्र का अधःपतन–

सामान्य प्रजावर्ग की कौन कहे, भारत का एक प्रज्ञाशील विद्वान् भी उक्त व्यामोहक तर्काभासात्मक तर्क से इसलिए प्रभावित हो जायगा कि, विगत तीन सहस्र वर्षों से गतानुगतिकन्यायेन प्रचलिता भावुकता के वारुणपाश से आबद्ध रहने वाले इस देश के इस भावुक विद्वान् की दृष्टि में जिस किसी भी लोकमानव के द्वारा भावुकतावश, किंवा कुनिष्ठा से केवल 'संस्कृतभाषा' मात्र में विरचित यच्चयावत् पद्य ही **'शास्त्रप्रमाण'** बन गए हैं। श्लोक, किंवा वाक्य संस्कृतभाषामात्र में होना चाहिए, फिर वह श्रुति–स्मृति–पुराणादि आर्ष-शास्त्र से भले ही विरुद्ध ही क्यों न हो। इतना समय ही कहाँ रहा प्रज्ञातिरञ्जित इस राजभक्त विद्वान् के प्रज्ञाकोश में, जिससे यह तथ्य का वास्तविक समन्वय करले ?। यह तो उसी प्रकार प्रभावित होता ही गया उन भावुकतापूर्ण संस्कृत श्लोकों से, जैसे कि आज की भावुकप्रज्ञा, किन्तु सत्य–धर्म्मादि के प्रति सदा से ही आस्था श्रद्धा रखने वाली प्रजा अनात्मवादियों की ओर से उपस्थित सत्य-धर्म्म–अहिंसा–अस्तेय–करुणा–दया–मानवता–आदि शब्द–श्रवणमात्र से लक्ष्यविहीन बनती जा रही है। उसे यह कहाँ विदित है कि, इन शब्दों के गर्भ में तत्वत: असत्य–अधर्म्म–हिंसा–स्तेय–नृशंसता–क्रूरता–दानवता–आदि अमानवीय, किंवा दानवीय व्यक्तिस्वार्थमूलक कुभाव ही पुष्पित–पल्लवित होते जा रहे हैं। इसीलिए तो प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता को ही हमनें मानव के अधःपतन का, किंवा लक्ष्यच्युति का एकमात्र कारण माना है।

४२–'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्' वाक्य की भावुकतापूर्णा आपातरमणीयता—

हाँ, तो उक्त व्यामोहक तर्क से भावुक विद्वान् को भी विकम्पित कर देने वाला एक भावुकतापूर्ण पद्य सुप्रसिद्ध है भावुकलोक में इसप्रकार कि–**'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्'**। जिसका लोकप्रजा की लोक-भाषा में अर्थ हुआ है—**'पहिला सुख–निरोगी–काया'**। इसी लोकभावुकतासूत्र को भावुकता के परमाचार्य्य सन्तों नें इस रूप में परिणत कर दिया है कि—**'भूखे भजन न होय गोसाईं'**। प्रत्यक्षदृष्टि से संस्कृतसूक्ति-लोकसूक्ति–सन्तसूक्ति–तीनों हीं सूक्तियाँ सारगर्भित प्रतीत हो रहीं है। ऐसी दशा में यदि हमारा सत्तातन्त्र भी

इसी सारगर्भिता ? शरीरचिन्ता को प्रमुखता दे रहा है पूर्व तर्क के आधार पर, तो इसमें क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है ? ।

४३-शरीरधर्म्मा श्रमजीवी का सर्वस्वस्वरूप, और उसकी अन्नदासता—

विप्रतिपत्ति तो कोई भी नहीं है । जहाँ तक शरीरधर्म्मात्मक श्रमजीवी वर्ग का सम्बन्ध है, उस सीमा-पर्य्यन्त तो भावुकतापूर्ण तीनों सूक्तियाँ भी अविप्रतिपन्ना ही हैं, एवं सत्तातन्त्र की चिन्ता भी समादरणीया ही बनी हुई है । इस दृष्टिकोण से केवल श्रमजीवी-शरीरधर्म्मा तो कदापि बुभुक्षित रह कर अपने श्रमकर्म्म में सफलता प्राप्त कर ही नहीं सकता । अतएव वह तो प्रातः ही खाकर काम पर जाता है, और जाने से पहिले मध्यान्ह की चिन्तानिवृत्ति के लिए भी वस्त्रखण्ड में करपट्टिका (रोटी) बाँध कर साथ ले लेता है । यों खानपान-की चिन्ता से निवृत्त होकर ही वह निश्चिन्ततापूर्वक कर्म्म में सफलता प्राप्त करने में सक्षम बनता है, जिस श्रमाध्यवसाय के लिए राजस्थानपत्तन में—**"चौकड़दा फिरना"** वाक्य प्रयुक्त हुआ है । काम में सर्वात्मना जुट पड़ना हीं 'चौकड़दा-फिरना' है । इस जुटाव का आधार वही भोजनद्रव्य है, जिसका अमुक अंश तो जुट पड़ने से पहिले इसने उदर में रख लिया है, एवं अमुक अंश जुट पड़ने के मध्यदिवसीय विश्रामकाल के लिए मस्तक से, किंवा कमर से बाँध लिया है । तभी इसका यह जुट पड़ना-चौकड़दा-फिरना-सम्भव बना करता है, जिसके लिए राजस्थानपत्तन में हीं श्रमकर्म्म में प्रचण्ड वेग से जुट पड़ने वाले के लिए यह वाक्य-सूक्ति प्रचलित हो पड़ी है कि—**'अमुक व्यक्ति तो चून बाँध कर चौकड़दा फिर गया'** । ध्यान दीजिए **'चून बाँध कर'** इस वाक्यांश पर । अन्न को पहिले बाँध लिया है । अन्नचिन्ता पहिले निवृत्त करली है दिन भर के लिए । तभी वह काम में जुटने के लिए अग्रेसर बना है । और इसी लौकिक उदाहरण के द्वारा यह कहा जा सकता है, मान भी लिया जा सकता है कि, शरीरधर्म्मा श्रमजीवी का सर्वस्वस्वरूप तो अशनपान की निश्चिन्तता पर ही अवलम्बित है * ।

---

*—"पाञ्चभौतिक-वाङ्मय-शरीरपिण्ड का प्रधान अवलम्ब 'अन्नब्रह्म' (भोजन) ही है," इस तथ्य को विस्मृत न करते हुए भी 'मानव' की आत्मभावानुगता जीवन-पद्धति के साथ कदापि 'भोजन' को मूल-प्रतिष्ठा नहीं माना जा सकता । जिनकी दृष्टि में मानव का सर्वस्व-स्वरूप एकमात्र प्रत्यक्ष-दृष्ट भौतिक-मर्त्य-शरीर पर ही केन्द्रित है, उनकी दृष्टि में तो अवश्य ही एकमात्र 'भोजन' ही सर्वस्व है, और इसी दृष्टि से एवंविध भूतवादी-अनात्मवादी-शून्यवादी-प्रत्यक्षवादी-लोकायतिक-शरीरधर्म्माओं की जीवनपद्धति का लक्षण हुआ है—**"जीवन भोजन के लिए ही है"**, जिसकी फलितार्थभाषा लोक में प्रसिद्ध है कि—**"खाना-पीना, और मौज़ उड़ाना"** ।

ठीक इसके विपरीत जिन आत्मनिष्ठ पुरुषार्थियों की जीवनपद्धति स्वतन्त्र आत्मिक-बौद्धिक-पुरुषार्थ से समन्विता है, उनकी जीवनपद्धति का लक्षण हुआ है—**'भोजन जीवन के लिए है'** । अनन्यरूपेण आत्म-बुद्धि-निष्ठापूर्वक पुरुषार्थ में प्रवृत्त मानवश्रेष्ठ कदापि योगक्षेमानुगता 'अन्नचिन्ता' को मानव जीवन का अवलम्ब नहीं बनाया करते । क्योंकि इस चिन्ता का निराकरण तो प्रकृत्या सहजसिद्ध है पुरुषार्थनिष्ठ के लिए । यही कारण है कि, प्रवासयात्रा के समय 'चून' (भोजनपरिग्रह) बाँध कर साथ ले जाना अमाङ्गलिक माना है यहाँ के शकुनशास्त्रियों नें । ठीक इसके विपरीत जिन शरीरधर्म्मा श्रमजीवियों में आत्म-बुद्धिनिष्ठा अन्त-

४४–आश्रमानुगत–परिश्रममूलक श्रम की राष्ट्रीयता, एवं केवल श्रम की अराष्ट्रीयता—

यदि राष्ट्र की यही सदिच्छा है कि, शरीरधर्म्म की पुष्टि के अतिरिक्त राष्ट्र में न मानसिक तुष्टि अपेक्षित है, न बौद्धिक तृप्ति अपेक्षित है, न आत्मिक शान्ति ही अपेक्षित है, तो स्वागत ही किया जायगा उसकी इस अनन्यभावात्मिका 'अन्नचिन्ता' का। अवश्य ही उस अवस्था में तो मानव की मानवता का एकमात्र आधार वह अन्नचिन्ता ही बनी रह जायगी, जो श्रमशील–मनःशरीरधर्म्मा पशुओं की चिन्ता मानी गई है। क्या मानव के स्वरूप की यही इयत्ता है?, कदापि नहीं। मनःशरीरात्मक श्रम का महत्त्व भी मानव ने स्वीकार किया है। अमुकसीमा पर्य्यन्त अनिवार्य्य भी माना है इस श्रम को। स्वयं प्रजापति भी **'सोऽकामयत–स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'** रूपेण भूतजगत् की भौतिकता के व्यक्तीभाव–संरक्षण–परिवर्द्धन के लिए श्रम को भी प्रधानता दे रहे हैं। किन्तु बौद्धिक **परिश्रम**, तथा आत्मिक **आश्रम**, इन दोनों को मूलाधार बनाए बिना केवल मनःशरीरात्मक **श्रम** कदापि मानव की मानवता का मापदण्ड नहीं बन सकता, जैसाकि अन्य सामयिक निबन्ध के–**'श्वेतक्रान्ति'** नामक अन्तिम परिच्छेद में इन तीनों शब्दों का तात्त्विक स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है।

४५–निराशी आत्मा, और साशन शरीर, एवं दोनों का तात्त्विक समन्वय—

'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्' यह श्रमजीवी की भाषा है। परिश्रमजीवी बुद्धिमान् की, एवं आश्रमनिष्ठ आत्मनिष्ठ की कदापि ऐसी भाषा नहीं हो सकती। उसका उपक्रमस्थान–आदिस्थान तो आत्मा बनता है, न कि शरीर, जबकि शरीरजीवी का उपक्रमोपसंहार सदा शरीर ही बना रहता है। अन्तोपक्रमस्नेही दर्शनशास्त्र ही–**'शरीरमाद्यम्'** भाषा बोल सकता है, बोला करता है, बोलता ही रहेगा। कदापि–अनन्तोपक्रमनिष्ठ धर्म्म ऐसा अनर्गल प्रलाप नहीं कर सकता। प्रमुख स्थान आत्मा का, तदनन्तर बुद्धि का, तदनन्तर मन का, और सर्वान्त में शरीर का। यही प्रकृतिसिद्ध सनातन क्रम है। आत्मा ही मानवता का मूलबिन्दु है, जो कि–**'निराशीः'** माना गया है, जबकि **'साशन'** केवल शरीर ही माना गया है। **'साशनानशने अभि'** (यजुःसंहिता) इत्यादि मन्त्रश्रुति ने इसी पार्थक्य का स्पष्टीकरण किया है।

४६–स्वस्वरूपचिन्तक राष्ट्र की योगक्षेमानुगता निश्चिन्तता—

आत्मनिष्ठ के लिए अन्न प्रकृत्या ही व्यवस्थित है, जबकि शरीरधर्म्मा जीता ही अन्न के लिए है। अतएव प्रज्ञाशील–आत्मबुद्धिनिष्ठ राष्ट्र कदापि मनःशरीरानुबन्धिनी अन्नचिन्ता को प्रमुखता प्रदान नहीं किया करता। जिस राष्ट्र का आत्मा अन्तर्मुख बन जाता है, बुद्धि जड़ बन जाती है, मनःशरीरप्रधान–कामार्थमात्रपरायण ऐसे जड़ राष्ट्र ही आश्रम–परिश्रम–दान के समतुलन में श्रमदान की घोषणमात्र करते हुए अन्नचिन्ता में ही आपादमस्तक निमज्जित बने रहते हैं। यही अन्नचिन्ता कालान्तर में आत्मिक–अभिमान,

---

मुख बनी रहती है, वे बिना 'चून' बाँधे शरीरकर्म्म में प्रवृत्त ही नहीं हो सकते। प्रेतभावापन्न जीवात्मा क्योंकि स्वतन्त्र पुरुषार्थ में असमर्थ बन जाता है। अतएव इसके लिए अन्नव्यवस्था (पिण्डव्यवस्था) इसके साथ ही करनी पड़ती है इसके पुत्रादि को। निवेदन–निष्कर्ष यही है कि, अन्नचिन्ता कदापि पुरुषार्थसमन्वित नैष्ठिक मानव का प्रमुख उद्देश्य नहीं बना करती।

बौद्धिक–पराक्रम, एवं मानसिक साहस, सभी विभूतियों को अभिभूत कर राष्ट्र को कालान्तर में स्वस्वरूप में (अन्नस्वरूप में) ही परिणत कर डालती है। और तद्दशा में परिणत अन्नात्मक राष्ट्र का बुद्धिनिष्ठ किसी भी अन्नाद राष्ट्र के द्वारा सर्वात्मना निगरण कर लिया जाता है। अतएव आत्मचिन्ता प्रज्ञाशील राष्ट्र की प्रमुख चिन्ता मानी गई है, तदनन्तर तत्त्वचिन्तन को स्थान मिला है। तदनन्तर–श्रम का समादर हुआ है। जिस राष्ट्र की आत्मचिन्तनवृत्ति तत्त्वचिन्तननिष्ठा बनी रहती हुई श्रम का अनुगमन करती रहती है, उस नैष्ठिक राष्ट्र को स्वप्न में भी अन्नचिन्ता उत्पीडित नहीं कर सकती, कदापि नहीं कर सकती।

४७–मानवीय पर्वों का आनुपातिक–समन्वय–तारतम्य—

शरीरविज्ञान से अंशतः भी परिचित यह जानते हैं कि, सर्वात्मना स्वस्थ–नीरोग–पुष्ट भी शरीर मानसिक बेदना से सर्वथा क्लान्त बन जाता है। मानसिक क्षोभ से स्वस्थ भी शरीर क्षुब्ध हो पड़ता है। एवमेव बौद्धिक प्रमाद मन को भी प्रमादी बना देता है। और आत्मिक अन्तर्भाव तो मानव को सर्वथा परप्रत्ययनेय ही बना डालता है, जिसकी परिणति **'यथाज्ञापयति देवः'** लक्षणा दासवृत्ति में ही हो जाया करती है। स्पष्ट ही शरीर से अधिक मन का, तदपेक्षया बुद्धि का, एवं सर्वापेक्षया आत्मा का प्रधानत्त्व, एवं नैष्ठिकत्त्व प्रमाणित हो रहा है। वही शरीरचिन्ता समीचीना मानी जायगी, जो मनःपूता होगी। वही मानसिक कामना समादरणीया कही जायगी, जिसका आधार बौद्धिक तत्त्वचिन्तन होगा। एवं वही बौद्धिक तत्त्वचिन्तन अभ्युदय–निःश्रेयसकर माना जायगा, जिसका आधार आस्था–श्रद्धासमन्विता आत्मनिष्ठा (संस्कृतिनिष्ठा) बनी रहेगी। अलमतिपल्लवितेन–प्रासङ्गिक–अन्नचिन्तेतिवृत्तेन भावुकतानिबन्धेन। शरीर-प्रधान चतुर्थ प्रजावर्ग की चर्चा प्रक्रान्त है, जिसके मध्य में हीं तदनुगता अन्नचिन्ता उपस्थित हो गई सजातीयाकर्षणन्याय से। **शरीरप्रधान प्रजावर्ग की मूलनिष्ठा अन्नब्रह्म ही है**, यही प्रकृत में वक्तव्यांश है।

४८–धर्म्मनीति-राजनीति-व्यवसायकौशल-श्रमकौशल का समन्वय, एवं सर्वसमन्वयात्मक-पारिभाषिक–राष्ट्रमानव—

तदित्थं–आत्मनिष्ठ ब्राह्मण की मूलनिष्ठा धर्म्मनीति, बुद्धिनिष्ठ क्षत्रिय की मूलनिष्ठा राजनीति, मनोऽनुगत वैश्य की मूलनिष्ठा **व्यवसायकौशल**, एवं शरीरप्रधान पौष्णवर्ग की मूलनिष्ठा **श्रमकौशल** ही माना गया है, जिसके मूल में अन्नब्रह्म ही प्रतिष्ठित है। अतएव अन्नब्रह्म को भी इसकी मूलनिष्ठा कह दिया जा सकता है। तन्त्रभाषा के अनुसार ब्राह्मण की निष्ठा **नीतितन्त्र** है, क्षत्तातन्त्र की निष्ठा **अनुसाशनतन्त्र** है, वैश्य की निष्ठा **गणतन्त्र** है, एवं शूद्र की निष्ठा प्रजातन्त्र है। चारों हीं तन्त्रनिष्ठाएँ परस्पर अन्योऽन्याश्रित–व्यवस्थित हैं, यह पूर्व में निवेदन किया ही जाचुका है। तन्त्रचतुष्टयी ही राष्ट्र की स्वरूप-व्याख्या है। एक भी तन्त्र के अभिभूत हो जाने से राष्ट्र अराष्ट्र बन जाया करता है। नीतितन्त्र ही **आत्मतन्त्र** है। अनुशासनतन्त्र ही **बुद्धितन्त्र** है। गणतन्त्र ही **मनस्तन्त्र** है। एवं प्रजातन्त्र ही **शरीरतन्त्र** है। यों मूल का व्यक्तिमानव ही अपनें चारों वैय्यक्तिक पर्वों से परिवार–समाज द्वारा–राष्ट्रीय तन्त्रचतुष्टयी रूप में परिणत होता हुआ–**'राजते'** लक्षण राष्ट्र का भाग्यविधाता बना हुआ है। और यही है–मानव का चतुर्थ प्रक्रम, जिसका निम्न लिखित परिलेख से स्पष्टीकरण हो रहा है।

प्रथम:—प्रक्रमो मानवस्य (१)	द्वितीय: प्रक्रमो मानवस्य (२)	तृतीयः—प्रक्रमो मानवस्य—(३)	चतुर्थः प्रक्रमो मानवस्य (४)
१-मानवात्मा (स्वायम्भुवः)-स्वस्वरूपात्मकः—	तत्प्रक्रम;—कुलवृद्धः——	तद्द्वारेण—ब्राह्मणसमाजाविर्भावः—	तद्द्वारेण—नीतितन्त्राविर्भावः——
२-मानवबुद्धिः (सौरी)—कारणशरीरात्मिका—	तत्प्रक्रमः—युवापुत्रः——	तद्द्वारेण—क्षत्रियसमाजाविर्भावः—	तद्द्वारेण—अनुशासनतन्त्राविर्भावः ——
३-मानवमनः (चान्द्रम्)-सूक्ष्मशरीरात्मकम्-	तत्प्रक्रमः—नारीवर्गः——	तद्द्वारेण—वैश्यसमाजाविर्भावः—	तद्द्वारेण—गणतन्त्राविर्भावः——
४-मानवशरीरम्(पार्थिवं)-स्थूलशरीरात्मकम्-	तत्प्रक्रमः—बालवर्गः——	तद्द्वारेण—शूद्रसमाजाविर्भावः—	तद्द्वारेण—प्रजातन्त्राविर्भावः——
व्यक्तिमानवः—मूलप्रतिष्ठा— सर्वेषाम् १	**परिवारमानवः**—समाजप्रतिष्ठा- त्मकः २	**समाजमानवः**-राष्ट्रप्रतिष्ठात्मकः ३	**राष्ट्रमानवः**—विश्वशान्तेः प्रतिष्ठा ४

४९-भारतीय राष्ट्रमानव की 'विश्वमानवता', एवं तन्निबन्धन उदार दृष्टिकोण—

क्या मानव का आत्मानुगत भूमाभाव देशविशेषात्मक राष्ट्रविशेष पर परिसमाप्त हो गया ? । नेति होवाच । यही तो भारतीय द्विजातिमानव का, तत्रापि आत्मप्रतिनिधिरूप अग्रजन्मा ब्राह्मणमानव का वह भूमाभाव है, जिसने इसे आगे चलकर 'विश्वमानव' बना दिया है । यह जहाँ निष्ठापूर्वक अपने राष्ट्र की नीति का निर्धारण करेगा, वहाँ यही अपने विश्वात्मनिबन्धन-प्राकृतिक-ज्ञानविज्ञान के समन्वय के द्वारा सम्पूर्ण विश्व के यच्चयावत् राष्ट्रों का, तन्मानवों का कर्त्तव्य-कर्म्म निश्चित करेगा उसी प्रकार, जैसे कि-प्रकृतिसञ्चालक एक ही ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व का नियतिःसत्यधर्म्म से सञ्चालन करता रहता है । वही नियतिःसत्य इस भारतीय मित्रब्राह्मण की नीति है । इसके इसी विश्वबन्धुत्त्व का, विश्वमानवता का महान् उद्घोष करते हुए मानवधर्म्मशास्त्रप्रणेता राजर्षि मनु को यह कहने में कोई संकोच नहीं हुआ कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

—मनुः

ध्यान दीजिए-'**स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्**' की उदात्तता पर । संसार में जितने भी मतवाद हैं, सब अपने अपने मतवादों की शिक्षा-दीक्षा देते रहने के लिए ही इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं, जब कि भारतीय ब्राह्मण तत्तद्देश की पात्रता के अनुरूप तत्तद्देश के अनुसार ही उनके कर्त्तव्य-कर्म्मों की ही शिक्षा प्रदान करता है । स्वयं अपनी शिक्षा-संस्कृति-धर्म्म-शास्त्र-आचार के लिए तो स्वयं अपने राष्ट्र में भी इसे पात्रापात्रता का विचार करना पड़ता है । क्योंकि इसकी संस्कृति-धर्म्म-आचारादि मतवादात्मक कोई साम्प्रदायिक धर्म्म नहीं है, जिसके प्रचार के लिए इसे संघठन-अपेक्षित हो, शिष्य अपेक्षित हों । कदापि एतद्राष्ट्र का ब्राह्मण तो स्वशिष्यों की संख्यावृद्धि के लिए कभी समातुर नहीं बनता । आज के मठ-पीठाधीशों-आचार्य्यों-मतप्रवर्त्तकों के जहाँ असंख्य शिष्य हैं, जिनका एकमात्र पुरुषार्थ येनकेनरूपेण शिष्यों की संख्या ही बढ़ाना है, वहाँ संस्कृतिनिष्ठ-तत्त्वचिन्तक ब्राह्मण कदापि इस पथ का संस्मरण करना भी उचित नहीं मानता । यही नहीं, क्वाचित्करूपेण जिज्ञासारूप से समागत शिक्षार्थी भी कटुपरीक्षण के अनन्तर ही स्वाध्याय-निष्ठामात्र का प्राथमिक प्रश्रय प्राप्त कर सकते हैं ब्राह्मण की आश्रमानुगता जीवनपद्धति में ।

५०-धर्म्मनिरपेक्षता का दुर्भाग्यपूर्ण प्राथमिक परीक्षण, और भारतराष्ट्र—

सचमुच भारतराष्ट्र का वह महान् ही दुर्भाग्यपूर्ण क्षण था, जिसने संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण को भी भावुकतावश इस शिष्यपरम्परासक्ति की ओर आकर्षित कर लिया था । लोकैषणात्मिका इसी आसक्ति ने कालान्तर में इस ब्राह्मण को सन्त-आचार्य्य-मठाधीश-पीठाधीश-अखिलभूमण्डलाचार्य्य-आदि आदि उच्च पदवियों पर तो अवश्य ही ला बैठाया । भावुकप्रजा कण्ठी-माला-मन्त्रादि के माध्यम से असंख्य संख्या में शिष्य भी बन गई इन सिंहासनासीन आचार्य्यों की । इस लोकैषणा के अनुग्रह से वित्तैषणा भी सर्वात्मना सफल बनती रही इन की । तद्द्वारा ही कामोपभोगसुखों में भी ये सामन्त-राजाओं से पीछे नहीं रहे । यों लोकदृष्टि से वह सब कुछ भोगैश्वर्य्य अनायास ही मिल भी गया इन गुरुओं को । किन्तु

इस गुरुत्व से संस्कृति-धर्म्म-आचार-स्वाध्याय-आदि आदि को किन-किन भीषण परिणामों का अनुगामी बन जाना पड़ा राष्ट्र के गुरुपदधारी इहीं ब्राह्मणों के द्वारा ?, प्रश्न की चर्चा भी हमें प्रायश्चित्त की ओर ही आकर्षित कर रही है। इन अकाण्ड-ताण्डवों के कारण हीं तो आज आत्मनिष्ठ-संस्कृतिनिष्ठ-धर्म्मनिष्ठ भी इसी भारतराष्ट्र के इसी के सन्देशवाहकों के द्वारा विश्व में सर्वप्रथम **'धर्म्मनिरपेक्ष-सत्तातन्त्र'** जैसे धर्म्मवञ्चित परीक्षण आरम्भ कर देने का साहस, किंवा दुःसाहस हो पड़ा है। कालाय तस्मै नमः।

५१-'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्' की उदारतापूर्णा राष्ट्रीय-घोषणा—

समस्त विश्व की समस्त वित्तैषणा-एवं लोकैषणाओं का क्या मूल्य रह जाता है-विश्वप्रकृतिनियन्ता उस विश्वेश्वर की महामहिमा के सम्मुख, जिसके एक भ्रूविक्षेपमात्र से विश्ववैभव धूलिधूसरित हो जाया करता है, एवं एक मन्दस्मितमाधुरी से अनेक विश्वों की सम्पदा आविर्भूत हो पड़ती है। उस विश्वेश्वरात्मा को अपनी निष्ठा का मूलाधार बनाने वाला ब्राह्मण ही ईश्वर की निःश्वासभूता वेदसंस्कृति का चिन्तन कर सकता है। एवं ऐसे चिन्तक ब्राह्मण के सम्बन्ध में ही-**'स्वं स्वं चरित्रं-शिक्षेरन्'** यह उद्घोष किया जा सकता है। ऐसा ब्राह्मणमानव ही-**"अजितुं जेतुमनुचिन्तयेत्, न क्वचिदप्यलंबुद्धिमादध्यात्। यो वै भूमा-तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति। भूमानमित्युपास्व'** इत्यादि श्रौत आदेशों को शिरोधार्य्य कर विश्वभूमात्मिका विश्वमानवता को लक्ष्य बनाता हुआ अन्ततोगत्वा ईश्वरीय भूमा से अभिन्न बन जाता है। यही इसकी विदेहमुक्ति है, यही इसका जन्मसाफल्य है। और इसी बलपर इसके मुखपङ्कज से यह सरस्वतीधारा विनिःसृता होती रहती है कि-**"मा कश्चित्-दुःखभाग् भवेत्। सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः"**।

५२-राष्ट्रीय ब्राह्मण की विश्वमानवता, एवं तद्द्वारा विश्वमानवों का प्रशिक्षण—

सांस्कृतिक-विवेक को आधार मानकर प्रतिज्ञात **'सांस्कृतिक-आयोजन'** की रूपरेखा का भारतीय मानव से ही पूर्व में सम्बन्ध बतलाया गया था। (देखिए पृ० सं० ६)। उसी के पारिभाषिक स्वरूप के प्रासङ्गिक समन्वय के लिए भारतीय मानव के चतुष्पर्वा **व्यक्तिमानव**, चतुष्पर्वा **परिवारमानव**, चतुष्पर्वा **समाजमानव**, चतुष्पर्वा **राष्ट्रमानव**, एवं अपर्वा, किंवा सर्वपर्वा **विश्वमानव**, भेद से पाँच वर्ग बतलाए गए। इन वर्गों में पञ्चम विश्वमानव का भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

ध्यान रहे-विश्वमानव से प्रकृत में केवल वह ब्राह्मणमानव ही अभिप्रेत है, जो विश्व के मानवों के उनके अपने दैशिक-कालिक-कर्त्तव्य-कर्म्मों की नीति का व्यवस्थापक बनने की दशा में ही-'विश्वमानव' उपाधि से सुविभूषित रहता है, जिस दशा में इसकी अपनी भारतीया-शास्त्रीया-किंवा दैशिक-संस्कृति का कोई उपयोग नहीं होता। अतएव इसी दृष्टि से विश्वमानवरूप ब्राह्मणमानव का हमने भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों से साक्षात् सम्बन्ध नहीं माना है। राष्ट्रीय मानवस्थिति में वही ब्राह्मण जहाँ सम्पूर्ण राष्ट्रीय आयोजनों का मूलसाक्षी है, वहाँ विश्वमानवस्थिति में वही ब्राह्मण भारतेतर राष्ट्रों के सभ्यतात्मक कर्त्तव्यों-आयोजनों का नीतिमात्रव्यवस्थापक है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है।

५३-भारतीय मानव की मानवता, और उसकी मौलिक परिभाषा—

हाँ, तो उक्त पारिभाषिक राष्ट्रीय मानव के स्वरूपविश्लेषण के आधार पर अब हमें अपनी स्वल्पप्रज्ञा से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, भारतीय मानव की व्याप्ति व्यक्ति से उपक्रान्त होकर राष्ट्रपर्य्यन्त

व्याप्त हो रही है। स्मरण रहे, चारों हीं मानव–संस्थाओं में (व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–संस्थाओं में) प्रत्येक में भी चारों का अन्तरान्तरीभाव से समन्वय हो रहा है। केवल प्रधानता–अप्रधानता में ही तारतम्य है। अतएव सभी आयोजनों में, प्रत्येक आयोजन में सभी मानव गौण–प्रधानरूप से समन्वित रहा करते हैं। यह समत्त्व ही तो इन आयोजनों का सांस्कृतित्त्व है। यही तो इन आयोजनों की भारतीयता है। वैय्यक्तिक विशेषतानुबन्धी वर्त्तन विषम, किन्तु समब्रह्मानुगत–संस्कृतिरूप–दर्शन सर्वत्र–सम। **'समदर्शनत्त्वे सति विषमवर्त्तनत्त्वमेव भारतीयत्त्वम्'** यही तो भारतीयता की एकमात्र वह मौलिक परिभाषा है, जिस परिभाषा के अन्तराल में भारतीय मानव की भारतीयता का समस्त चिरन्तन इतिवृत्त समाविष्ट है, सुरक्षित है। उसी मानव–इतिवृत्त का स्मरण कर अब भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा उपक्रान्त हो रही है।

५४–चिरपुरातना संस्कृति को चिरनूतनता का समन्वय—

उपक्रान्ति से पूर्व एक प्रासङ्गिक, किन्तु अनिवार्य्य दृष्टिकोण को ओर लक्ष्य बना लेने का अनुग्रह कर लीजिए। दृष्टिकोण नवीन नहीं है। यहाँ के सांस्कृतिक–वातावरण में तो 'नवीन' जैसा कोई कल्पित अम्ब–यक्ष–मोह है ही नहीं। जो सनातन है, चिरपुरातन है, उसका प्रकृत्यनुगत व्यक्तरूप ही चिरनूतन बनता हुआ–'नवीन' नाम से व्यवहृत हो रहा है। जो पहिले से विद्यमान है, उसी का नव–नव–भाव से वितान हो रहा है–**'नवो नवो भवति जायमानः'**। जिसका सद्‌भाव नहीं है, न वह पहिले कभी था, न आज ही है। जो "है" उसका अभाव असम्भव है। जो नहीं है, उसकी कल्पना असम्भव है। अतएव चिरपुरातन ही चिरनूतन का आधार है। किंवा पुरातन ही नूतन है। एवं यही है भारतीय वह **'सत्कार्य्यवादसिद्धान्त'**, जिसका मर्म्म न समझने के कारण हीं अभिनव भारतराष्ट्र के समर्थ सञ्चालक महानुभाव भी आज भावावेश-वश 'पुरातन' नामश्रवणमात्र से आपादमस्तक संक्षुब्ध बनते हुए अपने काल्पनिक, अतएव नितान्त भावुकता-पूर्ण 'नूतनवाद' को ही भारतराष्ट्र की समुन्नति का एकमात्र कारण उद्‌घोषित करते जारहे हैं, जोकि उद्‌घोष सनातन–आत्मनिष्ठ भारत में तो कदापि सफल नहीं हो सकता। क्योंकि चिरपुरातन ही चिरनूतन की स्वरूप-व्याख्या है तत्वदृष्टि से, जिसका निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

नासतो विद्यते भावः–नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

—गीता २।६१।

५५–सभ्यता का चिरपुरातनभावानुगतित्त्वलक्षण संस्कृतित्त्व, एवं संस्कृति का चिरनूतन–भावानुगतित्त्वलक्षण सभ्यतात्त्व—

सभ्यता का चिरपुरातनरूप ही संस्कृति है, एवं संस्कृति का चिरनूतनरूप ही सभ्यता है। यों कहने को संस्कृति, और सभ्यता, पृथक्–पृथक् दो भाव हैं। वस्तुतः एक ही सद्‌भाव पुरातन–नूतन–दृष्टिकोणभेद से **संस्कृति–सभ्यता**–इन दो भावों में परिणत हो रहा है। यही कारण है कि संस्कृति के आधार पर सभ्यता का स्वरूपबोध प्रतिष्ठित है, तो सभ्यता संस्कृति की परिचायिका बनी रहती है। एक ही सद्‌भाव का सुसूक्ष्म प्राणात्मक बलगर्भित रसस्वरूप उसका अव्यक्तस्वरूप है, यही सद्‌भाव का सनातन–

पुरातन स्वरूप है, एवं इसी का नाम है–'**संस्कृति**'। उसी सद्भाव का स्थूलभूतात्मक रसगर्भित बलस्वरूप ही उसका व्यक्त स्वरूप है, यही सद्भाव का परिवर्त्तनरूपेण–प्रतीयमानमात्र नूतन स्वरूप है, एवं इसी का नाम है–'**सभ्यता**'।

५६–अव्यक्तभावप्रधाना प्राणमयी संस्कृति का चिरपुरातनत्त्व, एवं व्यक्तभावप्रधाना भूतमयी सभ्यता का चिरनूतनत्त्व—

अव्यक्त ही सिसृक्षा–दशा में व्यक्तरूप में परिणत होता है, जिसका अर्थ है "अव्यक्ता पुरातना संस्कृति ही व्यक्ता नूतना सभ्यता का मौलिक आधार है।" अहरागम में अव्यक्त ही व्यक्तरूप में परिणत हो रहा है, यही संस्कृति की सभ्यतारूप में परिणति है। एवं व्यक्त ही रात्र्यागम में पुनः अव्यक्तरूप में परिणत हो जाता है। यही सभ्यता की संस्कृतिरूप में परिणति है। अहरागम '**पुण्याह**' नामक एक सौर-सृष्टिकाल है, रात्र्यागम '**पुण्यरात्रि**' रूप एक सूर्य्यव्यक्तीभावात्मक लयकाल है। इस महती कालव्यवस्था का प्रतिक्षण में भी भोग हो रहा है। पूर्वक्षण में अव्यक्त, मध्यक्षण में व्यक्त, तदुत्तरक्षण में पुनः अव्यक्त। इसी स्थिति का यह भी स्पष्टार्थ है कि, पूर्वरूप संस्कृति, उत्तररूप सभ्यता, तदुत्तररूप संस्कृति, पुनः तदुत्तररूप सभ्यता। यों अव्यक्त सुसूक्ष्म प्राण, व्यक्त स्थूलभूत, दोनों का पूर्वोत्तरभावात्मक सनातन चङ्क्रमण ही संस्कृति, और सभ्यता का नियामक बना हुआ है, जिसका निम्न लिखित दो बचनों से रहस्यो–द्घाटन हो रहा है—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ॥
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १ ॥
—गीता ८।१८।

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ! ॥
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२॥
—गीता २।२८।

५७–संस्कृति का आधारत्त्व, एवं सभ्यता का आधेयत्त्व—

'**आधार सर्वत्र संस्कृति है, आधेय सर्वत्र सभ्यता है**'। और यही है दोनों का स्थूल मापदण्ड, जिसके माध्यम से दोनों का यथानुरूप समन्वय सम्भव बन जाता है। मानवस्वरूप की आधारभूता अव्यक्त-प्रकृति यदि संस्कृति है, तो आधेयभूत स्वयं व्यक्त मानव 'सभ्यता' है। यदि अव्यक्ता प्रकृति का आधा भाग अव्यक्तप्रधान बनता हुआ 'संस्कृति' है, तो उसी प्रकृति का आधा भाग व्यक्तप्रधान बनता हुआ सभ्यता है। तथैव अव्यक्ता-संस्कृति–रूपा प्रकृति से सम्बद्ध मानव का तल्लक्षण अर्द्ध–अव्यक्तरूप जहाँ संस्कृति है, वहाँ व्यक्ता प्रकृतिरूपा सभ्यता से विनिर्म्मित मानव का अर्द्ध- व्यक्त भाग सभ्यता है। यों अव्यक्ताधार–व्यक्ताधेयरूपों के तारतम्यों से अनेक दृष्टिकोणों से संस्कृति–सभ्यताओं का समन्वय किया जा सकता है, जिनमें से एक प्रासङ्गिक अनिवार्य्य दृष्टिकोण की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

५८–निरपेक्षा संस्कृति, और सापेक्षा संस्कृति का पार्थक्य—

विश्वेश्वर–अव्ययात्मा को हमने प्रथम प्रकरण में निरपेक्षा संस्कृति ही कहा है, जो सदा अव्यक्तभाव में हीं परिणत रहता है। अतएव इसे गुहानिहित–'**गूढोत्मा**' ही माना गया है, जिसका भूतरूपेण जहाँ व्यक्तीभाव सम्भव ही नहीं, वहाँ व्यक्तभावानुगत–'सभ्यता' शब्द का सम्बन्ध भी असम्भव ही है। अतएव उसे निरपेक्षसंस्कृतिरूप ही मान लिया जाता है, जिसका अर्थ होता है–'**केवल संस्कृतिरूप**'। अतएव सभ्यता–सापेक्षा संस्कृति, किंवा संस्कृति–सापेक्षा सभ्यता–जैसे सापेक्ष प्रसङ्गों से उस विश्वातीता निरपेक्षा संस्कृति का कोई भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

५९–निरपेक्षसंस्कृतिमूला निरपेक्षसभ्यता, एवं तन्मूलक सापेक्ष–संस्कृति–सभ्यताद्वन्द्व—

अब सम्मुख उपस्थित होता है प्राकृतिक विश्व, जो अपने प्राणरूप से अव्यक्त बनता हुआ जहाँ 'संस्कृति' शब्द का अधिकारी है, वहाँ व्यक्त अव्यक्त से अतीता–सनातना–निरपेक्षा–अव्ययसंस्कृति के समतुलन में तो इसे भी व्यक्त ही कहा जायगा, एवं इस दृष्टि से प्राणप्रकृतिप्रधान अमूर्त्त–अव्यक्त भी विश्व के 'सभ्यता' ही कहा जायगा, जो सभ्यता मानी जायगी निरपेक्ष–संस्कृतिरूप अव्ययपुरुष की ही। इसी आधार पर प्रथम प्रकरण में हमने '**पुरुष–प्रकृति**' का युग्म मानते हुए पुरुष को संस्कृति कह दिया है, प्रकृति को सभ्यता बतला दिया है। व्यक्त–अव्यक्त से अतीत सनातन–निरपेक्ष अव्ययपुरुष ही '**निरपेक्षा संस्कृति**' है, एवं अव्यक्त प्राणमयी, अतएव सनातना, अतएव निरपेक्षा प्रकृति ही '**निरपेक्षा सभ्यता**' है, जिसके आधार पर अब आगे सापेक्षभावों का आविर्भाव होने वाला है। एवं तदनुबन्धों से ही स्वयं के प्रातिस्विक अव्यक्तरूप से निरपेक्षा सभ्यता बनती हुई भी वह प्राणप्रकृति अपने उत्तररूप से सापेक्षा ही बन रही है। अतएव इस दृष्टिकोण से तो विशुद्ध निरपेक्ष संस्कृतिभाव की आश्रयभूमि तो अब एकमात्र विश्वातीत अव्ययपुरुष ही शेष रह जाते हैं।

६०–संस्कृति–सभ्यता–द्वन्द्व की मूलाधिष्ठात्री पञ्चपर्वा प्रकृतिदेवी का संस्मरण—

हाँ, तो निरपेक्ष–संस्कृतिरूप अव्ययपुरुष की प्राणमयी अव्यक्ता प्रकृतिरूपा सभ्यता के स्वरूप को लक्ष्य बनाइए, जो अपने से उत्तर के व्यक्तरूपों की संस्कृति बनने वाली है। स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–प्राणात्मक छन्दोमय आण्डवृत्तों से कृतरूप ये पाँचों ब्रह्मपुर पञ्च प्राणों की ऊर्म्मियाँ मात्र हीं हैं। यही पञ्चप्राणात्मिका–पञ्चपर्वा वह अव्यक्ता–विश्वप्रकृति है, जिसका महर्षि श्वेताश्वतर ने यशोगान कर अपने आपको धन्य–कृतकृत्य बनाया है—

> **पञ्चस्रोतोम्बुं–पञ्चयोन्युग्रवक्रां–पञ्चप्राणोर्म्मिं–पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।**
> **पञ्चावर्त्तां–पञ्चदुःखौघवेगां–पञ्चाशद्भेदां–पञ्चपर्वामधीमः॥**
>
> —श्वे० उप० १।५।

६१–पञ्चपर्वा प्राकृतिक विश्व की अव्यक्तरूपता का समन्वय—

पञ्चप्राणमूर्त्ति, अतएव केवल छन्दोमय–ब्रह्मपुरमय–आण्डमूर्त्ति (ब्रह्माण्ड नामक) पञ्चपर्वात्मक विश्व ही अव्यक्तविश्व है, जिसे प्राणसम्बन्ध से ही–'**अधिदैवतम्**' कहा गया है। परोक्षप्रिय हैं ये प्राणदेवता,

जो प्रत्यक्ष की आधारभूता–रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द–नाम की पाँचों तन्मात्रा (भूत) सीमाओं से सर्वथा अतीत माने गए हैं। अतएव '**परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः**' कहा गया है। देवप्राणमूर्ति स्वयम्भू परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-नाम से उपस्तुत पाँच पुरों की समष्टि ही अव्यक्त-प्राणजगत् की स्वरूपव्याख्या है, जिसे अव्यक्तातीत पुरुषापेक्षया 'सभा' भावानुबन्ध से 'सभ्यता' कह दिया गया है, जिस इस देवसभा के सभ्यों, सभ्यताओं, विधि-विधानों का स्वरूपदिग्दर्शन प्रथम प्रकरण में कराया जा चुका है। (देखिए पृ० सं० १४७)।

६२-प्रकृतिमूला संस्कृति, एवं विकृतिमूला सभ्यता का स्वरूप-समन्वय—

पञ्चप्राणपुरात्मक, अतएव अव्यक्तमूर्ति इसी अमूर्त्त विश्व के आधार पर क्षरात्मक व्यक्तभाव के द्वारा पञ्चमहाभूतात्मक व्यक्त-भूतमय-मूर्त्त-भौतिक जगत् का आविर्भाव हुआ है, जिसकी प्रवर्त्तिका बनती है पञ्चतन्मात्राएँ। यही वह दृश्य-स्पृश्य-व्यक्त-मूर्त्त-भूतजगत् है, जिसे हम उस अदृश्य-अस्पृश्य-अव्यक्त-अमूर्त्त प्राणविश्व का उत्तररूप कह सकते हैं। इस उत्तररूपात्मक आधेयजगत् का आधार पूर्वरूपात्मक प्राणमय अव्यक्त विश्व ही बना हुआ है। इस आधार-आधेय-भावानुबन्ध से ही पूर्वपरिभावानुसार सभ्यतात्मक प्राणमय विश्व के प्राणात्मक आधारस्थानीय पूर्वरूप को हम '**संस्कृति**' कह सकते हैं, एवं इसी के भूतात्मक-दृश्य-प्रत्यक्ष-जगत्-रूप उत्तररूप को '**सभ्यता**' कह सकते हैं। इसी आधार पर प्रथम प्रकरण में हमें यह कहना पड़ा था कि, सभ्यता के पूर्वरूप का नाम ही '**संस्कृति**' है, एवं उत्तररूप का नाम ही **सभ्यता** है। यही वह दूसरा युग्म है–जिसे हमने तत्रैव प्रथम प्रकरणे '**प्रकृति-विकृति**' युग्म कहा है। अव्यक्तविश्व ही जगत् की प्रकृति है, यही सभ्यता का (प्रकृति का) पूर्वरूप है, यही संस्कृति है। व्यक्त जगत् ही विकृति है, यही सभ्यता का (प्रकृति का) उत्तररूप है, यही सभ्यता है। एवं यही है-सापेक्ष संस्कृति-सभ्यता-शब्दों का प्रथम समन्वय।

६३-एकान्ततः सत्तानिरपेक्षा भारतीय-संस्कृति—

अव्यक्त–प्राणविश्व–रूपा संस्कृति ही द्विजातिमानव की '**सांस्कृतिक–निष्ठा**' है, जिसका श्रुति-स्मृति–शास्त्र में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। इसी के अवान्तर चार सांस्कृतिक विवर्त्त हैं, जिन्हें क्रमशः–**मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थ**–संस्कृति कहा गया है। ये ही वे चार पुरुषार्थ हैं, जिनका अनुष्ठान ही सांस्कृतिक–अनुष्ठान है। निष्ठापूर्वक शास्त्रविधि से इन चारों प्राणसंस्कृतियों का आचरण ही हुआ करता है। एवं इस आचरणनिष्ठा में सच्छन्दस्क द्विजातिमानव ही अधिकृत है। स्वयं शास्त्र ही इस संस्कृति की सापेक्षा का एकमात्र अवलम्ब है। लोकशासक सत्तातन्त्र की सापेक्षता का, किंवा तो अन्य किसी बुद्धिवादी की काममयी इच्छाओं–व्याख्याओं–सुझावों का प्रवेश भी निषिद्ध है–इस संस्कृतिचतुष्टयी के क्षेत्र में, जिसमें शास्त्रविधिपूर्वक ही अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरणधिया–प्रतीकधर्म्मचतुष्टयी भी सुव्यवस्थित है। यही संस्कृति, एवं तदाचरणात्मक धर्म्म की शास्त्रसापेक्षता, एवं सत्तानिरपेक्षता है, जिस इस सत्तानिरपेक्ष–भावानुबन्ध से ही इस आचारसंस्कृति को हमने–'**सत्तानिरपेक्षा संस्कृति**' कहा है, एवं इसी आधार पर प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध है। सत्तातन्त्र की कौन कहे, स्वयं अवतारपुरुष–मानवशरीरी भगवान् भी इस शास्त्रीयाचाररूपा संस्कृति, एवं धर्म्म में हस्तक्षेप नहीं किया करते।

कब क्या करना चाहिए ?, क्या नहीं करना चाहिए ?, इत्यादि में अवतारपुरुष भी निर्णायक नहीं बन सकते, नहीं बना करते मर्य्यादासंरक्षण की दृष्टि से, जैसाकि निम्न लिखित अवतारवचनों से स्पष्ट है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ॥
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥१॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ॥
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तुमिहार्हसि ॥२॥

—गीता १६।२३;२४,।

६४-सांस्कृतिक जागरण के मूलाधार तत्त्व—

गीताशास्त्र कर्त्तव्य-कर्म्म का कभी निर्णय नहीं करता । कदापि गीता विधि-निषेधात्मक कर्त्तव्य-कर्म्म-निर्णायक शास्त्र नहीं है । अतएव जो यह मान बैठते हैं कि, 'हम गीता के द्वारा ही कर्त्तव्यविधि पूर्ण कर लेंगे', सर्वथैव भ्रान्त हैं । स्वयं गीताशास्त्र स्पष्ट शब्दों में इस महान् उत्तरदायित्व से अपना आत्मत्राण कर रहा है-'**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**' कहता हुआ । गीताशास्त्र तो बुद्धियोगात्मक-कर्म्मकौशलमात्र का ही निरूपक शास्त्र है । कैसे करना चाहिए ?, इसी प्रश्न के सम्बन्ध में गीता औपनिषद सिद्धान्तों की व्याख्यामात्र करता है । तदित्थं-जबकि अवतारपुरुष भी भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म्म को सापेक्ष नहीं बना सकते, तो फिर उस सत्तातन्त्र के सम्बन्ध में तो कोई प्रश्न ही शेष नहीं रह जाता, जो स्वयं शास्त्रादेशानुसार संस्कृति, तथा धर्म्म के नियन्त्रण से ही सञ्चालित रहता है । जब जब संस्कृति और धर्म्म के सन्देशवाहक संस्कृति-धर्म्मनिष्ठ ब्राह्मणों नें राजभक्ति के आवेश में आकर सत्तातन्त्र के आश्रय की कामना की है, सत्ता को प्रभु मान लिया है संस्कृति और धर्म्म का, तब तब ही राष्ट्र की संस्कृति का स्वरूप अभिभूत हो गया है । संस्कृति का स्वरूप तो सत्तातन्त्र से ही क्या, सत्तातन्त्र से पुष्पित-पल्लवित होने वाले, किंवा सत्तातन्त्र को प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से पुष्पित पल्लवित करने वाले वणिक्‌तन्त्र-मतवादतन्त्र-सन्ततन्त्र-आचार्य्यतन्त्र-आदि आदि सभी तन्त्रों से निरपेक्ष बना रह कर ही अपने ज्ञानविज्ञानात्मक मौलिकस्वरूप से अक्षुण्ण बना रह सकता है । एवं यह महान् उत्तरदायित्व ही संस्कृतिनिष्ठ भारतीय उस ब्राह्मण का महान् पौरुष है, जो समस्त-वित्तैषणाओं, विशेषतः सतत जागरूकतापूर्वक लोकैषणात्मक महान् व्यामोहनों से अव्ययात्मनिष्ठानुग्रह-बल पर अपना परित्राण करते रहने की क्षमता रखता है । नान्यः पन्था विद्यते अयनाय । जबतक ब्राह्मण ऐसा नहीं कर लेता, ऐसा नहीं बन जाता, तबतक कदापि इस राष्ट्र में सांस्कृतिक-जागरण तो स्वप्न में भी सम्भव नहीं है ।

६५-विकृतिरूप चतुर्दशविध (१४) भूतसर्ग का स्वरूपदिग्दर्शन—

अब व्यक्त-क्षरात्मिका भूतप्रधाना 'विकृति' से समन्वित उस व्यक्त-मूर्त्त-दृश्य-स्पृश्य-भौतिक जगत को लक्ष्य बनाइए, जिसे सभ्यता के पूर्वरूपात्मक-अव्यक्तप्राणमय-प्रकृतिरूप-अमूर्त्त-विश्व का उत्तररूप बतलाया गया है । इस विकृतिरूप भौतिक जगत् से उत्पन्न होने वाला प्रजासर्ग ही भौतिक, किंवा-भूतसर्ग है, जिसके **स्तम्ब[१]-कृमि[२]-कीट[३]-पक्षी[४]-पशु[५]-मानव[६]-यक्ष[७]-राक्षस[८]-पिशाच[९]-गन्धर्व[१०]-ऐन्द्र[११]-पैत्र्य[१२]-प्राजापत्य[१३]-**

[१४] ब्राह्म–ये अवान्तर चौदह विवर्त्त माने गए हैं, यही सांख्यशास्त्रसम्मत–'चतुर्दशविधो भूतसर्गः' है । यही 'प्राणीसर्ग', किंवा जीवसर्ग है । इन १४ प्रकार के जीवों का भूपिण्ड–पृथिवी–चन्द्रमा–भेद से तीन भागों में त्रेधा वर्गीकरण हो रहा है । ओषधि–वनस्पत्यादि–मूलजीव भामजीव हैं, जिनका मूल भूगर्भ में हीं प्रतिष्ठित रहा करता है । इन्हें ही तमोविशाल (तमोगुणप्रधान) 'स्तम्बजीव' कहा गया है । भूपृष्ठ से संलग्न पार्थिव अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले कृमि–कीट–पक्षी–पशु–नर ये पाँच जीव पार्थिवजीव हैं, जिन्हें रजोविशाल (रजोगुणप्रधान) 'तिर्य्यग्जीव' कहा गया है । चान्द्र–सौम्य–अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले यक्ष–राक्षस–पिशाच–गन्धर्व–ऐन्द्र–पैत्र्य–प्राजापत्य–ब्राह्म ये आठ प्रकार के चान्द्रजीव हैं, जिन्हें सत्त्वविशाल (सत्त्वगुणप्रधान) माना गया है । ये चौदह प्रकार के जीव ही भौतिकजीव हैं, जो षट्भावविकारों से समन्वित रहते हुए प्रजापति की 'प्रजा' माने गए हैं ।

इन में जो '**नर**' नामक चान्द्रजीव है, वही अव्ययात्मस्वरूप से समन्वित होता हुआ इन चौदहों में हीं नहीं, अपितु समस्त विश्व में श्रेष्ठ है । इस श्रेष्ठता ने ही इसे 'नर' से 'मानव' बना दिया है, जिसका '**मनुरूप अव्ययमन**' से ही सम्बन्ध है । इसी आधार पर–'**न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्**' सिद्धान्त स्थापित हुआ है । और जीव जहाँ केवल जीव हैं, प्रकृतिमात्र हैं, प्रकृतिपरवश हैं । वहाँ मानव जीवभाव के साथ साथ आत्मभाव से भी अभिव्यक्त है । और यों वही मानव जीवभाव से जहाँ षड्भाव-विकारों से इतर तेरह जीवों की भाँति विकृतिभावात्मक–जन्म–मरण धर्म्मा–साधारण प्राकृत प्राणीमात्र बना हुआ है, वहाँ वही मानव अपने आत्मभाव से अप्राकृत बनता हुआ, स्वतन्त्र पुरुषार्थ से भी समन्वित होता हुआ सांस्कृतिक मानव प्रमाणित हो रहा है । इतर जीव केवल विकृति हैं, अतएव संस्कृति से असंस्पृष्ट हैं, वैकारिक प्राकृतिक दिग्देशकालानुबन्धी परिवर्त्तनरूप सभ्यताभाव ही इन प्राकृत जीवों की क्षमता है । किन्तु मानव विकृति के साथ प्रकृति भी है, प्रकृति के साथ साथ पुरुष भी है, आत्मा भी है । आत्माकृति ही संस्कृति है, जब कि विकृतिरूपा भूतकृति केवल सभ्यता ही मानी गई है । मानव इतर (१३ हों) भूतजीवों की भाँति विकृतिरूपा भूतकृति बनता हुआ एक ओर जहाँ सभ्यता का ही प्रतीक है, वहाँ विकृति–प्रकृत्यधिष्ठाता-आत्मपुरुष की कृति (अभिव्यक्ति) बनता हुआ संस्कृति का भी अन्यतम प्रतीक बना हुआ है । और यों मानवस्वरूप में आत्मदृष्टि से संस्कृति का, एवं विकृतिरूपा भूतदृष्टि से सभ्यता का, दोनों का समन्वय हो रहा है । यही पुरुषाभिन्न–प्रकृति–विकृतियुग्म का दूसरा युग्म है, जिसकी दृष्टि से मानव उभयात्मक बना हुआ है ।

६६–विकृति, एवं विकास–समन्वयात्मक तृतीय युग्म का दिग्दर्शन—

अब क्रमप्राप्त '**विकृति-विकार**'-रूप तीसरे युग्म का भी दो शब्दों में समन्वय कर लीजिए । जिन मानवों नें कभी आत्मस्वरूप को पहिचानने का प्रयास ही नहीं किया, वे ही शास्त्रीय परिभाषा में यायाजात प्राकृत 'चान्द्रमानव' कहलाए हैं, जिनका चतुर्द्दशविध भूतजीवसर्ग में हीं अन्तर्भाव है । जीवभाव से विकारभाव की ओर आकर्षित बने रहना हीं इन चान्द्रमानवों का एकमात्र जीवनेतिवृत्त है । मनः-शरीर, एवं तदनुगत कामार्थ के पोषण में उपयुक्ता-लोकबुद्धि, इन तीन भावों के अतिरिक्त चौथे आत्मभाव का संस्मरण भी इनके लिए निषिद्ध ही बना रहता है । अतएव विकाराश्रयभूता विकृति, (जिसे ये अपनी भाषा

में 'प्रकृति' कहा करते हैं, जब कि प्रकृति का देवप्राणरूप अव्यक्तभाव से ही सम्बन्ध है। जिसका तो भूतवादियों के भौतिक विज्ञान के साथ आजतक संस्पर्श भी नहीं हुआ है) ही इनकी आराध्या बनी रहती है, जिसके समन्वय--तारतम्य से (रासायनिक-भौतिक सम्मिश्रणतारतम्य से) नवीन वैकारिकभाव (आविष्कार) उत्पन्न करते हुए उत्तरोत्तर अपने मानवजीवन को संकटग्रस्त बनाने में हीं ये प्राकृत नर प्रयत्नशील बने रहते हैं।

६७–प्रकृतिविमूढ-प्राकृत-चान्द्रमानव का प्रकृतिविजय-व्यामोहन—

यही भूतविज्ञानानुबन्धी-चान्द्र-प्राकृत-मानवों का एकमात्र इतिवृत्त है, जो अपनी इस विकारात्मिका भूतासक्ति से पार्थिव अन्य भूतजीवों की अपेक्षा भी कहीं अधिक परतन्त्र बने हुए हैं। यही प्राकृतिक (वैकारिक) पारतन्त्र्य आज की भूतविज्ञानभाषा में भ्रान्तिवश-'**प्रकृतिविजय**' नाम से उद्घोषित है, जब कि वस्तुगत्या यह मानव का प्राकृतिक पराजय ही बन रहा है। दुर्भाग्य है यह भारत राष्ट्र का कि, जो अपनी सांस्कृतिक (आत्मिक) पौरुष शक्तियों को विस्मृत कर प्रकृतिविजेता आत्मपुरुष को अभिभूत कर आज के भूतविज्ञान का अन्धानुकरण करता हुआ तन्माध्यम से अपनी सांस्कृतिक आचारनिष्ठाओं को अवैज्ञानिक कहने की भूल करता हुआ कल्पित-'प्रकृतिविजय' के व्यामोहन में आसक्त-व्यासक्त-मना बन कर अपनी भारतीय-मानवता से सर्वथा ही पराःपरावत बन जाने के लिए आतुर प्रमाणित हो रहा है।

६८–पुरुष-प्रकृतिरूप प्रथम युग्म की आराध्यता, प्रकृति--विकृतिरूप द्वितीय युग्म की सापेक्षता-एवं विकृति-विकाररूप तृतीय युग्म की ऐकान्तिक निरपेक्षता—

स्पष्ट ही विकृति–विकाररूप--भूतसर्गमात्र–निबन्धन-तृतीय-अकृतात्मलक्षण-युग्म-भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण से असंस्पृष्ट ही प्रमाणित हो रहा है। संस्पृष्ट, एवं उपादेय है-प्रकृति-विकृतिरूप-मध्यम युग्म, एवं पुरुष-प्रकृतिरूप प्रथमयुग्म। प्रथम युग्म का अलौकिक-अतिमानव से सम्बन्ध है, जिसे '**ऋषि**' कहा गया है। द्वितीय युग्म ही प्रस्तुत निबन्ध का मूलाधार है, जिसके **अव्यक्तप्राण--प्रकृति**, एवं **व्यक्तभूतविकृति**–भेद से दो विवर्त्त हैं। अव्यक्ता प्रकृति '**अव्यक्त–प्राणात्मक विश्व**' है, एवं व्यक्ता विकृति '**व्यक्त–भूतात्मक** जगत्' है। दोनों विवर्त्तों का क्रमशः **शास्त्रविधिसमन्विता आचारनिष्ठा, आचारसमन्विता लोकनिष्ठा**, इन दो निष्ठाओं से सम्बन्ध है। आचारनिष्ठा का **द्विजातिमानव** से सम्बन्ध है, लोकनिष्ठा का द्विजबन्धु-नारी-बालवर्गादि **आस्तिक प्रजावर्ग** से सम्बन्ध है। द्विजातिमानव की संस्कृति **शास्त्रीय कर्त्तव्यकर्म** है, आस्तिक प्रजावर्ग की संस्कृति शास्त्रानुगत-**लौकिक–कर्त्तव्यकर्म्म** है।

६९–शास्त्रानुगत लौकिक कर्म्म, एवं उनकी मनःशरीरप्रधानता, तथा शास्त्रीय कर्म्म, एवं उनकी आत्म-बुद्धिप्रधानता—

इन शास्त्रानुगत लौकिक कर्त्तव्यकर्म्मों का मूलाधार **मनोऽनुगत शरीरतन्त्र** है, एवं शास्त्रीय कर्त्तव्य-कर्म्मों का मूलाधार **आत्मानुगत बुद्धितन्त्र** है। आत्मानुगत बुद्धितन्त्र ही द्विजातिमानव **की**, तत्रापि विशेषतः ब्राह्मणमानव की मूलभूता **सांस्कृतिक**-आचारनिष्ठा है। मनोऽनुगत शरीरतन्त्र ही सामान्य प्रजावर्ग की, तत्रापि विशेषतः मनोनिबन्धन **वैश्यवर्ग** की, मनःशरीरनिबन्धन-**नारीवर्ग** की, एवं मनोगर्भित–**शरीरप्रधान बालवृन्द** की तूलरूप **सांस्कृतिक-आयोजन** ही मूलनिष्ठा है। भूतात्मा का प्रतीकभूत धर्मनीतिव्यवस्थापक

ब्राह्मण, एवं धर्मनीति को राजनीति के द्वारा प्रवृत्त रखने वाला **सत्तातन्त्र**, दोनों वैश्य-नारी-बालवृन्द के द्वारा समायोजित भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों में कदापि साक्षात् - रूपेण भाग नहीं लिया करते । अपितु तटस्थरूपेण साक्षीमात्र ही बने रहते हैं इन आयोजनों के । किन आयोजनों के ?, उन आयोजनों के–जो शास्त्रानुमोदित होते हुए भी वैश्य-नारी-बाल-द्विजबन्धु-वर्ग के अनुरञ्जन–भावों से भी समन्वित रहते हुए अमुक अंश में भावुकता के संरक्षक ही आयोजन बने रहते हैं । अतएव वैदिक ब्राह्मण, एवं निष्ठानुगृहीत सत्तातन्त्र कदापि इन भावुकतापूर्ण शास्त्रानुमोदित आयोजनों में भी स्वयं कदापि अभिनेता नहीं बना करते, जैसा कि-'**तस्माद् ब्राह्मणो न नृत्येत, न गायेत**' इत्यादि श्रौतवचन से स्पष्ट हो रहा है ।

७०–द्विजातिमानववर्गानुगत-'सांस्कृतिक–आचार'-एवं द्विजबन्धु-नारी–बालवर्गानुगत-'सांस्कृतिक-आयोजन'—

इस प्रासङ्गिक दृष्टिकोण के आधार पर अब हमें यह कह देना चाहिए कि, **आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर**-मानवीय इन चारों पर्वों का ब्रह्मक्षत्र, एवं इतरप्रजावर्ग, इन वर्गों के साथ क्रमिक समन्वय हो रहा है । ब्राह्मणवर्ग बुद्धिगर्भित आत्मतन्त्र का प्रतीक है, सत्तातन्त्रात्मक शासनतन्त्र-आत्मगर्भित बुद्धितन्त्र का प्रतीक है । दोनों केवल निष्ठात्मक तन्त्र हैं । अतएव दोनों का '**सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा**' से ही सम्बन्ध है । शेष द्विजबन्धु–नारीवर्ग–बालवर्ग–पौष्णवर्ग–आदि मनःशरीरप्रधान हैं । इन मनःशरीरप्रधान वर्गों की आस्था-श्रद्धा को भावुकता-संरक्षणपूर्वक पुष्पित पल्लवित करने के लिए ही 'सांस्कृतिक-आयोजन' व्यवस्थित हुए हैं । सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा का आधार जहाँ **श्रुतिस्मृतिशास्त्र** है, वहाँ सांस्कृतिक आयोजनों का आधार '**पुराणशास्त्र**' ही बना हुआ है । यही भारतीय मानव की निगम (श्रुति)-आगम (स्मृति)-पुराण-सम्मता वह संस्कृति है, जो श्रुति-स्मृति-पुराण की उपेक्षा से, तथा अन्यान्य कल्पित-मतवादात्मक शास्त्राभासलक्षण–शास्त्रों की भक्ति से सर्वथैव अभिभूत हो गई है । अतएव 'सांस्कृतिक-आयोजन' जैसे मनःशरीरप्रधान-व्यासङ्ग भी आज दुर्बोध्य बने हुए हैं कल्पितशास्त्रभक्त भारतीय राजभक्त भारतीय विद्वानों के लिए भी । ऐसी दशा में यदि यह आयोजन-प्रकरण सामान्य-लोकमानवों के लिए समस्या-समाधान के स्थान में समस्या को और भी अधिक जटिल बनादे, तो न इसमें हमारा ही दोष है, न लोकमानवों का ही । अपनी मूल परिभाषाओं की विस्मृति के जो दुष्परिणाम हुआ करते हैं, वे ही आज होरहे हैं, जिनके प्रति किसी को भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता । इस प्रासङ्गिक दृष्टिकोण को यहीं उपरत कर अब तो हमें सांस्कृतिक-आयोजन की रूपरेखा का श्रीगणेश कर ही देना चाहिए ।

७१–'कारणसमुदायस्यैव कार्य्यं प्रति कारणत्वम्' मूला कारणसमन्वयजिज्ञासा—

किन्तु-'चाहिए' मात्र से ही तो मानव की चाह सफल नहीं हो जाया करती । अवश्य ही इस 'चाहिए' की पूर्त्ति के लिए कारणात्मिका अनेक चाहों का समन्वय ही पहिले चाहिए । क्योंकि–'**कारणसमुदायस्यैव कार्य्यं प्रति कारणत्वम्**' के अनुसार अनेक कारणों के समन्वय से ही एक कार्य्य का सर्वाङ्गीण स्वरूप-सम्पन्न हुआ करता है । फिर चतुष्पर्वसमन्वयमूला संस्कृतिके स्वरूप-समन्वय के लिए तो यह सर्वकारणता सर्वथैव अनिवार्य्या बन जाती है, जब कि अङ्ग-भङ्गरूपा-सभ्यता का निर्वाह गच्छतः-स्खलनरूप से इधर-उधर के प्रतारणात्मक जोड़-तोड़ बैठाने मात्र से भी हो जाया करता है । प्रश्न उपस्थित है उस संस्कृति का, जिसकी

शब्दार्थ-व्यञ्जना भी आज स्मृतिगर्भ में विलीन ही हो रही है। तभी तो ढोलक बजाने वाला भी आज अपने इस आयोजन को सांस्कृतिक-आयोजन ही मान रहा है। तभी तो चित्रपट की देवियाँ, एवं अभिनेता भी आज सांस्कृतिक शिष्टमण्डलरूप से विदेशों में भारतीय संस्कृति ? का प्रचार करने सोल्लास भेजे जा रहे है हमारे सांस्कृतिक ? सत्तातन्त्र के द्वारा। ऐसी स्थिति में संस्कृति की रूपरेखा के स्पष्टीकरण में हमें कारणात्मक अनेक चाहों के प्रति विवशतावश अनुधावन करना ही पड़ रहा है।

७२–'विकास' शब्दमूला भ्रान्ति का निराकरण, एवं महिमा-भूमा-साहस्री-आदि भावों का समन्वय–

स्मरण कीजिए, पूर्व में हमने व्यक्तिमानव के **व्यक्ति-परिवार–समाज–राष्ट्र**–ये चार संस्थान बतलाए हैं। यद्यपि चारों का मूलाधार व्यक्तित्त्व ही है, जिसके आधार पर क्रमशः परिवार–समाज-राष्ट्र-रूपा मानववर्गत्रयी प्रतिष्ठिता है। किन्तु–'**अणोरणीयान्–महतो महीयान्**' सिद्धान्तानुसार व्यक्ति के केन्द्र में अवस्थित–संस्कृतिलक्षण–गुहानिहित अणोरणीयान् (हृदयरूप) आत्मदेव ही अपने भूमाभावात्मक–श्वः–श्वः वसीयान्-भाव से परिवार-समाज-राष्ट्ररूप में परिणत होता हुआ महतोमहीयान् बन रहा है। अतएव अब राष्ट्र ही आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व का मूलाधार बना हुआ है। ध्यान रहे–यहाँ 'विकास' का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्रमिक उन्नति से सम्बन्ध रखने वाला विकास इतिहास की भाषा है, जिसका लोकतन्त्राध्यक्ष–शासकवर्ग की परिवर्तनशीला सभ्यता से ही सम्बन्ध माना गया है। सभ्यता का ही विकास-और पतन, उन्नति तथा अवनति हुआ करती है। कदापि धर्मभाषात्मिका सांस्कृतिक–भाषा में इन भावुकतापूर्ण दिग्देशकालानुबन्धी शब्दों का प्रवेश सम्भव नहीं है। **महिमा–लीला–भूमा–साहस्री–वितान–आतान–अभ्युदय–निःश्रेयस्**–आदि शब्द ही यहाँ की संस्कृति में संग्रहीत हैं, जो सनातन-निष्ठाओं के समर्थक बने हुए हैं।

७३–अव्ययेश्वर का सनातन अणोरणीयत्त्व, एवं महतो महीयस्त्व—

जिस क्षण में आत्मदेव अणोरणीयान् हैं, उसी क्षण में वे महतो महीयान् भी हैं। उसके संकल्प और कर्म्म में दिग्देशकाल का कोई व्यवच्छेद नहीं है। अतएव–'**स भूरिति व्याहरत्–पृथिव्यभवत्**' कहा गया है, जिसका अर्थ है–'**प्रजापति के मुख से जिस क्षण–'भूः' शब्द निकला, उसी क्षण पृथिवी का स्वरूप व्यक्त हो पड़ा**'। दिग्–देश–कालानुबन्ध तो प्रकृति के धर्म्म हैं, जहाँ **ऋतु के अनुसार** ही भूतजगत् का क्रमिक–विकास–ह्रास हुआ करता है। प्रकृति से पर अवस्थित–संस्कृतिरूप-पुरुषात्मा तो दिग्देशकालसीमा से असंस्पृष्ट है, शाश्वत है, सदैकरस है। अतएव तन्महिमा को 'विवर्त्त' ही कहा गया है, जिस इस रहस्य के वास्तविक-समन्वय-बोध के लिए तो अथर्ववेदीय कालसूक्त का ही स्वाध्याय करना चाहिए प्रकृतिप्रेमी-आज के विकासवादियों को।

७४–प्रकृति से अनुप्राणित व्यक्तिवाद, एवं पुरुष से अनुप्राणिता राष्ट्रनिष्ठा, तथा संस्कृति और सभ्यता का समन्वय—

हाँ, तो व्यक्तिमानव का केन्द्रस्थ अणोरणीयान् आत्मदेवता ही राष्ट्ररूप में आकर महतोमहीयान् बन गया है। और यों अब स्थितिदृष्टि से परिस्थिति सर्वथा परिवर्त्तित हो गई है। **व्यक्तिवाद की दृष्टि से**

व्यक्तिमानव भूतात्मा का, परिवारमानव बुद्धि का, समाजमानव मन का, एवं राष्ट्रमानव शरीर का प्रतिनिधि बन रहा था, तो अब राष्ट्रीय-दृष्टि से राष्ट्रमानव, एवं तद्रूप-राष्ट्र 'भूतात्मा' का प्रातिनिध्य कर रहा है, जिसका प्रतीक माना गया है **'ब्राह्मण'**। एवमेव समाजमानव, एवं तद्रूप समाज बुद्धि का प्रातिनिध्य कर रहा है, जिसका प्रतीक माना गया है **क्षात्र-सत्तातन्त्र**। परिवारमानव, एवं तद्रूप परिवार मन का प्रातिनिध्य कर रहा है, जिसका प्रतीक माना गया है-**वैश्यवर्ग**। सर्वान्ते च-व्यक्ति-मानव, एवं तद्रूपा व्यक्ति शरीर का प्रातिनिध्य कर रही है, जिसका प्रतीक माना गया है-शूद्रवर्ग। इस परिवर्त्तनीया स्थिति का समन्वय कर के ही हमें सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा का उपक्रम करना **चाहिए**।

व्यक्तिभावः—प्रकृत्यनुगतः		राष्ट्रनिष्ठा—पुरुषात्मानुगता
१—व्यक्तिमानवः — भूतात्मस्थानीयः —		—राष्ट्रमानवः —राष्ट्रम् (ब्राह्मणः प्रतिनिधिः)
२—परिवारमानवः — बुद्धिस्थानीयः —		—समाजमानवः —समाजः (सत्ताभावः प्रतिनिधिः)
३—समाजमानवः — मनःस्थानीयः —		—परिवारमानवः—परिवारः (वैश्यः प्रतिनिधिः)
४—राष्ट्रमानवः — शरीरस्थानीयः —		—व्यक्तिमानवः —व्यक्तिः (शूद्रः प्रतिनिधिः)
अणोरणीयान्—आत्मदेवः—	— —	—महतोमहीयान्—आत्मदेवः
भारतीयानां—व्यक्तिनिष्ठा		समाजनिष्ठा-राष्ट्रनिष्ठा वा भारतीयानाम्
सैषा संस्कृतिः————	————	——**सैषा सभ्यता**
अत्र-सांस्कृतिकनिष्ठा प्रतिष्ठिता		अत्र-सांस्कृतिक-आयोजनानि प्रतिष्ठितानि

७५—सांस्कृतिक निष्ठाक्षेत्र में नितान्त भावुकतापूर्ण परार्थ—परमार्थ—दया—करुणा—मैत्री—अहिंसा आदि शब्दों का प्रवेश—निषिद्ध—

आज की भावुकतापूर्णा—परमार्थमूला—मान्यताओं में—**'त्याग—तपस्या—बलिदान'** इन तीन शब्दों का कलकलनाद सर्वत्र ही जागरूक बना हुआ है, उसी प्रकार—जैसे कि आज के सन्त—आचार्य्यों की कृपा से धर्म्मनिरपेक्ष भी सत्तातन्त्र के प्रमुक मान्य महानुभाय अपने दैनंदिनीय उद्घाटन—भाषणों, सामयिक वक्तव्यों

के द्वारा **मानवता–विश्वशान्ति–सत्य–अहिंसा–परस्पर मैत्रीपूर्ण सहास्तित्त्व–श्रम–सहयोग**–आदि आदि पावन शब्दों की उदात्त–घोषणाओं में निमग्न बने हुए हैं। '**परमार्थमूला–मैत्री**' से अधिक विडम्बना–पूर्ण पथ और क्या होगा ?, जिस पर भावुकतावश समासीन हो पड़ने वाले भारतीय मानव ने अपना सभी वैभव परमार्थ के आवेश में परमार्थ–घोषणा के नैष्ठिक प्रचारकों के प्रति समर्पित कर दिया है । इसके इसी समर्पणेतिहास के गर्भ में इसकी मान्यता से सम्बन्ध रखने वाले त्याग–तपस्या–बलिदानों की भावुकतापूर्णा करुण-कहानी छिपी हुई है, जिस सर्वस्वविघातिका करुणकहानी ने आज के स्वतन्त्र–उन्मुक्त–वातावरण में भी इस भावुक भारतीय–मानव का पीछा नहीं छोड़ा है । संस्कृति का एकमात्र आधार माना गया है—'निष्ठाबल', जिसकी एकमात्र परिभाषा हुई है—'**स्वार्थ**', जिसमें नितान्त भावुकतापूर्ण '**परार्थ–परमार्थ–दया–करुणा–मैत्री–अहिंसा**–आदि भावुकतापूर्ण शब्दों का प्रवेश भी निषिद्ध माना गया है ।

७६-परार्थ, किंवा परमार्थ-मूलक परोपकार के भावुकतापूर्ण-दुष्परिणाम—

परमार्थ का आधार बनता है–परक्षेत्र, अपने से अन्य क्षेत्र । जिसका तात्पर्य यही निकलता है कि, परमार्थी मानव अपने प्रत्येक कर्तव्य का परीक्षण दूसरों को आधार बना कर ही करता है । इस 'पर'–आधार का कालान्तर में यही दुष्परिणाम होता है कि, मानव क्रम–क्रम से अपना स्वरूप विस्मृत करता हुआ कालान्तर में '**पर**' को ही सर्वात्मनाअपना स्वरूप बना लेता है । स्वदर्शन से वञ्चित परदर्शन मूलक यह 'पर' आधार अपने स्वरूप–संरक्षणानुपात से आधेय को जैसा जैसा मार्ग दिखलाता जाता है, वैसे वैसे ही वह भावुक परमार्थी गतानुगतिक मानव अनुकरणधर्म्मा बनता जाता है । इस अनुकरण के द्वारा इसके भौतिक परिग्रहों का त्याग होता है, किंवा नैष्ठिकों के द्वारा त्याग करा लिया जाता है । पुनः भूतप्रलोभनों में इसे आसक्त कर तत्प्राप्ति के लिए इससे घोरघोरतम श्रम–परिश्रम कराया जाता है उन नैष्ठिकों के ही द्वारा, जिसे 'तपस्या' का नाम देकर उसे ये ही वञ्चक व्यामोह में डालते रहते हैं । श्रम–परिश्रमरूप तपस्या का फल मिलता रहता है— आधारभूत नैष्ठिकों को । यों अपने श्रम–परिश्रम के लाभ से भी वञ्चित ये त्यागी महानुभाव, तपस्वीजी महाराज अपनी प्राणशक्तियों से भी पराङ्मुख बनते हुए असमय में ही कालकवलित हो जाते हैं । एवं यही इनका परोपकारार्थ वह बलिदान है, जिसके प्रतिदान में इनका स्मारक-दिवस मना लिया जाता है कुनैष्ठिक–परवञ्चक–स्वार्थलिप्सु परमार्थशब्दोद्घोषक नराधमों के द्वारा ।

७७-'स्वार्थ' शब्द के तात्त्विक स्वरूपार्थ का समन्वय—

'स्व'-रूपा आत्मनिष्ठा ही मानव का 'स्वार्थ' है, जिसके संरक्षण से ही मानव स्वस्वरूप से शरीरेण पुष्ट, मनसा–तुष्ट, बुद्ध्या–तृप्त, एवं आत्मना शान्त बना रहता हुआ अपने परिपूर्ण व्यक्तित्त्व से परिवार–समाज-एवं राष्ट्र के प्रति सर्वात्मना आत्मसमर्पण किए रहता है । प्रदान का मूलाधार आदान है, आदान का मूलाधार प्रदान है । आदान और विसर्ग, इन दोनों शक्तियों के समतुलन से ही स्वार्थ–(स्वस्वरूप)–संरक्षणपूर्वक समाज का, किंवा राष्ट्र का स्वरूप–संरक्षण है । यह सब में आहुत होता है, तो सब इसमें हुत होते हैं। यही वह '**सर्वहुत**' नाम की सुप्रसिद्धा यज्ञप्रक्रिया है, जिसके मूलप्रवर्त्तक सर्वस्रष्टा भगवान् स्वयम्भु बने हुए हैं । पारस्परिक अन्न-अन्नादभाव ही अग्नीषोमात्मक यज्ञ है । यज्ञ ही वस्तु का स्वरूपरक्षक है, जिसके त्याग का आधार **संग्रह** है, तपस्या का आधार **विश्राम है**, बलिदान का आधार **बलिग्रहण** है । संग्रह–विश्राम–बलि–ग्रहण ही 'स्वार्थ'

की परिभाषा है। ऐसा स्वार्थी (स्वस्वरूप से सर्वात्मना समृद्ध) मानवश्रेष्ठ ही त्याग–तपस्या–बलिदान की व्यवस्थित उन पद्धतियों का अनुगमन करने में सक्षम माना गया है, जिन क्षमतापूर्ण पद्धतियों से स्वस्वरूप की भी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती रहती है। एवं समाज भी इस तटस्थ–प्रवर्ग्यात्मक त्याग–बलिदान से अपना स्वरूप व्यवस्थित बनाए रहता है।

७८–परमार्थ–प्रलोभन के माध्यम से कुनैष्ठिकों के द्वारा बलिवेदियों का आविष्कार—

न किसी के लिए बलि बनना आवश्यक, न किसी को बलि बनाना आवश्यक। सांस्कृतिक-मर्य्यादा में प्रतिष्ठित मानव के प्रवर्ग्यभावों का आदान–प्रदान तो स्वतः प्रकृति के द्वारा ही सञ्चालित है, जिसका—'**अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि**' इस ऋङ्मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। यही आत्मनिष्ठ–ब्रह्मौदनभोक्ता यहाँ के ऋषिमानव का वह महान् सांस्कृतिक उद्घोष था, जिसका गीताचार्य्य ने—'**नायं हन्ति, न हन्यते**' रूप से उपबृंहण किया है। भाषा अवश्य गीता की दार्शनिक ही है। किन्तु भाव सर्वथा नैष्ठिक ही माने जायँगे। इसी लोकोत्तर सन्देश-प्रदान के फलस्वरूप राष्ट्र ने ऋषिमानव को लोकोत्तर-'**सम्मान**' नामक पुरस्कार प्रदान किया था, जिसका तद्वंशजोंनें (ब्राह्मणोंनें) सर्वथा दुरुपयोग ही कर डाला। इसी सम्मानमद ने ब्राह्मण को कालान्तर में भावुक बना डाला। और तभी से सभी वर्गों नें 'सम्मान' के माध्यम से, चरणवन्दन-स्पर्श–प्रलोभन–व्यामोहनों के माध्यम से इसे उस त्याग–तपस्या–बलिवेदि पर ला खड़ा किया, जिसके दुष्परिणामस्वरूप इसकी जीवनयात्रा भी आज विषाक्ता प्रमाणित हो रही है।

७९–परमार्थमूला भावुकता से भारतराष्ट्र का कुनैष्ठिकों के द्वारा निर्म्मम शोषण—

विगत तीन हजार वर्षों से प्रक्रान्ता रहने वाली इसी परमार्थमूला भावुकता ने, तदनुगता व्यामोहक त्याग-तपस्या-बलिदान-परम्पराओंनें आततायीवर्ग के प्रति होते रहने वाले दया-करुणादि के प्रदर्शन ने, हिंसा के प्रति अहिंसा का उद्गार व्यक्त करने में, एवं अन्यान्य भी परःशताधिक–भावुकताओंनें राष्ट्र की इस ब्राह्मणप्रज्ञा का वित्तैषणा, तथा तदनुगता लोकैषणाओं की सफलता के लिए राष्ट्र के सभी वर्गों-सम्प्रदायों-मतवादों-वणिक्तन्त्रों-सत्ता-तन्त्रों ने जैसा निर्म्मम शोषण किया है, उसके जघन्य इतिहास का संस्मरण भी हृत्कम्प उत्पन्न कर रहा है। यदि किन्हीं अन्य वर्गों को इसप्रकार के शोषण का लक्ष्य बन जाना पड़ता, तो तत्क्षण ही वे वर्ग स्मृति-गर्भ में विलीन हो जाते। किन्तु तथाविध शोषणों की अजस्र–प्रक्रान्ति–पर भी यह राष्ट्रीय भूदेव सभी ओर से निरन्तर पददलित होता हुआ भी एकमात्र अपनी ईश्वरीया संस्कृति के अनुग्रह से ही येनकेनरूपेण संस्कृति का सन्देशवहन कर रहा है, करता ही रहेगा, जैसाकि प्रथमप्रकरण के–'**तत्तत्–अवक्लृप्तमेव–यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्**' इत्यादि श्रुतिसमन्वय–परिच्छेद में स्पष्ट किया जा चुका है।

८०–नैष्ठिक ब्राह्मणों के–'नायं हन्ति, न हन्यते' (न किसी को मारना, न किसी से मरना) इस राष्ट्रीय नैष्ठिक सूत्र के स्थान में भावुक क्षत्रियों के द्वारा भावुकतापूर्ण 'मारते–मारते मर जाना' इस सूत्र का आविर्भाव, एवं क्षात्रतेजोमय भारतीय सत्तातन्त्र का पतन—

संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण की तथाविधा भावुकता से ही राष्ट्रीय सत्तातन्त्र भी उसी पथ के अनुगामी बन गए। राष्ट्र को बाहिर के आततायियों से बचाने के फलस्वरूप राष्ट्र ने पुरस्कार में शासनतन्त्र को जो–'सम्मबल'

दिया था, उसने भावुकता के अनुग्रह से इस वर्ग को भी लक्ष्यच्युत बना डाला। राष्ट्ररक्षा बन गया गौण पक्ष, एवं सत्तात्मिका पदप्रतिष्ठा बन गई प्रधाना। इसी सत्ता–पदलोलुपता से इनका परस्पर में ही सुन्दोपसुन्दन्याय से विनाश आरम्भ हो गया। राष्ट्र की संस्कृति–समृद्धि–धर्म्म–आदि तो व्याजमात्र थे। वस्तुत: तीन हजार वर्षों में विघटित क्षत्रिय राजाओं–सामन्तों, एवं गणों की युद्धप्रवृत्तिका प्रधान अवलम्ब परस्पर की अहमहमिका ही बनी रही। **'राजा कौन बने ?'** इसी सत्ताव्यामोहन से इस राष्ट्रीय–शक्ति का भी उत्तरोत्तर पतन ही होता गया। इसी पदप्रतिष्ठा के लिए इनका आराध्यसूत्र बन गया–**'मारते हुए मर जाना'**। यों–**'न मारना चाहिए, न मरना चाहिए'** इस सांस्कृतिक निष्ठासूत्र के स्थान में–सामन्तवादात्मक सत्ताव्यामोहन–युगों में **'मारते हुए मर जाना'** इस संशोधित सूत्र का आविर्भाव हो पड़ा। पदलोलुपता ने संघटन विच्छिन्न कर दिया। तभी तो इसके सुविशाल भी, राष्ट्र के असंख्य संख्यक भी सत्तावयवों (क्षत्रियवीरों) से आक्रान्ताओं की बाढ़ का निरोध न हो सका। एवं इनकी इसी पदलोलुपता से, राष्ट्रीय–निष्ठा के अभाव से आततायी ही यहाँ के सिंहासनों पर समारूढ हो गए, जिनकी दासता को ही भारतराष्ट्र के धर्म्मनिष्ठ ? ब्राह्मणोंनें, तथा धर्म्म-रक्षक ? सामन्त राजाओंनें 'प्रतिज्ञा–पालन'–किंवा 'वचनरक्षा' मानने, मनवानें की महती भ्रान्ति कर डाली। **'परस्पर शत्रुता, और परशासन की दासता'** जैसी जघन्या वृत्ति ने ही ब्रिटिश शासनयुग में आते आते तो इनको सर्वथैव दास बना डाला, जिसका जो अन्तिम परिणाम प्रकृत्या होना चाहिए था, उसी का नैमित्तिक यश वर्त्तमान सत्तातन्त्र को आज बिना ही प्रयास के मिल गया है।

८१–ब्रिटिशसत्तायुगीय वणिक्तन्त्र, एवं तदनुग्रहेण–'पिटते पिटते मर जाना'–इस वणिग्-भावानुगत अर्थदासता–सूत्र का आविर्भाव —

पौरुष के आत्यन्तिक पतनरूप ब्रिटिश–सत्ताकाल में सत्तातन्त्र की वणिग्वृत्ति के अनुग्रह से ही तत्समान-धर्म्मा भारतीय वणिक्तन्त्र भी मानो जागरूक हो पड़ा, जिस तन्त्र का प्रकृत्या मनस्तन्त्र से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। न प्रज्ञा की अपेक्षा है, न पौरुष की अपेक्षा है इस तन्त्र में। अपितु अर्थमय कामतन्त्र से सम्बन्ध रखने वाली जड़–भूतनिष्ठा ही इस तन्त्र की मूलनिष्ठा बनी रहती है, जिसके आधार पर राजस्थान में इस वर्ग के लिए यह आभाणक प्रसिद्ध है कि—**"चमड़ी भले ही चली जाय, किन्तु दमड़ी नहीं जानी चाहिए। मर भले ही जाना, अपमानित-दण्डित-उपेक्षित भले ही होते रहना, किन्तु अपने आर्थिक स्वार्थ का कभी परित्याग नहीं करना"**। यही जड़भावापन्ना वह अर्थनिष्ठा है, जिसका राजर्षि मनु के द्वारा राष्ट्र–अभ्युदय के लिए अनिवार्य्यरूप से नियन्त्रण ही विहित हुआ है। (देखिए–मनु ८।४१८।)।

८२–वणिक्तन्त्रप्रधान–सत्तातन्त्रों से संक्षुब्धा विश्वमानवता—

सामन्त–राजतन्त्र भोगविलास में मदोन्मत्त बनता हुआ अर्थशोषक–वणिक्–राज–ब्रिटिशसत्तातन्त्र की छत्रच्छाया में निर्बाधरूप से प्रजा के शोषण में निमग्न था। राष्ट्र का चतुर्थ वर्ग अनाथवत् इतस्तत: बुभुक्षा–महामारी–जनपदविध्वंसिनी–आदि आदि आक्रमणों से कालकवलित होता जा रहा था, ब्राह्मणवर्ग भावुकता-वश कभी सामन्तभक्ति का, तो कभी ब्रिटिशभक्ति का द्वार खटखटाने में आतुर बना हुआ था। किन्तु सत्ता-समानधर्म्मा अवसरवादी वणिक्तन्त्र इस युग में जागरूक हो पड़ा था। इसने इसी अवसरवादिता से पर्य्याप्त लाभ उठाया ब्रिटिशयुग में। ऐतिहासिक तथ्य है कि, पश्चिमी युद्धाग्नि की प्रचण्ड ज्वाला में जब भारतीय

जन–धन–बल निर्म्ममरूप से झोंका जा रहा था, उस युग में यहाँ का वणिकृतन्त्र दोनों हाथों से धन बटोर रहा था। भला इससे अधिक महत्त्वपूर्ण ? अवसर इसकी वित्तैषणा को सफल बनाने के लिए और कौनसा हो सकता था ?। यही तो कारण है कि, आज भी यदा कदा जब भी युद्ध की आशङ्काएँ हो पड़तीं हैं, तो यहाँ का सुसमृद्ध वणिकृतन्त्र उल्लासपूर्वक तत्समय की जिज्ञासा–वर्णनोपवर्णन में मनोविभोर हो पड़ता है। यही तो एकमात्र परिणाम, किंवा दुष्परिणाम माना गया है—संस्कृति–धर्म्मवञ्चित, धर्म्मनिरपेक्ष–अर्थ–कामतन्त्रों का, जो मनु के शब्दों में—'क्षोभयेतामिदं जगत्' को अक्षरशः चरितार्थ कर देते हैं।

८३–वणिग्धर्म्मप्रधान ब्रिटिशसत्तायुग, एवं राष्ट्र के ब्रह्म-क्षत्र-विट् पौष्ण- भावों का वणिग्वृत्तिप्राधान्य से आत्यन्तिक पराभव—

हाँ, तो वक्तव्यांश प्रकृत में यही है कि, मनस्तन्त्रानुगता अर्थकामैषणा ही जागरूक हो पड़ी ब्रिटिश-सत्तायुग में, जिसके भयावह परिणामों को आवृत करते रहने की चेष्टा हुई वणिकृतन्त्र के द्वारा धार्मिक–आयोजनों के व्याज से। धर्म्मशाला–पाठशाला–वापी–कूप–तड़ाग–अस्पताल–आदि आदि में अपनी मुक्त-हस्तता का पर्य्याप्त परिचय दिया इस धर्म्मशील ? तन्त्र ने। इसकी इसी शीलता ? से तद्युग से पूर्व युगपर्य्यन्त राजभक्त बना रहने वाला भावुक ब्राह्मणवर्ग भी इस युग में प्रधानरूप से वणिग्भक्त ही बन गया। जिस वणिक् ने जिस सम्प्रदाय को अपना लिया, ब्राह्मणदेवता ने उसी सम्प्रदाय को परम्परासिद्ध–शाश्वत–सनातन–प्रमाणित कर देने में अपनी समस्त प्रज्ञा आहुत कर दी। जिसने अपनी जैसी मान्यता व्यक्त की, ब्राह्मण ने उसी को ईश्वरीय मान्यता सिद्ध कर डाला। और यों वणिकृतन्त्र की मनोऽनुगता मान्यताएँ हीं ब्राह्मण की संस्कृति का परमपुरुषार्थ बना रह गया। वणिकृतन्त्रानुगता, तत्तन्त्र के द्वारा ही विशेषरूपेण पुष्पित–पल्लविता मतवादपरम्पराएँ हीं तद्भक्त ब्राह्मण की भी उपास्या बन गईं। परिणामस्वरूप सनातन वेदनिष्ठा को सर्वात्मना विस्मृत कर दिया इस युग के ब्राह्मण ने, विशेषतः वणिकृतन्त्रप्रधान–उत्तरभारत के ब्राह्मण ने। वेदों के अनभ्यास से, सांस्कृतिक आचारनिष्ठाओं के परित्याग से, परान्नप्रियता से उत्पन्न आलस्य से, एवं सर्वोपरि अन्नदोष से ब्राह्मण जीवित ही शवशरीररूप में परिणत हो गया *। ब्राह्मण का वह ब्रह्मवर्चस्, ओज–तेज, स्पष्टवादिता, सभी कुछ अभिभूत हो गए, जिन ब्रह्मबलों से यह भूदेव सुप्त राष्ट्र को जागरूक बना देने की क्षमता से समन्वित रहा करता था। यों वणिक्–धर्म्मात्मक ब्रिटिशसत्तायुग में एक प्रकार से राष्ट्र के ब्रह्म–क्षत्र–विट्–शूद्र–सभी वर्ग निस्तेज ही बन गए।

८४–वणिकृतन्त्र के आत्यन्तिक उत्पीड़न के सुपरिणाम–स्वरूप राष्ट्र का नवजागरण—

तथाविध निस्तेज–सुप्त–दास–युग में वणिकृतन्त्र ही एक ऐसा तन्त्र था, जिसने स्ववर्ग में अनेक कोट्यधीशों का आविर्भाव कर डाला। अतएव यही तद्युग का '**महाजन**' बन गया, एवं इसकी पूर्वोक्ता अर्थ-निष्ठा ही राष्ट्र के अन्य वर्गों का भी आदर्श बन गई। और यहीं से–'**हाय पैसा–हाय रोटी–हाय कपड़ा**' का

***–अनभ्यासेन वेदानां, आचारस्य च वर्जनात्।**
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति"

—मनुः ५।४।

दासात्मक वह उद्घोष उपक्रान्त हो पड़ा, जिसका इस युग से पूर्व के युगों में कभी नाम भी नहीं सुना गया था। वणिक्तन्त्र की निष्ठा से समन्वित इसी उद्घोष ने कालान्तर में **'राजनीति'** का स्थान ग्रहण कर लिया। इस राजनैतिक दल में वैसे भी कतिपय स्वनामधन्य महाप्राण व्यक्ति जागरूक हुए, जिन्होंनें संस्कृति–धर्म्म–पौरुष–आदि दैवी विभूतियों के आधार पर ही राजनैतिक–स्वातन्त्र्य–आन्दोलन को प्राणवान् बनाया। और मानना ही पड़ेगा कि, उन्हीं के अदृष्ट–प्राणाधान से राष्ट्र ने पुनः एक बार स्वतन्त्रता का प्रश्वास ग्रहण करने में सफलता प्राप्त की, जिन प्राणवान् धन्य मानवश्रेष्ठों का पावन इतिहास स्वतन्त्र वक्तव्य की ही अपेक्षा रख रहा है।

८५–अभिनव स्वतन्त्रता की माङ्गलिक वेला, और राष्ट्र की जागरूकता का पुनः अभिभव—

तात्कालिक थी वह प्राणोद्दीप्ति। वस्तुतः भूतोद्दीप्ति ही दृढ़मूला बन चुकी थी उस ब्रिटिशयुग में–अमुक ज्ञात–अज्ञात–कारणपरम्पराओं के निग्रहात्मक अनुग्रह से। अतएव उस युग का एकमात्र निष्ठामन्त्र बना–* **'पिटते पिटते मर जाना, किन्तु सीत्कार भी न करना'**। सुनते हैं–इसी का नाम अहिंसात्मक

*[१] न किसी को मारना, न किसी से मरना [संस्कृतिनिष्ठा]
[२] मारते हुए मर जाना [पदप्रतिष्ठात्मक व्यामोहन का मूल]
[३] पिटते हुए मर जाना [अर्थसंरक्षण का मूल]
[४] मरने के नाम से भी डरना [उदरसंरक्षण का मूल]

*—भूतात्मा—	ब्रह्म—	नायं हन्ति न हन्यते–आत्मनिष्ठा–न मारना, एवं न मरना		
१—बुद्धिः—	क्षत्रम्—	ब्रह्मवञ्चितम्—	सत्तावादः—	**मारते मारते मर जाना**
२—मनः—	वैश्यः—	अर्थासक्तः—	अर्थवादः—	**पिटते पिटते मर जाना**
३—शरीरम्—	शूद्रः—	उदरासक्तः—	श्रमवादः—	**पेट के लिए मरे ही रहना**

१— ब्रिटिशसत्तातः–पूर्वयुगः—	सामन्तयुगः—	व्यामोहयुगः—	तत्त्वभाषायाम्
२— ब्रिटिशसत्तात्मको युगः—	वणिग्युगः—	मनोयुगः—	तत्त्वभाषायाम्
३— वर्त्तमानसत्तायुगः—	शूद्रयुगः—	शरीरयुगः—	तत्त्वभाषायाम्
*— वर्त्तमानदासाः—	ब्राह्मणाः—	संस्कृतिनिष्ठावञ्चिताः– सर्वदासाः	

सत्याग्रह है, इसी का नाम असहयोग आन्दोलन है। और इसी आश्चर्य्यप्रद परीक्षण से देश स्वतन्त्र बना है। ओमित्येतत्। अभिनव–स्वतन्त्रता की इस माङ्गलिक–वेला में हम भी इसी कथन का अभिनन्दन कर लेते हैं। किन्तु इस अभिनन्दन के साथ साथ ही–स्वतन्त्रता–प्राप्ति के अनन्तर जो स्थिति आज हमारे सम्मुख उपस्थित है, उसके साथ तो कदापि गजनिमीलिका नहीं की जा सकती। नहीं करनी चाहिए राष्ट्रनिष्ठ तो किसी भी भारतीय मानव को, जिसकी दृष्टि में वैय्यक्तिक कामपूरक–वित्त–पद–ख्याति–सुख–सुविधा–आदि आदि के समतुलन में समस्त राष्ट्र का ही मङ्गल प्रधान बना हुआ है।

८६-पदप्रतिष्ठाव्यामोहन से राष्ट्रीय–चेतना का आत्यन्तिक पराभव—

ब्रिटिश–सत्तायुग में पिटते–पिटते ही सही, 'मरने' जैसी महती शक्ति तो अवश्य जागरूक हो पड़ी थी। किन्तु स्वतन्त्रता–प्राप्ति के अनन्तर तो उस शक्ति का भी सर्वथा पराभव ही होगया। ब्रिटिशयुग में जिन भारतीय मानवश्रेष्ठों नें जनहित के लिए बड़े से बड़े सत्तापदों को कन्दुकवत् अपने पदाघात से ठुकरा दिया था, जनतन्त्र के हित के लिए उन पदव्यामोहनों के परित्याग की कल्पनामात्र से भी आज का सत्ता–पद–प्रतिष्ठा–लोलुप–मानव आलोमभ्य:–आनखाग्रेभ्य:–विकम्पित हो पड़ता है। यदि महद्भाग्य से कोई इस दिशा में अंशत: जागरूक होता भी है, तो सामान्य से प्रलोभनमात्र से उसकी जागरूकता गन्धर्वनगरलेखावत् विलीन हो जाती है।

८७-भारतीय हृत्प्रतिष्ठाविन्दु का आश्चर्य्योत्पादक सनातनत्व—

ऐसा क्यों?। क्या विश्वम्भर की सृष्टि में यों सहसा भयानक परिवर्त्तन होगया?। क्या भारतराष्ट्र भारतराष्ट्र ही नहीं रहा?। क्या वंशपरम्पराओं का ही कायाकल्प होगया?। हम तो ईश्वर–साक्षीपूर्वक–सर्वथैव विकम्पित हैं इन प्रश्नपरम्पराओं से। और ऐसा भी अनुभव कर रहे हैं कि, सभी अपने अन्तर्जगत् में विकम्पित हो रहेंगे हमारी ही भाँति। क्योंकि पावन भारतराष्ट्र की वाणी का विरोध किया जा सकता है, हुआ है सत्ताबल से पूर्वयुगों में भी। किन्तु हृदय उस भारतदेश का कभी नहीं बदला, कभी नहीं बदलसकता, जिस देश में पुण्यसलिला भागीरथी प्रवाहित हो, देवनिकाय हिमगिरि जहाँ की संस्कृति से धन्य बना हुआ हो। और जहाँ की आस्था–श्रद्धाशीला प्रजा के द्वारा संस्कृति के जीवित सन्देशरूप सांस्कृतिक–आयोजन अद्यावधि भी सोल्लास प्रक्रान्त हों।

८८-सांस्कृतिक-निष्ठाबल के आश्रय से सम्पूर्ण काल्पनिक अभावों का अभिभव —

प्रश्नों के विकम्पन पर ही कदापि विश्राम नहीं कर लेगी भारतीय प्रजा। अपितु अपनी सांस्कृतिक–निष्ठा के बल पर स्वयं ही अपना भी विकम्पन शान्त कर लेगी, एवं अपने आत्मीय गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्रात्मक सत्तातन्त्र को भी इस दिशा में अवश्य ही जागरूक कर देगी। ब्रिटिशसत्तातन्त्र के युद्धस्वार्थजनित जिस घातक कुचक्र से राष्ट्र ने–'खाने पीने की चिन्ता' जैसे कल्पित भूत को अपनी भावना के सम्पुटों से आज दृढमूल बना लिया है, सांस्कृतिक बल पर इसके इसी महान् व्यामोहन को विनष्ट कर देना है सर्वात्मना। जो मानव–'**नहीं है–नहीं है–हम दु:खी हैं–अन्न का अभाव है**' आदि लक्षणा निषेधभाषाओं में अभ्यस्त हो जाता है, निश्चयेन कालान्तर में उसकी सञ्चित सम्पत्ति भी विलीन हो जाती है, एवं ऋद्धि–

वृद्धि–समृद्धि–आगमन के द्वार भी अवरुद्ध हो जाते हैं । अतएव ऋषिसंस्कृति ने इस निषेधवृत्ति को, अभाववासना को अत्यन्त ही भयानक शत्रु माना है मानव के अभ्युदय का । अस्तित्व ही यहाँ की मूलनिष्ठा है । अस्तित्व का नाम हीं 'सत्ताब्रह्म' है । एवं भारतीस सत्तातन्त्र को यही महान् सम्मान उपलब्ध हुआ है । सत्तातन्त्र भारतीय परिभाषा में इसी सत्ताब्रह्म का प्रतीक है, जिस के कोश में नास्तिमूलक 'अभाव' शब्द का प्रवेश भी निषिद्ध है । छोटी–बड़ी सभी समस्याओं के सफल-समन्वय का एकमात्र उत्तर-दायित्व प्रभुसत्तासम्पन्न जिस सत्तातन्त्र पर हो, वह स्वयं ही यदि निषेधमूला अभावपरम्पराओं का उद्घोष करने लग पड़े, तो फिर उसकी 'प्रभुसत्ता' उपाधि का क्या अर्थ ? । सहजभाषा में–जब स्वयं सत्ता ही अपने मुख से 'नास्ति' रूप असद्भाव को प्रोत्साहित करने लग पड़े, तो प्रजा का क्या अपराध ? । **अतएव सत्ता को संस्कृति के द्वारा सत्ताब्रह्मलक्षण अस्तित्त्व से ही समन्वित हो जाना है । अविलम्ब समन्वित हो जाता है । और घोषणा कर देनी है कि, "हमारे राष्ट्र में सब कुछ है । किसी वस्तु का अभाव नहीं है । आनन्द–समृद्धि–सुख–शान्ति–तो हमारे राष्ट्र के जन्मसिद्ध मौलिक अधिकार हैं"** । उद्बोधनात्मक इसी महान् स्वस्त्ययन को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥

—तै० उप० २।६।१।

८६–व्यक्तिवाद, और समाजवाद का समतुलन—

इदमत्र विशेषरूपेण-अवधेयम् । **व्यक्तिवाद**, और **समाजवाद**, इन दो शब्दों को लेकर आज के राष्ट्र-हितैषी अभिनव–विचारकों में पर्य्याप्त अहमहमिका देखी सुनी जा रही है । व्यक्तिवाद अधिकांश में घृणा का लक्ष्य बन रहा है, एवं समाजवाद अभिनन्दनीय माना–मनवाया जा रहा है । अवश्य ही जिन देशों की सभ्यतानुबन्धिनी परिभाषा में **व्यक्ति**, और **समाज**, दोनों परस्पर पृथक् तत्त्व हैं, उनके लिए सम्भवतः तथोक्त पक्ष ही उपयोगी हो । सुनते हैं–तद्वादात्मिका सभ्यता में व्यक्ति पृथक् वस्तु है, समाज पृथक् है । व्यक्ति का कर्त्तव्य–कलाप–समाज से कोई सम्बन्ध नहीं रखता । व्यक्ति भले ही व्यक्तित्त्वरूप से परोक्षरूपेण कुछ भी अच्छा–बुरा–करता रहै । यदि समाज में वह सामाजिक नियमों के अनुसार समुपस्थित है, तो समाज उसे उपयोगी ही मानेगा, एवं वह अवश्य ही सामाजिक मानव ही कहलाएगा । कदापि व्यक्ति के वैय्यक्तिक भावों के आधार पर उसकी सामाजिकता का मूल्याङ्कन न होगा * । और अवश्य ही इस सभ्यतानुबन्ध से व्यक्तिवाद की अपेक्षा–समाजवाद ही उत्तम माना जायगा जिस में सभी व्यक्ति निःशङ्करूपेण समन्वित हो जाया करते हैं । किन्तु·······?

*-साहूकार कौन है ?—जिस की चोरी न पकड़ी गई हो ।
सत्यवादी कौन है ?—जिस की झूठ पकड़ में न आई हो ।
सदाचारी कौन है ?—जिसे प्रत्यक्ष में दुराचार करते किसी ने न देखा हो ।
अहिंसावादी कौन है ?—जिस के हिंसाकर्म्म से समाज परिचित न हो ।

—अप्रकाशित–'**लोकनिष्ठा–भावुकता–सूत्रसमन्वय**' नामक निबन्ध से

६०–'व्यक्ति' तत्त्व की सर्वव्यापकता, एवं परिपूर्णता—

किन्तु भारतीय दृष्टिकोण इस दिशा में सर्वथा विभिन्न है। यहाँ विकास का कोई महत्त्व नहीं है, जैसा कि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है। '**व्यक्ति का विकसितरूप ही परिवार है, परिवार का विकसित रूप ही समाज है, तद् विकासावस्था का नाम हीं राष्ट्र है**', कदापि यहाँ ऐसा विकासवाद मान्य नहीं है। अपितु यहाँ सभी स्वतन्त्र इकाईयाँ हैं। व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–सभी स्वतन्त्र व्यक्ति भी हैं, परिवार भी हैं, समाज भी हैं। और राष्ट्र भी हैं। अतएव प्रत्येक अपने आप में परिपूर्ण है। यही स्वदर्शनमूला वह धर्म्मनिष्ठा है, जिसका विकास से नहीं, अपितु महिमा से सम्बन्ध है। शताब्दियों से भारतीय प्रज्ञा दर्शनभाषा में क्योंकि अभ्यस्ता बन गई है। अतएव स्वधर्म्ममूला इस निष्ठा की भाषा का यथावत् समन्वय उसके लिए आज कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव बन गया है। केवल तत्त्वमीमांसानुगता आचारशून्या दार्शनिकता के चिर–अभ्यास के कारण भारतीय मानव आचारनिष्ठात्मिका स्वधर्म्मनिष्ठा से सर्वथैव परा:परावत बन गया है। और इसी आचारशून्यता से इस में उस व्यक्तित्त्वविमोहन का उदय हो पड़ा है, जिसनें इसे सर्वथैव लक्ष्यच्युत बना दिया है।

६१–व्यक्ति-परिवार–समाज–राष्ट्र–चारों का तत्त्वतः स्वतन्त्र परिपूर्ण व्यक्तित्त्व,–एवं–'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का समन्वय—

वस्तुस्थिति यथार्थ में ऐसी है कि, व्यक्ति ही परिवार है, परिवार ही व्यक्ति है। परिवार ही समाज है, समाज ही परिवार है। समाज ही राष्ट्र है, राष्ट्र ही समाज है। व्यक्ति ही राष्ट्र है, राष्ट्र ही व्यक्ति है। व्यक्ति का अर्थ न शरीर है, न मन है, न बुद्धि है, जो शरीरादि परिछिन्नभाव क्रमविकासोन्मुख माने जासकते हैं यथाकथञ्चित्। अपितु यहाँ 'व्यक्ति' का अर्थ है–**आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व**। वह आत्माभिव्यक्तित्त्व, जिसके हृदयस्थ अणोरणीयान्–भाव में बुद्धि–मन–शरीर आदि सभी परिच्छिन्नभाव समाविष्ट हैं। अतएव तत्प्रतीकरूप–परिवार–समाज–राष्ट्र सभी समाविष्ट हैं इस आत्मसीमा में। यही व्यक्तिमूलक–वह प्रतिष्ठातत्त्व है, जिसके आधार पर चारों में 'व्यक्ति' ही प्रधान बना हुआ है। यही अवस्था तद्भूमारूप परिवार की है। यही अवस्था तद्भूमारूप समाज की है। एवं यही अवस्था तद्भूमारूप राष्ट्र की है। व्यक्तित्त्वानुगत भूमाभाव राष्ट्र–भूमाभाव पर (भारतीयानुबन्ध से) विश्रान्त है। अतएव तदपेक्षया राष्ट्र को ही व्यक्ति का भूतात्मक विवर्त्त मान लिया गया है। और यों व्यक्ति, तथा राष्ट्र में, किंवा व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–में कोई भी मौलिक भेद शेष नहीं रह जाता। '**आत्मवत्–सर्वभूतेषु**' लक्षण समदर्शन सर्वत्र समानरूप से अवस्थित है। केवल प्राकृतिक–विषम–विभक्त–वर्त्तन (व्यवहार) मात्र की व्यवस्था के लिए एक ही वस्तुतत्त्व के–**व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र**–इत्यादि विभिन्न प्राकृतिक संस्थान मान लिए गए हैं, जैसाकि–'एकं **वा इदं वि बभूव सर्वम्**'–'एकं **सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**' इत्यादि मन्त्रश्रुतियों से प्रमाणित है। अतएव पृथक्वाद जैसी कोई भी विभक्ता पद्धति को भारतीय संस्कृति में कोई प्रश्रय नहीं मिल सकता, नहीं मिला, जैसाकि इसके समब्रह्ममूलक–'**संस्कृति**' शब्द से ही स्पष्ट है।

९२–'एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति' का समन्वय, एवं मानव का चतुर्विध स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व—

यहाँ राष्ट्र परिचायक है–समाजों, परिवारों, व्यक्तियों का। समाज परिचायक है–राष्ट्र–परिवार–व्यक्ति का। परिवार परिचायक है शेष तीनों का। एवं व्यक्ति परिचायक है–शेष तीनों का। यही नहीं, यहाँ के आवासगृह–परिग्रह–भोजनव्यवस्था–विनोदपद्धतियाँ–आदि आदि भी व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र में एकतानता से प्रवाहिता संस्कृति के परिचायक बने रहते हैं। इसी आधार पर तो–'**एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति**' यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। सभी सर्वरूप हैं, सभी सब के प्रति समर्पित हैं–देश–कालानुबन्ध से। व्यक्ति अन्तर्निष्ठ बहिर्भावुक है। परिवार अन्तर्निष्ठ बहिर्भावुक है। समाज अन्तर्निष्ठ बहिर्भावुक है। इसलिए कि–पूर्व पूर्व को अपने अपने बुद्धि–मनः–शरीर भावों को उत्तर–उत्तर के तन्त्रों में समर्पित करते रहना पड़ता है। किन्तु–राष्ट्र अन्तर्भावुक–बहिर्निष्ठ माना गया है ऋषिप्रज्ञा में। अन्तर्भावुक पक्ष राष्ट्रसीमाभुक्त–समाज–परिवार–व्यक्तियों को लाभान्वित करता रहता है। राष्ट्र का प्रत्येक लाभ राष्ट्र के प्रत्येक समाज, प्रत्येक परिवार–प्रत्येक व्यक्ति का लाभ है। यह राष्ट्र की अन्तर्भावुकता का ही सुपरिणाम है। इस अन्तर्भावुकता के साथ साथ राष्ट्र बहिर्निष्ठ ही बना रहता है। अतएव आगन्तुक-राष्ट्रविरोधी तत्त्व–इस बहिर्निष्ठादुर्ग में प्रवेश ही नहीं कर पाते। यों राष्ट्र स्वस्वरूप से अक्षुण्ण बना रह जाता है।

९३–अन्तर्निष्ठ–किन्तु बहिर्भावुक व्यक्तित्त्व, तथा अन्तर्भावुक–किन्तु बहिर्निष्ठ–भारत–राष्ट्र की ब्रह्मप्रतिष्ठात्मिका निष्ठा का पारम्परिक समन्वय—

पुनः अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए–इस निष्ठाभावुकता की व्याप्ति को। क्योंकि इसी के समन्वय के आधार पर राष्ट्र के राष्ट्र–समाज–परिवार, तथा व्यक्तियों की लोकयात्रा,–लोकस्वरूप अवलम्बित हैं। व्यक्ति आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्वरूप है अपने केन्द्रस्थ अव्ययपुरुष की अपेक्षा से। यही वह वृक्ष इव स्तब्ध अणोरणीयान्–महतोमहीयान्–सर्वतः ज्यायान्–सर्वव्यापक अनेजत्–नितरांस्थितिलक्षण–पूर्णपुरुष है, जिस नितरांस्थितिभाव से ही इसे–'**निष्ठा**' शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है *। यही अन्तर्य्यामी अन्तर्निष्ठामूर्ति आत्मब्रह्म है, जो–'**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा**' (शत० ६।१।?।७) के अनुसार व्यक्ति की अन्तःप्रतिष्ठा बना हुआ है। इसके आधार पर प्रतिष्ठित बुद्धि–मनः–शरीर–तीनों परिभ्रमणमाण सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्ड–प्रकृतियों के अंश हैं। गतिभाव ही भावनात्मिका क्रिया है। भावनात्मिका क्रिया ही भावुकता की परिभाषा है। अतएव अन्तर्निष्ठ आत्मकेन्द्र के आधार पर प्रतिष्ठित व्यक्तिमानव के बुद्धि–मनः–शरीर–तीनों गतिशीलभाव भावुक बने हुए हैं। और यही इसकी **अन्तर्निष्ठानुगता–बहिर्भावुकता** है। इस भावुकतात्रयी का गत्यात्मक समर्पण होता है–व्यक्ति के आत्मा के ही दूसरे भूमाव्यक्तित्त्वरूप परिवार में। व्यक्तिमानव भावुक है अपने परिवार के प्रति बुद्ध्यादि तीनों भावुकतन्त्रों से, जिसका तात्पर्य्य यही है कि,

---

*–यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्–यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

—श्वेताश्वतर–उपनिषत् ३।६।

परिवारसञ्चालक उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति को अन्तर्निष्ठ बने रहते हुए अपने आपको पारिवारिक–व्यक्तियों के प्रति ही समर्पित किए रहना पड़ता है उन पारिवारिक–व्यक्तियों की भावुकताओं का संरक्षण करते हुए। एवं निश्चयेन परिवारज्येष्ठ उत्तरदायित्वपूर्ण आत्मनिष्ठ व्यक्ति की परिवारसमृद्धि–सुख–शान्ति का यही बीज है।

आगे चलिए। अब व्यक्तिसहित परिवार एक स्वतन्त्र भूमारूपा इकाई है, जिस के **आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–रूप कुलवृद्ध–युवापुत्र–नारीवर्ग–बालवृन्द**, ये चार अवान्तरवर्ग हैं। चारों का आधारभूत महिमात्मक कुलवृद्ध–स्थानीय आत्मा निष्ठात्मक है, तदपेक्षया तीनों प्राकृतिक–भावुकपर्व हैं। यों परिवार भी अन्तर्निष्ठ बहिर्भावुक ही बना हुआ है। यह परिवारमानव अपने युवापुत्रादि तीनों पर्वों से भावुक है अपने समाज (जाति) रूप दूसरे भूमात्मक विवर्त्त के प्रति। ऐसे अनेक परिवारों की बहिर्भावुकता के समर्पण से ही तो समाजरूपा भूमा व्यक्तभाव की अनुगामिनी बना करती है। इस समाज का आत्मप्रतिनिधिरूप ब्राह्मण ही समाज का भूमारूप आत्मा है। तदपेक्षया क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–तीनों भावुक हैं। ब्राह्मण अन्तर्निष्ठ आत्मा है समाज का। शेष तीनों वर्ग भावुकवर्ग हैं, जिनके प्रवर्ग्यात्मक समर्पण से ही राष्ट्ररूप तीसरा महिमाभाव व्यक्त हुआ करता है। और यहाँ आकर स्थिति बदल जाती है। राष्ट्र अन्तर्भावुक–बहिर्निष्ठ बन जाता है। जिसका तात्पर्य्य यही है कि, व्यक्तिमूलक–भूतात्मा–का प्रतिनिधि नैष्ठिक ब्राह्मण हीं यहाँ राष्ट्र का बहिर्दुर्ग बन जाता है। शेष–प्रजा–गण–अनुशासनतन्त्र, ये तीनों भावुकतन्त्र तद्गर्भ में आजाते हैं। यों मूल के ब्रह्म से अभिन्न ब्राह्मण ही तूलान्त में भी आवपनात्मिका प्रतिष्ठा बन जाता है। आरम्भ में आत्मा, अन्त में आत्मा। आरम्भ में अणोरणीयान् ब्रह्म, अन्त में महतोमहीयान् ब्रह्म। उपस्तरण भी अमृतब्रह्म का, अपिधान भी अमृतब्रह्म का ही। दोनों ओर निष्ठाब्रह्म का संरक्षण। ऐसे ब्रह्मरक्षित–नैष्ठिक–सांस्कृतिक राष्ट्र की ओर आततायी भ्रूविक्षेप की कल्पना भी तो नहीं कर सकता। यही है भारतीय समाजव्यवस्था का एक चित्रण, जिसे संस्कृति–स्वरूपबोध के के अभाव से हमनें धूलिधूसरित ही कर लिया है। दूसरे शब्दों में–सनत्ब्रह्ममूलक इस प्रकृतिसिद्ध सनातन–आर्ष–व्यवस्था को विस्मृत कर देने से ही भारतीय-भावुक मानव नें अपने वैय्यक्तिक–पारिवारिक–सामाजिक–एवं राष्ट्रीय, इन चारों हीं प्राकृतिक–संस्थानों को सर्वथैव जर्ज्जरित कर लिया है। इसी जर्ज्जरता के अभिशाप से आज इसने भूतवादी प्रतीच्य-देशों की ब्रह्मसत्ता-वञ्चिता उन केवल जड़पद्धतियों को ही अपना आदर्श मानमे मनवाने की महती भ्रान्ति कर डाली है, जिन जड़पद्धतियों से स्वयं प्रतीच्यदेश भी अपने आपको सर्वात्मना सन्त्रस्त ही अनुभूत कर रहे हैं। परिलेख के माध्यम से लक्ष्य बनाइए इस निष्ठाभावुकता के समन्वय को, स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जायगा।

————*

निष्ठैका [अन्त:] — १–हृदयावच्छिन्न:–आत्मा (पुरुष:–अणिमा (अणोरणीयान् आत्मा–)–ब्रह्मैवाधस्तात्

भावुकतात्रयी — अन्त: —
२–तत्र प्रतिष्ठिता–बुद्धि: (प्रकृति:)
३–तदनुगतं–मन: (विकृति:)
४–तदनुगतं–शरीरम् (विकार:)

—(व्यक्तिमानव: (अन्तर्निष्ठ:–बहिर्भावुक:) } व्यक्ति:

————*

निष्ठा (अन्त:) — १–कुलवृद्धात्मक:–आत्मा (पुरुष:–स एव–य: पूर्वस्य)

भावुकतात्रयी — बहि: —
२–युवापुत्रात्मिका–बुद्धि: (प्रकृति: सैव–या पूर्वस्य)
३–नारी-भावात्मकं–मन: (विकृति: सैव–या पूर्वस्य)
४–बालभावात्मकं–शरीरम् (विकारास्त एव ये पूर्वस्य)

परिपार मानव: (अन्तर्निष्ठ:– बहिर्भावुक: — परिवार:

————*

निष्ठा (अन्त:) — १–ब्राह्मणात्मक:–आत्मा–(पुरुष:–स एव)

भावुकतात्रयी — बहि: —
२–क्षत्रियात्मिका–बुद्धि: (प्रकृति:–सैव)
३–वैश्यात्मकम्–मन: (विकृति:–सैव)
४–शूद्रात्मकम्–शरीरम् (विकारास्त एव)

समाजमानव: (अन्तर्निष्ठ:– बहिर्भावुक:) — समाज:

————*

भावुकतात्रयी — अन्त: —
४–प्रजात्मकम्–शरीरम् (प्रजातन्त्रात्मकम्) (विकारास्ते)
३–गणात्मकम्–मन: (गणतन्त्रात्मकम्) (विकृति: सा)
२–अनुशासनात्मिका-बुद्धि:(सत्तातन्त्रात्मिका)-(प्रकृति:सा)

निष्ठा (बहि:) —
१–नीत्यात्मक:–आत्मा–(ब्राह्मणतन्त्रात्मक:)–
(पुरुष: स भूमा) (महतोमहीयानात्मा) }—

राष्ट्रमानव: (अन्तर्भावुक:– बहिर्निष्ठ:) — राष्ट्रम्

——{ ब्रह्मैवोपरिष्टात्—

————*

६४–राष्ट्रहितानुवन्धी त्याग, और बलिदान की स्वरूप-परिभाषा—

अवश्य ही व्यक्ति परिवार के हित में अपनी आहुति दे देगा। अवश्य ही समाज के हित में परिवार आहुति दे देंगे। एवं अवश्य ही राष्ट्रहित में समाज अपनी आहुति दे देंगे। क्या अर्थ–है इस आहुति का ?। क्या अपना स्वरूप ही उच्छिन्न कर देंगे इस आहुति–समर्पण के द्वारा ?। नेति होवाच। कदापि इस भावुकतापूर्ण समर्पण का नाम न तो त्याग ही है, न बलिदान ही। त्याग और बलिदान हुआ करता है पशुओं का, मानवों का नहीं। अमुक देवता को तुष्ट–तृप्त करने के लिए मान्यतानुबन्ध से पशुओं को छोड़ा भी जाता है, जैसेकि प्रेतदेवता के लिए वृषभ का उत्सर्ग। एवमेव अमुक देवता के लिए पशु का बलिदान भी हुआ करता है। **'यज्ञार्थात्पशवः सृष्टा:'** भी यहाँ की संस्कृति का ही एक वैज्ञानिक अङ्ग

माना गया है, जिस के लिए तो यज्ञविज्ञानरहस्य ही अन्वेष्टव्य है। राष्ट्र अवश्य देवता है। अवश्य ही इसकी मान्यता के संरक्षण के लिए पशुओं का त्याग भी होना चाहिए, एवं बलिदान भी। तो क्या अज–वृषभ–महिष–उष्ट्रादि पशु छोड़े जायँ राष्ट्र के लिए ?, क्या किया जाय इनका भी बलिदान राष्ट्र की तुष्टि–तृप्ति के लिए ?।

९५–राष्ट्रीय ब्रह्मौदन, और प्रवर्ग्य का स्वरूप-परिचय—

तथोक्त प्रश्नों के समाधान का तो उस दुरधिगम्या धर्म्मयागात्मिका–'प्रवर्ग्यविद्या' से ही सम्बन्ध है, जिसका यहाँ अक्षरार्थसमन्वय भी सम्भव नहीं है। अभी प्रसङ्ग–समन्वय के लिए इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, यज्ञपुरुषात्मक 'महादेव' के 'द्वे शीर्षे' के अनुसार 'ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्य' नामक दो मस्तक मानें गए हैं। आत्मा का वह भोग्य, जिसे आत्मब्रह्म अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से अपनी छन्दःसीमा में हीं अन्तर्भुक्त रखता है, जिसका उपभोग भूतात्मा के स्वरूप–संरक्षण में हीं होता रहता है, कदापि जो भोक्ता–ब्रह्म की सीमा से पृथक् हो ही नहीं सकता, यदि पृथक् हो जाता है, तो ब्रह्म का स्वरूप ही उच्छिन्न हो जाता है–'**ब्रह्मौदन**' (ब्रह्म का स्वरूपसंधाता–रक्षक–भोग्य–ओदन–भात) कहलाया है। अपनी भोग्यानुगता तुष्टि–तृप्ति से अधिक जो बच रहता है, उसे ब्रह्मात्मा अपनी छन्दःसीमा में रख भी नहीं सकता। वह शेष भाग स्वतः ही सीमा से प्रवृक्त हो जाता है, पृथक् हो जाता है। स्वयं ब्रह्म इच्छापूर्वक इस शेषांश का त्याग नहीं किया करता। अपितु वह तो स्वयं ही पृथक् हो जाता है। यही शेष भाग–'**प्रवर्ग्य**' कहलाया है। आत्मसीमा में भुक्त, अतएव आत्मरूप में हीं परिणत भोग्य 'ब्रह्मौदन' है। आत्मतृप्त्यनन्तर पृथक्–भूत–शेष–उच्छिष्ट भाग ही 'प्रवर्ग्य' है। सात्म्य भाग ब्रह्मौदन है, अनात्म्य भाग प्रवर्ग्य है। अनात्मता ही पशुता है। पशु को भी तो इसी लिए 'पशु' कहा जाता है। क्योंकि इसमें आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति का अभाव है। इस में केवल प्राकृत जीवभाव है। अतएव आत्मसीमा से परित्यक्त–अनात्मभावात्मक 'प्रवर्ग्य' को भी अवश्य ही 'पशु' कहा जा सकता है, कहा गया है। सभी पदार्थ स्वस्वरूपसंरक्षण के लिए स्व–स्व से भिन्न भिन्न पदार्थों के द्वारा छोड़े हुए प्रवर्ग्य भाग को ही आहुति बनाते हैं। वही आहुति उनका ब्रह्मौदन बनता है। यों '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' के अनुसार–त्यक्त–उच्छिष्ट–प्रवर्ग्य–पशु का ही अन्य वस्तु के प्राणाग्निदेवता के लिए प्रकृत्या ही बलिदान होता रहता है, त्याग होता रहता है, एवं त्याग और बलिदान की यही स्वरूप–परिभाषा है।

९६–प्रवर्ग्यसमर्पणात्मक त्याग, और बलिदान—

उक्त व्याख्या के आधार पर प्रकृत में हमें यही निवेदन करना है कि, स्वस्वरूपसंरक्षणोपयिक–भोग्यपदार्थरूप ब्रह्मौदन के अतिरिक्त जो पृथक्–प्रवर्ग्य–पशु–बच–रहता है, उसे कोई न कोई तो ले ही लेगा। अतएव उसे सावधानीपूर्वक स्वराष्ट्राग्नि में हीं समर्पित कर देना चाहिए। तात्पर्य्य यह निकला कि, व्यक्ति स्वस्वरूपसंरक्षणपूर्वक ही परिवार में प्रवर्ग्यमात्र का अर्पण करेगा, उसीका कर सकेगा। परिवार अपने स्वस्वरूपसंरक्षणात्मक ब्रह्मौदन–से शेष भूत प्रवर्ग्य का ही समाज में, समाज अपने प्रवर्ग्यांश का ही राष्ट्र में अर्पण करेगा। यही नैष्ठिक अर्पण कहलायेगा, एवं यह अर्पणभाव सहजस्थिति में ही समन्वित माना जायगा। परिवार–समाज–राष्ट्र के स्वरूपोच्छेदात्मक आपद्धर्म्मलक्षण भयानक अवसरों में तो सहजस्थिति के विपरीत परिवारहित के लिए व्यक्ति के ब्रह्मौदन का, समाजहित के लिए परिवार के ब्रह्मौदन का,

एवं राष्ट्रसंरक्षण के लिए व्यक्ति–परिवार–समाज सभी का सर्वात्मना अर्पण हो जायगा, होना ही चाहिए। और आज राष्ट्र के चिरपुरातन–चिरनूतन–सांस्कृतिक–स्वरूप के लिए ऐसा ही घोर–घोरतम संकटकाल उपस्थित है। अतएव................।

६७–पूर्वसत्तानुगत धर्म्मभावुकता–कर, यवनसत्तानुगत जजिया–कर, ब्रिटिशसत्तानुगत युद्ध–कर, एवं स्वतन्त्रसत्तानुगत योजनापूरक–कर, आदि आदि 'कर'–परम्पाओं का भीषण ताण्डव, एवं राष्ट्र की कङ्कालास्थिमात्रावशिष्टा कङ्कालावस्था,–तथा त्याग–बलिदानोपदेशों के विडम्बनापूर्ण जघन्य–उपदेश—

ठहरिए !। **'अपने ब्रह्मौदन का त्याग कर देना चाहिए'**, यह घोषणा वर्त्तमान युग में जितनी हीं कर्णप्रिय है, व्यवहारपक्ष इस घोषणा का उसी सीमापर्य्यन्त शिथिल है। क्यों ?, इसका ठीक ठीक उत्तर तो घोषणा करने वाले ही दे सकेंगे। हमारी दासबुद्धि तो इस सम्बन्ध में एकाक्षर का भी उच्चारण करने में असमर्थ है। क्योंकि हम जानते हैं, हमारे ही साथी कोटि–कोटि मानव भी न केवल जान ही रहे हैं। अपितु अहर्निश यह कटु अनुभव भी कर रहे हैं कि, उन्हें आज स्वरूपरक्षणमात्र के लिए आवश्यकरूप से प्रवर्ग्य भी नहीं मिल रहा। यों प्रवर्ग्य के अभाव में इनका ब्रह्मौदनभाग भी अनुदिन समाप्त ही होता जा रहा है। निष्प्राण–अनात्म्य–इन प्रवर्ग्यों पर ही यदि घोषणाकर्त्ता महानुभाव ताण्डवनृत्य करना चाहते हैं, तो फिर तो वह श्मशानवासी भूत–प्रेतों का ही नृत्य कहलाएगा, जो इस लोकजीवन में तो कोई भी उपयोग नहीं रख रहा। जिन्हें ब्रह्मौदन से भी अधिक मिल रहा है, जिनका प्रवर्ग्यांश भी राष्ट्रहित के विरोधी तत्त्व ही ले भाग रहे हैं, उनके ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्य तटस्थ मान लिए जायँ, एवं कङ्कालावशेषों से सर्वस्व बलिदान की न केवल आशा ही रक्खी जाय, अपितु सत्ताबल से उनका शेष जीवनीय रस भी निचोड़ लिया जाय, सदि समर्पण–बलिदान की घोषणाओं का यही अर्थ है तो–अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना !!! ऐसा कङ्कालवर्ग है–राष्ट्र का वह 'मध्यमवर्ग', जिसके प्राण आज सर्वात्मना संकट में पड़े हुए हैं। और दुर्भाग्यवश वही तथाविध समर्पण–घोषणाओं का एकमात्र पात्र समझा जा रहा है राष्ट्रीय आयोजनों की पूर्त्ति के लिए। मुगलसत्तायुग से पूर्व के भारतीय–सामन्तगणों–राजाओंनें मतवादात्मक नितान्तभावुकतापूर्ण–धर्म्मों के व्याज से मध्यमवर्ग का शोषण प्रक्रान्त रक्खा **धार्म्मिक–करों** के माध्यम से, मुगलसत्ता ने जजियाकर के नाम से इस वर्ग का शोषण किया, ब्रिटिशसत्ता ने युद्ध के व्याज से इससे बलपूर्वक त्याग करवा लिया। और स्वतन्त्रासूर्योदय पर इसे थोड़ी आशा प्रतीत होने लगी थी शान्ति–श्वासमात्र की कि, आयोजनों के माध्यम से इस पर उतना करभार डाल दिया गया, जिससे आज के भीषणतम महर्घता–काल में यह जीवित भी रह सकेगा, अथवा नहीं ?, इस प्रश्न के समन्वय में भी महान् सन्देह उपस्थित हो पड़ा है।

६८–राष्ट्रीय कङ्कालावशेषों का महान् प्रतिनिधि राष्ट्रीय ब्राह्मण—

इत्थंभूत घोर घोरतम संकटकाल में कौन इस अस्त–व्यस्त–संत्रस्त–क्षीणकाय मध्यमवर्ग के लिए आश्वासन की भाषामात्र भी बोलने का अनुग्रह करे ?, यह सामयिक–प्रश्न इस लिए आज एक जटिल समस्या बनता जा रहा है कि, बोलने वाले तो आज इसका शोषण करने वाले ही बन रहे हैं। अन्य वर्ग

तटस्थ हैं इसलिए कि, उन्हें यह समस्या उत्पीड़ित ही नहीं कर रही। वित्तशाली–वर्ग तो बोले ही क्यों, जब कि इस तटस्थता में दोनों ओर से लाभ ही लाभ प्रतीत हो रहा है इसे। सत्ताकर्म्मचारियों का तो बोलना विधान के ही विरुद्ध प्रमाणित कर दिया गया है। क्षात्रपौरुष रसातल में विलीन हो ही गया है। अब एकमात्र अशरण–शरण शेष रह गई है वह संस्कृति, जिसने हीं ऐसे अवसरों पर आर्त्त–प्रजा का संरक्षण किया है। इस संस्कृति का प्रतीक है–राष्ट्रीय ब्राह्मण। और वही आज बोल रहा है जनगण के हृदयस्थ भावों का प्रातिनिध्य करता हुआ। क्या उसका यह बोलना विधान के विरुद्ध होगा? नहीं। क्योंकि विधान बड़ा उदार है यहाँ का। फिर यदि व्यक्तिविशेषों के स्वार्थ में यह बोलना बाधक भी प्रतीत हो, तो राष्ट्र का तो हित ही होगा इससे। राष्ट्रहित की दृष्टि से अवश्य ही इस सत्य–तथ्य का नग्नस्वरूप सत्तातन्त्र के सम्मुख रख ही दिया जायगा कि—

९९–भारतीय मानव का भावुकतापूर्ण पारम्परिक स्खलन, और उसके भीषण परिणाम–

भारतीय हृदय सांस्कृतिक हृदय है। इसके हृदय पर विजय प्राप्त करने से ही यह अपने ब्रह्मौदन का प्रसन्नता-पूर्वक समर्पण कर दिया करता है। फिर प्रवर्ग्य की तो कथा ही दूर है। जिस संस्कृति–धर्म्म–मानवता–की वह आदिकाल से उपासना करता आया है, इसका हृदय तन्मय बना हुआ है। राष्ट्र के हित के लिए ही क्या, इसने मानवव्यक्ति–हित के लिए भी प्रसन्नतापूर्वक सर्वस्व प्रदान कर दिया है। यही नहीं, पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि को बलि–प्रदान करते रहना भी इसकी अपनी सांस्कृतिक–विशेषता है। यह किसी को दुःखी–आर्त्त–संकटग्रस्त–देखना ही नहीं चाहता। **'मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्'–'सर्वे भवन्तु सुखिनः'–'सर्वे सन्तु निरामयाः'** ही इसके आचारात्मक–व्यावहारिक आदर्श रहे हैं। और अत्यन्त दुःख के साथ कहना पड़ता है कि, विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतराष्ट्र के सुप्रसिद्ध नवग्रहग्राहों से निरन्तर त्रस्त–संत्रस्त–संक्षुब्ध बने रहने के कारण इस की वह सांस्कृतिक निष्ठा उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुख ही होती गई है। अव्यय-पुरुषात्ममूला–सर्वभूतहितरतिप्रवर्त्तिका संस्कृति के, तदभिन्न आचारात्मक ज्ञानविज्ञानात्मक धर्म्म के यों अन्तर्म्मुख बन जाने से ही यह सर्वप्रथम स्वयं अपने लिए भावुक बना, परिवार के लिए भावुक बना, एवं समाज के लिए भावुक बनता हुआ अन्ततोगत्वा यह राष्ट्र के लिए भी उत्तरोत्तर भावुक ही बनता गया।

१००–राष्ट्रीय–दुर्गसीमाओं के शैथिल्य से अतिथिपरम्पराओं का समागम, एवं भारत-राष्ट्र का अन्तर्राष्ट्रीय व्यामोहन—

और आज तो ऐसी स्थिति हो गई है कि, इसके भावुकतापूर्ण राष्ट्रीय–स्वरूप से राष्ट्र की दुर्गसीमात्मिका बहिर्निष्ठा भी सर्वथा भावुकतारूप में हीं परिणत हो गई है। फलस्वरूप राष्ट्र सच्छिद्र बन गया है। अतएव कोई यहाँ के दृश्यदर्शन के बहाने, कोई सांस्कृतिक–सम्बन्ध–स्थापित करने के व्याज से, तो कोई व्यावसायिक–सम्बन्ध–स्थापित–करने के माध्यम से एक दूसरे से अपने आपको इसका महान् मित्र प्रमाणित करते हुए धारावाहिकरूप से आतिथ्य–ग्रहण करने का अनुग्रह ? करनें लग ही तो पड़े हैं।

अवश्य ही आतिथ्यधर्म्म भी भारतीय संस्कृति का एक महान् प्रतीकधर्म्म है। किन्तु इसकी प्रतीकता के साथ साथ स्वयं 'अतिथि' शब्द भी अपना कोई चिरन्तन शब्दार्थेतिहास रखता है। क्या तथाविध

आतिथ्य में भारतीय संस्कृति–धर्म्म–सम्मत आतिथ्य का समावेश सम्भव है ? । नेति होवाच । **'अतिथींश्च लभेमहि'** का अर्थ है–दिग्भ्रान्त–मार्गभ्रान्त, किंवा सहयोगवञ्चित किसी का आकस्मिकरूपेण–बिना पूर्व–सूचना–व्यवस्था के सहसा अमुक नियत–अवधि–पर्य्यन्त विश्राममात्र के लिए आजाना । निश्चित तिथि से असम्बद्धा स्थिति ही **'न तिथिः–अतिथिः'** का निर्वचनार्थ है । इस शब्दार्थमात्र के आधार पर भी आज के आतिथ्य का मूल्याङ्कन सम्भव है । फिर मैत्री का तो प्रश्न ही सम्भव नहीं है । अतिथि तो पूज्य हुआ करता है, जब कि मित्रता तो समान–शील–व्यसन–परायणों की ही हुआ करती है । अवश्य ही मैत्रीसम्बन्ध अच्छा है । किन्तु सर्वथा जागरूकता के साथ, बहिर्निष्ठात्मक दुर्ग को अच्छिद्र रखते हुए ही । नहीं, तो परिणाम इस आतिथ्य का, मैत्री का वही हुआ करता है, जो विगत शताब्दियों में हुआ था, एवं जिसके आतिथ्य के वरदान में प्राप्त होने वाली सर्वस्वदासता के चिन्ह आजतक भी सर्वात्मना इस भारतराष्ट्र से नहीं मिटाए जासके हैं ।

१०१–स्वस्वरूपविमोहनात्मिका–परदर्शनमूला भावुकता, और तदनुबन्धिनी लक्ष्यहीनता–

क्यों भारतीय हृदय यों उत्तरोत्तर स्वसंस्कृति–धर्म्म–आदर्श–आचारादि निष्ठाओं से पृथक् बन गया ?, प्रश्न का उत्तर संस्कृतिस्वरूपबोध का अभाव ही माना जायगा, एवं जिस अभाव का कारण परदर्शन-मूला भावुकता ही मानी जायगी । वह भावुकता, जो स्वस्वरूप को देखने ही नहीं देती । जो सदा दूसरों को आधार मान कर ही अपना स्वरूप निर्द्धारित करती रहती है । तरङ्गायित पानी के आधार पर अपनी आकृति का स्वरूपनिर्णय करने वाला जैसे स्थिरा भी आकृति को थोड़ी देर के लिए विकम्पित मान बैठने की भ्रान्ति करने लग पड़ता है, ठीक वही उपक्रम इस भावुकतामूला–परदर्शकता में हो पड़ता है । यदि और कोई दूसरा मापदण्ड उपलब्ध नहीं होता, तो द्रष्टा अपनी भ्रान्ति को ही कालान्तर में भ्रान्तिसंस्कारों की ग्रन्थिबन्धनात्मिका दृढता से अपना वास्तविक स्वरूप मान बैठने की महती भ्रान्ति कर बैठता है ।

संस्कृत–गद्यग्रन्थों में एक कथानक प्रसिद्ध है कि, "एक ब्राह्मण को कहीं से पुरस्कार में छाग (बकरा) मिला । वह उसे मस्तक पर लेके स्वग्राम की ओर चला आरहा था कि, मार्ग में कुछ एक धूर्त्त–वञ्चक–कुनैष्ठिकों से पाला पड़ गया । वे इस छागमाँस के लिए आतुर हो पड़े । अपनी इस आतुरता को सफल बनाने के लिए एक ने कहा–अरे ब्राह्मण देवता ! आज यह गधा कहाँ लिए जारहे हो । ब्राह्मणदेव सहम गए । दूसरे ने भी यही कहा । तीसरे ने कहा । सभी ने यही कहना आरम्भ कर दिया, और बार बार कहना आरम्भ कर दिया । ब्राह्मण ने न अपने को देखा, न बकरे को देखा । केवल परदर्शनमूला इस शब्दघोषणा की ओर ही वह उत्तरोत्तर आकर्षित होता गया । इसी परदर्शन–परश्रवणैकता से ब्राह्मण ने भी सचमुच यही मान लिया कि–वह मानो गधे को ही लिए जारहा है । परिणामतः बकरेरूप गधे को फैंक कर गर्दभस्पर्शजनित पाप के प्रायश्चित्त के लिए भाग खड़ा हुआ वह भावुक ब्राह्मण" ।

१०२–परप्रदत्त स्वस्वरूपविमोहन से भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक-स्वस्वरूप की अन्तर्मुखता–

सचमुच–शब्द में ऐसी परोक्षा शक्ति, है जो आरम्भ में पराकृति की भ्रान्ति का कारण बनती हुई कालान्तर में आकृतिपरिवर्त्तन ही कर देती है । आकृति–प्रकृति–अहंकृति–तीनों महत्प्रकृति के गुणधर्म्म हैं । इस प्रकृति का मूल पञ्चतन्मात्राएँ हैं, जिन में प्रथमा सर्वमूलभूता तन्मात्रा **'शब्दतन्मात्रा'** ही मानी

गई है। इसी आधार पर–'अनुविद्धमिव ज्ञानं-सर्वं शब्देन भासते । न ह्यशब्दमिवास्ति' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं। परमुखोच्चरित शब्द–उपदेश–प्रलोभन–आदि आदि को ही अपने स्वरूप का मापदण्ड मानने की भ्रान्ति कर बैठना हीं 'भावुकता' की मुख्य परिभाषा है। इसी से कालान्तर में भावुक मानव स्वस्वरूप से तो होजाता है पराङ्मुख, एवं परस्वरूप को मान बैठता है–अपना स्वरूप। इसी दोष से भारतीय मानव अपनी संस्कृति, अपने धर्म्म, अपने आदर्श, अपने आचार, एवं अपनी जीवनपद्धति से तो होता गया है उत्तरोत्तर पराङ्मुख, एवं परसभ्यता–परमत–पर मान्यताएँ–पर भूताचार–पर भूतजीवनपद्धति ही बनते गए हैं इसके आराध्य। और परिणाम अन्ततोगत्त्वा यह हुआ है इस परासक्तिमूलक व्यामोहन का कि, आज उन परों के समतुलन में यह अपने अतीत भावों की उनके कथनानुसार असभ्य–आदिमानव की मूर्खतापूर्णा–रूढ़िवादों के साथ तुलना करने लग पड़ा है। और इसी तुलनात्मक तत्त्वशोध? रिसर्च? जैसे महा अम्ब के अनुग्रह से आज तो इस की वह मान्यता इस आस्था में हीं परिणत हो गई है कि, "मानवता का वास्तविक स्वरूप तो इसे आज के युग में इन भूतवैज्ञानिकों के अनुग्रह से ही उपलब्ध हुआ है। शिष्टाचार–जीवनपद्धति–जीवन का सुख–आदि आदि का वास्तविक मर्म्म तो उन्हीं से इसे उपलब्ध हुआ है"। अहो! महतीयं प्रवञ्चना सर्वनाशप्रवर्त्तिकया–भावुकतया–भारतराष्ट्रस्य।

१०३–ओकःसारी–प्रज्ञानेन्द्र के द्वारा मानवीय मन की भावुकता का बलवर्द्धन—

भावुकता परदर्शन को ही क्यों आधार बनाती है ?, प्रश्न का उत्तर है–ऐन्द्रियक–प्रज्ञान–मन। इन्द्रियों का प्रवाह बहिर्म्मुख माना गया है। सभी इन्द्रियाँ इसी लिए अतीन्द्रियाँ हीं मानीं गईं हैं, जैसा कि–'**सर्वाणीन्द्रियाणि–अतीन्द्रियाणि**' इत्यादि श्रुतिवचन से स्पष्ट है। जो इन्द्रियाँ बहिर्जगत् के बाह्य रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्दादि भौतिक विषयों का प्रत्यक्ष करतीं रहतीं हैं, वे ही अपने अन्तर्जगत् के भूतों का प्रत्यक्ष करनें में असमर्थ हैं। '**तस्मात् पराङ् पश्यति–नान्तरात्मन्**' *। परदर्शनकुशल इन्द्रियवर्ग का अध्यक्ष इन्द्रियमनोमय–चान्द्रसोमात्मक 'प्रज्ञान' नामक 'मन' है, जो अपने स्नेहगुणात्मक सोमधर्म्म से 'ओकःसारी' बना हुआ है। जिस इन्द्रिय के द्वारा मन जिस विषय के साथ भावना–वासना–रूप से कुछ–समय पर्य्यन्त सम्पर्क कर लेता है, बार–बार उसी विषय की ओर वह अनुधावन करने लग पड़ता है। और यही संस्कारात्मिका पुनः–पुनः–अनुधावनवृत्ति मन को कालान्तर में–'ओकःसारी' बना देती है–जिसका अर्थ है–"तद्विषय को ही अपना घर–(ओक) मान बैठना"। मन की इसी ओकःसरिता का दिग्दर्शन कराते हुए प्रज्ञाप्राणमूर्ति–सोमप्रिय–प्रज्ञानेन्द्र को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

"ओकःसारी वा इन्द्रः (प्रज्ञानेन्द्रः–मनोरूपः) । यत्र वा एष इन्द्रः–पूर्वं गच्छति, एव तत्रापरं गच्छति"।

—कौषीतक्युपनिषत्......।

***–पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।**
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्॥

—कठोपनिषत्

भावुकतारूपा–भावना मन का ही व्यापार है। किंवा मानसिक–चाञ्चल्य का नाम हीं भावुकता है, जो इन्द्रियानुगत मन के अनुग्रह से परदर्शन को ही अपना प्रधान–व्यापार बनाए रहती है। मानसिक-चाञ्चल्यरूपा भावुकता मानवीय भूतात्मा को अन्तर्निष्ठ तबतक बनने हीं नहीं देती, जबतक कि यह बुद्धिनिष्ठा से नियन्त्रित नहीं करली जाती। आत्मसमन्विता–बुद्धिनिष्ठा ही भावुकता का निरोध करती हुई मन को परदर्शनासक्ति से बचाती है, जिस इस रहस्य के लिए तो तत्स्वरूपनिरूपक स्वतन्त्र निबन्ध ही द्रष्टव्य है।

प्रकृत में यही निवेदन कर देना है कि, मनोमयी भावुकता ने हीं भारतराष्ट्र को बहिर्भावुक बना दिया है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप यह स्वयं–अपने आभ्यन्तर–नैष्ठिक–सांस्कृतिक–स्वरूप से तो हो गया है पराङ्मुख, एवं परदर्शन के अवलम्बभूत स्वार्थसाधकोंनें जैसा स्वरूप इसे बतला दिया है, वही स्वरूप मान लिया है–इसने अपना। अतएव इसका ऐसा स्वभाव बन गया है कि, यह सर्वथा–सर्वात्मना–उनकी प्रशंसा को ही अपना प्रमाणपत्र माननें लग पड़ा है, एवं इसी को हम कहा करते हैं–**'अन्तर्राष्ट्रीया–ख्याति का महान् व्यामोहन'**। एवं इसी व्यामोहन के निग्रह से आज भारतीय–चेतना अपनी राष्ट्रसमस्याओं से तो उत्तरोत्तर करती जा रही है गजनिमीलिका, एवं उनके द्वारा प्रदत्त व्यामोहन के अनुग्रह से विश्वसमस्यात्मिका–अन्तर्राष्ट्रीय–समस्या बनती जारही है इसके लिए प्रमुख। **'घर का पूत कँवारा डोले, पाड़ोसी का फेरा'** इस राजपत्तनीया सूक्ति को अक्षरशः चरितार्थ करने वाले व्यामोहन नें–भारतीय सत्तातन्त्र के उन प्रमुख व्यक्तियों को आज तो उस सीमापर्य्यन्त अन्तर्राष्ट्रीय ही बना दिया है, जिस महान् ? उत्तरदायित्व ? के भार से उत्पीड़ित–चिन्तित–वे प्रमुख शासक स्वयं अपने राष्ट्र की किसी भी समस्या पर स्थिर प्रज्ञा से चिन्तन करने का समय ही उपलब्ध नहीं कर पारहे।

१०४–स्थिरप्रज्ञानुगता चिन्तनधारा का अवसान, एवं राष्ट्र का प्रज्ञापारतन्त्र्य—

भारतराष्ट्र की बड़ी से बड़ी प्रज्ञा भी, सम्मानित से सम्मानित मानव भी, बड़े से बड़ा शिल्प–कलावित् भी–आज सत्तातन्त्र के उन प्रमुख व्यक्तियों से सुविधापूर्वक मिलकर इन राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने मात्र के लिए समयदानमात्र का भी अधिकार नहीं रख रहा। जबकि–अन्य राष्ट्र के विद्वान्,–तथा सम्मान्य मित्र अतिथि ही नहीं, अपितु सामान्य अभिनेता, कलाकार, नर्त्तक–वादक–नर्त्तकियाँ–अभिनेत्रियाँ भी अपनी महती ? सांस्कृतिक ? समस्याओं के विचारादानप्रदान के लिए उन प्रमुख शासकों से सर्वात्मना समालिङ्गनपूर्वक आश्वस्त–होते रहते हैं। क्यों ?। इसलिए कि–यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न है, जिसके द्वारा भारत को अपने भलेपन का प्रमाणपत्र जो उनसे प्राप्त करना है। सचमुच इससे अधिक और क्या व्यामोहन होगा इस नितान्त भावुक वर्त्तमान भारतराष्ट्र का ?।

१०५–भारतराष्ट्र की महासुषुप्ति—

कैसे यह भावुकता हटे ?, और कैसे इस राष्ट्र के उपक्रम–और उपसंहार में उस निष्ठाबल का दृढ-दुर्ग निर्म्मित हो, जिसका दिग्दर्शन पूर्वतालिका में कराया जा चुका है ?, इस दुरधिगम्य प्रश्न का समाधान न तो आज का भारतीय–संस्कृति–धर्म्म–निरपेक्ष सत्तातन्त्र ही कर सकता, न तत्सहसखा वणिक्तन्त्र ही कर सकता, न पौरुषाभिभूत क्षत्रियवर्ग ही कर सकता, न शरीरमात्रोपजीवी अन्य वर्ग ही कर सकते। एवं न

सम्प्रदायभक्त–मतवादपरायण–सत्ताभक्त–वणिग्दासानुदास–(वणिक्तन्त्र के मुनीमों के भी दास) निष्कर्षतः–सर्वदास–सर्वसापेक्ष–जातिमात्रोपजीवी ब्राह्मणवर्ग ही कर सकता। और यों प्रत्यक्ष में प्रतीयमान कोई भी वर्ग तत्–प्रश्न का सफल समाधान करने में आज असमर्थ ही बना हुआ है। और यही है वर्त्तमान भारतराष्ट्र की महासुषुप्ति।

१०६–सांस्कृतिक जनतन्त्र के 'हृदय' का पारम्परिक संरक्षण, एवं तद्द्वारा ही राष्ट्र का सम्भावित उद्बोधनात्मक जागरण—

तो क्या निराश बन जाय राष्ट्र इस दिशा में ?। नहीं, कदापि नहीं। इसलिए कि, आज के इस आत्यन्तिक निराशापूर्ण–भयावह युग में भी संस्कृति–स्वरूप विश्वेश्वर के अनुग्रह से प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूपेण–गच्छतः–स्खलनरूपेणापि सतत प्रवाहित रहने वाले भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों नें राष्ट्र के आस्थाश्रद्धा-शील जनतन्त्र के हृदय को सांस्कृतिक ही बनाए रक्खा है। शरीर बदल गया, मन भी बदल गया, बुद्धि भी बिना मूल्य ही बेच दी गई 'पर'-भावों में। किन्तु जनतन्त्र का भूतात्मानुगत–सांस्कृतिक हृदय तो आजतक भी स्व–स्वरूप से नहीं बिक सका, नहीं ही बिक सकता, कदापि नहीं बिक सकता। किस जनतन्त्र का ?–उस जनतन्त्र का, जो परम्परया सांस्कृतिक-आयोजनों का आजतक संस्मरण करता चला आरहा है। उस जनतन्त्र का, जो आज भी उसी श्रद्धा से पुण्यसलिला भागीरथी में स्नान कर अपने आपको कृतकृत्य अनुभूत कर रहा है। उस जनतन्त्र का, जिसकी आज भी श्रुति–स्मृति–पुराणादि आर्ष-शास्त्रों पर बिना समझे भी अनन्य श्रद्धा है। उस जनतन्त्र का, जिसनें शताब्दियों से ही नहीं, अपितु शहस्राब्दियों से प्रक्रान्त रहने वाले आक्रमणों से शरीर से क्षुब्ध, मन से त्रस्त, बुद्धि से संत्रस्त, एवं भूतात्मना अस्तव्यस्त बने रहते हुए भी गिरते–पड़ते भी अपने सांस्कृतिक–आयोजनों का प्रवाह सर्वात्मना अवरुद्ध नहीं होने दिया। और फिर उस जनतन्त्र का, जो आज के शून्यं–शून्यं-क्षणिकं–क्षणिकं–दुःखं–दुःखं–भावात्मक–महाभयावह वातावरण में भी अपनी भारतीय–सांस्कृतिक–परम्परा को निष्ठापूर्वक उद्घोषित कर देने में यत्किञ्चित् भी संकोच नहीं कर रहा। यों जनताजनार्द्दन के जनहृदय के अनुग्रह से ही, इसकी हृदयावच्छिन्ना सांस्कृतिकी अविच्छिन्ना धारा के अनुग्रह से ही सबकुछ बदलने पर भी कुछ भी तो नहीं बदला संस्कृतिनिष्ठ इस पावन भारतराष्ट्र का।

१०७–उद्बोधनात्मक सांस्कृतिक जागरण का अन्यतम सूत्रधार—

तदित्थं–जनता की हृदयानुगता निष्ठा को सुरक्षित रखने वाले जिन सांस्कृतिक–आयोजनों नें भारतराष्ट्र की संस्कृति–धर्म्म–आदर्श–साहित्य–परम्पराओं को आजतक अविच्छिन्न बनाए रक्खा है, उन्हीं के आधार पर, उनके जीवित सन्देशरूप जनतन्त्र के सांस्कृतिक हृदयबल के आधार पर ही उस प्रश्न का समाधान ढूँढ निकाल लेना है, जिस समाधान के व्यवस्थित होते ही हृदयाधार पर प्रतिष्ठित बुद्धि–मनः–शरीर–तीनों तन्त्र भी परदर्शनमूला भावुकता का अहिःकञ्चुकिवत् परित्याग कर स्वदर्शनमूला निष्ठा पर ही आरूढ हो जाया करते हैं। निश्चयेन हो ही जायँगे।

तथाविध अन्वेषण का उत्तरदायित्त्व कौन ग्रहण करे ?, यह एक और सामायिक, किन्तु अनिवार्य्य प्रश्न उपस्थित हो पड़ता है, जिस के समाधान के अन्वेषण में प्रवृत्त होने से पूर्व पूर्वोक्त चारों मानवों की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित हो पड़ता है, जिन्हें हमनें–**व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–मानव** के नाम

से व्यवहृत किया है। व्यक्तिमानव शरीरप्रतिनिधिरूप शूद्र है, परिवारमानव मनःप्रतिनिधिरूप वैश्य है, समाजमानव बुद्धिप्रतिनिधिरूप क्षत्रिय है, एवं राष्ट्रमानव भूतात्मप्रतिनिधिरूप ब्राह्मण है, यह भी तत्रैव स्पष्ट किया जा चुका है। इस स्पष्टीकरण के आधार पर लोकदृष्ट्या हमें यह कह देना चाहिए कि–**शरीरधर्म्मा शूद्रमानव सदा व्यक्तिवादी ही बना रहेगा**। व्यक्ति के हित के अतिरिक्त यह अपने परिवार के हित में भी आत्मार्पण नहीं कर सकेगा। **मनोधर्म्मा वैश्यमानव सदा परिवारवादी ही बना रहेगा**। भले ही वैश्यबन्धु के कोश में अर्बुदसंख्यात्मक द्रव्य सञ्चित हो जाय। कदापि वह इस का अपने परिवार के अतिरिक्त अन्य स्थलों में स्वेच्छा से तो उपयोग नहीं ही करेगा। परिवार ही वैश्यमहाभाग का समाज है, और यही है इसका राष्ट्र। **बुद्धिधर्म्मा क्षत्रिय सदा समाजवादी ही बना रहेगा**। अपने दैशिक–समाजविशेषात्मक प्रान्त के अतिरिक्त यह सम्पूर्ण राष्ट्र के हित की नीति तबतक निर्द्धारित कर ही नहीं सकता, जबतक कि यह अपने सत्तातन्त्र के मूल में ब्राह्मणनिष्ठा प्रतिष्ठित नहीं कर लेता। **भूतात्मधर्म्मा ब्राह्मण सदा राष्ट्रवादी बनता हुआ विश्वशान्ति का ही सन्देशवाहक बना रहता है**। यही भारतीय ब्राह्मण की परिभाषा है, जो उस संस्कृति को ही अपना स्वरूप मानता है (मानना चाहिए), जो आत्मसंस्कृति राष्ट्रस्वरूप का संरक्षण करती हुई विश्वशान्ति की सन्देशवाहिका बनी रहती है। अतएव ब्राह्मण के लिए न अपने व्यक्तित्व का कोई महत्त्व है, न परिवार का ही व्यामोहन है, न सामयिक सम्मान ही उसे प्रभावित कर सकते। अपितु एकमात्र राष्ट्रनिष्ठा ही इसकी ब्रह्मानुगता ब्राह्मणनिष्ठा है। इसीलिए तो इसे 'मित्र' उपाधि से सुविभूषित किया है राजर्षि मनुने। राष्ट्र का इससे बड़ा हितचिन्तक मित्र और कोई भी नहीं हो सकता। जो ब्राह्मण ऐसा नहीं है। अपितु ठीक इसके विपरीत वैय्यक्तिक स्वार्थों, पारिवारिक व्यामोहनों, एवं सामाजिक–सम्मानों में व्यासक्त बना रहता है, कदापि उसे राष्ट्र का '**सांस्कृतिक–ब्राह्मण**' तो नहीं हीं माना जा सकता। ऐसे व्यामुग्ध ब्राह्मण को तो यहाँ की परिभाषा में–'**ब्राह्मणब्रुव**' (निन्द्य-हीन ब्राह्मण) ही कहा गया है, जिसके आधार पर ही भीष्मने–**चाण्डालब्राह्मण–शूद्रब्राह्मण–वैश्यब्राह्मण–क्षत्रियब्राह्मण**–आदि अनेक वर्ग मान लिए हैं ब्राह्मणवर्ण के। अतएव इन सब व्यामोहनों से पराङ्मुख संस्कृतिनिष्ठ, अतएव राष्ट्रहितनिष्ठ ब्राह्मण हीं उक्त प्रश्न का एकमात्र समाधान है, जिस समाधान का निम्नलिखिता लोकभाषा में भी अभिनय किया जा सकेगा।

१०८–सांस्कृतिक–उद्बोधन के सूत्रधार–राष्ट्रीय ब्राह्मणों से प्रणतभावपूर्वक नम्र आवेदन–

राष्ट्र के सर्वनिरपेक्ष–सर्वावमानित–वे नैष्ठिक ब्राह्मण हीं प्रश्न के समाधान बनेंगे, जिह्नोंनें परोक्षरूपेण अपना सर्वस्व आहुत करते हुए सांस्कृतिक–निष्ठा–परम्परा के अनुग्रह से ही प्रक्रान्त रहने वाले सांस्कृतिक–आयोजनों में जनतन्त्र के हृदयों को आजतक श्रद्धान्वित बनाए रक्खा है। अतएव हम अत्यन्त ही प्रणतभाव से साञ्जलिबन्ध–मुहुर्मुहुः–सर्वनिरपेक्ष अनन्यश्रद्धेय–परमाराध्य–ऋषिकल्प–उन अज्ञात–ब्राह्मणदेवों की सत्त्वप्रज्ञा से यह निवेदन कर देना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य मान रहे हैं कि—

अपनी परम्परागत आस्था के अनुपात से ही वे श्रद्धेय ब्राह्मण सदा की भाँति आज के युग में भी सब तन्त्रों की ओर से सर्वथा–निरपेक्ष–तटस्थ–रहते हुए निष्ठापूर्वक संस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक चिरन्तन–चिरपुरातन–चिरनूतन–स्वरूप को ही एकबार व्यक्त कर देनें के सांस्कृतिक–प्रयास के अनुगामी बन जायँ। उन की एतावती कृपा के बल से ही राष्ट्र अपनी संस्कृति का स्वरूप–बोध प्राप्त कर लेगा।

इस सांस्कृतिक निष्ठाबल से ही सांस्कृतिक-आयोजन सशक्त, एवं सफल बन जायँगे। एवं सफल बने हुए ये आयोजनमात्र ही सुप्त भारत-राष्ट्र को सर्वात्मना जागरूक बना देगें। हम जानते हैं, और मानते हैं कि, इस निष्ठापथ में युगधर्म्म के अनुग्रह से सर्वत्र, एवं सब ओर से उन्हें कण्टक ही कण्टक उपलब्ध होंगे। पुरस्कार में भी सर्वत्र उन्हें घोरघोरतमा-अपमानपरम्पराओं, यथासम्भव शारीरिक दण्डों, एवं मानसिक उपतापों का ही आतिथ्य भी स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु इन सभी का सम्मान करते हुए भी उन भूदेवों को अपनी तत्त्वचिन्तननिष्ठा को अक्षुण्ण ही बनाए रखना पड़ेगा, जैसाकि इनके पूर्वजोंनें तथाविध सांस्कृतिक-आपत्तिकालों में कणभक्षण करते हुए भी इस निष्ठा का संरक्षण किया था। ब्रह्माने राष्ट्र के इस भूदेव को ही तो ब्रह्मविभूति का गोप्ता बनाया है। अतएव इसी का यह महान् उत्तरदायित्व होजाता है कि, सब ओर से निरपेक्ष बन कर, साथ ही सांस्कृतिक-निष्ठा की अन्यतम विरोधिनी-वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा से सर्वथा ही तटस्थ बने रह कर ही, तदैषणाप्रवर्द्धक वणिकतन्त्र के प्रति-अवधानपूर्वक तटस्थ बने रह कर ही, किन्तु आस्था-श्रद्धान्वित-जनतन्त्र के प्रति तटस्थरूपेणैव सापेक्ष बने रह कर वे इस चिन्तननिष्ठा में सर्वात्मना सफलता प्राप्त कर सकेंगे। और यही उस प्रश्न का एकमात्र अन्तिम समाधान होगा, जिसका अपने अन्तर्जगत् में स्मरणमात्र करने की क्षमता रखते हुए ही अब-भारतीय-सांस्कृतिक आयोजनों का संक्षिप्त इतिवृत्त उपक्रान्तिपथ का अनुगमन कर रहा है।

१०८-'सांस्कृतिक-आयोजन' वाक्य के-'आयोजन' शब्द का अर्थसमन्वय—

'सांस्कृतिक-आयोजन' शब्द का अक्षरार्थात्मक समन्वय ही सर्वप्रथम अपेक्षित है, जिसके-**'सांस्कृतिक**[१]**-आयोजन**[२]' ये दो पृथक्-पृथक् अवयव हैं। समब्रह्मानुगता आत्म-देव-कृति ही संस्कृति है, जैसाकि प्रथम प्रकरण में यत्र तत्र विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। जिस आयोजन में अव्ययब्रह्मात्मक समब्रह्ममूलक, किंवा आत्मविभूतिलक्षण, अतएव आत्मा से अभिन्न-प्राणात्मक 'देवता' तत्त्वमूलक देव्यभाव समाविष्ट होंगे, वे ही आयोजन-'सांस्कृतिक-आयोजन' कहलाएँगे। 'आयोजन' शब्द में **'आ-योजन'** ये दो विभाग हैं। योगात्मक 'युजिर्' धातु ('युजिर्-योगे') से ल्युट् प्रत्यय के द्वारा-'आङ्' नामक उपसर्ग-सम्बन्ध से-**'आयोजनम्'** (नपुंसकलिङ्गान्त) शब्द का निर्म्माण हुआ है। 'आङ्' का अर्थ है समन्तात्-सब ओर से, 'योजनम्' का अर्थ है-योग-मेल। जिसके द्वारा सब ओर से भावों-तत्त्वों-किंवा-पदार्थों का एकत्र योग हो जाय, वह कर्म्म ही 'आयोजन' है। अनेक कारणों के सब ओर से युक्त हो जाने पर निष्पन्न हो जाने वाला भाव-तत्त्व-पदार्थ ही आयोजन है, जो युक्त होनें वाले भावादि के स्वरूप-तारतम्य से भावायोजन, तत्त्वायोजन, पदार्थायोजन, भूतायोजन, भोजनायोजन, शयनायोजन, गमनायोजन, भ्रमणायोजन, आदि आदि रूप से असंख्य प्रकारों-श्रेणियों-विभागों में विभक्त-समन्वित माना जा सकता है, माना गया है। आयोजन का स्वरूप-निर्म्माण करने वाले भाव-तत्त्व-किंवा पदार्थादि यत्र तत्र विभिन्न स्थिति-स्थान-दिशा-अवस्था-आदि में विभक्त रहते हैं। उन सब को तत्तत्-स्थिति-स्थानादि से सब ओर से संगृहीत कर एकत्र सब का योग करा देने से ही तत् तत् आयोजनों का स्वरूपोदय हुआ है, जैसाकि निम्न लिखिता प्राचीन कारिका से भी स्पष्ट प्रतिध्वनित है—

कुत्रचित् तण्डुलाः सन्ति, क्व च स्थाली, क्व चेन्धनम्।
तेषामायोजनं कुर्व्वन् मुख्यः कर्त्ता ऽभिधीयते॥

११०–'संस्कृति' शब्द से नित्य सम्बद्ध आत्मभाव, तथा देवभाव, एवं तदनुप्राणित–'सांस्कृतिक-आयोजनों' की भारतीयता—

तन्दुलों का परिपाक 'आयोजन' माना जायगा, जिसे **'तन्दुलपाकायोजन'** कहा जायगा। इसके लिए अपेक्षित तन्दुल–स्थाली (बटलोही)–इन्धन–आदि का एकत्र योग अपेक्षित होगा। युक्त होने वाले इन सब उपकरणों का सब ओर से संग्रह कर एकत्र योग करा देने से ही तन्दुलपक्ता का आसमन्तात् लक्षण आयोजन सफल बन सकेगा। एवं 'आयोजन' शब्द के इसी सहज अर्थ का अब हमें 'संस्कृति' के साथ समन्वय ढूँढना पड़ेगा।

आत्मभाव, एवं **देवभाव**. दोनों ही–'संस्कृति' शब्द के द्वारा संगृहीत मानें जायेंगे। अतएव आत्मभावना, अथवा देवभावना से समन्वित 'आयोजन' को अवश्यमेव–**'सांस्कृतिक–आयोजन'** कहा जायगा। एवं आत्मदेवनिष्ठ भारतीय सांस्कृतिक मानव के लौकिक, पारलौकिक, दूसरे शब्दों में आत्मिक–बौद्धिक–मानसिक–शारीरिक–(वैय्यक्तिक), पारिवारिक, सामाजिक, तथा राष्ट्रीय, यच्चयावत् छोटे बड़े सभी आयोजन–**'सांस्कृतिक–आयोजन'** कहलाएँगे। भारतीय सांस्कृतिक मानव का आत्मिक, किंवा भौतिक, पारलौकिक, किंवा ऐहलौकिक कोई भी कर्म्म ऐसा नहीं होगा, जिसमें यथाश्रद्धा अव्ययेश्वर, अथवा तो तद्विभूतिरूप प्राणदेवभाव का साक्षात्‌रूप से, अथवा तो परम्परया सन्निवेश न होगा।

१११–सांस्कृतिक-मानव, और उसकी संस्कृतभाषा—

तभी तो भारतीय मानव को **'सांस्कृतिक–मानव'** कहा गया है, जिसकी मूलभाषा इसी आत्म–देव–भाव के कारण 'संस्कृत' * कहलाई है, जिस आत्म–देव–भावानुगता 'संस्कृत' भाषा नें ही भारतीय संस्कृति को, एवं सम्पूर्ण राष्ट्र की सांस्कृतिक–प्रजा को एक ही अखण्ड–अविच्छिन्न–सूत्र में आजतक आबद्ध बनाए रक्खा है। संस्कृति के यच्चयावत् मूलसूत्र इस संस्कृता (आत्मदेवभावान्विता) सुरभारती–देववाणी–देवभाषा के ही गर्भ में सुरक्षित हैं, जिनका लोकानुबन्धी विस्तार संस्कृतशब्दप्रधाना राष्ट्रभाषा हिन्दी (न तु हिन्दुस्तानी) में ही हुआ है।

११२–संस्कृतभाषानुगत–'सांस्कृतिक–आचार', एवं लोकभाषानुगत–'सांस्कृतिक–आयोजन'—

यह स्मरणीय है कि, मूलसूत्रात्मक–संस्कृतप्रधान सांस्कृतिक–आयोजन जहाँ–**'सांस्कृतिक–आचार'** कहलाए हैं, वहाँ राष्ट्रभाषा–हिन्दी–प्रधान, किंवा तत्तत्प्रान्तानुगता बँगला–मराठी–गुजराती–तेलगू–कन्नड़–पञ्जाबी–सिन्धी–राजस्थानी–भोजपुरी–आदि आदि प्रान्तीय–भाषाप्रधान–बाह्य–भूत–समायोजनात्मक आयोजनों को–**'सांस्कृतिक–आयोजन'** ही कहा गया है। यही **आचार**, और **आयोजन** में वह मौलिक भेद है, जिसे विस्मृत न करते हुए ही हमें आयोजनों की रूपरेखा का समन्वय करना चाहिए। **'सांस्कृतिक–आचार'** शास्त्रीय **आचार है**, एवं **सांस्कृतिक–आयोजन 'लोकाचार'** है। आचारनिष्ठात्मिका शास्त्रीय–

---

*–तत्संस्कृतं किमपि जङ्गमधाम शुद्धं, यत्राधिदेव इव वेदपुमान् विभाति ॥

पद्धतियों में मनःशरीरानुबन्धिनी भावुकता का, लोकभावना-संरक्षण का प्रवेश भी निषिद्ध है, जब कि लोकाचारात्मिका लौकिक-पद्धतियों में--देश-काल-द्रव्य-श्रद्धा-पात्रता-आदि आदि के तारतम्य से मनःशरीरानुगता-लोकभावुकतावों का भी संग्रह कर लिया जाता है, जिस लोकसंग्रह के आधार पर ही देशधर्म्म, जातिधर्म्म, कुलधर्म्म, आदि लोकसंग्राहात्मक धर्म्मों का भारतीय प्रजा नें समादर कर लिया है। सांस्कृतिक आचारों का सर्वस्व उत्तरदायित्व जहाँ एकमात्र राष्ट्र की 'द्विजातिमानवप्रजा' से ही अनुप्राणित है, वहाँ इतर आस्था-श्रद्धा शीला सामान्य-लोकप्रजा की सांस्कृतिक-आस्था-श्रद्धा-संरक्षण के लिए ही सांस्कृतिक-आयोजन व्यवस्थित हुए हैं, जिनमें आचारनिष्ठान्विता द्विजातिमानवप्रजा, तत्रापि विशेषतः ब्राह्मण तो सर्वथा तटस्थ-सहयोगी ही माना गया है।

११३-सांस्कृतिक आयोजनों का स्वरूपविश्लेषक पुराणशास्त्र—

उक्त शब्दार्थ-समन्वय से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, संस्कृतिरूप अव्ययेश्वरात्मा की, किंवा तदभिन्न प्राणदेवता की भावनाओं से अनिवार्य्यरूपेण समन्वित, तत्समन्वय के लिए ही आयोजन के स्वरूपानुपात से ब्राह्मण के द्वारा ही निर्दिष्ट, आयोजनविशेषानुगत ब्राह्मणसहयोग से ही समन्वित, बुद्धिपूर्वक-मनःसंयमभाव--संरक्षणपूर्वक शारीरिक शिष्टताओं से समाप्लुत, मनःशरीरानुबन्धिनी-मर्य्यादिता लोकभावुकताओं से संयुक्त, एवं तत्तद्विशेष अवसरों पर संघठित-अनेक भावों-तत्त्वों-पदार्थों के आसमन्तात्-योग-से कृतरूप भारतीय आयोजन हीं-'सांस्कृतिक-आयोजन' कहलाए हैं, जिन के अवान्तर असंख्य भेदों का सांस्कृतिक-आयोजनेतिहासात्मक पुराणशास्त्र में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। अतएव इन भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों के स्वरूप-समन्वय के लिए प्रत्येक सांस्कृतिक-भारतीय-मानव को तो जीवन में न्यूनतम एकबार, अधिक नहीं तो कोई सा एक पुराण तो अवश्यमेव स्वाध्यायदृष्टि से देख ही लेना चाहिए। पुराणशास्त्र के अवलोकन के बिना अन्य-प्रयत्नसहस्रों से भी इन भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की वास्तविक रूपरेखा का कदापि सुसमन्वय नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। क्योंकि पुराणपुरुष भगवान् व्यासदेव ने वेदशास्त्रनिष्ठात्मक-सांस्कृतिक आचारों को आधार बना कर ही स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धु-एवं अन्यान्य श्रद्धालु-वर्गों के अभ्युदय-निःश्रेयस् के लिए-'सांस्कृतिक-आयोजनों' का ग्रन्थरूप से एकत्र संकलन कर दिया है। अतएव पुराण ही हमारी लोकसंस्कृति के प्राणवान् प्रतीक बने हुए हैं, जिनकी उपेक्षा कर सचमुच हमनें सम्पूर्ण विश्व के सामने अपने आपको उपेक्षित ही प्रमाणित कर लिया है।

११४–'सांस्कृतिक–आयोजनों' का आयोजक भारतीय-मानव, एवं उसके चार वर्ग—

'सांस्कृतिक–आयोजनों' का आयोजक कौन ?, भारतीय मानव । भारतीय मानव का क्या स्वरूप ?, भूतात्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–भावात्मक चारों प्राकृतिक पर्वों की समन्विता अवस्था। सम्पूर्ण भारतराष्ट्र की दृष्टि से चतुष्पर्वा भारतीय-मानव के कितनें–अवान्तर वर्ग ? --व्यक्तिमानव, परिवारमानव, समाजमानव, एवं राष्ट्रमानव, भेद से चार प्रधान मानववर्ग । जब भारतीय मानव के वर्ग चार हैं, तो सांस्कृतिक–आयोजनों के वर्ग भी प्रकृत्या चार ही होनें चाहिएँ । इसी आधार पर तो–श्रुति का–'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' यह सिद्धान्त जाकरूक बना हुआ है ।

११५–चतुर्वर्गविभक्त भारतीय–मानव के पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह–रूप चार प्रकार के सांस्कृतिक–आयोजन—

राष्ट्रीय, सामाजिक, पारिवारिक, वैय्यक्तिक, भेद से आयोजन चार ही वर्गों में विभक्त मानें हैं सांस्कृतिक–विद्वानों नें, जो क्रमशः **पर्व, उत्सव, सम्मेलन, समारोह,** इन नामों से व्यवहृत किए जाएँगे । पर्वात्मक आयोजन राष्ट्रीय ही मानें जायँगे, जो आंशिकभेद के साथ सम्पूर्ण भारतराष्ट्र में समान–रूप से मनाएँ जायँगे, मनाए जाते हैं । उत्सवात्मक आयोजन सामाजिक ही मानें जायँगे, जो तत्तद्विशेष समाजों के द्वारा तत्तद्विशेष सामाजिक–स्थितियों के अनुपात से समाजविशेषों में हीं मनाए जायँगे, मनाए जाते हैं । सम्मेलनात्मक आयोजन पारिवारिक ही मानें जायँगे, जो परिवारों के द्वारा ही अपनी अपनी पारिवारिक–मान्यताओं के अनुपात से मनाएँ जायँगे, मनाए जाते हैं । एवं समारोहात्मक आयोजन व्यक्तिविशेष को ही प्रधानरूप से निमित्त बना कर प्रवृत्त होंगे, होते हैं । यों चारों आयोजन एवंरूपेण चार मानववर्गों से क्रमशः समन्वित कहे जायँगे, एवं यही भारतीय–चतुर्विध–सांस्कृतिक–आयोजनों की संक्षिप्ता रूपरेखा मानी जायगी, जिसके क्रोड़ में अवान्तर अगणित पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मक--आयोजन पुष्पित पल्लवित हो रहें हैं । इस विस्तार से ही भारतीय–जनजीवन अपने सम्पूर्ण जीवन में सदा ही किसी न किसी पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह का अनुगामी बना रहता हुआ, इस अनुगमन से सांस्कृतिक–निष्ठासंरक्षणपूर्वक सदा ही आनन्द–मङ्गल–समृद्धि–ऐश्वर्य्य–आदि विभूतिभावों से समन्वित रहता हुआ अपनी सच्चिदानन्दघनरसैक-मूर्त्तिलक्षणा आनन्दनिष्ठा को सर्वथा ही चरितार्थ करता आया है, जिसके इस महान् उत्कर्ष का स्मरण–करने मात्र से भी विश्व के सभी प्रज्ञाशील मानव तो अवश्यमेव हर्षोद्रेक का ही अनुभव करेंगे । तालिकारूपेण लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए भारतीय मानव के इन चतुर्विध–सांस्कृतिक–आयोजनों को, एवं तदनन्तर चारों के एक दो उदाहरणों की ओर अवधानपूर्वक दृष्टिपात का अनुग्रह कीजिए ।

आत्म–बुद्धि–मनः–शरीर–समन्वयात्मकस्य–भारतीयमानवस्य चतुर्विधानि सांस्कृतिक–आयोजनानि

१—	रामानवः (भूतात्मस्थानीयः)—तदनुगतं–सांस्कृतिकायोजनं–'**पर्व**' नाम्ना निगद्यते
२—	समाजमानवः (बुद्धिस्थानीय;)—तदनुगतं–सांस्कृतिकायोजनं–'**उत्सव**' नाम्ना निगद्यते
३—	परिवारमानवः (मनःस्थानीयः)—तदनुगतं–सांस्कृतिकायोजनं–'**सम्मेलन**' नाम्ना निगद्यते
४—	व्यक्तिमानवः (शरीरस्थानीयः—तदनुगतं–सांस्कृतिकायोजनं–'**समारोह**' नाम्ना निगद्यते

१—	मानवीय—भूतात्मानुगत—कुलवृद्धप्रधानानि——आयोजनान्येव–**पर्वायोजनानि**	(वृद्धाः–अत्र मुख्याः)
२—	मानवीय—बुद्ध्यनुगत——समर्थयुवापुत्रप्रधानानि-आयोजनान्येव–**उत्सवायोजनानि**	(वयस्काः–अत्र मुख्याः)
३—	मानवीय—मनोऽनुगत——नारीवर्गप्रधानानि——आयोजनान्येव–**सम्मेलनायोजनानि**	(नार्य्यः—अत्र मुख्याः)
४—	मानवीय—शरीरानुगत——बालवर्गप्रधानानि——आयोजनान्येव–**समारोहायोजनानि**	(बालकाः–अत्र मुख्याः)

११६–भूतात्मप्रतिनिधिरूप ब्राह्मण, और तत्प्रधान सांस्कृतिक–आयोजनों की पर्वता, एवं भारतीय संस्कृति से अनुप्राणिता शब्दब्रह्ममहिमा—

राष्ट्रीय–मानव भूतात्मा का प्रातिनिध्य कर रहा है। और चातुर्वर्ण्य में यह स्थान ब्राह्मण को ही प्राप्त हुआ है। अतएव भूतात्मानुगत–कुलवृद्धप्रधान–'पर्व' नाम के आयोजन का प्रधान व्यवस्थापक राष्ट्रीय ब्राह्मण ही माना गया है, जैसाकि स्वयं–'**पर्व**' शब्द के चिरन्तन शब्देतिहास से ही स्पष्ट है। निबन्ध बहुविस्तृत बनता जा रहा है। अतएव इन शब्दों के इतिहास–क्रम को समन्वित नहीं किया जा सकता। महती है यहाँ की संस्कृति। महान् हैं इसके सांस्कृतिक–आयोजन। और महतोमहीयान् हैं सांस्कृतिक शब्दों के चिरन्तन इतिहास, जिनकी विस्मृति से ही भस्त्रावत् शब्दों का उच्चारण करने वाले हमारे जैसे प्राकृत–मानव शब्दाक्षर-समन्वय से भी तो वञ्चित हो रहे हैं आज। प्रत्येक सांस्कृतिक–शब्द समस्त संस्कृति के इतिहास की रूपरेखा अपने गर्भ में पिनद्ध–सुगुप्त–सुरक्षित रख रहा है। इसीलिए तो यहाँ की ऋषिप्रज्ञा ने शब्द को ब्रह्म कहा है। अतएव शब्दशास्त्र के परपारदर्शी भगवान् भाष्यकार (पतञ्जलि) ने कहा है कि–"**यदि मानव एक भी शब्द के रहस्य को भलीभाँति जान कर उसका यथानुरूप–यथाप्रसङ्ग प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, तो एक ही शब्दबोध के द्वारा उसी की लौकिक कामनाएँ तो पूरीं हो हीं जातीं हैं। साथ ही इसे सर्वात्मना पारलौकिक निःश्रेयस् भी प्राप्त हो जाता है। इतना ही नहीं, जिस महानात्मा (पिता के शुक्रस्थ महानात्मा) का यह प्रवर्ग्य अंश है, चान्द्र–श्रद्धा–सूत्र के अविच्छिन्न सम्बन्ध के आकर्षण से इसके मातापिता भी सद्गति के अधिकारी बन जाते हैं** *"। तभी तो श्रुति ने शब्दब्रह्म में निष्णात विद्वान् को परब्रह्म–प्राप्ति का अधिकारी मान लिया है। सुनिये !

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे–शब्दब्रह्म, परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

११७–'पर्व'–शब्दार्थ–समन्वय, एवं पर्वात्मक–सांस्कृतिक–आयोजन—

वेदशास्त्र में–'**सम्वत्सर**' नाम से, '**ज्योतिश्चक्र**' नाम से पुराणशास्त्र में, एवं ज्योतिष में '**खगोल**' नाम से प्रसिद्ध सौरमण्डल की सौरसंक्रान्ति से सम्बन्ध रखने वाले तत्तत्–प्राणदेवविशेषों (नाक्षत्रिक प्राणविशेषों, एवं सौर–चान्द्रप्राणविशेषों) तिथिसन्धि–विशेषों–विष्वद्वृत्तानुबन्धी–अहोरात्रवृत्तों (छन्दः-नामक पूर्वापरवृत्तों) से सम्बन्ध रखने वाले सन्धिस्थान ही '**पर्व**' कहलाए हैं। एवं–प्रकृतिमण्डल में यत्र तत्र मण्डल–विशेषों में स्थित तत्तत् आधिदैविक प्राणदेवताओं का नक्षत्र–मण्डलद्वारा जब जब भी पृथिवी पर भोग–संक्रमण होता है, उन प्राणसंक्रमणात्मक भोगकालों को भी '**पर्व**' कहा गया है। इसी आधार पर

*** एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति।**
—महाभाष्य १।१।१।

अमावास्या–अष्टमी–पूर्णिमा–आदि तिथियाँ भी पर्व ÷ कहलाईं हैं, जिनका निर्णयग्रन्थों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। प्रकृतिरहस्यवेत्ता शास्त्रनिष्ठ विद्वान्–ब्राह्मण हीं इन पर्वतिथियों का निर्णायक माना गया है। अतएव 'पर्व' से सम्बन्ध रखने वाले सांस्कृतिक–आयोजनों का ब्राह्मण को ही नियन्ता–प्रवर्त्तक मान लिया गया है। 'पर्व' शब्द-की इसी परिभाषा के अनुसार अमुक सक्रान्तिकालों के, एवं तिथिमुक्त प्राणदेव-विशेषों के-कारण तत्प्रधान आयोजन–'**पर्वायोजन**' मान लिए गए हैं। उदाहरण के लिए **रक्षाबन्धन, दीपावली, विजय–दशमी, होलिका, गोपाष्टमी, वामनद्वादशी, गणपतिचतुर्थी, अक्षयतृतीया, वसन्तपञ्चमी, कृष्णाष्टमी, रामनवमी, चतुर्विध कुम्भ, सूर्य्य–चन्द्रग्रहण**, आदि आदि आयोजन पर्वात्मक आयोजन हीं मानें जायँगे। इनमें अमुक सीमापर्य्यन्त क्योंकि शास्त्रीय आचार भी सन्निविष्ट रहते हैं। अतएव चारों आयोजनों के समतुलन में इस विभाग को प्रमुखता दी गई है। सम्पूर्ण भारतराष्ट्र इन पर्वायोजनों को यथाकाल–यथातिथि–यथानक्षत्र–यथाश्रद्धा मानता चला आरहा है। अतएव पर्वात्मक इन आयोजनों को हम अवश्य ही राष्ट्रीय आयोजन कह सकते हैं, जिनका तटस्थ प्रातिनध्य ब्राह्मण ही कर रहा है।

११८–बुद्धिप्रतिनिधिरूप क्षत्रिय, एवं तत्प्रधान् उत्सवात्मक–सांस्कृतिक–आयोजन—

अब दूसरे–'**उत्सव**' लक्षण आयोजन का समन्वय कीजिए। जिसप्रकार भूतात्मा का प्रतीक ब्राह्मण माना गया है राष्ट्रदृष्ट्या, एवमेव बुद्धि का प्रतीक माना गया है क्षात्र–सत्तातन्त्र। यही समाज का सञ्चालक है। अतएव सामाजिक–भावानुबन्धी उत्सवात्मक आयोजनों का नेता तत्तत्–प्रान्तीय शासनतन्त्र को ही माना जायगा, माना गया है। सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार के वैसे सामाजिक–अवसर आते रहते हैं, जिनमें समाज के अभ्युदय के लिए पौरुष को निमित्त बना कर समय–समय पर विशेष आयोजन अनिवार्य्य बन जाते हैं। ऋतुविशेषों से सम्बन्ध रखने वाले आयोजन, आततायीवर्ग के विध्वंस–निमित्त घटित होने वाले आयोजन, प्रजा के अभ्युदय के लिए होते रहने वाले उत्कर्षों से अनुप्राणित सामयिक आयोजन, आदि आदि रूप से इन सामाजिक उत्सवों के परःशत अवान्तर भेद हो जाते हैं। **विजयमहोत्सव, वसन्तोत्सव, शरदुत्सव, जलविहारोत्सव, गङ्गामहोत्सव, रथयात्रामहोत्सव, कामविजयमहोत्सव, यात्रामहोत्सव**, आदि आदि उत्सव सामाजिक ही मानें जायँगे, जिनका प्रातिनिध्य तो करेगा तत्तत्–समाजसञ्चालक तत्तत्–सत्तातन्त्र, एवं प्रधानता रहेगी इनमें उसी प्रकार वयस्क–समर्थ–युवकों की, जैसे कि पर्वों में कुलवृद्धों की प्रधानता रहा करती है।

११९–प्रकृतिनिबन्धन नानात्व, तदनुगत गणत्व, एवं नारी की गणधर्म्मता —

तीसरा विभाग माना जायगा-'**सम्मेलनात्मक-आयोजनों**' का। इनके आधार परिवार मानें जायँगे। क्या तात्पर्य्य परिवार का?। वही तात्पर्य्य, जो भारतीय दाम्पत्यजीवन के तात्त्विक स्वरूप से परिचित मानव

÷ **'पर्व' स्यादुत्सवे, ग्रन्थौ, प्रस्तावे, विषुवादिषु च ॥**
दर्श–प्रतिपदोः सन्धौ, स्यात्तिथेः पञ्चकान्तरे ॥१॥
चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्याथ पूर्णिमा ॥
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र ! रविसंक्रान्तिरेव च ॥२॥ (विष्णुपुराणे)

सर्वात्मना जान रहे, और मान रहे हैं। परिवार नाम है '**गृहस्थ**' का। एवं यह विभूति है—'**मातृशक्ति**' की। उस मातृशक्ति की, जिसे ऋषि ने—'**स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु**' कहते हुए विश्वप्रकृति का सगुण-स्वरूप माना है। यदि विश्वेश्वर अपने समत्वरूप से एकाकी बनते हुए **ज्ञानप्रधान** हैं, तो विश्वेश्वरी जगद्धात्री महामाया प्रकृतिदेवी अपने विषम--विभक्त--कृतिरूप कर्तृत्व से अनेकरूपा बनती हुई **विज्ञानाप्रधाना** हैं। प्रकृतिदेवी की यह अनेकरूपता ही विश्व का नानाभावनिबन्धन स्वरूप है। यही गणभाव है, यही सौम्या--हैमवती उमा माहेश्वरी का गणत्त्व है। इस गणत्त्व को, नानात्त्व को स्वक्रोड़ में प्रतिष्ठित रखने वाली मनोमयी प्रकृति ही विश्वेश्वर के विश्वात्मक परिवार की मूलप्रतिष्ठा है। और यही है प्रकृतिभूता सनानता अर्ध्यनारी का मौलिक स्वरूप। इसी आधार पर पूर्व में यत्र तत्र—मनोनिबन्धन गणतन्त्र का हमनें नारीतन्त्र से ही सम्बन्ध बतलाया है। एकाकी पुरुष अनेकरूपों में (सन्ततिधर्म्म से) नारी के अनुग्रह से ही तो बनता है, बना है। अमुक विभिन्न—विषम—गुणधर्म्मा—अनेक व्यक्तियों की समष्टि का नाम हीं तो गणात्मक परिवार है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है—गृहिणी, गृहस्वामिनी। अतएव धर्म्मतः परिणीता नारी ही नर का संसार माना गया है।

१२०—मानवीय मन का महान् उत्तरदायित्त्व, और पारिवारिक जीवन की कर्त्तव्यनिष्ठा—

जब कि नारी परिवाररूप गण की अध्यक्षा है, तो परिवारभावात्मक 'सम्मेलन' रूप आयोजनों में इसी की (नारी की) प्रधानता मानी जानी चाहिए। मानव का मनस्तन्त्र नारी की ही सम्पत्ति माना गया है। जो मानव अपने मन को इस क्षेत्र से अतिरिक्त अन्य क्षेत्र में समर्पित करने की भूल कर बैठता है, उस मानव का मन सर्वथैव विकृत बन जाया करता है। समाज, एवं राष्ट्र को तो मानव के बुद्धिबल, और आत्मनिष्ठा की आवश्यकता है, जब कि मानवीय मन केवल पारिवारिक उत्तरदायित्त्व—निर्वाह के लिए ही सीमित कर दिया गया है। स्वलितमना--अतृप्त—मानव ही मनोविनोदार्थ इतस्ततः दन्द्रम्यमाण बने रहते हैं। एवं निश्चयेन ऐसे स्खलित—मनोविनोदी दिग्भ्रान्त--विमूढ--मानवों की परिवारव्यवस्था आरम्भ में दीन—हीन--भावों में परिणत होती हुई अन्ततोगत्त्वा जघन्या ही बन जाया करती है।

१२१—गणतन्त्रप्रधाना नारी, और तत्प्रधान सम्मेलनायोजन—

नारी कभी एकाकिनी रह ही नहीं सकती। क्योंकि अनेकधर्म्मानुगत गणत्त्व उसकी प्रकृति में समाविष्ट है। एकाकिनी नारी से यदि आप (पतिदेव) कभी पारिवारिक माङ्गलिक लोकगीत सुनना चाहेंगे, तो नारी को एक अक्षर भी याद न आवेगा। अमुक समानधर्म्मा नारीसमाज में बैठते ही उसमें तत्काल सङ्गीतस्मृति जागरूक हो पड़ती है। इसलिए तो पारिवारिक--मङ्गलात्मक सांस्कृतिक—लोकगीतों को हमनें गीत न कह कर '**महासङ्गीत**' माना है, जिसके अनुग्रह से ही भारतीय संस्कृति के पावनसन्देश आज भी भारतीय प्रज्ञा में अनवच्छिन्नरूप से प्रस्फुटित होते रहते हैं। **हाँ, तो सम्मेलनात्मक आयोजन को हमनें पारिवारिक आयोजन इसी आधार पर कहा है, जिसका अर्थ है—गृहिणी की प्रधानता से सम्बन्ध रखनें वाले आयोजन।**

१२२—मेला-त्यौंहार-खेल--तमाशे,—एवं तदनुबन्धी—वैश्य-नारी-बालादि वर्ग—

इन्हीं सम्मेलनायोजनों का नाम है-'**त्यौंहार**', जिनके मानने मनवाने का समस्त उत्तरदायित्त्व नारीतन्त्र से ही अनुप्राणित है। अमुक तिथि, अमुक--पर्व, अमुक--वार, अमुक नक्षत्र, अमुक उत्सव के

आयोजनों पर नारी स्वतः ही त्यौंहार-का सर्ज्जन कर लेती है। तिथि-वार-सम्बन्ध से ही सम्भवतः सम्मेलनात्मक आयोजन--'**त्यौंहार**' नाम से लोक में व्यवहृत हो पड़े हैं। सम्मेलन का ही लोकरूप आरम्भ में--मेलन--रूप में परिणत होता हुआ अन्त में '**मेला**' बन गया है। मेलों में होता क्या है ?, प्रश्न के समाधान से आज के मनोधर्म्मा सभी सम्मेलनप्रेमी परिचित होंगे, जब कि भारतीय–'मेलों' का प्राचीन स्वरूप आज के सम्मेलनात्मक मेलों से सर्वथा ही पृथक् था। आज तो मेला भी सांस्कृतिक–आयोजन न रह कर केवल–'**तमाशा**' ही बन गया है। क्या परिभाषा है--इस--'तमाशा' की ?। प्रकृतिविरुद्ध आचरण का नाम हीं है--तमाशा। जो तमाशा दुर्भाग्यवश यहाँ के संस्कृतिशून्य–अन्य प्रतारक करते हैं, वही तमाशा आज इन लोकसम्मेलनों भी में हो रहा है। माथा नीचे, पैर ऊपर, नीचे काँटों का परिधान (तकिया), और यों सिद्धि का प्रदर्शन, और इसी का नाम हठयोग। प्राणसंधान जैसी सामान्य लोकप्रक्रिया का नाम हीं 'समाधि'-मुद्रा। यही सब कुछ मेलों में होनें लग पड़ा है। जादू का खेल, कटे सर का खेल, आदि आदि प्रकृतिविरुद्ध अकाण्डताण्डव ही आज के मेले हैं। इसीलिए तो मेले के साथ--'**खेला**' जुड़ गया है राजपत्तन की भाषा में। '**मेला--खेला**' की व्यञ्जना सभी के लिए विस्पष्ट बन चुकी है आज के सम्मेलनाभासों के निःसीम अनुग्रह से। आलप्यालम्।

१२३–मनःप्रतिनिधिरूप वैश्य, एवं तत्प्रधान-सम्मेलनात्मक–आयोजन (३)—

निवेदन प्रकृत में यही करना है कि, परिवारप्रधान, किन्तु गृहिणी–भावात्मक–सम्मेलनायोजन ही इस राष्ट्र का तीसरा आयोजन-विभाग है, जिसके **गणपतिगौरी-सम्मेलन (गणगौर), उमामहेश्वरपरिणय-सम्मेलन** (तीज), **मातृपूजन–सम्मेलन (शीतलामाता का मेला), साम्बसदाशिवारावन–सम्मेलन (श्रावण के बनसोमवार), देवपरिक्रमा–सम्मेलन (परकम्मा के मेले**), आदि आदि अनेक भेद हैं, जिनका आनुपूर्वी से परिगणन भी असम्भव है। क्योंकि नारी इनका प्रातिनिध्य करती है। (करती थी)। वह नारी, जिस की प्रतिष्ठा पूर्वकथनानुसार गणात्मक–मनस्तन्त्र है। वह मनस्तन्त्र, जो आरम्भ करना, तो जानता है, किन्तु समाप्त करना नहीं जानता। यही तो मनस्तन्त्रमयी नारी का सहज स्वभाव है। नारी जब अपने गण में (नारियों में) बैठ जाती है, तो किसी भी सम्बद्ध–असम्बद्ध प्रसङ्ग को आधार बना कर तत्क्षण बात आरम्भ तो कर देती है, किन्तु इसे स्वयं इसका अन्त नहीं मिलता। पुराणशास्त्र मानस-भाषा के आधार पर ही प्रवृत्त हुआ है। अतएव उसके कथानक भी ऐसे प्रतीत होनें लगते हैं, मानों इनका ओर–छोर ही नहीं है। सम्भवतः इसी आधार पर नारी की अनन्ता वाग्धारा को–'पुराण' नाम का सम्मान दे डाला है प्रकृतिरहस्यवेत्ता राजस्थान ने। अतएव यहाँ की मानसिक–भाषा में (विनोद प्रसङ्गों में)–नारी का वार्त्ताप्रसङ्ग '**चाच्या पुराण**' कहलाने लग पड़ा है। जो मानव मनःप्रधान होते हैं, उनकी भी यही अवस्था रहती है। मानसिक–सहज भावुकतावश प्रत्येक कार्य्य को आरम्भ करने के लिए तो ये सोत्साह दौड़ पड़ते हैं। किन्तु समाप्तिबिन्दु उसी प्रकार इन्हें नहीं मिलती, जैसे कि–प्रस्तुत मानसिक–प्रसङ्ग की विश्रामबिन्दु मनोधर्म्मा बन जाने वाले हमें नहीं मिल रही कि, इस त्यौंहार–प्रसङ्ग को कहाँ–किस बिन्दु पर उपरत करें ?।

१२४-सात वार, नौ त्यौंहार,–एवं मनस्तन्त्र की अनन्तता—

सुनते हैं–सप्ताह में वार सात ही होते हैं। एवं अनन्ता नारी के त्यौंहार ? । न्यूनतम ९ तो अवश्य ही। एकमात्र इसी से आप यह अनुमान लगा सकते हैं कि–नारी की बात का, काम का, विनोद का, सन्तान-लालसा का, वित्तैषणा का, और त्यौंहारों का किस सीमा पर अवसान होता होगा। इसी आनन्त्य को लक्ष्य बना कर राजस्थान ने इस लोकसूक्ति का आविष्कार कर डाला है इन त्यौहारों की अनन्तता से थक कर कि–**'सात वार–और नौ त्यौंहार'**। सचमुच प्रकृतिदेवी के इस अनन्त विस्तार की कौन थाह पासका है। अनन्ता प्रकृति की अनन्तभावात्मिका इसी महामाया मातृशक्ति का संस्मरण कर उसी के सगुणरूप नारीजगत् से सम्बन्ध रखने वाले त्यौंहारप्रसङ्ग को उसी के अनुग्रह से यहाँ उपरत किया जारहा है।

१२५-शरीरप्रधान–'समारोहात्मक–आयोजन' (४), एवं तत्र शूद्र–बालवृन्द–व्यक्तिभागादि का प्राधान्य—

अब क्रमप्राप्त चौथे उस–**'समारोहात्मक–आयोजन'** का दो शब्दों में दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है, जिसका व्यक्तिमानव से सम्बन्ध है। जो कि–**शरीर**[1] प्रधान बनता हुआ परिवार के **बालतन्त्र**[2] से, समाज के **शूद्रमानव**[3] से, एवं राष्ट्र के **प्रजातन्त्र**[4] से अनुप्राणित है। समारोहात्मक इसी आयोजन का नाम है–**'वैय्यक्तिक–आयोजन'**। इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, केवल एक ही व्यक्ति इस आयोजन की सम्पूर्ण इतिकर्त्तव्यता पूरी कर लेता है। अपितु तात्पर्य्य यही है कि, इस आयोजन का निमित्त व्यक्तिविशेष से सम्बन्ध रखने वाला कर्म्मविशेष ही बना करता है। क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य यही हैं कि, **गर्भाधान–पुंसवन–सीमन्त–प्रजनन–नामकरण–अन्नप्राशन–जातकर्म्म–चूडाकर्म्म–यज्ञोपवीत–विवाहादि** जितनें भी शास्त्रीय संस्कार हैं, * जिन संस्कारों का प्रधान निमित्त व्यक्ति (पुत्र, कन्या) ही बना करते हैं, उन संस्कारों के अवसरों पर जो माङ्गलिक आयोजन होते हैं, उन्हें हीं–**'समारोहात्मक–आयोजन'** कहा जाता है, जिनमें प्रधानरूप से शरीरप्रधानभावों–मङ्गलगानों, समसम्बन्धियों का परस्पर योग, भोजनादि माध्यम से विनोद, आदि का ही समावेश रहता है। सगोत्रबन्धु, सपिण्डबन्धु, सोदकबन्धुरूप परिवार, अन्य सम्बन्धी (समधी), तथा अन्य मित्रादि, सभी ऐसे आयोजनों में समाविष्ट होकर विभिन्न विभिन्न प्रकार के अशन–पानों के द्वारा एक प्रकार का उल्लासपूर्ण वातावरण उपस्थित कर देते हैं, जिसमें शरीरधर्म्मा बालकों का, एवं अशनपानासक्त बालबुद्धियों का ही विशेषरूप से प्राधान्य रहता है।

१२६-भारतीय समारोहों की आनन्दरूपता—

संस्कारनिबन्धन उक्त समारोहों के अतिरिक्त व्यक्तिभावों से सम्बन्ध रखने वाले अन्यान्य भी परःशत समारोह होते ही रहते हैं। आचार्य्यकुल से शिक्षा प्राप्त करने वाले स्नातक को निमित्त बना कर होने वाला **'शिक्षावभृथस्नानसमारोह'** (**'समावर्त्तन'** संस्कार, एवं आज की भाषा में परीक्षा में उत्तीर्ण छात्र को

---

* १६ स्मार्त्त संस्कार, तथा ३२ श्रौत–संस्कार, इन ४८ श्रौत–स्मार्त्त संस्कारों में से कुछ एक की उपपत्ति गीताभूमिका–कर्म्मयोगपरीक्षाखण्ड में देखनी चाहिए।

निमित्त बना कर होने वाला '**दीक्षान्त–समारोह**' नामक आयोजन), कुलपुरुषों-युवापुत्रों–बालकों की जन्मतिथियों पर होते रहने वाले '**जयन्तीसमारोह**' (जन्मतिथिसमारोह), विविध क्षेत्रों में पौरुष–योग्यता–आदि व्यक्त करने वाले राष्ट्रीय, सामाजिक, एवं पारिवारिक व्यक्तिविशेषों को निमित्त बना कर होने वाले **अभिनन्दनसमारोह, वाग्दानसमारोह (सगाईसमारोह), समधी–मेलन–समारोह, (मिलणी)** आदि आदि भेद से भारतीय प्रजा के इन समारोहात्मक आयोजनों की भी कोई इयत्ता नहीं है । और यों भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजन–**पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह**-भेद से चार प्रमुख श्रेणियों में विभक्त रहते हुए अपनी अवान्तर शाखा–प्रशाखाओं से सहस्र–सहस्र–भावापन्न बनते हुए भारतीय मानव को शाश्वतीभ्यः–समाभ्यः आनन्दमय ही बनाए रखते हैं ।

१२७–'सांस्कृतिक' शब्द का–'सम्' उपसर्ग, और उसकी सर्वसमन्वयात्मकता—

इदमत्र विशेषरूपेण–अवधेयम् । नाम है इन का 'सांस्कृतिक–आयोजन' । अतएव एतन्नाम के अनुरूप ही पर्व–उत्सवादि के स्वरूपों का यथास्थान समन्वय करना चाहिए । तात्पर्य्य इस यथास्थान–समन्वय का यही है कि, सांस्कृतिक शब्द का '**सम्**' उपसर्ग, एवं आयोजन शब्द का–'**आङ्**' उपसर्ग, दोनों हीं एक विशेष ध्वन्यर्थ अभिव्यक्त कर रहे हैं । '**एकीभाव**' ही 'सम्' उपसर्ग का अर्थ है, तो–'**सब ओर से**' अर्थ रखने वाला आङ् उपसर्ग भी इसी से मिलता जुलता है । सब का अर्थ है–**राष्ट्र–समाज–परिवार–व्यक्ति**–नामक चार प्रकार के भारतीय मानव, जिन की सीमा में व्यक्ति–मानव के **आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर**–ये चारों वैय्यक्तिक पर्व भी समाविष्ट हैं । **कुलवृद्ध, समर्थयुवापुत्र, नारीवर्ग, बालवर्ग,** ये चारों पारिवारिक वर्ग भी अन्तर्भुक्त हैं । **ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र**–चारों सामाजिक पर्व भी अनुप्रविष्ट हैं । तो सर्वान्त में **नीतितन्त्र–अनुशासनतन्त्र–गणतन्त्र–प्रजातन्त्र**–लक्षण राष्ट्र के चारों तन्त्रों के प्रतिनिधि ज्येष्ठ–श्रेष्ठ महाभाग भी समाविष्ट हैं । यों प्रत्येक सांस्कृतिक आयोजन में किसी न किसी रूप से (तटस्थता से, किंवा आंशिक योगदान से, किंवा अर्थयोगदान से, किंवा सर्वात्मना योगदान से) एकत्वभावपूर्वक सभी पर्वों का समष्टि–व्यष्टि रूप से सब आयोजनों में येन केन रूप से युक्त बनते रहना हीं इन की '**सांस्कृतिक–आयोजनता**' है ।

१२८–प्रत्येक आयोजन की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता—

अभी भी हम समझे नहीं इस योग का अर्थ । समझना केवल यही है कि, पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह–इन चारों को हमनें क्रमशः राष्ट्रीय–सामाजिक–पारिवारिक–वैय्यक्तिक–आयोजन कहा है । एवं चारों में क्रमशः ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–भावों का प्रातिनिध्य बतलाते हुए कुलवृद्ध–युवापुत्र–नारीवर्ग–बालवर्ग, सर्वोपरि नीति–शासन–गण–प्रजा–तन्त्रों का क्रमिक सम्बन्ध व्यक्त किया है । किन्तु यही इनकी पर्य्यवसान भूमि नहीं है । अपितु सब आयोजनों में-प्रत्येक में सभी भाव-सभी वर्ग-सभी तन्त्र समाविष्ट हैं । क्योंकि आयोजन उस भारतीय–मानव से सम्बन्ध रख रहे हैं, जो अपने वैय्यक्तिक–अणोरणीयान् आत्मभाव से ही महिमाभाव में आता हुआ व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र बना हुआ है । यही कुलवृद्ध–युवापुत्र–नारी–बाल बना हुआ है अपने आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–भावों से । यही ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र बना हुआ है—अपने इन्हीं भूतात्मा–बुद्ध्यादि चारों भावों से । एवं यही नीति–शासन–गण–प्रजा–तन्त्ररूपों में परिणत हो रहा है अपने

इन्हीं आत्मादि चारों पर्वों से कुलवृद्धादि चारों परिवारपर्वों के द्वारा, एवं ब्राह्मणादि चारों समाजपर्वों के द्वारा। जिस प्रकार सम्पूर्ण विश्व एक ही ब्रह्म का विभूतिरूप है, तथैव ये सम्पूर्ण तथाकथित विभाग भी ब्रह्म की पूर्णाभिव्यक्ति से अनुप्राणित श्रेष्ठतम एक ही मानव के विभूतिरूप हैं, जैसा कि–'**एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्**' इत्यादि से प्रमाणित है। समदर्शनमूलक मानव का यह एकत्व ही इसका–'सम्' रूप एकीभाव है, और यही है इसका सांस्कृतित्व। सब पर्वों का सब ओर से युक्त हो जाना हीं इसके समदर्शनात्मक, एवं विभिन्न वर्त्तनात्मक सांस्कृतिक–आयोजनों का आयोजनत्त्व है। अतएव पर्व हो, अथवा उत्सव। सम्मेलन हो, अथवा तो समारोह। प्रत्येक में चारों के धर्म्म गौण-प्रधानरूप से प्रत्येक–आयोजन में समाविष्ट रहते हैं। उदाहरणों के द्वारा स्थिति का समन्वय कीजिए।

१२६–व्यक्तिमूलक–समारोह, और उन की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता—

वैय्यक्तिक–समारोहों को ही सर्वप्रथम लक्ष्य बनाइए। किसी एक व्यक्तिविशेष को (कन्या, अथवा तो पुत्र को) लक्ष्य बनाकर विवाहसमारोह आयोजित होता है। अतएव इसे वैय्यक्तिक–समारोह कहा जा सकता है, कहा गया है। अब इसमें व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–भावों को ढूँढ़ निकालना है। पुत्र, किंवा कन्या के माता-पिता दम्पतीरूप परिपूर्ण मानव है, येही दोनों मिलकर 'एक व्यक्ति' है। इस व्यक्ति का समावेश तो स्वतः ही सिद्ध है इस आयोजन में। सगोत्र–सपिण्ड–सोदक–बन्धु सपरिवार इसमें समाविष्ट हैं। अतएव यह पारिवारिक सम्मेलन भी बन रहा है। जाति–इष्ट–मित्र–आदि सामाजिक भाव भी इसमें समाविष्ट हैं। अतएव यह सामाजिक उत्सव भी बन रहा है। वैवाहिक यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण का सहयोग भी स्वतः सिद्ध है, जो विवाहविधि सम्पन्न कराता है। अतएव यह राष्ट्रीय आयोजन भी बना हुआ है। यों व्यक्ति–सम्बन्धी समारोह सम्मेलन–उत्सव–पर्व–भी बन रहा है तथाकथितरूप से। अतएव इसे समारोह के साथ सम्मेलन–उत्सव–पर्व–भी कहा जा सकता है, कहा गया है। यों अमुक दृष्टि से एक आयोजन-समारोह भी सर्वात्मक बना हुआ है। और यह सर्वात्मकका ही इसकी सांस्कृतिकता है। जिसमें न यज्ञविधि हो, न बन्धुओं का सोल्लास समावेश हो, न सामाजिक शिष्ट–जनों का आमन्त्रण हो। और तो और–व्यक्ति के माता–पिता–भी–जिसमें–समाविष्ट न किए जायँ, अपितु परोक्ष में कार्य्यालयविशेष में जाकर पञ्जिका–विशेष में हस्ताक्षरमात्र करा लेने से अनुप्राणित विवाह कदापि–भारतीय सांस्कृतिक–विवाह तो नहीं कहला सकता। ऐसा पञ्जिकाबद्ध आयोजन क्या कहलाएगा ?, प्रश्न तो अचिन्त्य ब्रह्मवत् अचिन्त्य ही बना हुआ है। दुर्भाग्य है यह इस सांस्कृतिक देश का, जिसके अमुक सुधारकवर्ग ने परानुकरणानुग्रह से इसी-अचिन्त्या पद्धति को 'विवाहसमारोह' मान लिया है, जिसमें अधिक से अधिक शुभकामनाएँ अपना समारोह मान लेतीं हैं। इसे ही आज के भाग्यविधाता कहा करते हैं–सादा जीवन–सादा काम–आडम्बरशून्य–सहज जीवन। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् ! आत्मानन्दविभूति से पराङ्मुख महानुभाव इससे अधिक और कल्पना भी क्या कर सकते हैं ?। कालाय तस्मै नमः।

१३०–परिवारमूलक 'सम्मेलन', और उन की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता—

अब क्रमप्राप्त दूसरे **पारिवारिक–सम्मेलनों** की सर्वात्मकता को लक्ष्य बनाइए। प्रधानता यद्यपि मनोमय–नारीवर्ग की ही है। किन्तु समन्वय इसमें भी चारों पर्वों का हो रहा है। उदाहरण के लिए **गणपति-**

गौरी–सम्मेलन (गणगोर का मेला) को ही लीजिए। सवत्सा पार्वती की आराधना ही इसका पर्वात्मक महत्त्व है, जैसाकि सम्भवत: चारों के उदाहरण–तृतीय प्रकरण में स्पष्ट करने की चेष्टा की जायगी । समाज के युवापुरुषों के द्वारा विहित विशेष कार्य्यक्रम हीं उत्सव की पूर्त्ति कर रहे हैं। बालकों का क्रीड़ाकौतुक ही समारोह का समर्थक बन रहा है। और यों सम्मेलन भी चतुष्पर्वात्मक बनता हुआ सर्वात्मक सांस्कृतिक–आयोजन बना हुआ है। कदापि उस सम्मेलन का नाम सांस्कृतिक–सम्मेलन तो नहीं है, जिसमें न तो किसी देवता की आराधना का ही समावेश है, न माङ्गलिक उत्सवपरायणता ही है, न भारतीय माङ्गलिक दैवराधनात्मक महा-सङ्गीतात्मक लोकगीत ही हैं, एवं न बालकों का सहज क्रीड़ा–कौतुक ही है। प्रस्ताव–अनुमोदन–समर्थन–आदि आदि वाग्विजृम्भणों से सम्बन्ध रखने वाले परप्रतारणाकुशल नवग्रहग्राहस्थानीय मञ्चाधीशों के अनर्गल प्रलापों के द्वारा भावुक जनता को तात्कालिकरूपेण समुत्तेजित कर अपनी इतिकर्त्तव्यता समाप्त मान बैठने वाले सम्मेलन कदापि भारतीय–सांस्कृतिक–सम्मेलन तो नहीं कहे जा सकते। भारतीय सम्मेलनों को मनःप्राधान्य से जहाँ प्रधानरूपेण सम्मेलन कहा जायगा, वहाँ देवभाव–सम्बन्ध से इसे 'पर्व' भी कहा जायगा। उत्साहपूर्ण मर्य्यादित आयोजनों के सम्बन्ध से इसे उत्सव भी कह दिया जायगा। एवं बालभावानुरञ्जन से इसे समारोह भी मान लिया जायगा। यही इसकी सर्वात्मकता होगी। एवं इसी सर्वात्मकता के कारण इस सम्मेलनात्मक आयोजन को **'सांस्कृतिक–आयोजन'** कहना सर्वथा अन्वर्थ माना जायगा।

१३१–समाजमूलक–'उत्सव', और उनकी पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता—

अब तीसरे 'सामाजिक–उत्सवों' की सर्वात्मकता को लक्ष्य बनाइए। किसी भी 'उत्सव' को लक्ष्य बना लीजिए, चारों पर्वों का समन्वय उपलब्ध हो जायगा। उदाहरण के लिए **'शरत्पूर्णिमामहोत्सव'** को ही लीजिए, जिसे हमनें पूर्व में **'शरदुत्सव'** कहा है। शरच्चान्द्रिका में रासेश्वर भगवान् कृष्ण का महारासविहार प्रक्रान्त है, जैसा कि–**'कामविजयमहोत्सवात्मक–रासक्रीड़नकथानक'** के रूप से अन्य निबन्ध में स्पष्ट कर दिया गया है। शरज्ज्योत्स्ना में भगवान् का संस्मरण, चक्षुरिन्द्रियप्राणप्रतिष्ठारूप प्राकृतिक अश्विनीकुमारदेवताओं का संस्मरण, आदि भाव इस महोत्सव के **'पर्व'** भाव हैं। समर्थ युवापुरुषों के प्रातिनिध्य से समन्वित इन उत्सवों में तद्द्वारा शासनतन्त्र भी प्रधान बना रहता है, (रहता था)। राजस्थान में तो सामन्तराजा शरत् का उत्सव बड़े ही उल्लास से मनाया करते थे, जब कि आज **फूलों की प्रदर्शिनी** को ही उत्सव मान लिया है, जो कि मान्यता प्रतीच्य देशों का अन्धानुकरणमात्र है। शरद्यामिनियों के शुभ्र–ज्योत्स्नामय शान्त वातावरण में परिवारों का सोल्लास समाविष्ट होना हीं इसकी सम्मेलनता है। एवं क्षीर भोजनादि आयोजन समारोह की क्षति के पूरक हैं। यों यह उत्सव भी पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह बनता हुआ–सर्वात्मक है, और यही इसकी सांस्कृतिकता है।

१३२- राष्ट्रमूलक–पर्व, और उनकी पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता—

चौथा क्रमप्राप्त **'राष्ट्रीय–पर्व'** नामक आयोजन है, जो सर्वापेक्षया महत्त्वपूर्ण माना गया है। उदाहरण के लिए रक्षाबन्धनपर्व को ही लीजिए, जिसका आगे सोदाहरण समन्वय होने वाला है। इस पर्व से सम्बन्ध रखने वाला श्रावणीकर्म्म, रक्षाबन्धनात्मककर्म्म, शकुनपूजनात्मक देवकर्म्म, आदि–आदि–'पर्व' के मुख्य अङ्ग हैं। पारिवारिक बन्धु–परिवारों में होनें वाला रक्षासूत्रबन्धनात्मक लोकाचार **सम्मेलन**

का स्वरूप है। युवापुरुषों का सोल्लास एकत्र समाविष्ट होकर आयोजन–विशेषों का मर्य्यादापूर्वक अनुगमन करना हीं इस की **उत्सवता** है। भोजनादि से समन्वित–बालभावानुगत–समारोह की व्यञ्जना तो स्पष्ट ही है। यों इन राष्ट्रीय–ब्राह्मणप्रधान–पर्वों में भी पर्व–उत्सव–सम्मेलन,–समारोह–चारों का समन्वय प्रमाणित हो रहा है। यों सभी भारतीय आयोजन सर्वात्मक बने हुए हैं।

१३३–पर्व–उत्सव–रूप प्रथम युग्म, एवं सम्मेलन–समारोहात्मक द्वितीय युग्म–

इदमपि नितान्तमवधेयम्। भूतात्मा मौलिक–प्राकृतिक–पर्व है, जिसे–**'अक्षरप्रकृति'** (जीवभूता–परप्रकृति) कहा गया है। अतएव प्रकृतिवादियों (सांख्य) नें इसे 'मूलप्रकृति' कहा है। इस मूलप्रकृतिरूप-मानवीय **भूतात्मा**[१] (अक्षरात्मा) के आधार पर प्रकृतिविकृति–(क्षर)–रूपा–कारणशरीरात्मिका **'बुद्धि'**[२] प्रतिष्ठित है। इसके आधार पर विकृति–(विकारक्षर)–रूप सूक्ष्मशरीरात्मक **'मन'**[३] प्रतिष्ठित है। एवं इसके आधार पर विकाररूप (वैकारिक भूतरूप) स्थूलशरीरात्मक **'शरीर'**[४] प्रतिष्ठित है। यही मानव की सर्वस्व–स्वरूप–व्याख्या है, जिसके माध्यम से ही उसी क्रम से क्रमशः **पर्व[१]–उत्सव[२]–सम्मेलन[३]–समारोह[४]–** नामक चार सांस्कृतिक-आयोजन व्यवस्थित हुए हैं। मानवीय–स्वरूप के चारों पर्व हीं बलगर्भित रस (अमृत), एवं रसगर्भित बल (मर्त्य)–भेद से दो प्रधान भागों में विभक्त हो रहे हैं। अतएव **भूतात्मा और बुद्धि**, इन दोनों अमृतप्रधान पर्वों का एक विभाग मान लिया गया है। तथा **मन, और शरीर**, इन दोनों मर्त्यप्रधान पर्वों का एक विभाग मान लिया गया है। इसी विभागानुपात से तदनुगत चारों आयोजनों के भी **पर्व–और उत्सव, सम्मेलन–और समारोह**, भेद से दो ही प्रधान विभाग बच जाते हैं, जैसे कि–**मोक्ष–धर्म्म**, तथा **काम–अर्थ**, रूप से चार पुरुषार्थों के दो ही विभाग प्रमुख बने हुए हैं।

इस नितान्त अवधेय–दृष्टिकोण के आधार पर ही अब हमें–परिवार–समाज–राष्ट्र–से अनुप्राणित शेष तीनों मानवों का भी समन्वय कर लेना चाहिए। परिवार के चार विभागों में से **कुलवृद्ध–और युवापुरुष**, दोनों का एक विभाग माना जायगा। एवं **नारीवर्ग और बालवर्ग**, दोनों का एक विभाग माना जायगा। एवमेव–समाज के चारों वर्गों में से **ब्रह्म–क्षत्र [ब्राह्मण और क्षत्रिय]**, दोनों का एक विभाग माना जायगा। एवं **विट्–पौष्ण [वैश्य और शूद्र]**, दोनों का एक विभाग माना जायगा। तथैव राष्ट्र के चार वर्गों में से–**नीतितन्त्र और अनुशासनतन्त्र** [धर्म्मनीति, और राजनीतिलक्षणा शासननीति], दोनों का एक विभाग माना जायगा। एवं–**गणतन्त्र, और प्रजातन्त्र**, दोनों का एक विभाग माना जायगा। एवं परिलेख के माध्यम से उक्त मानवीय–विभूति–भावों का निम्न लिखितरूप से समन्वय किया जा सकेगा।

	मानवस्य—अव्ययात्मा—अलौकिकपुरुषात्मा			
वैयक्तिकम् समारोहायोजनम्	व्यक्तिमानवीयोभूतात्मा अक्षरात्मा मूलप्रकृतिः	व्यक्तिमानवीया बुद्धिः आत्मक्षरात्मा प्रकृतिविकृतिः	व्यक्तिमानवीयं **मनः** विकारक्षरात्मा विकृतिः	व्यक्तिमानवीयं **शरीरम्** भूतक्षरात्मा विकारः
पारिवारिकम् सम्मेलनायोजनम्	परिवारमानवीयः **कुलवृद्धरूपः** भूतात्मा	परिवारमानवीया **युवापुत्ररूपा** बुद्धिः	परिवारमानवीयं **नारी-रूपं** मनः	परिवारमानवीयं **बालरूपं** शरीरम्
सामाजिकम् उत्सवायोजनम्	समाजमानवीयः- **ब्राह्मणरूपः** भूतात्मा	समाजमानवीया **क्षत्रियरूपा** बुद्धिः	समाजमानवीयं **वैश्यरूपं** मनः	समाजमानवीयं **शूद्ररूपं** शरीरम्
राष्ट्रीयम् पर्वायोजनम्	राष्ट्रमानवीयः **नीतितन्त्ररूपः** भूतात्मा	राष्ट्रमानवीया **अनुशासन-तन्त्ररूपा** बुद्धिः	राष्ट्रमानवीयं **गणतन्त्ररूपं** मनः	राष्ट्रमानवीयं **प्रजातन्त्ररूपं** शरीरम्
आयोजनानि सर्वात्मकानि—	पर्वोत्सवसम्मेलन-समारोहात्मकं सर्वात्मकं— **पर्वायोजनम्** १	पर्वोत्सवसम्मेलन-समारोहात्मकं सर्वात्मकं— **उत्सवायोजनम्**— २	पर्वोत्सवसम्मेलन-समारोहात्मकं सर्वात्मकं— **सम्मेलनायोजनम्**— ३	सर्वोत्सवसम्मेलन-समारोहात्मकं सर्वात्मकं— **समारोहायोजनम्** ४
	युग्मभावः		युग्मभावः	

प्रकारान्तरेणेत्थमवधेयम्—

राष्ट्रीयम् पर्व

१–राष्ट्रीयमानवस्य–नीतितन्त्रमेव——राष्ट्रस्य भूतात्मा-स एव प्रतिष्ठा पर्वायोजनस्य

२–राष्ट्रीयमानवस्य–अनुशासनतन्त्रमेव–राष्ट्रस्य बुद्धिः-सैव प्रतिष्ठा उत्सवायोजनस्य

——————————*

३–राष्ट्रीयमानवस्य–गणतन्त्रमेव———राष्ट्रस्य मनः–तदेव प्रतिष्ठा सम्मेलनायोजनस्य

४–राष्ट्रीयमानवस्य–प्रजातन्त्रमेव———राष्ट्रस्य शरीरम्-तदेव प्रतिष्ठा समारोहायोजनस्य

पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहात्मकं–सर्वात्मकं–राष्ट्रियं–पर्वायोजनम् १

उत्सवः सामाजिकः

१–समाजमानवस्य–ब्राह्मणवर्ग एव–समाजस्य–आत्मा––पर्वप्रतिष्ठा

२–समाजमानवस्य–क्षत्रियवर्ग एव—समाजस्य–बुद्धिः—उत्सवप्रतिष्ठा

——————————*

३–समाजमानवस्य–वैश्यवर्ग एव——समाजस्य–मन :––सम्मेलनप्रतिष्ठा

४–समाजमानवस्य–शूद्रवर्ग एव——समाजस्य–शरीरम्–समारोहप्रतिष्ठा

पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहात्मकं–सर्वात्मकं–सामाजिकं–उत्सवायोजनम् २

सम्मेलनम् पारिवारिकम्

१–परिवारमानवस्य–कुलवृद्ध एव–परिवारस्यात्मा——पर्वप्रतिष्ठा

२–परिवारमानवस्य–युवापुत्र एव–परिवारस्य बुद्धिः–उत्सवप्रतिष्ठा

——————————*

३–परिवारमानवस्य–नारीवर्ग एव–परिवारस्य मनः—सम्मेलनप्रतिष्ठा

४–परिवारमानवस्य–बालवर्ग एव–परिवारस्य शरीरम्-समारोहप्रतिष्ठा

पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहात्मकं–सर्वात्मकं–पारिवारिकं–सम्मेलनायोजनम् ३

समारोहः वैय्यक्तिकः

१–व्यक्तिमानवस्य–भूतात्मैव–व्यक्तेरात्मा—पर्वप्रतिष्ठा

२–व्यक्तिमानवस्य–बुद्धिरेव—व्यक्तेर्बुद्धिः–उत्सवप्रतिष्ठा

——————————*

३–व्यक्तिमानवस्य–मन एव–व्यक्तेर्मनः—सम्मेलनप्रतिष्ठा

४–व्यक्तिमानवस्य–शरीरमेव–व्यक्तेः शरीरम्-समारोहप्रतिष्ठा

पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहात्मकं–सर्वात्मकं–वैय्यक्तिकं–समारोहायोजनम् ४

विभागद्वयदृष्ट्या-इत्थमवधेयम्—

१—भूतात्मा मानवस्य—मोक्षानुगतः	—तदनु कुलवृद्धः	—तदनु ब्राह्मणः	—तदनु नीतितन्त्रम्	अत्र—राष्ट्रीयपर्वभावाः प्रतिष्ठिताः	प्रथमो विभागः
२—बुद्धिः—मानवस्य—धर्म्मानुगता	—तदनु युवापुत्रः	—तदनु क्षत्रियः	—तदनु अनुशासनतन्त्रम्	अत्र—सामाजिक—उत्सवभावाः	
१—मनः—मानवस्य—कामानुगतम्—	—तदनु—नारी	—तदनु वैश्यः	—तदनु गणतन्त्रम्	अत्र—पारिवारिक-सम्मेलनभावाः	द्वितीयो विभागः
२—शरीरं—मानवस्य—अर्थानुगतम्—	—तदनु—बालकः	—तदनु शूद्रः	—तदनु प्रजातन्त्रम्	अत्र—वैय्यक्तिक-समारोहभावाः	

१—भूतात्मानुगता—बुद्धिः —— —— * २—मनोऽनुगतं शरीरम्	मोक्षनानुगतो धर्म्मः —— —— * कामानुगतोऽर्थः	कुलवृद्धानुगतोयुवापुत्रः —— —— * नार्य्यनुगतो बालकः	ब्राह्मणानुगतः क्षत्रियः —— —— * वैश्यानुगतः शूद्रः	नीतितन्त्रानुगतमनुशासनतन्त्रम् —— —— * गणतन्त्रानुगतं प्रजातन्त्रम्	पर्वानुगता उत्सवाः —— * सम्मेलनानुगताः समारोहाः
मानवपर्वचतुष्टयी	पुरुषार्थपर्वचतुष्टयी	परिवारपर्वचतुष्टयी	समाजपर्वचतुष्टयी	राष्ट्रपर्वचतुष्टयी	आयोजनपर्वचतुष्टयी
समारोहे मुख्यः—मानवः	०	सम्मेलने मुख्यः-परिवारः	उत्सवे मुख्यः समाजः	पर्वसु प्रधानं—राष्ट्रम्	

१३४–अध्ययात्ममूला सनातनसंस्कृति, एवं तन्मूलक सांस्कृतिक आयोजन—

उक्त अवधेय–प्रसङ्ग के द्वारा ही अब हमें इस निष्कर्ष पर भी पहुँच जाना पड़ा कि, भारतीय मानव का कोई भी सांस्कृतिक–आयोजन आत्मा, अथवा तो तद्विभूतिरूप देवता को किसी न किसी रूप से आधार बनाए बिना प्रवृत्त ही नहीं होता। आत्म–देवभाव ही 'संस्कृति' शब्द का तत्त्वार्थ है। तत्सम्बन्ध से ही ये आयोजन–'सांस्कृतिक' कहलाने के पात्र बनें हैं। यह आत्म–देवभावना इस देश के अपठित–ग्रामीण–यथाजात–प्राकृत–मानवों में भी परम्परया अन्तर्य्यायसम्बन्ध से बद्धमूला बनी हुई है। अतएव पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहों के अतिरिक्त भी इस वर्ग के जो भी सामयिक नृत्य–गीत–वाद्यादि–होते हैं, सर्वत्र आरम्भ में गणपति–भवानी–शारदा–शङ्कर–राम–कृष्ण–गुरु–आदि रूप से देवभावना ही प्रधान बनी रहती है। अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, भारतीय जनजीवन के सभी अङ्ग–प्रत्यङ्ग साक्षाद्रूपेण, अथवा तो परम्परया ईशसंस्मरण को मूलाधार बनाते हुए 'सांस्कृतिक' ही बने हुए हैं। और यही भारतीय आत्म–संस्कृति का वह सुगुप्त–पारम्परिक अजस्र प्रवाह है, जिससे प्रयासपूर्वक पृथक् रहनें का प्रयास करता हुआ भी भारतीय मानव कदापि पृथक् नहीं रह सकता। तभी तो इसे 'सनातनसंस्कृति' कहा गया है।

१३५–सत्तानिरपेक्षा संस्कृति, एवं सत्तासापेक्षा-सभ्यता का नीरक्षीरविवेकात्मक समन्वयोपक्रम—

निबन्ध के प्रथम प्रकरण में हमनें संस्कृति को तो सत्तानिरपेक्षा कहा है, एवं सभ्यता को सत्तासापेक्षा कहा है। अभीतक इस दृष्टिकोण का सहजभाषा में स्पष्टीकरण कर देनें का अवसर ही नहीं आया था। सांस्कृतिक–आयोजनों के पूर्वोक्त समन्वय के माध्यम से ही अब हमें इसका भी समन्वय कर लेना चाहिए। विश्वरूपा सभा के ईश्वरीय नियम हीं सभ्यता है, जिसके पूर्वरूप को संस्कृति कहा गया है, एवं उत्तररूप को सभ्यता माना गया है। तात्पर्य्य यही है कि, लौकिक–आचारात्मिका संस्कृति ही प्रकृतिसभ्यता का पूर्वरूप है, एवं यही शास्त्रीया संस्कृति है, जिसमें लोकसत्ताधीश सत्तातन्त्र कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता, नहीं करना चाहिए। इसी अभिप्राय से इस शास्त्रीया–आचारनिष्ठात्मिका–द्विजातिमानवानुगता, विशेषतः ब्राह्मणानुगता संस्कृति को हमनें–'सत्तानिरपेक्ष' कहा है।

१३६–सांस्कृतिक-आयोजन, और उनकी सत्तानिरपेक्षता—

अब प्रश्न शेष रह जाता है सभ्यता के उत्तररूप (व्यक्त–भौतिक–मूर्त्त जगत्) से सम्बन्ध रखने वाली लोकसभ्यतात्मिका 'सभ्यता' नाम से प्रसिद्धा **'सभ्यता'** का। इसी के साथ प्रक्रान्त–सांस्कृतिक–आयोजनों का सम्बन्ध माना गया है, जो कि मूलतः संस्कृति के क्षेत्र में हीं अन्तर्भूत हैं उसी प्रकार, जैसे कि सत्ताधीश की राजनीति का अन्ततोगत्त्वा–**'ब्रह्मैवोनिश्रयति–अन्ततः'** के अनुसार धर्म्मनीति में हीं अन्तर्भाव हो जाता है। धर्म्मसीमा से बहिष्कृता राजनीति जैसे यहाँ **'अनीति'** कहलाई है, तथैव संस्कृति की सीमा से बहिर्भूता–आत्मदेवभावशून्या–केवल–जड़–भूत–कामार्थप्रधाना सभ्यता यहाँ 'असभ्यता' ही मान ली गई है। पर्वोत्सवादि सांस्कृतिक–आयोजनों के आत्म–देवानुगत प्रतिष्ठात्मक अमुक मौलिक अंश तो सत्तानिरपेक्ष ही रहा करते हैं, रहनें हीं चाहिएँ। क्योंकि उन अंशों में सर्वत्र ही शास्त्रविधि की प्रमुखता रहती है। विवाहोत्सव की यज्ञविधि के प्रति सत्तातन्त्र क्या अपेक्षा रक्खेगा ?।

१३७–सांस्कृतिक–आयोजनों का बाह्यरूप, एवं उनके प्रति सत्ता की सापेक्षता—

इन मूलाधारभूत–मौलिक–अंशों को छोड़ कर [जिनका कि भूतात्मा से सम्बन्ध माना गया है]–शेष बौद्धिक–मानसिक–शारीरिक–अंशों की बाह्यव्यवस्था–संरक्षण–परिवर्द्धन–परिवर्त्तन–आदि के प्रति अवश्य ही सत्तातन्त्र की अपेक्षा रहा करती है। और इसी दृष्टि से सांस्कृतिक–आयोजनरूपा सभ्यता को, तथा अन्य नैदानिक–व्यवस्थाओं, जीवन–पद्धतियों से कृतरूपा लोकसभ्यताओं को सत्तासापेक्ष माना जा सकता है, माना जाना चाहिए, माना ही गया है सदा से ही। एवं इस दृष्टि से भारतीय पर्वोत्सव–सम्मेलनसमारोहों की सम्पूर्ण बाह्यव्यवस्थारूपा सभ्यताओं का एकमात्र सत्तातन्त्र पर ही उत्तरदायित्त्व स्वीकृत हुआ है राजधर्म्मप्रकरणों में। और यही है महात्मा भीष्म के–'**राजा कालस्य कारणम्**' इस चिरन्तन सत्य का समन्वयात्मक फलितार्थ, जिस फलितार्थ के निग्रहात्मक अनुग्रह से ही आज हमें भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा का दिग्दर्शन कराने जैसे अप्रिय प्रसङ्ग का अनुगामी बनना पड़ा रहा है, जब कि–जड़भावापन्ना भूतदृष्टि से अवलोकन करने पर तो वर्त्तमान सत्तातन्त्र के अनुग्रह से सर्वत्र सब दिशाओं में सांस्कृतिक ? आयोजनों के ही अकाण्डताण्डव घटित–विघटित हो रहे हैं।

१३८–कालव्यवस्थाप्रवर्त्तक–सभ्यतासंरक्षक सत्तातन्त्रों का इतिहास—

जैसा कि, पूर्व में हमनें अनेक बार निवेदन किया है, विगत ३ सहस्र वर्षों से भारतीय प्रजा निष्ठापथों से उत्तरोत्तर स्खलित ही होती आ रही है। इसके इस बाह्य–विकम्पन का उत्तरदायित्त्व किस पर ?। एकमात्र सत्तातन्त्रों पर, जिनमें कुछ तो भारतीय बनते हुए भी भारतीय मौलिक संकृति से अपरिचित रहे, कुछ इस संस्कृति के प्रचण्ड विरोधी रहे, कुछ एक देखने–कहने सुनने में तो अपने आपको धर्म्मराज के प्रपितामह ही प्रमाणित करते रहे, किन्तु परोक्षरूप से जिन्होंनें यहाँ की संस्कृति के मूलोच्छेद के लिए जो कुछ भी करना था, मुक्तहृदय से किया। और आज जिस सत्तातन्त्र की वरदा–अभया शीतल छाया में प्रजा अपने रूप से स्वतन्त्रता के श्वास-प्रश्वास ग्रहण जैसा महद्भाग्य प्राप्त कर रही है, वह सत्तातन्त्र आरम्भ के सत्तातन्त्रों की सी भावुकता, आक्रान्ता सत्ताधीशों की सी निर्म्ममता, एवं कुनैष्ठिक सत्तातन्त्रों की सी नीतिपरायणता, जैसे अतीत ऐतिहासिक पुरस्कारों से मानों सर्वात्मक बनता हुआ ही सभी प्रयोगों के परीक्षण में आतुर बनता जा रहा है। एवं यही है–कालव्यवस्था–प्रवर्त्तक–सभ्यतासंरक्षक–तीन हजार वर्षों के सत्तातन्त्रों का संक्षिप्त इतिवृत्त।

१३९–सत्तातन्त्रों के विविध स्वरूप, एवं तन्निबन्धन सांस्कृतिक–आयोजनेतिहासों की उत्थान-पतन–परम्पराएँ —

तथाकथित इसी इतिवृत्त के माध्यम से अब हमें सांस्कृतिक–आयोजनों के उत्थान–पतन-भावों के कालानुबन्धी इतिहास का दो शब्दों में समन्वय कर लेना है। **हूण–शक–सिकन्दरादि–मुगलान्त काल** को हम मध्य–सत्ताकाल कहेंगे, जिसमें निरन्तर भारतीय संस्कृति पर प्रत्यक्ष आक्रमण होते रहे। इससे पहिले का भारतीय सत्ताकाल आरम्भ का सत्ताकाल माना जायगा, जिसमें ब्राह्मणनिष्ठा के अन्तर्म्मुख बन जाने से राज्यसत्ताएँ विलासमदोन्मत्ता बनतीं हुईं भावुकता का अभिनय करने लग पड़ीं थीं। मुगलसत्ता के

अनन्तरभावी बृटिश सत्तातन्त्र को हम उपसंहारात्मक सत्ताकाल कहेंगे, जिसनें परोक्षरूपेण हमारे सर्वस्व को ही परायत्त कर लेने के षड़यन्त्रों का सर्ज्जन कर डाला था। इन तीन कालों के अनन्तर वर्त्तमान में उदित होने वाले नवोदित सत्तातन्त्र का तो आज हम महद्‌भाग्य से प्रत्यक्ष ही कर रहे हैं, जिसके सम्बन्ध में अ ी हम स्पष्टरूप से इसके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को जान ही नहीं पाए हैं। क्योंकि जानने जैसा कोई भी बुद्धिगम्य वस्तुतत्त्व प्रयास करनें पर भी हमें अद्यावधि उपलब्ध ही नहीं हो सका है इस अभिनव वर्त्तमान सत्तातन्त्र में।

१४०-पर्वोत्सवयुग, उत्सवसम्मेलनयुग, सम्मेलनसमारोहयुग-भेद से आयोजनों के तीन विभिन्न युग, एवं तन्निबन्धना सत्तायुगत्रयी—

स्मरण रहे, यह सम्पूर्ण इतिवृत्त तीन सहस्रवर्षात्मिका कालावधि से ही सम्बन्ध रख रहा है, जिसका उपक्रमात्मक काल तो नितान्त–भावुकतापूर्ण ही सत्ताकाल माना जायगा, जिसमें राष्ट्र की मूलसंस्कृति के ज्ञान-विज्ञानात्मक दृष्टिकोण का संस्मरण भी उपलब्ध नहीं हो रहा। भावुकतापूर्ण–हृदयों को समझाने के लिए उस काल को हम **'गुप्तकाल'** कहते हैं, जिसे आज के पुरातत्त्ववेत्ता 'स्वर्णयुग' कहा करते हैं। यह वही काल है, जिसमें शृङ्गारादि–रसप्रधाना कविताओं का प्रवाह प्रवाहित हुआ था, जो कि निष्ठादृष्टि से अत्यन्त ही पतन-काल ही माना जायगा। सांस्कृतिक–आयोजनों के पर्वोंनें इसी युग में उत्सवों का रूप धारण कर लिया था। पर्व गौण बन गए थे, उत्सव प्रधान बन गए थे। अतएव इसे हम **'उत्सवयुग'**, किंवा **'पर्वोत्सवयुग'** कह सकते हैं। हूणादि–मूगलान्त–कालात्मक मध्ययुग में ये ही उत्सव सम्मेलनों के रूप में परिणत हो गए। सामाजिक उत्सव परिवारों में सीमित हो गए–परसत्तानुगता बिभीषिकाओं के निग्रह से। क्योंकि सत्तामन्त्र बाहिर के थे, आक्रान्ता थे, निष्ठुर थे, सर्वथैव काल्वालीकृत थे। अन्तः उत्सव गौण बन गए, सम्मेलन प्रधान। अतएव इसे **'उत्सवसम्मेलनयुग'** भी कहा जा सकता है। अन्त के ब्रिटिशयुगात्मक सत्ताकाल में कौटुम्बिक व्यवस्था भी शिथिल हो गई। व्यक्तिवाद ही प्रधान बन गया। अतएव इस युग में सम्मेलन समारोहरूप में परिणत हो गए। अतएव च इस युग को 'समारोहयुग', किंवा अधिक से अधिक–**'सम्मेलनसमारोहयुग'** कहा जा सकता है, जिसमें धर्म जैसी आचारनिष्ठा भी–सम्मेलन (सनातनधर्म्मसम्मेलन–वेदसम्मेलन–वेदान्तसम्मेलन आदि आदि) जैसे मानसिक आयोजनों की अनुगामिनी बन गई। और यों **पर्वोत्सव–उत्सवसम्मेलन–सम्मेलनसमारोह**–रूप से तथोक्त तीनों सत्तायुगों में भारतीय सांस्कृतिकायोजन अस्तव्यस्तरूप से–विकृत–रूप से ही दंन्द्रम्यमाण बने रहे। किंवा स्वसत्ता की भावुकता से, आक्रान्ताओं की प्रत्यक्ष जघन्यता से, तथा ब्रिटिशसत्ता की परोक्ष–निष्ठा से इन तीन सहस्रवर्षों में–**'राजा कालस्य कारणम्'** के अनुसार चारों ही आयो-जन अव्यवस्थित ही बनते रहे, जिसके दुष्परिणामस्वरूप ही इनमें कुछ एक वैसे दैशिक–मलीमस–आगन्तुक भाव भी समाविष्ट हो गए, जिनसे अमुक अंशों में इनका नैष्ठिकस्वरूप भी क्षत–विक्षत हो गया।

१४१-ब्रह्म-क्षत्र के आंशिक जागरण से पूर्वयुगों में सांस्कृतिक-आयोजनों की आंशिक जागरूकता—

सत्तातन्त्रों से ऐसी अव्यवस्था क्यों, और कैसे हो पड़ी ?, क्या समाधान है इस स्थिति का तत्त्वात्मक ?, यह भी जान लीजिए। क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रधान निमित्त तो इन परिवर्त्तनों का प्रधान (प्रकृति) ही बना

करता है। आरम्भकाल में भावुकता अवश्य आगई थी। किन्तु क्षात्रतेज अमुक सीमापर्य्यन्त जागरूक था। ब्रह्मवर्चस् के भी अंश–प्रत्यंश –यत्रतत्र उपलब्ध हो ही जाते थे तद्युग में। अतएव उस युग को ब्रह्म–क्षत्र–भावानुगत (अंशतः ही) युग कहा, और माना जा सकता है। ब्रह्मानुगत भूतात्मा ही 'पर्व' की, तथा क्षत्रानुगता बुद्धि ही 'उत्सव' की मूलप्रतिष्ठा है, जैसाकि पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। एकमात्र इसी प्राकृतिक अनुबन्धानुग्रह से परसत्ताओं के आक्रमणों से पूर्व के भावुकतायुक्त भी भारतीय सत्तातन्त्र के अंशतः क्षात्र–तेजोमय बने रहने के कारण, एवं अंशतः ही ब्रह्मवर्चस् के भी विद्यमान रहने के कारण ब्रह्मा–नुगत पर्व, तथा क्षत्रानुगत उत्सव, दूसरे शब्दों में आत्मसम्मत पर्व, एवं बुद्धिसम्मत उत्सव सर्वात्मना नहीं तो अंशरूपेण तो अवश्य ही जागरूक बने रहे। इन की इसी जागरूकता से विट्प्रधान, किंवा मनःप्रधान सम्मेलन, तथा पौष्णप्रधान, किंवा शरीरप्रधान समारोह भी मर्य्यादारूपेण व्यवस्थित, तथा आत्म-देव-भाव-समन्वित ही प्रमाणित होते रहे।

१४२–हूणादि–मुगलान्तयुग, एवं पर्वोत्सवों की अन्तर्म्मुखता—

आगे चल कर हूणादि आक्रान्ताओं का आक्रमण हुआ, जो प्रत्यक्षरूप से मुगलसत्तापर्य्यन्त सर्वथा ही उत्पीड़क आक्रमण था। पूर्वयुगों की राजसत्ताएँ भावुकता के कारण शिथिल हो रहीं थीं। नैष्ठिक–सांस्कृतिक संघठन का अभाव था। अतएव आक्रान्ताओंनें थोड़े ही प्रयास से सत्तासिंहासन पर अपना अधिकार प्रतिष्ठित कर लिया। भारतीय सत्तातन्त्रानुगत क्षात्रतेज के यों पराभूत होते ही अंशात्मना जागरूक रहने वाला ब्रह्मवर्चस् भी अन्तर्म्मुख बन गया। यों इन आक्रमणात्मक–सत्तायुगों में राष्ट्र के ब्रह्म–क्षत्र–दोनों हीं बल अभिभूत होगए। परिणामतः पर्वोत्सव भी अव्यवस्थित बन गए। राष्ट्र न तो स्वच्छन्दता से पर्वों का ही आयोजन कर सका, एवं समाज न स्वच्छन्दता से उत्सव ही मना सका। दोनों के अवलम्ब परिवारविशेष ही बने रह गए। और इसप्रकार यह युग एक प्रकार से उत्सवगर्भित–सम्मेलनयुग ही बना रह गया।

१४३–वणिक्तन्त्रात्मक बृटिशयुग, एवं पर्वोत्सव-सम्मेलनों की अन्तर्म्मुखता, तथा समारोहों की आंशिक जागरूकता—

आगे चल कर उस ब्रिटिश–सत्तातन्त्र का महान् नैष्ठिक–युग आरम्भ हुआ, जो केवल कामार्थमूला वणिक्निष्ठा [कुनिष्ठा] को सफल बनाने के लिए ही इस राष्ट्र का शासक बना था। इस चाणाक्षचतुर–लोकनिष्ठ-सत्तातन्त्र नें यहाँ आते ही आते यह जान लिया कि, राष्ट्र का क्षात्रतेज सर्वथा असंघठित, एवं सत्तामद-दोष से शिथिलप्राय है। अतएव इसे 'स्व'-तन्त्र में दीक्षित कर लेना कोई कठिन कार्य्य न होगा। किन्तु राष्ट्र के शेषभूत उस ब्राह्मणवर्ग से यह अवश्य ही चिन्तित हो पड़ा, जो शताब्दियों से प्रतारित–अवमानित–उत्पीड़ित बनता हुआ भी अपनी संस्कृति, धर्म्म, एवं साहित्य की मूलनिष्ठा से गच्छतः स्खलनरूप से राष्ट्र में यदा-कदा जागरूकता उत्पन्न कर देता था। नन्दकुमार ब्राह्मण को फाँसी देकर इससे होने वाली बङ्गाल की प्रतिक्रिया ने इस की उक्त आशङ्का को और भी अधिक दृढमूल बना दिया। ईसाइयत के प्रचारक तत्कालीन पादरियों की रिपोर्टों नें भी इसी तथ्य का विश्लेषण इसके सम्मुख रख दिया। अपने आर्थिकादि प्रलोभनों से पादरी महानुभाव अमुक वर्ग को ईसाइयत में दीक्षित करने के लिए प्रसन्न कर लेते थे। किन्तु जाति, तथा वर्णानुगत–धार्म्मिक प्रतिबन्धों के संकेतग्राहक ब्राह्मण के अन्तराय से पादरियों की सम्पूर्ण प्रसन्नता

धूलिधूतरित हो जाती थी। यों सर्वसाधनशून्य भी, तिरस्कृत भी ब्राह्मणवर्ग के द्वारा यदा-कदा उद्घोषित सांस्कृतिक–धार्म्मिक–सन्देशमात्र यहाँ की प्रजा में एक वैसा ओज व्यक्त कर देते थे, जिन से ब्रिटिश सत्तातन्त्र का आशङ्कित बन जाना स्वाभाविक ही था। क्योंकि इस युगपर्य्यन्त भी शिक्षा–आचार–लोकजीवन-आदि आदि में कहीं साक्षात्‌रूप से, तो कहीं परोक्षरूपेण ब्राह्मण–प्रज्ञा ही प्रमुख बनती चली आरही थी।

१४४–बृटिशसत्तातन्त्र की सर्वस्वसंहारिका धर्म्मनिरपेक्षा घोषणा, एवं भारतीय जन-जीवन की जीवितमृत्यु, तथा सम्मेलनसमारोहों के तद्युगीय धर्म्मभीरुतापूर्ण शून्य–आयोजन—

अपने आर्थिक तन्त्रात्मक–सर्वशोषक–वणिग्धर्म्म को निष्कण्टक बनाने के लिए, एवं अपनी तदाशङ्काओं का उन्मूलन करने के लिए इस नीतिज्ञ तन्त्र नें दो प्रमुख कार्य्य किए। पहिला प्रमुख कार्य्य किया–शिक्षायन्त्र का राष्ट्रीयकरण, एवं दूसरा प्रमुख कार्य्य किया लोक–राज–नीतियों से धर्म्म का पार्थक्य, जिस की–**'हम भारतीय धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे'** इस व्यामोहक-घोषणा से सभी सुपरिचित हैं। परिणाम मन चाहा ही हुआ। शिक्षायन्त्र के परायत्त बन जाने से सांस्कृतिक–धार्म्मिक–परम्पराएँ उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुख बनतीं गई। धार्म्मिक तटस्थता की घोषणा से भारतीया भावुक जनता सत्तातन्त्र के कुचक्रों से सर्वथा ही निरपेक्ष–तटस्थ–बन गई। यों सर्वतन्त्रस्वतन्त्रतापूर्वक इन वणिक्शासकोंनें राष्ट्र को सर्वथा वणिक्भाव में हीं परिणत कर दिया। सामन्तवर्ग बन गया दास, ब्राह्मणवर्ग बन गया अन्तर्म्मुख, चतुर्थ वर्ग आकर्षित हो पड़ा आर्थिक प्रलोभनों के द्वारा उनके मतवाद (ईसाइयत) की ओर। और यों निष्कण्टक बन कर यथेच्छ ताण्डवनृत्य किया इस सत्तातन्त्र नें। राष्ट्र का ब्रह्मबलानुगत आत्मा अन्तर्म्मुख बन गया इस युग में, तो क्षत्रबलानुगता बुद्धि दासानुदासा बन गई। शेष रह गए मन, और शरीर, जिनके प्रतिनिधि क्रमशः वैश्य, तथा शूद्र, मानें गए हैं। फलस्वरूप तदनुबन्धी आयोजन हीं शेष बने रह गए इस युग में, जिन्हें पूर्व में हमनें **'सम्मेलनात्मक–समारोह'** नाम से व्यवहृत किया है। वणिक्–निष्ठा के अनुग्रह से ही ये आयोजन भी लोकचतुरों के लिए व्यवसाय के ही साधक बन गए, जब कि इन का एकमात्र उद्देश्य संस्कृति का संरक्षणमात्र ही था। सहजभाषानुसार–ब्रिटिशयुगीय भारतीय सम्मेलन–समारोहात्मक सांस्कृतिक–आयोजन वणिग्भावना के प्राधान्य से अपनी आत्म-देवभावमूला सांस्कृतिकता से वञ्चित होते हुए अर्थतन्त्रानुगत व्यवसाय के ही साधक बन गए। संस्कृति–धर्म्म–आचार–आयोजन के क्षेत्र नहीं रहे, अपितु व्यवसाय–व्यापार के आधार बन गए। जिसप्रकार एक आपणव्यवसायी (दुकानदार) आपणस्थ पदार्थों का वर्णन कर ग्राहकों से कौशलपूर्वक अर्थ का त्याग करा लेता है, एवमेव मन्दिर–चतुष्पद–मार्ग–सरोवरतट–वृक्षच्छाया–आदि आदि आकर्षक स्थानों में संकलित–भग्न–त्रुटित–प्राणप्रतिष्ठाशून्य–मूर्त्तियों–अन्यान्य रँगरञ्जित पाषाणादि को मध्यस्थ बना कर भावुकप्रजा को त्यागानुगामिनी बनाया जाने लगा संस्कृति और धर्म्म के नाम पर। यों सभी क्षेत्रों में अथ से इतिपर्य्यन्त भारतीय संस्कृति–धर्म्म–साहित्य–आदर्श–आचारादि की नामघोषणाओं के व्याजमात्र से सब ने वणिक्–धर्म्म के साथ ही समालिङ्गन कर लिया। अभिभूत होगए ब्रह्म-क्षत्र-बल, अतएव तिरोभूत हो गए पर्व, और उत्सव। अभिव्यक्त बन गए विट्, और पौष्ण, अतएव उद्दीप्त हो पड़े संस्कृतिधर्म्म–निष्ठाशून्य–भावुकतापरिपूर्ण सम्मेलन, और समारोह।

१४५--व्याजात्मक धर्म्माचरण से समूल विनाश—

सुना है, मनःशरीरानुबन्धी प्राकृत मानव संसार में सभी को धोका देकर अमुक काल-सीमा-पर्य्यन्त अपनी वित्त-लोकैषणाओं में सफलता प्राप्त कर सकता है। यही नहीं, संस्कृति और धर्म्म के सुसूक्ष्म रहस्यों को जानने वाले विद्वानों का तो इस दिशा में यह भी कहना है कि–**"जो अधर्म्मपूर्वक-(छल-माया-कपट-धूर्त्तता-आदि पूर्वक) लोकतन्त्रों में प्रवृत्त होता है, वह तत्काल-शीघ्र ही-लोक-वैभवों का भोक्ता बनने लग पड़ता है। इसी वित्त-वैभव-से वह सत्ताबल का क्रय कर लेता है। वित्त-सत्ता-सम्मानादि से समन्वित होकर यही तन्त्रायी (लोकचतुर-चाणाक्ष-धूर्त्त-वञ्चक-) बड़े बड़े लोकसुख भोगता है। इसी वित्त-सत्ताबल से वह अपने प्रतिप्रक्षी दलों को पराजित भी करता रहता है। किन्तु ये श्रीमान् अन्ततोगत्त्वा मूलसहित ही उच्छिन्न हो जाते हैं सदा--सदा के लिए"। सुनिये!**

अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥
—मनुः ४।१७४।

१४६--'न व्याजेन धर्म्ममाचरेत्'–का रहस्यात्मक समन्वय—

हाँ, तो 'अधर्म्म' की घोषणा कर लोकतन्त्रों में प्रवृत्त मानव कुछ दिन तो लोक-सुख की भ्रान्ति कर लेता है, जबकि धर्म्म का व्याज से आचरण करने वाला तो सर्वथैव पतित बन जाता है। धर्म्म का नाम लेकर अधर्म्म करना हीं धर्म्मव्याज कहलाया है। सबको धोका दिया जा सकता है, किन्तु धर्म्म को नहीं। जो व्यक्ति सत्य-अहिंसा-मानवता-मानवधर्म्म-नैतिकताओं की प्रतिक्षण घोषणा करता हुआ इनके व्याज से प्रतिक्षण ही असत्य-हिंसा-दानवता-असुरधर्म्म-भ्रष्टाचारपथों का नवीन-नवीन साजसज्जाओं से सोल्लास आविष्कार करता रहता है, वह दूसरों को दीखने मात्र में-सुखी-वैभवशाली-कुशल-बना रहता हुआ भी अपने इन प्रच्छन्न पापों से अपने आपमें सदा ही दुःखी-अशान्त-उद्विग्न-दीन-दरिद्री-अकुशल ही प्रमाणित होता रहता है। अतएव शास्त्र ने हमें यह उद्‌बोधनसूत्र प्रदान किया है कि—**'न व्याजेन धर्म्ममाचरेत्'**। युक्तं चैतत्। देवता का आमन्त्रण न करना किसी सीमापर्य्यन्त ठीक कहा जा सकता है। किन्तु आमन्त्रण कर उसे अपमानित करने वाला तो कभी सुखी नहीं रह सकता। एवमेव धर्म्म को न मानने वाले धर्म्मनिरपेक्ष तो फिर भी क्षम्य हैं। किन्तु वे कदापि क्षम्य नहीं हैं, जो नाम लेते हैं संस्कृति, और धर्म्म का। किन्तु व्यवहारपक्ष में हैं ठीक इसके विपरीत। इसी दोष से तो आज की उस धर्म्मशीला ? प्रजा का अधिक पतन हुआ है तथाकथित वणिक्‌तन्त्र के कुसङ्ग से, जो प्रतिक्षण-धर्म्म-हरिनामकीर्त्तन-पूजन-पाठ-आदि का अभिनय करती हुई प्रच्छन्नरूप से इनके द्वारा भी कामना करती रहती है अपने आर्थिक-सामाजिक-पारिवारिक-वैय्यक्तिक-वैभव प्रसार की ही। क्यों ब्रिटिशसत्तायुग से विशेषरूप से हमारा उत्तरोत्तर अधिकाधिक सांस्कृतिक-नैतिक-धार्मिक-पतन होता गया ?, प्रश्न के अनेक समाधानों में से तथाकथित-धर्म्मव्याजात्मक धर्म्माचरण-प्रदर्शन-सम्मेलन-समारोह भी एक प्रमुख ही कारण माना जायगा, जिस इस सर्वविनाशक महतोमहीयान् अभ्य-यक्ष से भारतीय प्रजा शीघ्र से शीघ्र उन्मुक्त होकर स्वरूपबोध प्राप्त करले, यही मङ्गलकामना है।

१४७-धर्म्मभीरु-धर्म्मभावुक भारतीय मानव के धर्म्मव्याज से धर्म्म के सांस्कृतिक स्वरूप की अन्तर्मुखता, एवं प्रतीकभक्ति का अभिनिवेश—

धर्म्मव्याज ने धार्म्मिक (धर्म्मभीरु) प्रजा में एक ओर जो महान् दोष उत्पन्न कर दिया, वह भी इसके अन्तर्जगत् को संस्कृति–धर्म्म के–मौलिक–शाश्वत–सत्यस्वरूप की ओर अभिमुख नहीं होने देता। प्रसङ्गोपात्त उस महान् दोष की भी दो शब्दों में मीमांसा कर ही लेनी चाहिए उद्बोधनधिया। ब्रह्म–क्षत्र–बञ्चित, अतएव अन्त: बहि:–संरक्षणों से पराङ्मुख–अतएव धर्म्मव्याजात्मक–सम्मेलन–समारोहोंनें प्रजा में एकप्रकार की वैसी–'प्रदर्शनवृत्ति' जागरूक करदी, जिससे द्रष्टा वर्ग को सहसा यह भ्रान्ति हो जाती है कि, "सचमुच हम धर्म्म की साक्षात्–सगुणमूर्त्ति के ही दर्शन कर रहे हैं।" कहते हैं—जब से दृष्टान्त ही सिद्धान्त बनने लग पड़े, साधन ही साध्य माने जाने लगे, प्रतीक ही वस्तुतत्त्व का स्थान ग्रहण करने लग पड़े, तभी से यहाँ की संस्कृति, और धर्म्म का मौलिक स्वरूप अन्तर्मुख बन गया, जिस अन्तर्मुखता का प्रधान श्रेय भारतवर्ष के उस दर्शनशास्त्र को ही दिया जायगा, जिसने दृष्टान्तों को ही सिद्धान्त मान कर 'आत्मब्रह्म' जैसे निरपेक्ष–तत्त्व को भी ज्ञानाधिकरण–मानने की भ्रान्ति कर डाली। आचारनिष्ठाशून्य–केवल तत्त्वविजृम्भणात्मक–भारतीय दर्शनवाद के अनुग्रह से प्रधानरूपेण, एवं अन्यान्य भी ज्ञात–अज्ञात–अनेक कारणों से भारतीय प्रजानें प्रतीकों के प्रति वैसा अन्तर्य्याम सम्बन्ध स्थापित कर लिगा, जिसने इसे केवल प्रतीक पर ही समाप्त कर दिया। तात्पर्य्य ?।

१४८-प्रतीकमात्रभक्त-धर्म्मध्वजी मानव, एवं संस्कृतिमूलक मूलधर्म्म का आत्यन्तिक अभिभव—

तात्पर्य्य स्पष्ट है। शरीरानुगता वेशभूषा, अशनपानादि द्रव्यों का सहयोग, आदि आदि सभी भाव सभ्यतायुगों के परिवर्त्तन के साथ नियमन–संयमपूर्वक परिवर्त्तित होते ही रहते हैं। क्या मुगलसाम्राज्ययुग की पोशाक कोई धार्म्मिक पोशाक थी ?, जिसे चित्रों में देख कर आज का भावुक भारतीय, विशेषत: धर्म्म–संस्कृति-भीरु भारतीय कहने लग पड़ता है कि—"**अहा ! यही तो थी भारत की प्राचीन वेशभूषा**"। इस वर्णन के साथ साथ ही यह भावुक उन आज के देवताओं के चित्रों को विस्मृत कर जाता है, जिसके देवदेवता वर्त्तमान युग के अभिनेता–अभिनेत्रियों की नग्नवेशभूषा का भी अतिक्रमण कर रहे हैं। आज किसी के गलमुच्छों, किंवा मूँछे न देख कर यहाँ का प्राचीनभक्त उसे घृण्य मानने लग पड़ता है। किन्तु उसी के देश के धर्म्मभक्तों–नामभक्तों–कल्याणपथपथिकों के द्वारा साटोप–सोल्लास–प्रकाशित होते रहनें वालीं भगवच्चित्रावलियों में क्या कभी प्राचीनभक्त ने मूँछे देखीं हैं ? इसका यह तात्पर्य्य कदापि नहीं है कि, हम मूछों के विरोधी हैं। यह तो उस भावुकतापूर्णा प्रतीकभक्ति का निदर्शनमात्र कराना है, जिसे ही प्राचीनभक्त ने संस्कृति, एवं धर्म्म का एकमात्र सर्वस्व स्वरूप मानने की भूल कर डाली है। लम्बा अँगरखा, लम्बा सा डुपट्टा, सर्वाङ्गशरीर में त्रिपुण्ड–किंवा ऊर्ध्वपुण्ड्र–किंवा कुँकुमबिन्दु–किंवा चरणचिह्न–आदि विविधाकाराकारिता तिलक–भक्तियाँ, सूक्ष्म–स्थूल-बृहत्–बृहत्तर–बृहत्तमा–मणिमालाएँ, अमुक प्रकार के केशविन्यास, अमुक प्रकार की मुखमुद्राएँ, अमुक प्रकार की आशीर्वादमुद्राएँ, अमुक छटाओं से समन्वित मन्द–कोमल–कर्कश–रूक्ष–उत्तेजनापूर्ण वाग्विजृम्भण-कौशल, आदि आदि बाह्य प्रतीकभावों पर ही संस्कृति–धर्म्म की गरिमा–महिमा–समाप्त कर बैठने वाले, ऐसे

आडम्बरभावपूर्ण धर्म्म के प्रदर्शनकारी ही राजर्षि के शब्दों के-'धर्म्मध्वजी' कहलाए हैं, जिनके ये बाह्य चिह्न मानों धर्म्म की ध्वजा (पताका) ही हों।

१४९- वैडालव्रतिक-धर्म्मध्वजियों के द्वारा भारतीय-संस्कृति-धर्म्म की-उत्तरोत्तर अन्तर्मुखता, एवं मिथ्याचारों का धर्म्मत्त्व प्रतिपादन—

बाह्यवेशभूषा-भोजन-भजन-परिग्रहादि में पूर्ण कौशलपूर्वक धर्म्मध्वजाओं का साटोप प्रदर्शन करने वाले प्रदर्शनकारी अपने आभ्यन्तर मनोभावों से इन प्रदर्शनों के व्याज से अपनी वित्त-लोक-कामनाओं की पूर्त्ति के लिए ही व्यग्र बने रहते हैं। इनके सभी आभ्यन्तर कर्म्म छद्मपरिपूर्ण ही बने रहते हैं। इसी धर्म्म-व्याजात्मक प्रदर्शन से ये भावुक जनता की वञ्चना किया करते हैं (ठगा करते हैं)। और यही इनकी वैडालव्रतिकता है। बिलाव जैसे साधुवृत्ति से तटस्थ बना रहता हुआ ही मूषक पर झपाटा मार बैठता है, वही इनकी वृति बन जाती है। परम सौम्य-प्रतीयमान भी ये महानुभाव अवसर आने पर प्रच्छन्नरूप से जघन्य से जघन्य भी हिंसाकर्म्म करने से पीछे नहीं हटते। बकव्रत ही इनकी चर्य्या बनी रहती है। आँखें विनयपूर्वक सदा नीचीं रखते हैं ये धर्म्मध्वजी। यह हम नहीं कह रहे। यह तो उन्होंनें कहा है, और आवेशपूर्वक कहा है, जो भारतीय संस्कृति, और धर्म्म के अनन्य संरक्षक हैं। एवं जो संस्कृति-धर्म्मनिष्ठ ब्राह्मणों के प्रति अपनी अनन्य आस्था रख रहे हैं। सुनिये ! उन्हीं के मुख से धर्म्मध्वजियों के तथाकथित तत्स्वरूप की रूपरेखा—

धर्म्मध्वजी-सदा लुब्ध, श्छाद्मिको, लोकदम्भकः।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो, हिंस्रः, सर्वाभिसंधिकः ॥१॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः, स्वार्थसाधनतत्परः॥
शठो, मिथ्याविनीतश्च, बकव्रतचरो द्विजः ॥२॥
ये बकव्रतिनो विप्रा, ये च मार्जारलिङ्गिनः॥
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्म्मणा ॥३॥

१५०-सहज, कृत्रिम--रूपेण--प्रतीकों का द्वैविध्य, एवं उन की उपयोगिता--अनुपयोगिता--

अवश्य ही प्रतीकभावों का भी संस्कृति-और धर्म्म ने समादर किया है। किन्तु किस रूप से ?, निष्ठा के रूप से। प्रतीक के द्वारा मूल की ओर जाना जहाँ भावुकता है, वहाँ मूल से प्रतीक की ओर आना हीं निष्ठा है। बात थोड़ी सूक्ष्म है, अतएव कुछ समझने जैसी। कृत्रिम प्रतीक, सहज प्रतीक-रूपेण दृष्टिभेद से प्रतीक दो अवस्थाओं में परिणत माने गए हैं। सहजेच्छात्मिका उत्थिताकांक्षारूपा आत्मबुद्धिप्रधाना कामना से सम्बन्ध रखने वाले प्रतीक सहजप्रतीक हैं, जो प्रदर्शनों से सर्वथा पृथक् हैं, असंस्पृष्ट हैं। ठीक इसके विपरीत-कृत्रिम इच्छात्मिका उत्थाप्याकांक्षारूपा मनःशरीरप्रधाना-इच्छा से सम्बन्ध रखने वाले प्रतीक कृत्रिम प्रतीक हैं, जिनका आधार ही प्रदर्शन बना करता है। आत्ममूला सांस्कृतिक-निष्ठा मानव के बाह्य आचरणों-वेश-भूषादि बाह्य परिग्रह-चिह्नों को जहाँ सहजरूपता प्रदान किए रहती है, वहाँ मनःशरीरमूला प्रदर्शनभावुकता मानव के बाह्य प्रतीकों को सदा कृत्रिमता की ओर ही आकर्षित करती रहती है।

१५१--सहजसिद्ध प्रतीकधर्म्मों का महान् सांस्कृतिक-कौशल, एवं उन की सुसूक्ष्मा-पद्धति का आभ्यन्तरसमन्वय—

अवश्य ही अमुक सीमापर्य्यन्त--संस्कृति--धर्म्म का सभ्यतानुबन्धी बाह्य--आचारों से, वेशभूषादि से भी सम्बन्ध है, सम्बन्ध रहना ही चाहिए। किन्तु कदापि इसका यह अर्थ नहीं है कि, परिवर्त्तनशीला सभ्यतानुबन्धिनी--युगधर्म्मानुबन्धिनी--प्रतीकता ही सर्वात्मना संस्कृति--और धर्म्म की स्वरूप--व्याख्या हो। मूलभावों को सुरक्षित रखते हुए, लोकसंग्रहसंरक्षणपूर्वक ही सहज--प्रतीक--भावों का अनुगमन करते रहना हीं यहाँ की वह विशिष्ट शैली रही है, जिसके द्वारा मूलसंस्कृति--धर्म्म की सांस्कृतिक--परम्परा भी अक्षुण्ण रह जाती है, एवं युगधर्म्मानुगता सभ्यताएँ भी उद्विग्न नहीं हो पातीं। संस्कृति--स्वधर्म्म--संरक्षणपूर्वक परिवर्तनात्मक--युगधर्म्मों के साथ मर्य्यादापूर्वक सामञ्जस्य बनाए रखना हीं प्रतीककधर्म्मों का वह महान् कौशल है, जिन्हें सांस्कृतिक--कौशल--माना गया है। शब्द असमर्थ हैं इस कौशलपद्धति की सुसूक्ष्मा व्यञ्जना का यथावत् स्पष्टीकरण करने में। इसका समतुलन तो स्वयं अपनी अन्तःप्रज्ञा (सात्त्विकी प्रज्ञा) से अपने अन्तर्जगत् में हीं करना चाहिए।

१५२--वर्णभेदभिन्न प्रजावर्गों के अनुशीलन--आचरण--अनुसरण--अनुकरण-रूप विभिन्न--व्यवस्थित प्रतीकधर्म्म—

फिर बाह्याचारप्रधान प्रतीकधर्म्म की अपनी भी तो कोई स्वरूप--व्याख्या है। निश्चयेन उसे विस्मृत कर बैठने से ही आज प्रतीकभावों में कृत्रिमता का समावेश हो पड़ा है। ब्राह्मण--क्षत्रिय--वैश्य--शूद्र--चारों वर्णप्रजाओं के प्रतीकधर्म्म क्या एक ही प्रकार के हैं ?। कदापि नहीं। बाह्य--अनुकरणात्मक प्रतीकधर्म्मरूप आचरणधर्म्म शरीरधर्म्मा शूद्र से ही अनुप्राणित मानें गए हैं, जबकि--बाह्य--अन्तः--अनुसरणात्मक आचरणधर्म्म मनोधर्म्मा वैश्य से सम्बद्ध हैं। अन्तः--आचरणात्मक आचारधर्म्म जहाँ बुद्धिधर्म्मा क्षत्रिय के प्रतीकधर्म्म हैं, वहाँ सर्वान्तरतम सुसूक्ष्म आचरणात्मक--अनुशीलनधर्म्म हीं ब्राह्मण--के प्रतीकधर्म्म मानें गए हैं, जिस अनुशीलनधर्म्म में तो प्रतीकभाव सर्वथा ही शिथिल हो जाते हैं। अतएव ब्राह्मण (द्विज) यदि अपनी प्रज्ञा अनुकरण--अनुसरणात्मक--प्रदर्शनभावप्रधान प्रतीकों के प्रति ही समर्पित कर देता है, तो उसका अनुशीलनधर्म्म हीं अभिभूत हो जाता है। अतएव बाह्य--अनुकरणात्मक प्रदर्शनकारी ब्राह्मण को ही राजर्षि मनुनें धर्म्मध्वजी कहा है। कदापि इसकी जीवनपद्धति में अभिनिवेशमूलक किसी भी बाह्य--प्रतीकाचरण का, कृत्रिम प्रतीकों का समावेश नहीं होना चाहिए, जो कि हो पड़ा है दुर्भाग्यवश वणिक्तन्त्र के सहयोग से। मनोधर्म्मा वणिक्तन्त्र, तथा शरीरधर्म्मा शूद्रतन्त्र, दोनों हीं इसके आदर्श बनें हुए हैं आज। ये दोनों प्रदर्शनों के आधार पर ही जीवित हैं। अतएव अर्थकामासक्त, एवं आत्मबुद्धिनिष्ठा से वञ्चित भावुक ब्राह्मण नें भी इस वर्गद्वयी की तुष्टि के लिए, इसे प्रसन्न करने के लिए अनुकरणात्मक कृत्रिम--प्रतीकभावों को ही अपना आराध्य--धर्म्म मान लिया है। तभी तो लम्बासा तिलक न लगाने मात्र से आज के धर्म्मरक्षक ? वैश्ययजमान ब्राह्मण से यह कह डालने में यत्किञ्चित् भी तो लज्जा का अनुभव नहीं करते कि,--'महाराज जी ! आप तो तिलक भी नहीं लगाते, आपको तो पूजन--पाठ--करते भी नहीं देखते। आपको तो चोके में बैठकर भोजन करते भी नहीं देखा। आप कैसे ब्राह्मण हुए' ? प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है—**'जैसे यजमान, वैसे ब्राह्मण'**। इस आश्रयतानें हीं तो संस्कृति--धर्म्म के मौलिक--स्वरूप को अन्तर्म्मुख बनाया है। अलमतिपल्लवितेन एवंविध--जघन्येतिवृत्तेन।

१५३–अनुकरणात्मक प्रतीक–धर्म्मों के व्यामोहन से भारतीय संस्कृति–धर्म्म के–मौलिक स्वरूप की विलुप्ति—

उक्त इतिवृत्त से निष्कर्ष यह निकला कि, आज तूल में मूल ढूँढा जा रहा है। अन्त से अनन्त को पकड़ने की चेष्टा की जा रही है। जब कि परिणाम इस जड़तानुगति का यही होता है कि, अन्त से उपक्रान्त मानवीव मन अन्ततोगत्त्वा इस अन्त में हीं परिसमाप्त हो जाता है। क्योंकि अन्त कभी अनन्त को प्राप्त कर ही नहीं सकता–**'नास्त्यकृतः–कृतेन'**। अनन्त आत्मा से ही उपक्रम होना चाहिए जिज्ञासा का, धर्म्मप्रवृत्ति का। संस्कृति से ही सभ्यता की ओर आना चाहिए। धर्म्म के आधार पर ही प्रतीकधर्म्मों को सहजरूप से व्यवस्थित होने देना चाहिए (न कि व्यवस्थित करना चाहिए आवेश–पूर्वक)। आवेशात्मक अभिनिवेश का नाम तो अधर्म्म है। यदि हम प्रतीकधर्म्मों में आविष्ट हो जाते हैं, इन्हें हीं मूलधर्म्म मान लेते हैं, तो निश्चयेन यह तो व्याजात्मक ही आचरण बन जाता है, जो स्वयं हमें धर्म्मनिष्ठा से पराङ्मुख ही कर देता है। वही तो हुआ है–प्रतीकप्रदर्शनात्मक–धर्म्मसम्मेलनों से, तथा धार्मिक समारोहों से। जनता ऊब चुकी है–उन्हीं सम्मेलन–समारोहों से, जिनके लिए बृटिश सत्तायुग में यही अपना सर्वस्वार्पण कर दिया करती थी। ऐसा क्यों हुआ ?, प्रश्न के समन्वय का उत्तरदायित्त्व अब हम प्रतीकधर्म्मवादियों की प्रज्ञा के लिए ही सुरक्षित कर देते हैं।

१५४–धर्म्म–संस्कृति–मानवता–सत्य–अहिंसा–दया–आदि का प्रचारव्यामोहन, एवं एवं तद्द्वारा ही भारतीय मानवों की निष्ठाओं का पतन—

भावुकतात्मक तथाकथित प्रतीकरूप महान् दोष से ही उस सर्वस्वघातिका प्रदर्शनवृत्ति' का उदय हो पड़ा है, जिसे आज की भाषा में–**'धर्म्मप्रचार'–'संस्कृति का प्रचार'–'सत्य–अहिंसा–दया–आदि का प्रचार'**, माना जारहा है। एवं इन प्रदर्शनात्मक प्रतीकरूप प्रचारों के द्वारा मानवता के संरक्षण की, तद्द्वारा विश्वशान्ति की महती कामना की जारही है। बातें सुनने सुनाने, कहने कहलवानें में जितनीं–कर्णप्रिय, तथा रसनाप्रिय लग रहीं हैं, क्या तत्त्वतः भी इस तात्कालिकी श्रुतिप्रियता, तथा तात्कालिकी रसनाप्रियता में कुछ तथ्य है ?। देवप्रिया परोक्षभाषा में यद्यपि हमनें पूर्व में इस प्रश्न का समाधान कर दिया है। किन्तु जिस युग में प्रज्ञा, और भूत का सम्बन्ध उच्छिन्न होगया हो, उस मन:शरीरप्रधान केवल भूतयुग में प्रज्ञात्मक परोक्ष समाधान का कदापि समादर नहीं किया जा सकता। अतएव आवश्यक है कि, भूतभाषा में हीं (जिसे आज के भूतयुग में बोधगम्या–लोकप्रिया–बोलचाल की–'पापूलर Papniar भाषा कहा जाता है) हमें उक्त परोक्ष समाधान का स्पष्टीकरण कर देना चाहिए। तभी सम्भवतः प्रतीकात्मक महान् दोष का नग्न स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा। और तभी हम यह मान सकेंगे कि, इन प्रतीकभावों की आस्था–श्रद्धा से सम्बन्ध रखने वाले अभिनिवेश से मानव का आज किस सीमापर्य्यन्त **'प्रज्ञापतन'** हो गया है।

१५५–दृष्टान्तों की सिद्धान्तरूप में परिणति, और राष्ट्र का सांस्कृतिक–धार्मिक–राजनैतिक–सामाजिक–वैय्यक्तिक–पतन—

सत्यभाषणलक्षण सत्य, परपीड़न से विरोध करने वाली परसुखप्रवृत्तिमूला **अहिंसा**, संकटग्रस्त प्राणियों को संकटभाव से बचाने के प्रयत्नों से समन्विता **दया**, आदि भी उसी प्रकार सामान्य प्रतीकधर्म्म

मानें गए हैं, जैसे कि आचरणात्मक धर्म्म के चार विभिन्न प्रतीक वर्ग मानें गए हैं, जोकि–मानव के आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–पर्व–भेदों से क्रमशः अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरण–धर्म्म–नामों से पूर्व में यत्र तत्र अनेकधा उपवर्णित हुए हैं। आज इस तथ्य का हमें सर्वथा नग्नभाषा–भूतभाषा में स्पष्टीकरण कर ही देना हैं अपने प्रतीकभक्तमात्र भावुक धर्म्मप्रेमियों से कि, **कदापि प्रतीकों का नाम धर्म्म नहीं है**। ये तो धर्म्म के साधनमात्र हैं। जिसप्रकार भावुक मानवों की मानसिक भावुकता के परितोष के लिए इनकी भावुकता से लाभ उठाने वाले नैष्ठिकोंनें दृष्टान्तविधि को जन्म दे दिया है, तथैव लोकभावुकों की श्रद्धा को अमुक–सीमापर्य्यन्त सुरक्षित रखनें मात्र के लिए ही नैष्ठिक धर्म्मरहस्यविदोंनें दृष्टान्त–स्थानीय प्रतीकधर्म्म व्यवस्थित कर दिए हैं। जिसप्रकार दृष्टान्त कभी सिद्धान्त नहीं बना करते, साधन कभी साध्य का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते, तथैव दृष्टान्त, किंवा–साधन–स्थानीय प्रतीकधर्म्म भी कदापि धर्म्म का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते, कदापि नहीं कर सकते।

१५६–सत्य–अहिंसा–दया–आदि का धर्म्माङ्गत्व, न तु धर्म्मत्व—

अतएव कहा जा सकता है, माना जा सकता है, स्पष्ट रूप से कह ही देना चाहिए, मान ही लेना चाहिए कि, सत्यभाषणात्मक प्रतीकसत्य सत्य का प्रतीक हो सकता है, स्वयं कदापि यह सत्यधर्म्म नहीं बन सकता। दया धर्म्म का प्रतीक अवश्य बन सकती है, किन्तु स्वयं दया कभी धर्म्म का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती। एवमेव करुणा–अहिंसा–अस्तेय–बाह्यशौच–आदि आदि भी धर्म्म के प्रतीक तो अवश्य माने जा सकते हैं, किन्तु कदापि इन्हें धर्म्म नहीं कहा जा सकता। इसी स्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि, सत्य धर्म्म का अङ्ग अवश्य है, किन्तु सत्य ही कदापि अङ्गीधर्म्म नहीं है। दया अवश्य ही धर्म्म का अङ्ग है। किन्तु दया ही कदापि अङ्गीधर्म्म नहीं है। एवमेव अहिंसा–करुणा–अस्तेय–शौच–इन्द्रियनिग्रह–शील–आदि आदि धर्म्म के अङ्ग अवश्य माने जा सकते हैं, सो भी लोकभावुकता-संरक्षणात्मिका अमुक सीमा–पर्य्यन्त ही। किन्तु कदापि अहिंसादि को अङ्गीधर्म्म नहीं कहा जा सकता, नहीं ही कहना चाहिए। धर्म्मशास्त्रों में कहीं भी नहीं कहा गया। इसी अभिनय का इस रूप से भी संवरण किया जा सकता है कि, धर्म्म अवश्य ही सत्य है, किन्तु सत्य कदापि धर्म्म नहीं है। धर्म्म अवश्य ही दया है, किन्तु दया कदापि धर्म्म नहीं है। एवमेव धर्म्म अवश्य ही अहिंसा–करुणा–अस्तेय–शौच–इन्द्रियनिग्रह हैं। किन्तु अहिंसा–करुणा–अस्तेय–शौच–इन्द्रियनिग्रहादि कदापि धर्म्म नहीं हैं। इसी भाव को इस नग्न-भाषा में भी व्यक्त किया जासकता है कि, धर्म्म–दया बन सकता है, किन्तु दया कभी धर्म्म नहीं बन सकती। धर्म्म अहिंसा बन सकता है, किन्तु अहिंसा कभी धर्म्म नहीं बन सकती। धर्म्म करुणा बन सकता है, किन्तु करुणा कभी धर्म्म नहीं बन सकती। एवमेव धर्म्म अस्तेय–शौच–इन्द्रियनिग्रह–अवश्य बन सकता है, किन्तु अस्तेय–शौच–इन्द्रियनिग्राहादि कदापि धर्म्म नहीं बन सकते। किंवा धर्म्म अवश्य दया है, किन्तु दया कभी धर्म्म नहीं है। धर्म्म अवश्य अहिंसा है, किन्तु अहिंसा कदापि न तो सामान्यधर्म्म ही है, न परमधर्म्म ही है, जैसा कि आज अहिंसा का भावुकतापूर्ण–**'अहिंसा परमो धर्म्मः'** यह लक्षण किया जा रहा है। एवमेव धर्म्म अवश्य ही अस्तेय–करुणा–शौच–इन्द्रियनिग्रहादि है, किन्तु अस्तेय–करुणा–शौच–इन्द्रिय-निग्रहादि कदापि धर्म्म नहीं है। हुआ स्पष्टीकरण ?। अभी नहीं, तो और सुनिए !

१५७–'गुणानां च परार्थत्वात्-असम्बन्धः समत्वात्' न्याय का तात्त्विक समन्वय, एवं विभिन्न प्राणदेवताओं की स्वरूपव्यवस्थिति—

संस्कृतसाहित्य में एक सुप्रसिद्ध न्याय है–'**गुणानां च परार्थत्वात्, असम्बन्धः समत्वात्**'। उदाहरण के माध्यम से समन्वय कीजिए। एक स्वामी के दस भृत्य हैं। ये दसों गुणस्थानीय भृत्य 'पर' रूप स्वामी की सेवा में अर्पित हैं। इन गुणात्मक भृत्यों–दसों सेवकों का परस्पर इसलिए कोई सम्बन्ध नहीं माना जा सकता कि, दसों समानधर्म्मा हैं, समानशीलव्यसनकर्म्मा हैं। यह समानता ही इन की पारस्परिक असमानता है, जैसे कि कहीं कहीं असमानता ही समानता बन जाया करती है। तात्पर्य्य यही है कि–दसों सेवक एक स्वामी के सेवक अवश्य हैं। किन्तु दसों में परस्पर कोई किसी का स्वामी-सेवक नहीं है। अर्थात् सेवकों में परस्पर स्वामी और सेवकरूप सम्बन्ध अनुपपन्न है। इसलिए अनुपपन्न है कि, दसों हीं समानरूपेण सेवक बने रहते हुए एक पर–दूसरे स्वामी के तन्त्र से सञ्चालित हैं। यदि स्वामी की भावुकता से इन सेवकों में परस्पर स्वामी–सेवक–सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, तो कालान्तर में स्वामी महाभाग का स्वरूप ही अन्तर्म्मुख बन जाता है। और परस्पर स्वामी–सेवक–बन जाने वाले सेवकबन्धु अपना स्वरूप ही उच्छिन्न कर लेते हैं। स्वामी को अङ्गी समझ लीजिए, सेवकों को अङ्ग मान लीजिए। और इसी दृष्टि से समन्वय कीजिए, सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जायगा प्रतीकभावों का।

वाक्–प्राण–चक्षु:–श्रोत्र–त्वक्–रसना–आदि सभी इन्द्रियप्राण अङ्ग हैं, सेवक हैं। अवयव हैं, भक्त (भाग–अंश) हैं। शरीराभिमानी भूतात्मा इन सब का अध्यक्ष–स्वामी है, अङ्गी है। सभी इन्द्रियाँ–'**अत्रैतत्समर्पितम्**' रूप से भूतात्मा में अर्पित हैं। किन्तु कोई इन्द्रिय किसी इन्द्रिय के प्रति अर्पित नहीं है। अतएव इन्द्रिय का लक्षण हुआ है–'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्त्वम्'। सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में भूतात्मा का जहाँ अङ्गीरूप–'अहम्' प्रत्यय सुरक्षित है। वहाँ कोई भी इन्द्रिय अपने रूप से अपने को 'अहं' (भूतात्मा–अङ्गी) नहीं कह सकती। वह वाक् भी है, प्राण भी है, रसना भी है, श्रोत्र भी है। किन्तु प्राण प्राण ही है, वाक् वाक् ही है, प्राण प्राण ही है, रसना रसना ही है। यही भेदसहिष्णु-अभेदवादसिद्धान्त है। एवमेव अग्नि–इन्द्र–मरुत्–वरुण–रुद्र–यम–निऋ॑ति–ईशान–त्वष्टा–मित्र–आदि आदि यच्चयावत् प्राणदेवता उस विश्वेश्वर के पृथक् पृथक् अङ्ग बने हुए हैं। वह इन सब अङ्गों का अङ्गी है। अतएव वह इन्द्र भी है, वरुण भी है. अग्नि भी है, वायु भी है, आदित्य भी है। सभी कुछ है वह। इसी आधार पर–'**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति–अग्निं–यमं–मातरिश्वानमाहुः**' यह कहा गया है। किन्तु इसका कदापि यह तात्पर्य्य नहीं है कि–अग्नि–वरुण–इन्द्र–मातरिश्वा-आदि भी परस्पर अभिन्न हैं। सभी अङ्ग स्व–स्व–प्राकृतिक–गुण–कर्म्म–मर्य्यादा से पृथक् पृथक् हैं। कदापि इन समानों में अङ्गाङ्गीभाव नहीं हो सकता। जहाँ अग्नि–वरुण–मित्र–आदित्यादि सभी ईश्वर के पर्य्याय माने जा सकते हैं, माने गए हैं ऐकात्म्यवाद के अनुसार, वहाँ कदापि अग्नि–वायु–आदित्य–वरुणादि शब्दों में परस्पर पर्य्यायता सम्भव नहीं है। अग्नि कदापि वरुण नहीं है, वरुण कदापि आदित्य नहीं है। इस तथ्य का यथाव्यवस्थित समन्वय न करने के कारण हीं वैदिक देवतावाद के इस रहस्यपूर्ण पारिभाषिक विभिन्न भाव से वञ्चित अभिनव–वेदभक्तोंनें अपनी कल्पित वेदव्याख्याओं में तत्त्वभूत सर्वथा विभक्त इन पारिभाषिक–विभिन्न प्राणदेवताओं का स्वरूप ही विस्मृत कर दिया है।

१५८--प्रतिनिधिरूप प्रतीकभावों की आत्यन्तिक लाक्षणिकता, अतएव च प्रतीक-भावों की सर्वथैव गौणता—

हम भूल कर रहे हैं। प्रतीकभावों के सम्बन्ध में तो उक्त न्याय भी सर्वात्मना काम नहीं दे रहा। भारतीय उपासनाकाण्ड में-सत्यवती, **अङ्गीवती**, **अन्यवती**, प्रतीकवती-निदानवती, आदि भेद से उपासना के अनेक प्रकारों का स्वरूप स्पष्ट हुआ है *। '**गुणानां च परार्थत्वात्०**' इत्यादि पूर्वोपवर्णित न्याय का तो उस अङ्गाङ्गीभाव से सम्बन्ध है, जिसका 'अङ्गवतीउपासना' के साथ ही समन्वय सम्भव है। यहाँ तो प्रतीकभाव के आधार पर चर्चा प्रक्रान्त है। लोक में जिसे प्रतिनिधि कहते हैं, वही शास्त्रीय '**प्रतीकभाव**' है। तत् में, एवं तत्प्रतिनिधि में जो अन्तर हुआ करता है, धर्म्म, एवं धर्म्म के प्रतीक में वही अन्तर है। तदुपरि अङ्गभाव है, तदुपरि सत्यभाव है। तदनन्तर ज्ञानोदय है, जिसमें तद्रूप–तदङ्ग–तत्–प्रतीक–आदि सभी औपासनिक–कर्म्मानुबन्धी पार्थक्य विच्छिन्न हो जाते हैं, एवं–'**तद्वैतत्**' रूपेण एक ही की महिमा का महित्त्व शेष रह जाता है। प्रश्न उपस्थित है आचारात्मक उन प्रतीकधर्म्मों का, जो कर्म्म-काण्डानुगत बनते हुए उपासना से भी अवरकोटि में समाविष्ट हैं। अतएव इन में तो अङ्गभाव भी नहीं माना जासकता। प्रतीकरूप–प्रतिनिधि कौन बना करता है ?, जिसमें प्रातिनिध्य करने वाले की अमुक योग्यता रहा करती है। इस 'अमुक योग्यता' को ही संस्कृतभाषा में कहा गया है–'**लक्षण**', जिसका अस्मत्-प्रान्तीय स्वरूप है–'**लक्खण**'। जब कोई प्रतिनिधि अपने प्रातिनिध्य-कर्म्म में असावधानी कर बैठता है, तो लोक में कह दिया जा सकता है कि–"अरे ! किसे प्रतिनिधि बना कर भेज दिया। इस में तो प्रातिनिध्य के लक्षण–लक्खण–हीं नहीं हैं"। तात्पर्य्य निवेदन का यही है कि, प्रतिनिधिरूप प्रतीकों में धर्म्म आरोपित है। धर्म्मभावना के इस आरोप से ही प्रतिनिधिरूप प्रतीक भी 'धर्म्म' कहलाने अवश्य लग गए हैं। किन्तु कदापि ये प्रकीकधर्म्म धर्म्म का 'तत्' रूप स्वरूपस्थान प्राप्त नहीं कर सकते। इसीलिए तो स्वयं धर्म्मशास्त्रनें इन प्रतीकात्मक धर्म्मों को 'धर्म्म' नाम से व्यवहृत न कर–'×**धर्म्मलक्षण**' ही कहा है। लाक्षणिक–धर्म्मता ही इन की प्रधानता का विरोध कर रही हैं। आरोपितभाव ही लाक्षणिकभाव है। यही लक्षणभाव प्रतीकभाव है। अतएव संसिद्ध है कि, अनुकरणादि धर्म्म प्रतीक हो सकते हैं, किन्तु ये प्रतीक कदापि धर्म्म नहीं हो सकते।

१५६-प्रतीकभावात्मक अहिंसाधर्म्म की आपातरमणीया व्याख्या, एवं तद्द्वारा राष्ट्र की नैष्ठिक-प्रज्ञाओं का व्यामोहनप्रयास—

बात अभी पूरी नहीं बैठी। तो और बैठा लीजिए। आत्मसंस्कृतिरूप शाश्वतधर्म्म आत्मस्वरूप है, अतएव अप्राकृत है, जैसा कि प्रथम प्रकरण में यत्र–तत्र स्पष्ट किया जा चुका है। आत्मब्रह्मरूप धर्म्म की

---

* गीताभूमिका भक्तियोगपरीक्षा–(खण्डद्वयात्मिका) में इन सब विषयों का विस्तार से उपबृंहण किया जा चुका है।

–×**धृतिः--क्षमा--दमो–ऽस्तेयं--शौच–मिन्द्रियनिग्रहः ।**
धी--र्विद्या--सत्य–मक्रोधो--दशकं धर्म्मलक्षणम् ॥

—मनुः ६।६।२।

सीमा में हीं तत्प्रतीकरूप पाञ्चमहाभौतिक विश्व समाविष्ट है । विश्वपदार्थ विभक्त हैं, वह इन सब विभक्तों में विभक्तवत् प्रतीत होता हुआ अविभक्तरूप से प्रतिष्ठित है । अतएव सभी पदार्थ तत्पदार्थों के केन्द्रानुगत आत्मभाव की दृष्टि से धर्म्ममय हैं । इन धर्म्ममय पदार्थों का बाह्य–भौतिक स्वरूप ही केन्द्रधर्म्म का प्रतीकभाव है । वही केन्द्रस्थ आत्मधर्म्म इन प्रतीकभावों का आधार बना हुआ है । केन्द्रधर्म्म स्वधर्म्म है, आत्मधर्म्म है । पिण्डधर्म्म परधर्म्म है, प्रतीकधर्म्म है, शरीरधर्म्म है । यदि यह परधर्म्म आत्मस्वरूप का सहयोगी है, तो यही स्वधर्म्म कोटि में आजाता है । यही यदि आत्मस्वरूप का प्रतियोगी बन जाता है, तो उस अवस्था में लक्षणात्मक वही प्रतीकधर्म्म परधर्म्म (अधर्म्म) बन जाता है । दूसरे शब्दों में–आत्मधर्म्मसीमा में अन्तर्भुक्त प्रतीक-धर्म्म जहाँ धर्म्म का लक्षण बन जाता है, वहाँ तत्सीमा से पृथक् होते ही प्रतीकधर्म्म अधर्म्म का लक्षण बन जाता है । जिसका स्पष्टतम अर्थ यही है कि, संस्कृति–धर्म्मस्वरूपानुगत वे ही प्रतीक 'धर्म्म' के लक्षण हैं, तो तद्विपरीत जाते हुए वे ही प्रतीक 'अधर्म्म' के लक्षण हैं । अतएव प्रतीकधर्म्मों का कोई निश्चित स्वरूप व्यवस्थित ही नहीं हुआ धर्म्मशास्त्रों में । क्योंकि देश–काल–पात्र–द्रव्य–श्रद्धा–आदि के तारतम्य से धर्म्म अधर्म्म बन जाता है, अधर्म्म धर्म्म बन जाता है । उदाहरण के लिए उस **'अहिंसाधर्म्म'** को ही लीजिए, जिसे आज परमधर्म्म माना जारहा है, एवं जिसके आवेश से सम्पूर्ण भारतराष्ट्र, विशेषतः सत्ता-तन्त्र सर्वात्मना भूतावेशवत् आविष्ट होता जारहा है । और एकमात्र इस अहिंसावाद को ही विश्वशान्ति का एकमात्र निदान (हल) मानने–मनवाने की ऐकान्तिक भावुकता करता जारहा है ।

१६०–'यो मा ददाति, स इ देवमावत्' सिद्धान्त का समन्वय, एवं 'अहिंसाधर्म्म' का नीरक्षीरविवेक—

एक निरपराध–व्यक्ति को यदि दूसरा उद्दण्ड व्यक्ति निष्कारण हीं पीड़ा पहुँचाता है, तो उस उत्पीड़क का यह उत्पीड़नकर्म्म 'हिंसा' मान लिया गया है । इस हिंसा को दूर करने के लिए ही 'अहिंसा' का प्रतिष्ठापन हुआ है । क्या केवल इस शब्दमात्र से हिंसक अपना हिंसाकर्म्म छोड़ देंगे ? । यदि ऐसा सम्भव होता इस अन्न–अन्नादात्मिका प्रकृति में, तो फिर मानव की सभी समस्याएँ बिना हीं प्रयास के समन्वित हो जातीं । किन्तु संघर्षशीला द्वन्द्वात्मिका प्रकृति के क्रोड़ में अहिंसक वर्गों के साथ साथ हिंसकवर्ग भी पुष्पित पल्लवित होते रहते हैं । और दोनों वर्गों में सृष्ट्यारम्भ से ही यह प्रतिद्वन्द्विता प्रक्रान्त है । यही प्राकृत जीवों के स्वरूपसंरक्षण का एकमात्र अवलम्ब है, जिसका–**'जीवो जीवस्य नाशनम्'** के द्वारा उपवर्णन हुआ है । स्वयं ऋषिप्रज्ञाने भी इसी प्रकृतिसिद्ध–अन्न–अन्नाद के अजस्र संघर्ष का–**'यो मा ददाति, स इ देवमावत–अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि'** इन शब्दों में यशोगान किया है, जिसका कोई भी प्रकृतिरहस्यवेत्ता तो विरोध नहीं कर सकता । और प्राकृत प्राणियों में तो हिंसात्मक इस सहज प्रतिद्वन्द्विता के विपरीत कदापि अहिंसावाद स्थापित नहीं हो सकता । क्योंकि प्रकृति प्रतीक है अव्यय–पुरुषेश्वर की । अतएव तत्प्रधान प्राकृत प्राणियों में आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति ही नहीं है । **'खाने के लिए ही जीना'** हीं प्राकृत–अनात्म्य–जीवों का एकमात्र माङ्गलिक विधान है ।

१६१--आत्मबुद्ध्यनुगत देवभावों, तथा मनःशरीरात्मक असुरभावों की सहजसिद्धा प्रतिद्वन्द्विता, एवं प्राकृतिक देवासुरसङ्ग्राम—

अब प्रश्न उपस्थित होता है उस मानव का, जो एक ओर अपने मन, तथा शरीर से प्रकृति का अवयव बनता हुआ अन्य प्राणियों की भाँति जहाँ केवल प्राकृत जीव है, तो वही दूसरी ओर अपने बुद्धि, तथा आत्मभाव से पुरुषात्मस्वरूप बनता हुआ अप्राकृत है। यों मानव आत्मबुद्धिभाव से पुरुष है, अमृत है, तो मनःशरीरभाव से प्रकृति है, मर्त्य है। अमृतभाव ही मानव की मानवता है, मर्त्यभाव ही मानव की दानवता है। मानवता सदा मानव को अहिंसक बनाए रखने में प्रयत्नशील है, तो दानवता मानव को प्रतिक्षण हिंसाकर्म्म की ओर आकर्षित करती रहती है। जिन मानवों में आत्मबुद्ध्यनुगता मानवता प्रधान बन जाती है, वे मनःशरीरानुगता दानवता पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। एवं जो मानव मनः--शरीरानुगता दासता के पाश में (कामार्थप्रलोभनों में) आबद्ध हो जाते हैं, वे आत्म-बुद्ध्यनुगता मानवता पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। और यों प्राकृतिक प्राणियों में जो संघर्ष विभिन्न क्षेत्रों का अनुगामी बना रहता है, मानव में वही संघर्ष केवल एक ही व्यक्तिमानव में प्रक्रान्त हो जाता है। इसी को ऋषि ने शाश्वत देवासुरसंग्राम कहा है। इसी आधार पर मानवधर्म्म क्रमशः—**देवधर्म्म, असुरधर्म्म** भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है प्रकृत्या ही। देवधर्म्म अहिंसा के द्वारा असुरधर्म्म पर विजय प्राप्त करने में सदा प्रयत्नशील बना रहता है, तो असुरधर्म्म हिंसा के द्वारा देवधर्म्म को पराजित कर देना हीं अपना परम पुरुषार्थ मान बैठता है। दोनों की इस सहज प्रतिद्वन्द्विता में कौन जीतता है ?, कौन हारता है ?, प्रश्न दुरधिगम्य है।

१६३–'बलं सत्यादोजीयः' लक्षण तात्कालिक समाधान–व्यामोहन, और असुरों की 'अतिमानिता'–एवं–तन्निरोधव्यामोहनमूलक अहिंसावादप्रचार का निःसारत्व–

श्रुति तो यही समाधान करती है कि,–'**बलं सत्यादोजीयः**'। देवभाव–सत्य–अहिंसात्मक है, असुरभाव असत्य–हिंसात्मक है। आत्मभाव सत्यभाव है, यही देवभाव है। बलभाव (भूतभाव) ही असुरभाव है। दोनों में सत्य की अपेक्षा बल ही अधिक ओजस्वी है। अतएव भूतप्रधाना प्रकृति के क्षेत्र में दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में एकबार तो बलशाली असुर ही विजयलाभ कर जाते हैं, जिसका स्पष्ट अर्थ है–हिंसा की अहिंसा पर विजय। प्रकृतिजगत् में रहते हुए कदापि मानव प्राकृतिक–भूतों की प्रतिद्वन्द्विता में अहिंसा के बल पर तबतक अपनी मानवता का परित्राण कर ही नहीं सकता, जबतक कि वह प्रकृति से भी परे की किसी सशक्त शक्ति को अपना आधार नहीं बना लेता। क्या अहिंसा वह मूलाधार होगा ?। नहीं। यह तो हिंसा का प्रतिद्वन्द्वीभावमात्र ही है। विधिरूप 'हिंसा' शब्द के समतुलन में निषेधरूप अहिंसाशब्द का कोई महत्त्व नहीं है, कोई गणना नहीं है। यही तो कारण है कि, विगत २–२॥ हजार वर्षों से अहिंसावाद की तुमुल घोषणाओं में अहोरात्र निरत रहने वाला भी भारतीय मानव उन हिंसक–दानवों का आज तक प्रतिरोध नहीं कर सका, नहीं कर सका, जिन्होंनें इस अहिंसावादी भावुक मानव को कङ्कालमात्रावस्था में ही ला खड़ा किया है। और आज पुनः यह अपनी उसी अशक्ता भावुकता के व्यामोहन का अनुगामी बनने जा रहा है।

१६३–अतीत भारत के अहिंसायुगों में हीं हिंसा का प्रचण्डरूप से आविर्भाव, एवं हिंस्रक–बर्बरों के द्वारा अहिंसावादी भावुक भारतराष्ट्र का निर्म्मम पददलन—

भारतवर्ष पर जिन प्रचण्ड–हिंस्रक–बर्बर–हूणादि दस्युओं का आक्रमण हुआ, वह उस अहिंसायुग का ही महाप्रसाद था, जिसनें मानव को सर्वथा ही निष्प्राण बना दिया था। यह अहिंसा–अहिंसा चिल्लाता ही रहा, और आततायी आक्रान्ता इसका सर्वस्व निगरण करते ही गए, करते ही गए। यही है विगत ३–सहस्रवर्षों के उस अहिंसावाद का महान् पौरुष !, जिसनें हमें आज उस सीमा पर ला खड़ा किया है, जिस सीमा पर पहुँचने के अनन्तर भावुक मानव अहिंसा–करुणा–दया–क्षमा–शील–आदि आदि शब्दों का उच्चारण कर सबल–सशक्तों से अपनी रक्षा की भीख ही माँगनें लग पड़ता है। कदापि ऐसे भिक्षा–याञ्चात्मक–अहिंसा–करुणा–दया–क्षमा–शीलादि–शब्दों से मानवता के नाम पर चीत्कार करते रहने मात्र से तबतक कोई भी लाभ नहीं हो सकता, जबतक कि इनके प्रतिद्वन्द्वीभाव इन शब्दों के मूल में प्रतिष्ठित नहीं कर लिए जाते निष्ठापूर्वक।

१६४–संस्कृतिमूला दुर्द्धर्षा, एवं सबला मानवता के द्वारा ही दानवता का आत्यन्तिक-पराभव—

क्या तात्पर्य्य ?। क्या अहिंसा के मूल में हिंसा को, करुणा के मूल में बीभत्स रौद्ररूप को, दया के मूल में उत्पीड़न को, क्षमा के मूल में दण्ड को, एवं शील के मूल में अनैतिकता को प्रतिष्ठित कर लिया जाय ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् ! ! ये तो आसुरभाव होंगे, जिनसे दानवता का ही बल बढ़ेगा। कदापि प्रतिद्वन्द्वीभाव का ऐसा अर्थ नहीं है। फिर क्या अर्थ है ?, प्रश्न का अर्थ शब्द के द्वारा स्पष्ट किया ही नहीं जा सकता। वह अर्थ तो भारतीय मूलसंस्कृति–अप्राकृत–मूलधर्म्म की परम्पराओं में हीं परोक्षरूप से ही सुप्रतिष्ठित है, जिसे प्राप्त करने के लिए संस्कृति, एवं धर्म्मनिष्ठा ही सर्वप्रथम शरणीकरणीया है, जिसका चरम फल है–**'मानव को स्वस्वरूपबोध की प्राप्ति'**। एक बार, हाँ, एक बार यदि मानव भ्रान्ति से भी अपनें सांस्कृतिक–धार्मिक–आत्मबुद्धिनिबन्धन–मानवस्वरूप को, एवं तद्रूपा मानवता को अंशतः भी पहिचान लेता है, तो तत्क्षण उस की दानवता स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाया करती है। दुर्भाग्य है इस देश का कि, विगत तीन सहस्रवर्षों से भारतीय मानव अपनी इस मूलसंस्कृति, मूलधर्म्म के पारम्परिक स्वरूप को विस्मृत ही करता आ रहा है। एवं तत्स्थान में सत्य–अहिंसा–दया–करुणा–आदि लोक भावुकता–संरक्षकमात्र प्रतीकभावों को ही मानवता–मानवधर्म्म–मानने मनवानें की भ्रान्ति का पथानुगामी बनता चला आरहा है।

१६५–'आततायिनमायान्तं-हन्यादेवाविचारयन्' मूला नैष्ठिकी अहिंसा—

निवेदन किया गया है कि, अहिंसादि प्रतीक धर्म्म के लक्षण हैं, न कि स्वयं धर्म्म। अतएव स्पष्ट है कि देश–काल–पात्रादि के भेद से ये लक्षण विपर्य्ययभाव में भी परिणत हो जाया करते हैं। उदाहरणार्थ 'अहिंसालक्षण' को ही लीजिए। जो अहिंसा एक स्थल पर धर्म्म का लक्षण बनी रहती है, वही अन्यत्र अधर्म्म का लक्षण बन जाती है। आताताय़ीवर्ग के प्रति अहिंसाभाव को व्यक्त करना आततायी के हिंसा–कर्म्म को ही प्रोत्साहन–प्रदान करना है। अतएव शास्त्र को यह कहना पड़ा कि—

गुरूं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं चाप्रकाशंच मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥
—मनुः ८।३५०-५१।

१६६–'मन्युस्तं मन्युमृच्छति' का समन्वय, एवं सांस्कृतिकी अहिंसानिष्ठा—

गुरुमहाराज हो, बालक हो, वृद्ध हो, किंवा विद्वान् ब्राह्मण ही क्यों न हो । यदि वह आतातायी बन कर आये, तो एक क्षण का भी विचार किए बिना उसे मार ही डालना चाहिए । कदापि उसे मारा नहीं जाता । हम उसकी हिंसा नहीं कर रहे । अपितु–'मन्युस्तं मन्युमृच्छति' रूप से वह स्वयं अपने पाप से ही मर जाता है । एक के मार देने से जहाँ अनेक सन्मानवों का संरक्षण होता हो, वहाँ उस एक की हिंसा करना अहिंसा ही मान जायगा । इसी आधार पर महाभारत में क्षत्रियराजा के द्वारा होने वाली मृगया (शिकार) का समर्थन हुआ है । एक विषधर सर्प को कदापि अहिंसावाद के व्यामोहन में क्षमा नहीं किया जा सकता । यहाँ तो दण्ड ही धर्म्म बना हुआ है । ऋतुकालानभिगामी का इन्द्रियसंयम अधर्म्म ही माना गया है । व्यसनों के लिए व्यसनियों पर दया करना अधर्म्म ही तो माना जायगा । 'वर्णिनां हि–वधो यत्र–तत्र सादयनृतं वदेत्' रूप से सत्य को भी अपवाद से ही समन्वित कहा जायगा । और निष्कर्षतः–'ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्' पथ ही धर्म्मपथ माना जायगा, माना गया है । हमें अहिंसावादियों की उस वृत्ति को सुन कर स्तब्ध रह जाना पड़ता है, जिसमें अहिंसावादी खट्वमल्लों–(खाट में रहने वाले खटमलों) पर दया कर खाट पर ऐसे व्यक्ति को अर्थलोभ से रात्रि में विश्राम कराते हैं, जो अपने मानवीय रक्त से खटमलों पर दया कर उनको तुष्ट तृप्त करें । स्वयं हमारे जयपुर में हीं ऐसे ब्राह्मणश्रेष्ठ विद्यमान हैं, जो ॥) १) ले कर अहिंसावादियों की इस अहिंसा को चरितार्थ करते रहते हैं । भला ब्राह्मण ऐसा पुण्यकर्म्म न करेगा, तो और कौन करेगा ? । अहो ! महतीयं विडम्बना अहिंसायाः, तद्भक्तानाञ्च ।

१६७–वर्त्तमानयुगानुगता--जड़त्वनिबन्धना--मलीमसा--भावुकता, एवं तन्मूलक मानव-धर्म्म, मानवता, अहिंसा, दया, आदि व्यामोहक-शब्दों का निरर्थक वाग्-विजृम्भण—

'न त्वहं तेषु, ते मयि'–'भूतभृत्–न च भूतस्थः' इत्यादि सिद्धान्तों का मर्म्म यही है कि, प्रकृति से पर अवस्थित–सर्वव्यापक अव्ययेश्वर ही प्राकृत-भूतजगत् का आधार है । प्रकृति कदापि उसे अपने में सीमित नहीं कर सकती । शाश्वतधर्म्ममूर्त्ति अव्ययेश्वर के गर्भ में परिवर्त्तनशीला प्रकृति के प्रतीकधर्म्म अवश्य प्रतिष्ठित हैं । किन्तु प्रतीकधर्म्म कदापि उस अप्राकृत–शाश्वतधर्म्म का आधार नहीं बन सकते । अतएव मानना पड़ेगा कि–संस्कृति, एवं तदभिन्न आत्मधर्म्म ही मूलप्रतिष्ठा है प्रतीकभावों की, अहिंसादि–धर्म्मलक्षणों की । अतएव कदापि प्रतीकभावों के प्रदर्शन–द्वारा संस्कृति–धर्म्मनिष्ठा का अनुग्रह प्राप्त नहीं किया जा सकता । अपितु संस्कृति–धर्म्म के द्वारा ही प्रतीकभावों के स्वरूप की व्यवस्था सम्भव

बना करती है, जिस इस विवेक के बिना शताब्दियों से भारतीय प्रज्ञा प्रतीकात्मक-प्रदर्शनात्मक-सम्मेलन-समारोहों को ही धर्म्म का वास्तविक स्वरूप मानने मनवाने की भूल करती जारही है, जिसके दुष्परिणाम-स्वरूप ही इसे अपना सम्पूर्ण वैभव इच्छा-पूर्वक-अहिंसा-करुणा-दया-भावपूर्वक ही मानों आतातायी वर्गों के प्रति समर्पित कर देना पड़ा है। कर ही देना पड़ेगा भविष्य में भी, यदि अब भी यह इन्हीं अहिंसादि प्रतीकात्मक धर्म्मलक्षणों को ही मानवधर्म्म-मानवता शील-आदि रूप से मानने-मनवाने की भयावहा भ्रान्ति का अनुगामी बनता रहा तो।

१६८-आत्मना अशान्त, बुद्धया क्लान्त, मनसा विभ्रान्त, एवं शरीरेण च श्रान्त संस्कृतिप्रतिष्ठाशून्य आज का भावुक भारतीय मानव—

इसे उद्बुद्ध करने के लिए ही प्रणतभाव से सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा इसके प्रति समर्पित हो रही है। अधिक नहीं, तो यह अपने-पर्व-उत्सव-सम्मेलन-समारोह-इन लोकानुबन्धी सांस्कृतिक-आयोजनों को तो सर्वप्रथम व्यवस्थित करले। निश्चयेन यथाव्यवस्थित ये आयोजन हीं अविलम्ब इसका ध्यान तीन सहस्र वर्षों के पहिले की उस मूलसंस्कृति, मूलधर्म्मनिष्ठा की ओर ही आकर्षित कर ही देंगे, जिस आकर्षण-बलपर संस्कृति-धर्म्म की मौलिकता पर प्रतिष्ठित होता हुआ भारतीय मानव सविद्य-सशक्त-सवीर्य्य-स्वस्थ-बन कर उस दशा में निश्चयेन बलपूर्वक सम्पूर्ण विश्व के मानव को अहिंसा-सत्यादि-लक्षणों की ओर आकर्षित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेगा। जबतक यह संस्कृति के स्वरूपबोध से वञ्चित-पराङ्मुख बना रहेगा, तबतक कदापि इसमें स्वस्वरूपानुगत-विद्या-पौरुष-वीर्य्य-पराक्रम-बल-साहस-उद्यम-धैर्य्य-शक्ति-आदि का प्रादुर्भाव ही न होगा। जबतक ये सांस्कृतिक-विभूतियाँ इसके भूतात्मानुगत बुद्धिक्षेत्र में उदित नहीं हो जायँगीं, तबतक यह अपने चारों हीं मानवीय पर्वों से-क्रमशः आत्मना **अशान्त, बुद्धया क्लान्त**, मनसा **विभ्रान्त**, एवं शरीरेण **श्रान्त** ही बना रहेगा। ऐसे सर्वसामर्थ्यशून्य-मानव के द्वारा प्रयुक्त अहिंसादि प्रतीकभाव कदापि किसी भी अंश में सफल नहीं होंगे, जैसे कि-अशक्त दीन-हीन के सभी भिक्षापथ दूसरों की दया पर ही अवलम्बित बने रहते हैं। प्रतीकधर्म्मानुगत-प्रदर्शनप्रवृत्तिमूलक इसी महान् दोष के स्पष्टीकरण के लिए हमें इस अप्रिय अवान्तरप्रसङ्ग का आश्रय लेना पड़ा, जिसके लिए हम भी युगधर्म्मानुगत प्रतीकभावाकर्षण से क्षमा हीं माँग लेते हैं अपने भावुक राष्ट्रभक्त कृपालुओं से।

१६९-प्रक्रान्त-विषय-सन्दर्भसङ्गति—

प्रसङ्ग यह इसलिए उपक्रान्त हो पड़ा था कि, आयोजनों के स्वरूप-प्रसङ्गों में तीन सहस्रवर्षा-विधि से सम्बन्ध रखने वाले सत्तातन्त्र सम्मुख हो पड़े। इन्हीं के क्रमिक कालानुबन्धों से **पर्वोत्सव-उत्सवसम्मेलन-सम्मेलनसमारोह**, ये तीन क्रम बन गए भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों के। इन्हीं तीनों का प्रसङ्गवश प्रथम-प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराना पड़ा। इसी प्रसङ्ग में ब्रिटिश सत्तातन्त्र की वणिक्-वृत्ति का इतिहास प्रवृत्त हो पड़ा, तदनुबन्धनैव-विट्शूद्रमूलक **'सम्मेलन-समारोह'** नामक तृतीय संस्थान के सम्बन्ध में प्रदर्शनात्मक महान् दोष का अवान्तर प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा, जिसके लिए ही प्रतीकभावों की गुणगाथा का गान विवशतावश अनिच्छन्नपि करना ही पड़ा, इति नु-प्रक्रान्तविषयसन्दर्भसङ्गतिः।

१७०-ब्रह्मक्षत्रांशानुगत-गुप्तयुगानुबन्धी पर्वोत्सवयुग, क्षत्र-विडनुगत-आक्रामकयुगानुबन्धी उत्सवसम्मेलनयुग, एवं विट्-शूद्रानुगत-ब्रिटिशयुगानुबन्धी सम्मेलन-समारोहयुग-भेद से सांस्कृतिक-आयोजन-युगों का समन्वय—

बृटिशसत्तायुग के महान् ! पौरुष ! की एकमात्र प्रधान देन बनी **"राष्ट्रीय मानव के आत्मबुद्धिरूप सांस्कृतिक पर्व का मनःशरीररूप सभ्यता-पर्व से विच्छेद"**। जिस इस विच्छेद-का सहजभाषा में यों भी विश्लेषण किया जा सकता है कि, तत्पूर्व-युगों से ही क्रम क्रमशः शिथिला बनती चली आ रही संस्कृतिनिष्ठा बृटिशसत्तायुग में इसकी धर्म्मनिरपेक्षता से सर्वथा ही अभिभूत हो गई। परिणामस्वरूप संस्कृतिसन्देशवाहक ब्रह्मबल (ब्राह्मणवर्ग), एवं धर्म्म के बाह्यस्वरूप का रक्षक क्षत्रबल (क्षत्रियवर्ग) दोनों अपने ब्रह्मवर्चस् तथा भ्राजतेज से सर्वथा ही अभिभूत हो गए। रह गए राष्ट्र में मनःप्रधान काम-मयार्थलिप्सु विड्बल (वैश्यवर्ग), तथा शरीरप्रधान-अर्थमकामलिप्सु पौष्णबल (शूद्रवर्ग)। अतएव वैश्यभावानुबन्धी, किंवा मनोभावानुबन्धी सम्मेलन, तथा शूद्रभावानुबन्धी, किंवा शरीरभावानुबन्धी समारोह ही प्रधान बन गए ब्रिटिश-सत्तायुग में। सैषा स्थितिरायोजनानां कालानुबन्धिनी—

३०००—वर्षात्मिका भावुकयुगत्रयी	१५०० वर्षात्मकः	१—ब्राह्मणभावानुगत— २—क्षत्रियभावानुगत—	पर्वोत्सवौ—भावुकसत्तातन्त्रानुगतौ—(आरम्भयुगः)
	१२०० वर्षात्मकः	१—भावुकक्षत्रानुगत— २—भावुकविडनुगत—	उत्सवसम्मेलने—आक्रामक-तन्त्रानुगते—(मध्ययुगः)
	३०० वर्षात्मकः	१—भावुक विडनुगत— २—भावुक शूद्रानुगत—	सम्नेलनसमारोहौ—ब्रिटिशसत्तातन्त्रानुगतौ—(उपसंहारयुगः)

१—पर्वोत्सवयुगः———ब्रह्मक्षत्रयुगः (१)—गुप्तयुगः
२—उत्ससम्मेलनयुगः——क्षत्रविड्युगः (२)—हूणादि-मुगलान्तयुगः
३—सम्मेलनसमारोहयुगः—विट्शूद्रयुगः (३)—ब्रिटिशसत्तायुगः —

१७१–वर्त्तमानसत्तातन्त्र के, एवं तदनुगत जनतन्त्र के अज्ञात-नाम-गुणकर्मात्मक आयोजन, तथा तत्सम्बन्ध में भारतीय–सांस्कृतिक-प्रज्ञाओं की दिग्विमूढता—

उक्त तालिका–माध्यममात्र से हमारे आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक–आयोजन–प्रवृत्तियों का स्वरूप सर्वात्मना गतार्थ बन जाता है। अतएव अब हमें अपने सत्तातन्त्र की न तो धर्म्म–निरपेक्षता के ही सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना है, एवं न केवल मनःशरीरनिबन्धनात्मक–विट्–शूद्र–भावप्रधान–(ब्रह्मक्षत्रभाववञ्चित) सम्मेलन–समारोहात्मक सांस्कृतिक ? आयोजनों के सम्बन्ध में हीं कोई वक्तव्य शेष रह जाता है। इसी के साथ अन्यान्य सभी भावानुभाव भी उक्त–तालिकाद्वयी के अनुग्रह से सर्वात्मना समन्वित हो जाते हैं। इति नु दुर्दान्तस्य–कालस्यैव महिमा।

जब कि आज के आयोजन भारतवर्ष में ही भारतीय जनतन्त्र के, तथा भारतीय सत्तातन्त्र के ही द्वारा सोल्लास–साटोप–साभिनिवेश–सम्मिलितरूप से माने, और मनवाए जा रहे हैं, तो उसी भारतभूमि के पावन-सांस्कृतिक-मृद्भाग [मिट्टी] से कृतशरीरी यह जन भी क्यों न सोल्लास अपने इन वर्त्तमान आयोजनों का समर्थन–अभिनन्दन करना हीं अपना एकमात्र नैष्ठिक कर्त्तव्य मानले, मानना ही चाहिए, मान हीं रहा है। तभी तो इसे अपनी सर्वथा रूक्षा–कर्कशा–वेदाभ्यासजड़मति को कुछ समय के लिए वेदस्वाध्याय से विमुख बना कर भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा–प्रदर्शन के प्रति वेग से अनुधावन कर लेने के लिए विवश बना देना पड़ा है, जिस इस अनुधावन का, हम समझते हैं–आज के सांस्कृतिक–आयोजनभक्त अवश्य ही मूल्याङ्कन–करने का अनुग्रह करेंगे।

१७२–शब्दार्थमूला महती भ्रान्ति, एवं तदनुग्रह से प्राकृत–मानवों पर निषेधद्वारा भारतीय–प्रवृत्तियों का ही अज्ञातरूपेण महान् विजय—

गुप्तयुगीय–भावनाओं से नाट्क–कला–साहित्यादि–भावों का संकलन करते हुए, हूणादिमुगलान्त–युगीय–भावनाओं से विविध प्रकार के भोगैश्वर्य्य–भावों का संकलन करते हुए, एवं बृटिशयुगीय–भावनाओं से धर्म्मनिरपेक्षता–शिक्षायन्त्रानुगता राष्ट्रीयकरणता–सर्वोपरि–विट्शूद्रभावानुगत–मनः–शरीरनिबन्धन–सम्मेलन–समारोहभावों का सोल्लास अभिनन्दन करते हुए ही मानों हमारा जनतन्त्रात्मक युग सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र बन कर अपनें इन मानसिक-शारीरिक भावों-चेष्टाओं को सम्पूर्ण प्रयासों से सकल बनाने के लिए आतुर ही जनता जा रहा है। पर्व–उत्सव–धर्म्म–आदि शब्द तो हैं इसकी दृष्टि में साम्प्रदायिक। किन्तु–**संस्कृति–सम्मेलन–समारोह–आयोजन**–आदि शब्द बने हुए हैं इसकी दृष्टि में सर्वथा धर्म्मनिरपेक्ष, जब कि तत्त्वतः संस्कृति का 'सम्' उपसर्ग,–सम्मेलन का 'सम्' उपसर्ग, समारोह का सम्–भाव, तथा आयोजन का 'आङ्' उपसर्ग भी दुर्भाग्यवश बना हुआ है धर्म्मसापेक्ष ही, आत्मब्रह्मात्मक समब्रह्म–सापेक्ष ही। सर्वात्मना आत्म–धर्म्म–सापेक्ष बनते हुए ये शब्द अज्ञातरूप से भारतीय–प्रवृत्तियों के महान् विजय के ही तो सूचक बन रहे हैं।

१७३–'संस्कृति' शब्द के अक्षरार्थ से भी वञ्चित आज के तथाकथित आयोजन—

शब्द तो मूलतः सर्वात्मना धर्म्मसापेक्ष ही हैं। किन्तु इनका आज उपयोग हो रहा है वहाँ, जहाँ सचमुच में आत्मा,–तदनुगता सत्त्वबुद्धि, तदनुगत सत्त्वगुणान्वित मन, तद्युक्त युक्ताहारविहारपरायण

प्रकृतिस्थ शरीर–आदि सत्त्वभावों का प्रवेश भी निषिद्ध बना हुआ है। प्रश्न केवल समब्रह्मात्मक आत्मभाव का ही नहीं है। अपितु स्थिति तो कुछ ऐसी है कि, भारतीय सांस्कृतिककोश (शास्त्र) में सांस्कृतिक–आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–पर्वों की जो स्वरूप–व्याख्या हुई है, उनमें से किसी का भी तो आज के सम्मेलन–समारोहों में प्रयास करने पर भी हम समन्वय–उपलब्ध नहीं कर पा रहे। आज के किसी भी आयोजन में समब्रह्म का संस्मरण भी साम्प्रदायिक मान लिया जा सकता है। किसी में भी उपक्रमोपसंहार में ईश–देव–संस्मरण उपब्ध नहीं कर रहे, किसी भी आयोजन की कोई बुद्धिगम्या व्याख्या का समन्वय सम्भव नहीं बन रहा, किसी भी आयोजन के द्वारा मनस्तन्त्र में राष्ट्रीय अभ्युदय की कोई वासना जागरूक नहीं देखी जा रही, तो इत्थंभूत–भारतीय–आत्म–बुद्धि–सत्त्वमनो–वञ्चित इन आयोजनों को हम किस आधार पर **'सांस्कृतिक'** नाम से व्यवहृत करें, जबकि तथाकथित–चिरन्तनेतिवृत्तात्मक–'संस्कृति' शब्द के अक्षरार्थ की भी इन आयोजनों में उपलब्धि–भ्रान्ति भी तो सम्भव नहीं है ?

१७४–वर्त्तमान आयोजनों की भारतीय 'सभ्यता' के क्षेत्र से भी पराङ्मुखता—

क्या इन्हें हम **'भारतीय–सभ्यता के आयोजन'** कहलें ?। यह भी सम्भव प्रतीत नहीं हो रहा। क्योंकि सभ्यता यहाँ संस्कृति का ही प्रतीक मानी गई है। जिस सभ्यता में भारतीय संस्कृति की प्राणप्रतिष्ठा का स्मरण भी निषिद्ध बन रहा हो, अपितु आज की जिस भारतीय सभ्यता ? में सर्वात्मना सभी दृष्टिकोणों से पश्चिम की सभ्यताओं का ही अनुकरण हो, उस सभ्यता के द्वारा उसी सभ्यता के प्रतीक बन जाने के लिए आतुर यहाँ के आयोजकों के द्वारा आयोजित आयोजनों को 'भारतीय–सभ्यता के आयोजन' कहने में भी हमें तो संकोचवृत्ति का ही अनुगामी बन जाना पड़ेगा। और यों **भारतीय संस्कृति, तथा भारतीय सभ्यता–शब्दों के तथोपवर्णित चिरन्तन इतिहास** के अनुग्रह से हमें विस्पष्ट शब्दों में, किन्तु प्रणत–भाव से एकमात्र भारतीय–अभ्युदय–निःश्रेयस् की ही माङ्गलिक–भावना से यह निवेदन कर ही देना पड़ेगा, कर ही देना चाहिए कि–**'सांस्कृतिक आयोजन' के नाम से घटित–विघटित वर्त्तमानयुग का कोई भी आयोजन न तो यहाँ का सांस्कृतिक–आयोजन ही है, न यहाँ की सभ्यता से ही उसका कोई सम्बन्ध है।**

१७५–वर्त्तमान–आयोजनों के 'नामकरण' की महती समस्या, एवं तत्सम्बन्ध में भारतीय सांस्कृतिक–प्रज्ञा की स्तब्धता –

तो फिर क्या नामकरण होना चाहिए वर्त्तमान इन..............................का ?, प्रश्न का समाधान भी हमारे लिए अत्यन्त ही दुरधिगम्य इसलिए बन रहा है कि, भारतीय **'संस्कृति'**, भारतीय–**'सभ्यता'**, तथा भारतीय **'आयोजन'**, इन तीनों भारतीय शब्दों का जो अक्षरार्थ है, वर्त्तमान में घटित–विघटित इन..........................का तो तीनों शब्दों के अक्षरार्थ से भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में इन्हें न तो–**'भारतीय सांस्कृतिक आयोजन'** ही कहा जा सकता, न **'भारतीय–सभ्यता के आयोजन'** हीं माना जा सकता। अतएव इनके नामकरण के सम्बन्ध में भी भारतीय प्रज्ञा को तो सर्वथा कुण्ठित ही हो जाना पड़ रहा है। **पर्व–उत्सव**–एवं समानुगत ही **सम्मेलन**, तथा समानुगत ही **समारोह**, एवं आसमन्तात् समन्वय–योगलक्षण * **आयोजन**, कोई सा भी तो शब्द, किंवा नाम इन.......................के

*–**योगः कर्म्मसु कौशलम् । समत्त्वं योग उच्यते ।** [गीता]

साथ अंशतः भी तो समन्वित नहीं हो रहा केवल अक्षरार्थदृष्टि से भी। ऐसी अवस्था में क्या तथाकथित प्रश्न के सम्बन्ध में भारतीय प्रज्ञा का कुण्ठित बन जाना स्वाभाविक नहीं मान लिया जायगा ?।

१६६–'नाम' का महत्त्व, और वर्त्तमान–आयोजनों के नामकरण का अन्वेषण–

हाँ, इन बिना नाम के, अतएव बिना काम के अज्ञात नामभावापन्न–जो भी कुछ कहलाने वालों को 'भारतीय' मात्र इसलिए कहा जा सकता है कि, सांस्कृतिक पावन भारतभूमि पर स्वयं भारतीय मानवों के द्वारा ही अज्ञातनामा इन................का भारतवर्ष में नवीन ही आविष्कार हुआ है। इन भारतीय ....का नामकरण करना तो इसलिए पड़ेगा कि–बिना नामग्रह के वस्तुस्वरूप का सङ्केत ही सम्भव नहीं है। इसीलिए तो ग्रहविज्ञानोपनिषत् नें–'नाम' को भी एकप्रकार का 'ग्रह' मान लिया है ÷। संस्कृति–शब्द का सम्बन्ध नहीं, तत्प्रतीकभूता भारतीय सभ्यताशब्द का सम्बन्ध नहीं, तत्–बाह्य–समायोजनात्मक–'आयोजन' शब्द का सम्बन्ध नहीं। केवल भारत में विघटित होने मात्र से 'भारतीय' शब्दमात्र अवश्य सम्बद्ध माना जा सकता है इन अज्ञातनामाओं के साथ। तो क्या–'**स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः**' जैसा उन्मुक्त घोष करने वाले भारतीव द्विजाति की प्रज्ञा के कोश में इस नामकरणात्मिका समस्या का कोई समाधान नही है ?। यदि यों यहाँ की प्रज्ञा पर आक्रमण किया जायगा, तो फिर इसी प्रज्ञा को नामकरण कर भी देना पड़ेगा, फिर वह आज के इन............के भक्तों को लगे भले ही कैसा ही। किन्तु इस रुचि–अरुचि–विवेक को इनके क्षेत्र में क्योंकि कोई विशेष समादर प्राप्त नहीं है। अतएव तद्भक्तों के लिए यदृच्छात्मक ही समाधान ढूँढ निकाल लेना भारतीय द्विजातिप्रज्ञा के लिए कदापि दुरधिगम्य नहीं माना जायगा। और हम भूल नहीं कर रहे, तो जिन आज के इन................के रहस्यवेत्ताओं नें इन................के स्वरूप का जो पारम्परिक ? रहस्योद्घाटन ? किया है, उन्हें भी यदृच्छाभावों का ही अनुगमन कर लेना पड़ा है, जैसा कि सम्भवतः अनुपद में ही स्पष्ट हो जायगा।

१७७-मानसिक-अभ्यस्त-भावों से अनुप्राणित–'यदृच्छाशब्द', और तद्विभूषित आज के आयोजन—

संस्कृतभाषाशास्त्र ने 'यदृच्छाशब्द' को लेकर एक प्रसङ्ग उठाया है। यद्यपि '**न सन्ति यदृच्छाशब्दाः**' (पातञ्जल महाभाष्य) के अनुसार संस्कृतिमूला संस्कृतभाषा की दृष्टि से कोई भी शब्द 'यदृच्छाशब्द' नहीं है। अवश्य ही प्रत्येक शब्द का निरुक्त–प्रकृति–प्रत्यय–धातु–उपसर्ग–निपात–आदि आदि मर्य्यादानुबन्धों से प्रकृतिसिद्ध निश्चित ही अर्थ है। तथापि इस 'संस्कृति' भाव से विमुख हो जाने पर अवश्य ही अपने आत्मब्रह्मरूप सांस्कृतिकभाव से पृथक् हो जाने वाली प्रकृति, दूसरे शब्दों में आत्मबुद्धिप्रतिष्ठानों से पृथग्भूता केवल मनःशरीरात्मिका, अतएव सर्वथा अलग्ला–काल्वालीकृता–पिब्दमाना–अस्थिरा–चञ्चला–प्रकृति, किंवा जड़भावात्मिका प्रकृति बिना अर्थोद्देश्यों के भी अनर्गलरूप से ही अस्तव्यस्त रूप से उसी प्रकार वैसे शब्द भी निकालने लग पड़ती है, जिनका कोई सोद्देश्य–सकारण–

÷–**नाम वै ग्रहः। नाम्ना हीदं सर्वं गृहीतम्**। [शत० ४।६।५।३।]।

समन्वय नहीं रहा करता। एक मानव अपने आत्मभाव, तथा बुद्धिभाव से अभिभूत होकर केवल मनोराज्य में हीं प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसा मनोराज्यवशवर्त्ती मानव जिसप्रकार प्रमादावस्था के अनुग्रह से बिना ही उद्देश्य–प्रयोजन–लक्ष्य–के आँय–बाँय–शाँय–आदि आदि कुछ का कुछ बकने लगता है, और ऐसे **आँ–आँ–बाँ–बाँ–ब–ब–ब–फुर्र–धुर्र**–आदि शब्दों का कोई अर्थ नहीं हुआ करता, तथैव केवल मनःशरीरविभोर प्राकृत मानव के द्वारा यों हीं निकल पड़ने वाले अनुकरणात्मक शब्द ही 'यदृच्छाशब्द' कहलाए हैं।

वर्षा की जलबिन्दुओं के अनुकरण से सम्बन्धित **टप्–टप्–टपाटप्**–आदि शब्द, अश्वध्वनि के अनुकरण से सम्बन्धित **'हिं हिं हिं'**....' शब्द, मेढकध्वनि के आधार पर विनिर्गत **टर्र–टर्र**–शब्द, कोकिलाकी ध्वनि के आधार पर निर्मित **'कुहू–कुहू'** शब्द, एवमेव **डाड़ा डाड़ा–भ भ भ भ–ताक्धिना-धिन–छमाछम–झनाझन–खटाखट–द्रू म–द्रू म–द्रू म–अहाहाहा–हूहूहू–ओहोहो**–आदि आदि लौकिक यदृच्छाशब्द, एवं–**डित्थ–कपित्थ–गोपुतलिका–गावी–गौणी–हाहा–हूहू**–आदि आदि प्राकृत यदृच्छाशब्द सचमुच केवल मानसिक–यथेच्छ–अनर्गल–भावों के अतिरिक्त और कोई भी आत्मबुद्धिसम्मत अर्थ नहीं रख रहे। **सननन–सननन**–कर पवन का चलना, **उमड़–घुमड़**–कर मेघों का आक्रमण करना, **चमक–चमक**–कर बिजली का व्यक्त होना, आदि आदि वाक्य यदृच्छात्मक ही वाक्य मानें जायँगे, जो मानसिक–असम्बद्ध–भावों की उच्चावचा (ऊँची-नीची) वीचियाँ (लहरियाँ) मात्र हीं मानीं गई हैं। इत्थंभूत यदृच्छाशब्दों को अपना मूलाधार बनाने वाली मनःशरीरभावाप्रधाना–पशुसमतुलिता–जड़प्रकृति का दिग्देशकालानुबन्धी–परिवर्त्तनात्मक विविध स्वरूप-विजृम्भण ही वे 'प्राकृतिक–आयोजन' कहे जा सकते हैं, जिन इन 'आयोजन' शब्दों का 'आङ्' उपसर्ग प्रकृति के अनेक भावों के आसमन्तात्–योग का ही संग्राहक माना जायगा।

१७८–जड़भावानुगत प्राकृत जीव, एवं उन का यदृच्छाशब्दात्मक, तथा यदृच्छाकर्म्मात्मक संक्षिप्त इतिवृत्त—

उक्त यदृच्छाशब्देतिहास के आधार पर अब हमें आज के 'योजनात्मक' आयोजनों का भी नामकरण ढूँढ ही निकाल लेना है। स्पष्ट है कि, पञ्चमहाभूतात्मिका प्रकृति में, एवं तदवयवभूत प्राकृत प्राणियों में (पशु–पक्षी–कृमि–कीटों में) सर्वत्रैव यदृच्छाशब्द धारावाहिकरूप से प्रवाहित हैं, जिन में से कितनों हीं का तो भूतप्रधान शरीरभावों पर पर्य्यवसान हो रहा है, जैसे कि जलप्रपातशब्द, झंझावातशब्द, अग्नि-प्रज्वलनशब्द, आदि आदि। एवं जिन्हें चेतनप्राणी कहा गया है, (जिनके कि–पशु–पक्षी–कीट–कृमि–ये चार मुख्य वर्ग मानें गए हैं, जो कि मनोजीवी कहलाए हैं)–उनका मनःशरीरोभयभावात्मक यदृच्छाशब्दों से सम्बन्ध है। यों प्राकृतिक जड़, और चेतन पदार्थों के भेद से क्रमशः जड़ानुबन्धी यदृच्छाशब्द, तथा चेतनानु-बन्धी यदृच्छाशब्द–भेद से दो विभाग हो रहे हैं यदृच्छाशब्दों के। मानसिक, तथा शारीरिक वीचियों के अनुपात से मानसिक तथा शारीरिक यदृच्छाशब्दों को निकालते रहना, तद्वीच्यनुपात से ही पारस्परिक अन्न-अन्नादभाव प्रक्रान्त रखना, और यों इन यदृच्छात्मक सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र–उन्मुक्त–भावों से स्वच्छन्द विचरण करते हुए अन्ततोगत्वा अव्यक्तभाव में विलीन हो जाना हीं इन प्राकृतिक जड़–चेतन–पदार्थों का

यदृच्छात्मक–समस्त इतिवृत्त है। आयोजनों की भाषा के अनुसार–नाचते–गाते–थिरकते–मटकते–हाहा–हूहू–ही ही–करते हुए अपने भाव में ही विभोर बने रहते हुए, अपने मनोराज्य में विचरण करते हुए यथेच्छ–स्वतन्त्रतापूर्वक खाते–पीते हुए जीवनक्रम चलाते रहना, और अन्ततोगत्त्वा अत्रैव विलीन हो जाना हीं प्राकृतिक जड़भूतों का, तथा प्राकृतिक चेतनभूतों का (शरीरजीवी, तथा मनोजीवी–प्राणियों का) यदृच्छाशब्दात्मक, तथा यदृच्छाकर्म्मात्मक सम्पूर्ण इतिवृत्त है।

१७९–प्राकृतिक–जीवों के प्राकृतिक मूलबीज—

उक्त इतिहास का मूल जब प्रकृति है, तो अवश्य ही प्राकृतिक विश्व में भी इन प्राकृत जीवों की प्राकृत–जीवनधाराओं के मूल सुरक्षित रहनें हीं चाहिएँ। कौन हैं वे मूलबीज ?, एवं क्या स्वरूप है उन मूलबीजों का ?, इन गम्भीर प्रश्नों के समन्वय के लिए तो वेदशास्त्र की **रेतःश्रद्धायशोमयी–चान्द्रीविद्या,** तथा **वाक्–गौः–द्यौः–लक्षणा पार्थिवीविद्या,** इन दोनों विद्याओं का ही निष्ठापूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए, जिन की सीमा में समस्त–प्राकृतिक प्राणियों का प्राकृतिक चिरन्तन इतिहास सुरक्षित है। प्रकृत में इस दिशा में केवल यही निवेदन करना पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि, विश्वकेन्द्रस्थ भगवान् सूर्य्यनारायण से नीचे नीचे के अर्द्ध अण्डकटाहात्मक दृश्य विश्व में **चन्द्रमा,** और **भूपिण्ड,** ये दो महान् प्रतीक हैं चान्द्री मूलप्रकृति के, एवं पार्थिवी मूलप्रकृति के।

१८०–चान्द्र–पार्थिव–जीवों के नामों का संस्मरण—

भारतीय प्रज्ञा ने 'नामकरण' को भी एक महान् संस्कार माना है। क्योंकि प्रश्न भारतीय संस्कृति से किया गया है इन आयोजनों के नामकरण के सम्बन्ध में। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि, वह अपने सांस्कृतिक–सांस्कारिक–धरातल से ही समाधान का अन्वेषण करे। अतएव च यह प्राकृतिक प्रसङ्ग भी थोड़ा सूक्ष्म हो जाय, तो इसके लिए संस्कृति को क्षम्य हीं मान लेंगे आज के आयोजन–स्रष्टा–कर्त्ता–प्रचारक महानुभाव। हाँ, तो चन्द्रमा, और भूपिण्ड, इन दोनों की समन्वितरूपा 'चान्द्री–पार्थिव–प्रकृति' की सीमा में मुख्यरूप से जो प्राणी प्रतिष्ठित हैं, सर्वप्रथम उन्हीं का नामकरण कर लेना आवश्यक होगा इस 'नामकरण' प्रसङ्ग में।

१८१–अचेतन, एवं अर्द्धचेतन पार्थिव जीव—

भूगर्भ से आरम्भ कीजिए। भूगर्भ में अभ्रक–सीसक–लौह–ताम्र–रजत–सुवर्ण–आदि आदि जितने भी खनिजद्रव्य हैं, भूपृष्ठ पर पाषाण-लोष्ट-मृत्-आदि आदि जितने भी भूत-भौतिक द्रव्य हैं, उन सब भौतिक द्रव्यों का एक विभाग है, और इसी विभाग को-'**निरिन्द्रियमचेतनम्**' परिभाषा से शुद्धजड़, अतएव साङ्केतिक परिभाषा में '**असंज्ञजीव**' (अचेतनजीव) कहा गया है। भूगर्भ में जिनका मूलभाग समाविष्ट रहता है, जो मूलभाग से भूगर्भ में रहते हुए अपने बाह्य तूलरूप से भूपृष्ठ से ऊपर उठे रहते हैं अपनी अपनी बीजानुगता-महत्प्रकृति के आकृतिभाव के अनुपात से, वही दूसरा '**मूलजीव**' विभाग हैं, जिन्हें परिभाषा में '**अन्तःसंज्ञ**' कहा गया है *।

---

* **अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः** (महाभारते)

वृक्ष–लता–गुल्म–आदि आदि सम्पूर्ण ओषधि–वनस्पतिवर्गों का इसी कोटि में अन्तर्भाव हैं। इन्हें ही 'अर्द्ध-चेतन' कहा गया है। शुद्धजड़भावापन्न असंज्ञ नामक **अचेतनवर्ग**, तथा अन्तःसंज्ञभावात्मक–**अर्द्ध चेतनवर्ग**, दोनों भौम प्राकृतिक पदार्थों की समष्टि का सांख्यपरिभाषा में एक नाम है—'**स्तम्बजीव**', जिसे **अवःसर्ग–तमोविशालसर्ग** आदि नामों से भी व्यवहृत किया गया है।

१८२–चेतन–पार्थिव जीव,, एवं चन्द्रमा के रेतः–श्रद्धा–यशो–भाव—

आगे चलिए। अर्द्धचेतनभाव पूर्णचेतनभाव में परिणत होगया। वही पहिला पार्थिव **कृमिवर्ग** कहलाया। तदनन्तर **कीटवर्ग**, तदनन्तर **पक्षीवर्ग**, सर्वान्त में **पशुवर्ग**, इन चार वर्गों में एक नवीन '**चेतनवर्ग**' उत्भूत हुआ, जिसे हम **पार्थिवजीव–ससंज्ञजीव–अमूलजीव–तिर्य्यक्सर्ग–रजोविशालसर्ग**–इत्यादि अनेक नामों से व्यवहृत करेंगे। स्तम्बजीव भौम थे, ये चारों जीव पार्थिव हैं। अब स्थान आता है चन्द्रमा का। चान्द्रीप्रकृति में–'**प्रज्ञा–प्राण–भूत**' ये तीन भाव समाविष्ट हैं। प्रज्ञाभाग चन्द्रमा के ऊर्ध्वभाग में–सौर भाव से अनुगत बना रहता है, प्राणभाग चन्द्रमा के अधोभागरूप स्व चान्द्री कक्षा में प्रधान बना रहता है, एवं भूतभाग पृथिवी से अनुगत बना रहता है। और यों रेतः–श्रद्धा–यशोमूर्ति चन्द्रमा यशोभाव से समन्वित प्रज्ञाभाग सूर्य्यानुगत, श्रद्धाभावसमन्वित प्राणभाग स्वानुगत, तथा रेतोभावसमन्वित भूतभाग पृथिव्यनुगत बना रहता है, जिस इस त्रेधा विभक्त स्थिति को अवधानपूर्वक ही आपको लक्ष्य बना लेना है।

१८३–चतुर्द्धा–चतुर्द्धा–विभक्त त्रिसंस्थ द्वादश–चान्द्रजीव—

मण्डलानुगता * चतुर्भुजता से चान्द्रवृत्तानुगत प्रज्ञा–प्राण–भूत–नामक तीनों भाय भी चतुर्भुजता से समन्वित होते हुए चार–चार विभूतिभावों में परिणत हो रहे हैं। इसी आधार पर–'**चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**' यह अनुगमपरिभाषा व्यवस्थित हुई है। क्या तात्पर्य्य इस त्रिधा विभक्त चार–चार का ?। तात्पर्य्य यही है कि, पृथिव्यनुगत भूतभाग भी चार भावों में परिणत रहता हुआ चार पार्थिव सर्गों का मूलाधार बना हुआ है। स्वानुगत (चन्द्रमानुमत) प्राणभाग भी चार चान्द्रसर्गों की मूलप्रतिष्ठा बनता हुआ है। एवं सूर्य्यानुगत प्रज्ञाभाग भी चार सूर्य्यानुगत–सौरसर्गों का (जिन्हें कहा जायगा–चान्द्रसर्ग ही) प्रवर्त्तक बना हुआ है। यों चान्द्रसर्ग अपने–सूर्य्य–चान्द्र–पृथिव्यनुगत यशोमय प्रज्ञाभाग, श्रद्धामय प्राणभाग, तथा रेतोमनोतामय भूतभाग से चार[१]–चार[२]–चार[३] के भेद से तीन संस्थाओं में विभक्त होता हुआ सम्भूय '**द्वादशप्राणीसर्ग**' रूप में परिणत हो रहा है। हमनें कृमि–कीट–पक्षी–पशु–इन्हें पार्थिव सर्ग कहा था। वस्तुतः पार्थिवसर्ग तो उभयविध पूर्वोक्त 'स्तम्बसर्ग' पर ही परिसमाप्त है। चान्द्रभूतभाग से मनोजीवी बनते हुए कृमि–कीटादि चारों पार्थिवसर्ग जहाँ भूतानुबन्ध से पार्थिव मान लिए जाते हैं, वहाँ चान्द्र–भूतसम्बन्ध से इन्हें कहा जायगा चान्द्रजीव ही।

१८४–द्वादश–चान्द्र जीवों का प्राकृत–धर्म्म—

चान्द्रप्राणात्मक स्वयं चान्द्रजीवों के चार वर्ग क्रमशः **यक्ष–राक्षस–पिशाच–गन्धर्व**, इन चार नामों से प्रसिद्ध होंगे। चान्द्र उस प्रज्ञाभाग से–जिसका सूर्य्य से सम्बन्ध है, जिन चार चान्द्रजीवों का आविर्भाव हुआ

---

* प्रत्येक वृत्त मण्डल कहलाया है। मण्डलात्मक प्रत्येक वृत्त चतुर्भुज ही हुआ करता है, जिसका अर्थ है वृत्त के ३६० अंशों का $\frac{१}{९०}$–$\frac{२}{९०}$–$\frac{३}{९०}$–$\frac{४}{९०}$ रूप से चार भुजभावों में परिणत होजाना।

है, वे क्रमशः **ऐन्द्र—पैत्र्य--प्राजापत्य--ब्राह्म**, इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। सौरभावानुगत प्रज्ञाप्रधान चार चान्द्रजीव, स्वानुगत प्राणप्रधान चार चान्द्रजीव, एवं पृथिव्यनुगत भूतप्रधान चार चान्द्रजीव, यों—१२ तो चान्द्र-जीव हो जाते हैं। तेरहवाँ विभाग असंज्ञ--अन्तःसंज्ञ दोनों के समन्वय से सम्पन्न **'स्तम्बजीववर्ग'** का है। यों भूकेन्द्र से आरम्भ कर चान्द्रनिधनसामपर्य्यन्त १३ प्रकार का वह भूतसर्ग हो जाता है, जो सूर्य्य से अधोभाग में अवस्थित रहता हुआ—**'तद्यत्--किञ्च अर्वाचीनमादित्यात्--सर्वं--तन्मृत्युनाप्तम्'** (शत० १०।५।१।४।)। के अनुसार मर्त्यसर्ग ही माना गया है, जायस्व—म्रियस्व ही प्रधान प्राकृतिक धर्म्म है इस सर्ग का।

१८५--पृथिवी--चन्द्रमा--से अतीत 'मानव' का सौरभाव, एवं उसकी अप्राकृतता—

अब प्रश्न शेष रह जाता है मानव का। अभी तक मानव की चर्चा का प्रसंग ही नहीं आया। यदि मानव का अर्थ 'प्रकृति' ही माना जाता है, दूसरे शब्दों में यदि मानव को भी उक्त १३ प्राकृतिक सर्गों की ही भाँति मन और शरीरभावात्मक ही चान्द्र--पार्थिव--पुद्गलमात्र ही मान लिया जाता है, तो अवश्य ही मानव भी 'सर्ग' ही है। और इसी भ्रान्ति से शरीर से तत्त्ववाद का उपक्रम करने की महती भ्रान्ति कर बैठने वाले सांख्यदर्शन ने मानव को भी प्राकृतसर्ग ही मान लिया है। एवं पशुसर्ग के ऊपर, तथा यक्षसर्ग से नीचे-दोनों के मध्य में इसका अवस्थान मान लिया है। यों सांख्य की दृष्टि में १--५--८ के संकलन से १४ प्रकार का भूतसर्गात्मक प्राकृतिक सर्ग हो जाता है। किन्तु वस्तुगत्या कदापि ऐसा नहीं है। **'अमृतस्य पुत्रा अभूम'--अहं मनुरभवम्'—'अहं सूर्य्य इवाजनि'** इत्यादि के अनुसार मानव सौरमानव है, पुरुषमानव है, अप्राकृत है। कदापि मर्त्या प्रकृति 'मानव' का स्वरूपधर्म्म नहीं है। अतएव वैदिक-तत्त्ववाद के अनुसार तो मानव प्राकृत--मर्त्य--भूत--सर्ग की सीमा से असंपृष्ट ही माना जायगा।

१८६-पार्थिव--चान्द्र--भावानुगत प्राकृत-मानव, और उसका मर्त्यभाव—

हाँ, जिन्हें यक्ष--राक्षसों, तथा पशुओं के मध्य में हीं रहने की अभिरुचि हो, जो मन और शरीरमात्र को ही मानवस्वरूप की एकमात्र व्याख्या मान रहे हों, जिनके दीक्षागुरु--पशु--पक्षी--कृमि—कीट—पेड़—पौधे—लता—गुल्मादि ही हों, जो इन्हीं को अपना सगोत्र--सोदक—सपिण्ड--सम्बन्धी मानते हों, जिनके लोकगीत—लोक—संस्कृतियों के प्रथमाविर्भाव के मूलाधार ये पशु—पक्षी—कृमि—कीटादि ही हों, वे अवश्य ही प्रसन्नतापूर्वक-स्वेच्छा से, यदृच्छा के द्वारा इस श्रेणि में भी अपना नाम लिखा सकते हैं। जिन्होंनें ऐसा महान् ? पुरुषार्थ ? कर लिया है, उन गौरवशाली ? मानवश्रेष्ठों ? को ही श्रुति ने--**पशुमानव-प्राकृतमानव--किंपुरुषमानव**-कहते हुए उन्हें-प्रकृति—की महती बलिवेदि पर भेंट हीं चढ़ा दिया है। सर्वज्ञानविमूढ--आत्मबुद्धिस्वरूपविस्मृत--मनःशरीरमात्र-परायण—आहार—निद्रा--भय—ऐन्द्रियक--व्यासङ्गमात्रनिमग्न ऐसे प्राकृत मानवों को भारतीय साहित्यिकों तक ने 'पशुमानव' की उपाधि से ही सम्मानित कर दिया है *। आलप्यालम्। लक्ष्य बनाइए त्रयोदशविध—प्राकृतिक सर्ग के मनःशरीरपरायण भूतसर्गों की अभिधाओं को तालिका के माध्यम से।

---

* **आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि-सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।**
धर्म्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्म्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥
—**नीतिसूक्तिः**

त्रयोदशविधः— भूतसर्गः— चान्द्रपार्थिवसर्गो वा— मनःशरीरसर्गो वा— प्राकृतिकः

१–ब्राह्मजीवाः [१३]
२–प्राजापत्यजीवाः [१२]
३–पैत्र्यजीवाः [११]
४–ऐन्द्रजीवाः [१०]

सूर्य्यः

–अमृतोऽयम्
मानवोपक्रम भूमिः–
(सौरमानवो
ऽयम्–)

चान्द्रजीवाः सूर्य्यानुगताः–यशोरूपे चान्द्रप्रज्ञाभागे प्रतिष्ठिताः

बुद्ध्यनुगताः

मर्त्यमिदम्

१–गन्धर्वजीवाः [९]
२–पिशाचजीवाः [८]
३–राक्षसजीवाः [७]
४–यक्षजीवाः [६]

चन्द्रमाः

चान्द्रजीवाः–स्वानुगताः श्रद्धारूपे–चान्द्रप्राणभागे प्रतिष्ठिताः

(चान्द्रमानवः)

प्राकृतः–मनःशरीरप्रधानः

१–पशुजीवाः [५]
२–पक्षिजीवाः [४]
३–कीटजीवाः [३]
४–कृमिजीवाः [२]

चान्द्रजीवाः–पृथिव्यनुगताः–रेतोरूपे चान्द्रभूतभागे प्रतिष्ठिताः;

मनःप्रधानाः

१–अन्तःसंज्ञजीवाः
२–असंज्ञजीवाः
} [१]

भूपिण्डः

भौमजीवाः (शरीरप्रधानाः)

१८७–पृथिव्यनुगत चान्द्र विवर्त्त, एवं तदनुप्राणित गन्धर्व–अप्सरा–प्राण–

सोममय चन्द्रमा का सौम्य प्राण दो भावों में विभक्त माना गया है । **'चन्द्रमा–अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि'** इत्यादि वेदमन्त्रानुसार चन्द्रमा आपोमय अर्णवसमुद्र में विचरने वाला एक वैसा सुपर्ण (पक्षी) है, जो स्वयमपि आप्य सोममय बना रहता हुआ 'आपोमय' ही है * । यह चान्द्र अप्तत्त्व ही सौम्य, एवं वारुण-रूप से दो भागों में विभक्त हो रहा है । सोम, और वरुण के भेद से एक ही सौम्य-चान्द्र-प्राण विभिन्न दो संस्थानों का अधिष्ठाता बन जाता है । सोमानुगत वही चान्द्रप्राण कहलाया है–**'गन्धर्व'**, एवं वरुणानुगत वही चान्द्रप्राण कहलाया है-**'अप्सरा'**। **'सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्'** के अनुसार जीवनीय रस का पोषक (पुष्टिवर्द्धक) सोम (जो कि पितृप्राणमय हैं ÷) ही गन्धभाव का अधिष्ठाता माना गया है । अतएव पितृकर्म्मात्मक 'पिण्डपितृयज्ञ' में सौम्य पितरों की तुष्टि के लिए सुगन्धित द्रव्यों का संग्रह अनिवार्य्य माना गया है । **'सोमो गन्धाय'** (ताण्ड्यब्रा० १।३।६)-**'सोम इव-गन्धेन'** (मन्त्रब्राह्मणोपनिषत्-२।४।१४।) इत्यादिरूपेण सोम के साथ गन्ध का सम्बन्ध विहित है । गन्धभावानुगति से ही सोमानुगत चान्द्रप्राण 'गन्धर्व्व' कहलाया है, जिसके द्वारा मानव–मानवी में । (विशेषतः मानवी में) गन्ध--आमोद--प्रमोद--आदि वृत्तियाँ उत्पन्न होतीं रहतीं हैं । जिस में गन्धर्व्वप्राण प्रधान बनता जाता है, वह इन्हीं गन्धर्व्व--सौम्य--भावों का अन्वानुवर्त्मा बन जाता है । वरुणभावानुगत अप्तत्त्व की प्रधानता से वही सौम्यप्राण 'अप्सरा' कहलाने लग पड़ता है । जिस में अप्सराप्राण प्रधान बन जाता है, वे मानव, और मानवी हास–क्रीड़ा–(खेल–तमाशों)–मिथुनभावों के प्रति सदा आसक्त–व्यासक्त बने रहते हैं । मन सौम्यप्राणप्रधान है, तो शरीर वारुण है, आप्य है × । अतएव कहा जा सकता है कि, सौम्यप्राणप्रधान गन्धर्व्व मनःप्रधान है, तो वरुणप्राणप्रधाना अप्सरा शरीरप्रधाना हैं । दोनों भाव–**'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः'** रूपेण एक दूसरे में ओत–प्रोत हैं । जहाँ गन्धर्व हैं, वहाँ अप्सरा हैं । जहाँ अप्सरा हैं, वहाँ गन्धर्व हैं । नर्त्तन यदि अप्सराप्राण की प्रेरणा है, तो गायन गन्धर्वप्राण की प्रेरणा के प्रसून हैं । गन्धर्व यदि अप्सराकामुक हैं, तो अप्सराएँ गन्धर्वकामुका हैं । दोनों हीं प्राण मनःशरीरानुबन्धी बनते हुए प्राकृत प्राणियों के मानस–शारीरिक–उन्माद–प्रमाद–आमोद-प्रमोद–हास–परिहास–क्रीड़ा–मिथुनादि भावों के मूलबीज बनें हुए हैं, जिनका **काम**, और **अर्थ**–बीजरूप से भी स्वरूपसमन्वय हुआ है । **'अद्भ्यः पृथिवी'** रूपेण आपोमयी पृथिवी यदि अप्सरा है, तो सोममय चन्द्रमा गन्धर्व है । गन्धर्वचन्द्रमा मन की प्रतिष्ठाभूमि है, तो अप्सरापृथिवी शरीर की अधिष्ठात्री है । अप्सरा जैसे जैसे नर्त्तन करती है, गन्धर्वरूप चन्द्रमा वैसे वैसे ही थिरकने लगता है । चन्द्रमा पृथिवी का ही तो उपग्रह माना गया है । ये दोनों हीं तो प्राकृतिक १३ प्रकार के प्राणियों के नहीं, अपितु ६ प्रकार के

***--तरणिकिरणसङ्गादेषपानीयपिण्डः -दिनकरदिशि चञ्चच्चन्द्रिकाभिश्चकास्ते ।**

÷--अतएव रात्रिजागरणनिबन्धन पितृस्तुतिकर्म्मात्मक लोकगीतों में गन्धद्रव्य का महत्त्व उपवर्णित है–देखिए श्राद्धविज्ञानग्रन्थ का—**'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्'** नामक तृतीयखण्ड

×–इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः-पुरुषवचसो भवन्ति ।

—छान्दोग्य–उपनिषत्

प्राणियों के * सर्वस्व बने हुए हैं मनसा, और शरीरेण। यही है–प्राकृतिक प्राणियों के मनःशरीरानुबन्धी–गन्धर्वाप्सराप्राणात्मक जीवन के इतिवृत्त की संक्षिप्ततमा रूपरेखा, जिस का विशदीकरण कभी हमारे लिए अभीप्सित नहीं रहा। जिन्हें इस के वैशद्य की जिज्ञासा हो, उन्हें निम्नलिखित कतिपय मूलसूत्रों के आधार पर अपने मनस्तन्त्र को तदनुगामी बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए—

१–गन्धो मे, मोदो मे, प्रमोदो मे। तन्मे युष्मासु (गन्धर्वेषु)
—तै० उ० ब्रा० ३।२५।४।

२–रूपमिति गन्धर्वा उपासते। (शत० ब्रा० १०।५।२ २०।)

३–स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः (ऐ० ब्रा० १।२७।)।

४–मनो गन्धर्वः (शत० ६।४।१।१२।)

५–चन्द्रमा गन्धर्वः (शत० ६।४।१।६।)।

६–गन्ध–इत्यप्सरसः (उपासते) (शत० १०।५।२।१०।)।

७–किं तु ते ऽस्मासु (अप्सरासु)–हासो मे, क्रीड़ा मे, मिथुनम्मे।
(तै० उ० ब्रा० ३।२५।८।)

८–सोमो वैष्णवो राजेत्याह। ता इमा आसते–इति युवतयः शोभमाना उपसमेता भवन्ति। [श० १३।४।३।८।]।

९–अथो गन्धेन च वै, रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति [शत० ६।४।१।४।]।

१०–प्रजापतिः–उपद्रवं गन्धर्वाप्सरोभ्यः–प्रायच्छत् [तै० ब्रा० १।१२।१।]।

१८८–सुगन्धिद्रव्य–आमोद–प्रमोद–हर्ष–क्रीड़ा–मिथुनभाव–रूपाकर्षण–गायन–वादन–नर्त्तन–आदि मानस–शारीरिक भावों का चान्द्र–गन्धर्वाप्सराप्राणमयत्त्व, एवं तत्प्रधान आज के ये आयोजन—

सुगन्धिद्रव्य–आयोजन, आमोद–प्रमोद–हर्ष–क्रीड़ा–मिथुनभावादि–आयोजन–रूपादि आकर्षण–आदि आदि मानसिक–शारीरिक–प्राकृतिक उन्मादादि ही प्रकृति का, एवं प्राकृत जीवों का महान् इतिहास है, जिसकी सीमा में हीं अनुकरणभावप्रधान–गायन–वादन–नर्त्तनादि गन्धर्वाप्सरा–भाव भी समाविष्ट हैं। सचमुच

---

*–ब्राह्म जीववर्ग से आरम्भ कर ऐन्द्रजीववर्ग–पर्य्यन्त–चार वर्ग–सूर्य्यानुगत बतलाए गए हैं। अतएव ये तत्त्वतः सौर ही बने रहते हैं। सौरी बुद्धि ही इन का मूलाधिष्ठान बनी रहती है। अतएव १३ में से इन चार–ब्राह्म–प्राजापत्य–पैत्र्य–ऐन्द्र–नामक चान्द्र–सत्त्वजीवों को मनःशरीरानुबन्धी प्राकृतिक मर्त्यसर्ग से पृथक् ही मान लिया है शास्त्र ने, जैसाकि अन्य निबन्धों में यत्र-तत्र स्पष्ट कर दिया गया है–विशेषतः श्राद्धविज्ञानग्रन्थ में।

पृथिवी नाचती है, गाती है। सचमुच चन्द्रमा गाता है, प्रतिक्षण नवीन नवीन भावों से थिरकता है—**'नवो नवो भवति जायमानः'**। सचमुच वायु नाच रहा है, गारहा है। जलप्रपात गा रहे हैं, नाच रहे हैं। ओषधि—वनस्पतियाँ नाच—गा रहीं हैं। कृमि—कीट—पक्षी—पशु—यक्ष—राक्षस—पिशाच—गन्धर्व—सभी तो प्राकृत प्राणी यदृच्छापूर्वक अपने अपने नर्त्तन—गायन—वादन—आयोजनों में तल्लीन बने हुए हैं। इन्हें उस स्थिति का अणुमात्र भी तो बोध नहीं है, जिस अमृता स्थिति का सूर्य्य से तो उपक्रम होता है, एवं जिस की व्याप्ति ने सम्पूर्ण विश्व को स्वात्मसीमा में गर्भीभूत कर रक्खा है। उस अमृतात्मब्रह्म से अपरिचिता प्रकृति, तथा उसके ये प्राकृत प्राणी मानसिक—शारीरिक—विमोहन—लक्षण—नाच—गानों के अतिरिक्त और आयोजन कर भी क्या सकते हैं ?।

१८९—गन्धर्वाप्सराप्राणानुगत 'उपद्रव' नामक साम, एवं तदनुगत मनःशरीर—कामार्थ—गन्धरूप—लक्षण चान्द्रपार्थिव गन्धर्वाप्सराप्राणमय उपद्रवात्मक आज के ये विविध आयोजन—

असंख्य—अनन्त हैं प्रकृति के पर्व, जिनका समझनें मात्र के लिए मनःशरीरप्राधान्य से ९ प्राणिवर्गों में अन्तर्भाव माना जा सकता है, माना गया है। इन नवों प्राणियों के भाग्यविधाता हैं—**चन्द्रमा, और पृथिवी, गन्धर्व—और अप्सरा, मन, और शरीर, काम—और अर्थ, गन्ध, और रूप**। एवं इन भाग्यविधातृलक्षण द्वन्द्वों से द्वन्द्वात्मक बने रहने वाले इन प्राकृतिक प्राणियों का महान् पौरुष है—प्रकृतिमण्डल को 'उपद्रवसाम' से सदा ही कोलाहलरूप में परिणत किए रहना, जो प्राकृतिक कोलाहल आत्मबुद्धिभावों का महान् प्रतिद्वन्द्वी माना गया है। प्रजापति ने इन के प्रतिनिधि गन्धर्वाप्सराप्राणमूर्त्ति चन्द्रमा—पृथिवी को उपद्रवसाम से ही तो समन्वित किया है, जैसा कि—**'प्रजापतिः—उपद्रवं—गन्धर्वाप्सरोभ्यः प्रायच्छत्'** इत्यादि वचन से प्रमाणित है।

१९०—प्राणों के नामों का पाणियों के साथ समन्वय—

प्राणीवर्ग की मूलप्रतिष्ठा है—प्राणवर्ग। यद्यपि **'सर्वे सर्वार्थवाचकाः'** न्यायेन सभी प्राणियों में सब प्राण मात्रातारतम्य से समाविष्ट माने गए हैं। तथापि जिस प्राणी में जो प्राण अन्तर्य्याम—सम्बन्ध से प्रधान बना रहता है, वह प्राणी उसी प्राण के नाम से भूतजगत् में प्रसिद्ध हो जाता है। एवं तत्प्रधान—प्राण के रूप—गुणानुपात से ही (छन्दःशक्ति के अनुपात से ही) तत्प्रधान प्राणी के रूप—गुण—कर्म्म सम्पन्न हो जाते हैं। जिन प्राणिसर्गों की पूर्व में तालिका उद्धृत हुई है, उनके मूलप्राण हीं वस्तुतः कृमि—कीटादि नामों से समन्वित हैं। ये ही प्राणनाम आगे चलकर प्राणियों के साथ समन्वित हो जाते हैं। प्राण, और प्राणी के इस सख्य—सम्बन्ध को लक्ष्य बना कर ही हमें लक्षीभूत आयोजनों का नामकरण करना चाहिए। करना नहीं चाहिए, अपितु प्रकृत्या प्राणधर्म्मरूपेण जो नाम हैं, उन्हें व्यक्तमात्र कर देना चाहिए।

१९१—प्राकृतिक प्राणियों के सामान्य—विशेष—आयोजन, एवं उनके सामान्य—विशेष—प्राकृत—नाम—

उक्त दृष्टि से अब हम नामों का सामान्य—विशेष—रूप से दो भागों में वर्गीकरण करेंगे। जो आयोजनधर्म्म—९ ओं प्राणियों में समान हैं, वे सब के सामान्य नाम होंगे। एवं जो आयोजन प्राणभेद से

९ ओं में व्यक्तिगतरूप से पृथक् पृथक् हैं, तत्प्राणियों के आयोजन–नाम विशेषनाम होंगे । विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है । केवल तालिकामात्र ही पर्य्याप्त है, जिसके माध्यम से प्राकृतिक प्राणियों के यदृच्छाशब्दात्मक–मनःशरीरप्रधान–कामार्थलक्षण–गन्धर्वाप्सरोमय–चान्द्रपार्थिव–आयोजनों के नाम सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही समन्वित हो जायँगे । हम समझते हैं–अमृतसूर्य्य के अधोभाग में अवस्थित मर्त्यधर्मावच्छिन्न–यदृच्छाशब्दात्मक चान्द्र–पार्थिव–नवविध–प्राणियों के यदृच्छाशब्द ध्वनिमात्रात्मक गायन, यदृच्छापरिवर्तनात्मक नर्त्तन से सम्बन्ध रखने प्राकृतिक आयोजनों के नामकरण के सम्बन्ध से मानव की मनःशरीरानुबन्धिनी भूतप्रज्ञा तालिकामाध्येन निर्दिष्ट नामों के अतिरिक्त अन्य सांस्कृतिक नामों का संस्मरण भी नहीं कर सकी । यही आयोजन–निबन्धन–प्रासङ्गिक नामकरण–प्रसङ्ग का संक्षिप्त वाग्विजृम्भणमात्र है । क्योंकि आत्मबुद्धिलक्षण सांस्कृतिक–भावों से वञ्चिता मानव की जड़प्रकृति वाग्विजृम्भण के अतिरिक्त और कोई भी तो पौरुष नहीं रख रहीं ।

प्राकृतिक–आयोजनानि

- १–चान्द्र–पार्थिव–आयोजनानि
- २–मनः–शरीर–आयोजनानि
- ३–गन्धर्व–अप्सरा–आयोजनानि
- ४–काम–अर्थ–आयोजनानि

} **सामान्यायोजनानि–सर्वात्मकानि**

- १–गन्धर्वायोजनम्
- २–पिशाचायोजनम्
- ३–राक्षसायोजनम्
- ४–यक्षायोजनम्

} मनःप्रधानान्यायोजनानि

- ५–पश्वायोजनम्
- ६–पक्ष्यायोजनम्
- ७–कीटायोजनम्
- ८–कृम्यायोजनम्

} शरीरप्रधानान्यायोजनानि

- ९–स्तम्बायोजनम्

} उन्मुग्धभावात्मकान्यायोजनानि

} **विशेषायोजनानि–वैय्यक्तिकानि–**

१६२-वर्त्तमान--आयोजनों के नामकरण की स्वरूपदिशा का दिग्दर्शन—

प्राकृतिक प्राणियों के उक्त **आयोजन-नामों** को सामने रखते हुए जब आप-'**तो फिर क्या नामकरण होना चाहिए वर्त्तमान भारतीय इन योजनात्मक आयोजनों का** ?' यह प्रश्न करेंगे, तो स्वयं ही आप इस प्रश्न का तथ्यपूर्ण समाधान कर सकने में सर्वात्मना सक्षम बन जायँगे, निश्चयेन बन जायँगे। चान्द्री-पार्थिवी प्रकृति से उत्पन्न चान्द्र (मनोमय), पार्थिव (शरीरमय) प्राकृतिक प्राणियों के यदृच्छाशब्दात्मक, अतएव अनुकरणात्मक आयोजनों का सामान्यरूप से नाम होगा-'**प्राकृतिक-आयोजन**', द्वन्द्वभावानुगत सामान्य नाम होंगे-**चान्द्रपार्थिव-आयोज**', **मनःशरीरायोजन, गन्धर्व्वाप्सरायोजन, कामार्थायोजन**। यदि प्राण, तथा प्राणी-विशेषों के विभिन्न स्वरूपों की दृष्टि से नामों का अन्वेषण किया जायगा, तो इन्हीं सामान्य आयोजनों के तत्तत्प्राण-प्रधान-तत्तत्-प्राणियों की अपेक्षा से इन आयोजनों के नाम होंगे क्रमशः **प्राकृतिक-गन्धर्व्वायोजन, पिशाचायोजन, राक्षसायोजन, यक्षायोजन, पश्वायोजन, पक्ष्यायोजन, कीटायोजन, कृम्यायोजन, स्तम्बायोजन**।

१६३-वर्त्तमान-आयोजनों का अश्रुपूर्णाकुलेक्षणात्मक संस्कृतिविरुद्ध इतिवृत्त—

जो मानव अपने आत्मबुद्धिनिबन्धन-पृथिवी-चन्द्रमा से अतीत सौर अमृतभावापन्न देवस्वरूप से अपरिचित रहता है, आत्मबुद्धिविमूढ वैसा मानव ही इसलिए प्राकृत '**चान्द्रमानव**' कहलाया है कि, इसका उक्त प्राकृतिक प्राणियों के साथ ही अनुरूप सम्बन्ध रहता है। ऐसे मनःशरीरप्रधान प्राकृत मानव का आदर्शस्थान चान्द्री-पार्थिवी-प्रकृति ही बनी रहती है। प्रकृति ही इस प्राकृत मानव का शिक्षण करती है। वही इसे यदृच्छात्मक-शब्दों, आचरणों का स्वरूप बतलाती है। सर्वात्मना प्राकृतिक परिवर्त्तन से सम्बन्ध रखने वाले मानसिक-शारीरिक उत्तालभाव ही इसके प्राकृतिक आयोजन बनते रहते हैं। और ऐसा प्राकृतिक मानव, जिसे कि वर्त्तमाना प्राकृतिकी सभ्यता की भाषा में '**विकासशीलमानव**' कहा जाता है, यों अपना वैय्यक्तिक कोई स्वरूप न रखता हुआ प्रकृति से सीख-सीख कर ही **नृत्य-गीत-वाद्यादि परायण** बनता जाता है। यही इसके प्राकृतिक आयोजनों का अश्रुपूर्णाकुलेक्षणात्मक वह-संस्कृतिविरुद्ध इतिवृत्त है, जिसका आज के आयोजन-व्याख्याता बड़े ही गौरव से निम्न लिखित शब्दों में साटोप वर्णन करते हुए मानव की आत्मबुद्धिनिबन्धना पौरुषलक्षणा निष्ठात्मिका वास्तविक-मानवता को मानो सदा सदा के लिए विस्मृति के गर्भ में ही विलीन कर देना चाहते हैं।

१६४-वर्त्तमान-विशोधकों की पशु-पक्षी-भक्ति, और तत्प्रति मानव का शिष्यत्व-स्थापन, एवं तद्द्वारा-'परम्परा' के अन्वेषण का महान् व्यामोहन—

परम सांस्कृतिक राजस्थान के ही एक प्रान्तविशेष-जोधपुर-से प्रकाशित होने वाली '**परम्परा**' नाम की शोधपत्रिका के एक लेख में तल्लेखकने लोकगीतात्मिका 'लोकसंस्कृति' के शब्दार्थ-समन्वय-प्रसङ्ग में में अपने ऐसे ही कुछ प्राकृतिक-विचार व्यक्त किए हैं, जिनका निष्कर्ष यही है-कि मानव-मानवी ने प्रकृति से, प्रकृति के सर्वश्रेष्ठ ? प्राणी पशु-पक्षी-आदि से ही गीत-वाद्यादि संस्कृतियों की शिक्षा प्राप्त की है, जैसा कि उनके-"**क्योंकि आज भी पशुओं में अभिव्यक्त होने वाले स्वरों का अध्ययन करने से पता चलता है कि, उनमें निश्चित सङ्गीतात्मकता है**। एक **वैज्ञानिक नें तो चूहों के**

स्वरों की स्वरलिपि भी तैय्यार की है [धन्य है मूषकप्रेमी वे प्रतीच्य वैज्ञानिक, और परमधन्य हैं इस उद्धरण के संगृहीता विज्ञानप्रेमी लेखक]। अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य ने दो वस्तुओं के संघर्षण से नाद को उत्पन्न होते सुना होगा.......................। तेज हवा के बहाव में जब सारी प्रकृति ही गाने लगती है, तो उन 'स्वरों' से मनुष्य ने भी अपना क्रोध व्यक्त करने की अभिव्यक्ति पाई होगी। दो पक्षियों को अपने स्नेह में सिक्त बोलते हुए देख कर मनुष्य के मन में उनके स्वरों में 'गा' उठने की ललक जाग उठी होगी। भारतीय पद्धति के सरगम का स्वरूप तो पशुओं की आवाजों से ही उद्भूत माना गया है "–[देखिए परम्परा त्रैमासिक शोध-पत्रिका, १ वर्ष, १ अङ्क–का **'लोकगीत, और साज'** नामक लेख। प्रकाशक–चोपासनी शोध–संस्थान–जोधपुर"]—इत्यादि प्राकृतिक उद्धरणों से स्पष्ट है।

१६५–प्रतीच्य-अन्वेषकों का अन्धानुकरण, एवं तदनुपात से ही भारतीय जनजीवन–पद्धतियों के परम्परासूत्रान्वेषण का भावुकतापूर्ण विमोहन—

कदापि इस में लेखक महोदय का अपना कोई व्यक्तित्त्व आधार नहीं बन रहा। अपितु ये सब उद्‌गार तो प्रकृतिवादी–भूतमात्रवादी–उन प्रतीच्य विद्वानों की शोध के ही अनुकरणमात्र है, जिन्होंनें मानव को एक प्राकृतिक प्राणी मानते हुए इसे प्राकृतिक प्राणियों की भाँति क्रमोन्नति–क्रमविकास–की क्रीड़ा का ही साधन बना रक्खा है। **'आदिम मानव'** उन्हीं प्रतीच्य विद्वानों की विकासभाषा का शब्द है, जिसे लेखक नें उसी प्रकार उद्धृत कर दिया है, जैसे कि आज के गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्रवादी–मानव उन्हीं के अनुकरण–भावों–प्रतीकों का सोल्लास–साटोप वर्णन करते नहीं अघाते। हाँ, लेखक नें एक स्थान पर–**'भारतीय–पद्धति'** का भी समादर किया है इसी प्रसङ्ग में, मानों इस शब्द–वाक्य के द्वारा हम अपने आपको भी उन्हीं की भाँति वैज्ञानिक–विशोधक–विकासशील–मानते रहते हुए उन्हीं की भाँति सभ्य, तथा सुसंस्कृत प्रमाणित करदें। समादर के सम्बन्ध में नारदशिक्षा का वचन उद्धृत करते हुए विशोधक–लेखक ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि, भारतीय सङ्गीताचार्य्यों नें भी पशुओं की ध्वनियों से ही संगीत की निधि प्राप्त की है। किन्तु प्रयास करने पर भी उन पद्यों से तो लेखक की इस मान्यता का हमें कोई भी सम्पर्क प्रतीत नहीं हो रहा। पद्यों के स्वरूप को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए, स्थिति का स्पष्टीकरण हो जायगा।

षड्जं वदति मयूरः, गावो रम्भन्ति चर्षभम् ॥
अजा वदति गान्धारं, क्रौञ्चो वदति मध्यमम् ॥१॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो वदति पञ्चमम् ॥
अश्वस्तु धैवतं वक्ति निषादं वक्ति कुञ्जरः ॥२॥

—नारदशिक्षा।

श्लोकार्थ का तात्पर्य्य यही है कि–**सा–रे–ग–म–प–ध–नी**–नामक सातों स्वरों का क्रमशः **मयूर–गौ–बकरा–क्रौञ्च–कोकिला–घोड़ा–हाथी**–इन पशुओं की ध्वनियों से सम्बन्ध है। मानव ने ये

ध्वनियाँ इन से सीखीं हैं ?, यह तो कदापि व्यक्त नहीं हो रहा इस अक्षरार्थ से । प्रसङ्ग है लोकगीतानुगत साजों–वाद्ययन्त्रों का । वाद्यों का निर्म्माण मानव ने पशुध्वनियों से किया है, यही तात्पर्य्य व्यक्त करने का प्रयास किया है लेखक ने उक्त पद्यों में पठित पशुओं की ध्वनि के द्वारा । क्या यह भारतीय दृष्टि है ? । कदापि नहीं । यह तो उस प्रतीच्यदृष्टि का अन्धानुकरणमात्र है, जिसने मानव की ध्वनियों का आधार पशुध्वनियों को ही माना है । अवश्य ही प्राकृत मानव ऐसा मान सकते हैं, मानना ही चाहिए उन्हें ऐसा ही । क्योंकि प्रत्यक्षदृष्ट श्रुत–उपवर्णिता जड़–भूतप्रकृति के अतिरिक्त उन्हें 'आत्मबुद्धि' जैसा मानवीय–मापदण्ड अपनी मान्यताओं के लिए आज तक भी तो उपलब्ध नहीं हो सका है ।

१६६–मानव के स्वतन्त्र–पुरुषार्थ, एवं उसकी दैवीवीणा, तथा मानुषीवीणा, और तदनु-बन्धिनी कालमीमांसा—

भारतीय दृष्टिकोण क्या है इन वाद्यध्वनियों के सम्बन्ध में ?, प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, जिसके सांस्कृतिक, अतएव भारतीय समाधान के लिए तो संस्कृति की ही शरण में आना चाहिए हमें । केवल एक उदाहरण इस सम्बन्ध में दो शब्दों में यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है, जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि, वाद्य-ध्वनियों का मूलाधार पशुध्वनियाँ हैं ?, अथवा और कुछ ? । वाद्यवृन्दों में **'वीणा'** नामक सुप्रसिद्ध वाद्ययन्त्र पुरातन–देवयुग–से चला आने वाला विशुद्ध भारतीय वाद्य है । वीणा की बाह्य आकृति, तारों का सन्निवेश, ध्वनि–स्वरों के संस्थान–नाद–आदि सभी भाव क्या पशु–पक्षियों के अनुकरण के आधार पर व्यवस्थित हुए हैं ? । कदापि नहीं । अपितु विश्वनिर्म्माता विश्वप्रजापतिरूप महान् शिल्पी की प्राणवती वीणा है स्वयं मानव का प्राणवान् शरीर । ईश्वरनिर्म्मिता यही वीणा **'दैवीवीणा'** कहलाई है ऋषिभाषा में । मानव ने इस दैवी-वीणा के आधार पर ही स्व–कलाकृतिरूप 'वीणा' नामक वाद्ययन्त्र का आविष्कार किया है । तात्पर्य्य–स्वयं मानव के अपने आध्यात्मिक–आधिदैविक–आधिभौतिक–स्वरूपों के अनुपात से ही वीणा का जन्म हुआ है । मानव स्वयं ही अपने आत्म–बुद्धि–अनुगत–मनः–शरीरभावों से अपनी समस्त कलाकृतियों का मूलसर्ज्जक बनता हुआ स्वयं अपने आपमें हीं परिपूर्ण है । मानव कदापि अपने शिल्पों में, कलाकृतियों में, एवं गीत-नृत्य-वाद्यादि यन्त्रों में परायत्त नहीं है । मानव शिक्षक है प्राकृत विश्व का । आत्मबोधनिष्ठ मानव को जड़प्रकृति क्या सिखाएगी ? । जो कुछ सिखाएगी भी, तो वह मानव की जड़ता–प्राकृतिकता ही होगी, जिस इत्थंभूत विकासात्मक प्राकृतिक शिक्षण को स्वस्वरूपबोधनिष्ट मानव के स्वरूप में तो कदापि अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता । स्वयं मानव ईश्वरीया दैवीवीणा है । मानव ने स्वस्वरूपात्मिका इस दैवीवीणा के आधार पर ही अपनी भूतकला-कृतिरूपा वीणा का निर्म्माण किया है । दुर्भाग्य है यह इस देश का कि, हम अपने घर को उपेक्षित मान कर आज उन्हें अपनी संस्कृति–सभ्यताओं का शिक्षक–पथप्रदर्शक मानने–मनवाने की महाभयानक वैसी भूल ही करते जा रहे हैं, जिस भूल ने आज हमें अपनी सांस्कृतिक–परम्परा को पशु–पक्षी–कृमि–कीटों के साथ सम-तुलित करने के लिए विवश बना दिया है । लक्ष्य बनाने का अनुग्रह करें वे–अभिनव–परम्परावादी–आज के भारतीय **'कोमलप्रज्ञ'** महानुभाव निम्न लिखित श्रौतसन्दर्भ को, जिसमें मानव के वाद्ययन्त्र को स्वतन्त्ररूपेण मानव की अपनी ही कृति प्रमाणित किया है । कदापि इनका पशु–पक्षी–आदि के विजृम्भणों से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है ।

"अथ खल्वियं-दैवीवीणा भवति। तदनुकृतिरसौ-मानुषीवीणा भवति, इति। यथाऽस्याः (मानवाकृतेः) शिरः, एवममुष्यायाः शिरः (तूँबा)। यथाऽस्या-उदरं, एवममुष्या अम्भणम् (वीणादण्डमध्यवर्त्ति-छिद्रम्) यथाऽस्यास्तन्त्रयः (अङ्गुलयः), एवममुष्या अङ्गुलयः (दीर्घतन्तवः)। यथाऽस्या स्वराः-(कोष्ठाग्निप्रेरितवायोः सम्बन्धिविशेषेणोत्पन्नाः षड्जर्षभगान्धारादयः स्वराः), एवममुष्याः-स्वराः (षड्जादिस्वरजातयः)। यथाऽस्याः स्पर्शाः (वायवीयप्रयत्नविशेषाः), एवममुष्याः-स्पर्शाः (अङ्गुलिस्पर्शविशेषाः)। यथाह्येवेयं शब्दवती (स्वरविशेषाभिव्यक्तहेतुभूतध्वनियुक्ता) तर्द्मवती (तर्दनवती*), एवमेव सा शब्दवती (स्वरविशेषाभिव्यक्तहेतुभूतध्वनियुक्ता), तर्द्मवती (तर्दनेन-दृढबन्धनेन युक्ता)। यथा ह्येवैषा लोमशेन चर्म्मणाऽपिहिता भवति (प्रभूतरोमाधारेण-त्वग्भूतेन चर्म्मणा आच्छादिता भवति), एवं लोमशेन-चर्म्मणाऽपिहिता-[व्याघ्रादिचर्म्मणाऽऽच्छादिता] भवति।

भगवान् ऐतरेय के युग में-(जो आज से अनेक सहस्राब्दियों से पूर्व का युग गाना गया है, जोकि पूर्वयुग आज के प्रकृतिवादियों के विकासवाद के अनुसार तो सर्वथा-आदिमानवयुग, अर्थात् असभ्यता का ही युग था, उसमें वीणा के स्वरूप में थोड़ा अन्तर आगया था। इस ऐतरेययुग में वीणा के निर्म्माण में चमड़े से मँढने की प्रक्रिया लुप्त होगई थी, जो प्रक्रिया परशतः-सहस्राब्दियों से पूर्व के देवयुग में वीणानिर्म्माण से समन्विता थी। अर्थात् एतरेययुग से लाखों वर्ष पूर्व वीणा को जैसे व्याघ्रचर्म्मादि से मँढा जाता था, उस के हजारों वर्ष उत्तर के ऐतरेययुग में चर्म्म से मँढना लुप्त हो गया था। इसी एक महाकालानुबन्धी महान् परिवर्त्तन का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराते हुए अन्त में भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

"लोमशेन ह स्म वै चर्म्मणा पुरा (देवयुगे) वीणा अपिदधति"।

—ऐतरेय-आरण्यक ३।२।५।

हमें विदित नहीं, आज के तत्त्वविशोधक, अर्थात् उनकी सांस्कृतिक भाषा में रिसर्चस्कॉलर Reserch Scholer महाभाग ऐतरेय का कौनसा काल मानते हैं और सुनते हैं—इस सम्बन्ध में वे भी आज से ६–७ हजार पर्व पूर्व का उदारतापूर्वक सङ्केत कर रहे हैं ×। हाँ, तो आज से (आज की मान्यताओं के अनुसार भी)

*-धमनीभिः-शरीरावयवानां दृढबन्धनमेव तर्दनम्। तद्वती।

×"गवर्न्मेन्ट आफ इन्डिया-पब्लिकेशन्स्-डिवीजन मिनिस्ट्री ऑफ इन्फार्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग"-विभाग ने हाल ही में-'वैदिक-साहित्य' नाम की एक पुस्तिका प्रकाशित है, जिसमें वेदसम्बन्धी कुछ एक रेडियोभाषणों का संकलन है। इसकी प्रस्तावना में प्रस्तावक ने 'वेदकाल' निर्णय के सम्बन्ध में भी अपने विचार व्यक्त-किए हैं, जिनका निष्कर्ष यही है कि-ईसा से अनुमानतः ४५०० वर्ष पूर्व, अर्थात् आज से ६५०० वर्ष पूर्व का युग वेदयुग था। इस दृष्टि से अर्वाचीन विद्वान् भी सहमत हैं। अतएव इनकी दृष्टि को ही हम थोड़ी देर के लिए 'वेदवाक्य' मान लेते हैं, तब भी ऐतरेयकाल आज से ६–७ हजार वर्ष पूर्व ठहरता है।

सात हजार वर्ष पूर्व वीणावादन प्रचलित था इस राष्ट्र में, जिसने तत्पूर्व के युगों में चर्म्मावरणात्मिका वीणा की ओर सङ्केत किया है। इस 'वीणाकाल' के आधार पर, तथा वीणा के मूलाधारभूत दैवीवीणा के स्वरूपविश्लेषण के आधार क्या यह नहीं कह दिया जा सकता कि, जो अद्यतन महाभाग भारतीय वाद्ययन्त्रों को पशु-पक्षि-ध्वनियों से आविर्भूत मानने लग पड़े हैं, उनकी यह मान्यता कदापि इनका भारतीय दृष्टिकोण तो नहीं है। आलप्यालम्। अलमतिपल्लवितेन भावुकतापूर्ण-प्रसङ्गेन जड़भावनिबन्धेन।

१९७-महर्षि शाङ्खायन के यज्ञकर्म्मानुबन्धी नृत्य-गीत-वाद्यात्मक त्रिविध-मानवीय-'शिल्पसाम'—

क्या भारतीय-संस्कृति मनःशरीरनिबन्धना गीत-नृत्य-वाद्य-लक्षण सङ्गीत का विरोध करती है?, क्या भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों नें इन मानसिक शारीरिक भावों का सर्वथा बहिष्कार कर रक्खा है?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान पूर्व के आयोजन-स्वरूप-दिग्दर्शनों से गतार्थ है। भारतीय पर्व-उत्सव-सम्मेलन-समारोह-नामक सांस्कृतिक आयोजनों के चारों हीं वर्ग अनुपात से अवश्य ही बौद्धिक आत्मबुद्धिसम्मत देवभाव, तथा मनः-शरीरसम्मत सङ्गीतभाव-आदि सभी का समादर करते आए हैं, सोत्साह करते आए हैं। प्रकृति का जैसा समादर भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों में हुआ है, उसकी तो आजके प्रकृतिभक्त-गीत-वाद्य-नृत्य-पारायण आयोजनभक्त अपने वर्त्तमान आयोजनों में कल्पना भी नहीं कर सकते। यही नहीं, सांस्कृतिक-आचारलक्षण शास्त्रीय श्रौत (यज्ञ), एवं स्मार्त्त (संस्कार) कर्म्मों में भी वीणावादनादि मानसिक भावोंका समावेश हुआ है। सुप्रसिद्ध सीमन्तसंस्कार में तो '**वीणागाथिनो गायन्ति**' के अनुसार गर्भस्था इन्द्रविद्युत् के विमोहन के लिए, विमोहन के द्वारा गर्भपात की आशङ्का के निरोध के लिए संस्कारप्रक्रिया के साथ साथ वीणा का वादन भी अनिवार्य्य अङ्ग बना रहता है। सुप्रसिद्ध पवमान-मैत्रावरुण-वामदेव्य-आदि से समन्वित अहीन-पृष्ठ-सत्त्रों में से मध्यम 'त्र्यहः' नामक याज्ञिक कर्म्म की व्याख्या करते हुए **महर्षि शाङ्खायन** ने 'सङ्गीत' को नृत्य-गीत-वाद्य-रूप से प्रजापति का त्रिवृत्शिल्प मानते हुए स्पष्ट ही सांस्कृतिक-शास्त्रीय-यज्ञादि कर्म्मों के साथ भी सङ्गीत का सम्बन्ध व्यक्त किया है, जैसाकि उनके इस कथन से स्पष्ट है कि—"**अथो अन्तरिक्षं वा एष मध्यमस्त्र्यहः। नाऽऽरम्भणं वा इदमन्तरिक्षं-अप्रतिष्ठानम्। शिल्पेष्वेव तदहरहः प्रतितिष्ठन्तो यन्ति। तानि वै तृचानि भवन्ति। त्रिवृद्धै शिल्पं-नृत्यं-गीतं-वाद्य-मिति। तेष्वेव तदहरहः प्रतितिष्ठन्तो यन्ति।**" (शांखायन ब्राह्मण-२९ अ०।५ ब्राह्मण)।

१९८-अश्वमेधयज्ञानुगत वार्षिक-वीणावादनसत्त्र, एवं प्राकृतिक-माहेश्वर महासङ्गीत के द्वारा ब्रह्म का प्रस्रवण, तथा भगवती-भागीरथी का आविर्भाव—

एवमेव सुप्रसिद्ध '**अश्वमेधयज्ञ**' राष्ट्रानुगता 'श्री' को राष्ट्र में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए तद्यज्ञावसर पर दो ब्राह्मण वीणा के माध्यम से ही एक वर्षपर्य्यन्त वीणात्मक महान् सङ्गीत का अनुगमन करते हैं। वीणा साक्षात् 'श्री' की प्रतिकृति है। अतएव इससे राष्ट्र में अवश्य ही श्री का पुनराधान हो जाता है ×।

×-अप वाऽएतस्मात् 'श्री' राष्ट्रं क्रामति (अपक्रामति), यो ऽश्वमेधेन यजते। यदा वै पुरुषः श्रियं गच्छति, वीणास्मै वाद्यते। ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ सम्वत्सरं गायतः। श्रियै वाऽएतद्रूपं यद्वीणा। श्रियमेवास्मिंस्तद्धत्तः। [शत० ब्रा० १३।१।५।१]।

उदाहरणमात्र है। भारतीय संस्कृति–सभ्यता का कोई भी शास्त्रीय आचार, कोई भी सांस्कृतिक आयोजन ऐसा नहीं है, जिसमें किसी न किसी रूप से समष्ट्यात्मक सङ्गीत का (नृत्य–गीत–वाद्य–तीनों का), अथवा तो व्यष्ट्यात्मक सङ्गीत का समावेश न हो। सुनते हैं–क्षीरसमुद्रात्मक पारमेष्ठ्य समुद्र में अनन्तनागशय्या पर विश्राम करने वाले भगवान् विष्णु तो ज्ञानप्रदाता भगवान् शङ्कर के नादब्रह्मात्मक महासङ्गीत से द्रुत ही हो गए थे, जो कि द्रुतरूप ही **'ब्रह्मद्रवी'** (पिघला हुआ ब्रह्म) भगवती भागीरथी नाम से भूतल पर प्रसिद्ध हुआ। स्पष्ट ही आत्मबुद्धिभावों के साथ साथ मनःशरीरभावात्मक सङ्गीतादि भावों का संग्रह सहजरूपेणैव समाहृत है भारतीय शास्त्रीय आचारों में भी, तथा लोकाचारों में भी। किन्तु सर्वत्र यह सङ्गीत आत्मबुद्धिभावों से नियन्त्रित होकर ही प्रवृत्त हुआ है, और यही भारतीय सङ्गीत की सार्थकता है। मानसिक–शारीरिक अर्थ–काम, एवं तदनुगत सङ्गीतादि भी जब आत्मबुद्धि के द्वारा नियन्त्रित हो जाते हैं, तो ये भी परम्परया मोक्ष के कारण बन जाते हैं। इसी आधार पर भगवान् याज्ञवल्क्य ने सङ्गीत को मुक्ति का निमित्त मान लिया है। मानसिक काम भी धर्म्मतः परिणीता पत्नी के साथ आत्मरति का प्रवर्त्तक बनता हुआ सापिण्ड्य–तन्तुवितानद्वारा स्वर्गप्राप्ति का कारण बना हुआ है। इसी आत्मभावना से सर्वथा जड़ अर्थ भी धर्म्मप्रवृत्ति का निमित्त बनता हुआ परम्परया आत्मसुख का निमित्त बन जाता है, जैसाकि–**'धनाद्धर्म्मं, ततः सुखम्'** से स्पष्ट है। यों सङ्गीत, काम, अर्थ, आदि सभी प्राकृतिक विवर्त्त आत्मब्रह्मलक्षण 'समब्रह्म' से समन्वित होते हुए अपनी जड़-कृतियों से 'संस्कृति' रूप में आते हुए 'सांस्कृतिक' बन जाते हैं। एवं निश्चयेन ऐसे सांस्कृतिक–आयोजन भी शास्त्रीय आचार-धर्म्मों की भाँति ही मानव के प्रकृत्यर्थ न रह कर 'पुरुषार्थ' बन जाते हैं, बन गए हैं। तभी तो मनोनिबन्धन सांस्कृतिक काम, तथा शरीरनिबन्धन सांस्कृतिक अर्थ, दोनों को पुरुषार्थकोटि में हीं अन्तर्भूत कर लिया है ऋषिप्रज्ञाने।

१६६–भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों, तथा वर्त्तमान-अमुक-आयोजनों का सुसूक्ष्म–भेद, एवं तदाधारेणैव निर्णयात्मक चिन्तन की अपेक्षिता जागरूकता—

अत्यन्त ही सुसूक्ष्म–प्राकृतिक भेद है भारतीय सांस्कृतिक चतुर्विध आयोजनों में, तथा वर्त्तमानयुग के एतन्नामक आयोजनों में। मित्रगोष्ठी–आमोद–प्रमोद–हर्ष–उल्लास–नृत्य–गीत–वाद्य–भोजनपरिग्रहसम्भार–आदि आदि प्रत्यक्षदृष्ट–प्राकृतिक सभी भाव दोनों हीं आयोजनों में थोड़े प्रकारभेद से समरूपेण समन्वित हैं। अतएव सहसा दोनों में कोई स्थूल भेद प्रतीत नहीं हो रहा। सम्भवतः ही नहीं, अपितु निश्चयेन ही इस प्रत्यक्ष भौतिक साम्य से ही आज के आयोजनभक्तोंनें अपने आयोजनों को **'सांस्कृतिक–आयोजन'** कहना आरम्भ कर दिया। और इन की प्रामाणिकता के लिए भारतीय प्राचीन आयोजनों से अनुप्राणित भावों की घोषणाएँ होनें लग पड़ीं। इसी घोषणा के माध्यम से इन पर 'परम्परा' की छाप लगादी गई। अतएव अस्मच्छ्रदृशा भूतदृष्टिप्रधान जन भ्रान्तिवश आज इन आयोजनों को भी भारतीय-'सांस्कृतिक–आयोजन' ही मान बैठे। साधारण जन की कौन कहे, राष्ट्र के सभी शिक्षित, शिक्षक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, समाजशास्त्री, पण्डित, आदि आदि आबाल–वृद्ध वनितावर्ग एकहेलया एक स्वर से सोल्लास आज के इन आयोजनों के अकाण्ड–ताण्डवों को ही मानो मानवीय मनोविनोद के एकमात्र अवलम्ब मानते–मननवाते जा रहे हैं। अतएव यह आवश्यक है कि, दोनों हीं आयोजनों के उस सुसूक्ष्म भेद का स्पष्टीकरण सर्वात्मना अवधान-

पूर्वक लक्ष्यारूढ कर लिया जाय। तभी दोनों के उस महान् विभेद से राष्ट्र की वर्त्तमान प्रज्ञा किसी निर्णयात्मक तथ्य का चिन्तन कर सकेगी।

२००–मानसिक–विश्रामानुगत–पुरातन सांस्कृति–आयोजनों, तथा मनोविनोदात्मक वर्त्तमान–प्राकृत–आयोजनों के मौलिक भेद का अन्वेषण–प्रयास—

भारतीय प्राचीन सांस्कृतिक आयोजन हों, अथवा तो भारतीय अर्वाचीन आयोजन हों, दोनों हीं आयोजनों के मुख्य सूत्रधार तो मानवीय **मन**, एवं मानवीय **शरीर**, ये दो ही पर्व हैं। मानव का आत्मा, तथा आत्मानुगता मानवीया बुद्धि, इन दो पर्वों का तो उन सांस्कृतिक–आचारों से ही सम्बन्ध है, जिन्हें 'शास्त्रीय–आचार' कहा गया है, जिन में भारतीय द्विजातिमानव ही अधिकृत हैं। मनोविनोदपूर्वक शारीरिक–भावों का अनुगमन हीं भारतीय पुरातन आयोजनों का मुख्य उद्देश्य रहा है, एवं यही सम्भवतः आज के आयोजनों का मुख्य लक्ष्य है। जीवनसंघर्ष से हो पड़ने वाली थकान को विश्राम देने के लिए मनोविनोद आवश्यक है। तदर्थ ही आयोजनों का आविर्भाव हुआ है। इस सर्वसमानता में भी हम किस आधार पर वर्त्तमान आयोजनों को 'संस्कृति' की परम्परा से पृथक् मानने का आग्रह व्यक्त कर रहे हैं ?, इस प्रश्न का जबतक कोई मौलिक समाधान नहीं ढूँढ लिया जायगा, तबतक कदापि हम तथाविध अभिव्यक्ति का समर्थन न कर सकेंगे। वही सूक्ष्म भेद यहाँ दो शब्दों में प्रकृतिप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

२०१–चान्द्रपार्थिव–त्रयोदशविध [१३]–प्राकृतसर्ग का सिंहावलोकन—

स्मरण कीजिए पूर्व की उस तालिका का, जिस में पार्थिव–चान्द्री–प्रकृति से सम्बन्ध रखनें वाले १३ प्रकार के प्राणिसर्गों का स्वरूप स्पष्ट हुआ है (देखिए पृ० सं० २६३ की तालिका)। पार्थिवप्रकृति मानव के शरीर की अधिष्ठात्री है, एवं चान्द्रीप्रकृति मानव के मन की अधिष्ठात्री है, जैसाकि तत्रैव स्पष्ट किया जा चुका है। **रेतः[१]–श्रद्धा[२]–यशः[३]**–नाम के सुप्रसिद्ध चान्द्र मनोताओं से क्रमशः समन्वित चान्द्र **भूत[१]–प्राण[२]–प्रज्ञा[३]**–भाग हीं क्रमशः रेतोमय–भूतप्रधान–चतुर्विध सर्ग, श्रद्धामय–प्राणप्रधान चतुर्विध सर्ग, एवं यशोमय–प्रज्ञाप्रधान चतुर्विध सर्ग भेद से तीन स्थानों में विभक्त होते हुए १२ अवान्तर वर्गों से समन्वित हैं। तेरहवाँ सर्ग है–भौम–स्तम्बसर्ग। स्तम्बसर्ग **भौमसर्ग** कहा जायगा, भूतप्रधान चान्द्रसर्ग–**पार्थिवसर्ग** माना जायगा, प्राणप्रधान चान्द्रसर्ग **आन्तरिक्ष्यसर्ग** कहा जायगा, एवं प्रज्ञाप्रधान चान्द्रसर्ग को **दिव्यसर्ग** माना जायगा। साथ ही इन चारों सर्गों को क्रमशः **अन्वतमोसर्ग, तमोविशालसर्ग, रजोविशालसर्ग, सत्त्वविशालसर्ग,** इन नामों से व्यवहृत किया जायगा। यही प्राकृतिक १३ सर्गों का सम्पूर्ण स्वरूप–दिग्दर्शन माना जायगा, जिसे पुनः एकबार तालिकारूपेण लक्ष्य बना लेना चाहिए।

*चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्याहुराचार्य्याः *

यशोमयम् प्रज्ञातत्वं--चन्द्रमसः १	१--ब्राह्मजीव (१३) २--प्राजापत्यजीव (१२) ३--पैत्र्यजीव (११) ४--ऐन्द्रजीव (१०)	द्यौः--यशोमयी-प्रज्ञाप्रधाना सर्गचतुष्टयी --दिव्यसर्गः--सत्त्वविशालसर्गः-- --सूर्य्यानुगतश्चान्द्रसर्गः	सूर्य्याचन्द्रमसौ (सौरचान्द्रजीवाः)	चान्द्रसर्गाः--द्वादश--(१२) मनः--प्रकृतेः
श्रद्धामयम् प्राणतत्वं--चन्द्रमसः २	१--गन्धर्वजीव (९) २--पिशाचजीव (८) ३--राक्षसजीव (७) ४--यक्षजीव (६)	--अन्तरिक्षम्-श्रद्धामयी-प्राणप्रधाना सर्गचतुष्टयी--आन्तरिक्ष्यसर्गः--रजोविशाल--सर्गः--स्वानुगतश्चान्द्रसर्गः--	चन्द्रमा एव (चान्द्रजीवाः)	
रेतोमयम् भूततत्वं--चन्द्रमसः ३	१--पशुजीव (५) २--पक्षिजीव (४) ३--कीटजीव (३) ४--कृमिजीव (२)	पृथिवी--रेतोमयी--भूतप्रधाना सर्गचतुष्टयी --पार्थिवसर्गः--तमोविशालसर्गः-- --पृथिव्यनुगतश्चान्द्रसर्गः--	--पृथिवि-चन्द्रमसौ पार्थिवचान्द्रजीवाः	
सैषा भूमिः	१--स्तम्बजीव (१)	भूमिः--भौमसर्गः--अन्धतमःसर्गः--	भूः--एव --भौमजीवाः	भौमसर्गाः शरीरप्रकृतेः

२०२--सांख्यशास्त्रसम्मत--चतुर्द्दशविध--भूतसर्ग का प्रासङ्गिक संस्मरण--

उक्त तालिका का आधार सांख्यशास्त्र है, जिसने मनुष्य के समावेश से १३ के स्थान में १४ प्रकार का भूतसर्ग माना है। भारतीय सांस्कृतिक--आयोजनों के महान् इतिहास के स्वरूपविश्लेषक पुराणशास्त्र नें भी चान्द्र--पार्थिव जीवों का एक दूसरे दृष्टिकोण से स्पष्टीकरण किया है। दर्शन जहाँ लोकभाषा को प्रधान मानता है, वहाँ पुराण सभी विषयों का धर्म्म की भाषा में हीं विश्लेषण करता है। क्योंकि इसका एकमात्र

उद्देश्य ही धर्म्मनिष्ठा का संरक्षण है । अतएव दार्शनिकी तत्त्ववादभाषा की उपेक्षा कर पुराणनें धर्म्म नाम से ही चान्द्रयोनियों का स्वरूप स्पष्ट किया है । इच्छा थी कि, पुराण का वह प्रसङ्ग भी यहाँ अंशतः तो स्पष्ट कर ही दिया जाता । किन्तु ऐसा करना अब मानवीय मन की उस भावुकता का ही परिचय देना होगा, जो विषय का आरम्भ करना तो जानती है, किन्तु समाप्त नहीं कर पाती उस विषय को । देखिए न । जिन आयोजनों की रूपरेखा का प्रक्रान्त द्वितीय प्रकरण से प्रधान सम्बन्ध है, इतना सब कुछ लिखनें पर भी अभी तक उस मूलविषय के सम्बन्ध में कुछ भी निवेदन नहीं किया जा सका है । अतएव अब इस विस्तारपक्ष को यहीं उपरत कर पुराणदृष्टि का संस्मरणमात्र कर रूपरेखा का उपक्रम किया जा रहा है, जिस उपक्रम की घोषणा पूर्व में भी अनेक बार की जाचुकी है ।

२०३--पुराणसम्मत भूतसर्ग के साथ सांख्यसम्मत भूतसर्ग का समन्वय—

धर्म्मप्रसङ्ग में पुराण नें मानव को ही आधार माना है । कृमि-कीट-पक्षी-पशु-चारों सर्गों का विधि-निषेधात्मक आचारधर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं है । अतएव अत्र पुराण नें उन चारों जीववर्गों का संग्रह नहीं किया है । यदि मानव को पृथक् कर दिया जाता है, तो सांख्यदृष्ट्या अब आठ ही वर्ग बच जाते हैं । मानव के समावेश से ९ वर्ग हो जाते हैं । पुराण नें गन्धर्वजीवों के गन्धर्व, विद्याधर, ये दो भेद मान लिए हैं, यक्षजीवों के किम्पुरुष-गुह्यक-ये दो भेद मान लिए हैं । राक्षसविभाग के राक्षस-दैत्य-ये दो विभाग मान लिए हैं । मानव का समावेश कर लिया है । यों १२ वर्ग मान लिए हैं । प्रकृति में मानवतारिक्त ११ वर्ग प्राणरूप से प्रतिष्ठित हैं । भूमण्डल पर भी मानवरूपेणैव ये ११ औं प्राण प्राणीरूपेण थे, हैं, रहेंगे । बारहवाँ वह मानव ही मानव कहलाएगा, जिसमें अमुक विशेषधर्म्म रहेंगे । विस्तार में मत जाइए । अभी केवल यही जान लीजिए कि-प्राणविशेषों की प्रधानत से मानव १२ प्रकार के हो सकते हैं, हो जाते हैं, जिनके धर्म्म पृथक् पृथक् हैं । उन्हीं धर्म्मों का दो शब्दों में समन्वय कर लीजिए, मानव-स्वरूप के सर्वाङ्गीण भाव-कुभावों का स्पष्टीकरण सम्भव बन जायगा आपकी चिन्तनशीला प्रज्ञा के लिए ।

२०४--पुराणसम्मत विभिन्न-भूतसर्गों के विभिन्न धर्म्मों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

(१)-शास्त्रीय यज्ञ--तप-दान--कर्म्मों का अनुगमन, प्रतिदिन वेद का पारायण, वेदार्थ का परिशीलन, यज्ञाधिष्ठाता विष्णुदेवता का आराधन **देवमानव** के धर्म्म मानें गए हैं । (२)-बाहुबल, दूसरों के साथ मात्सर्य्य-(प्रतिद्वन्द्विता की भावना), सदा युद्ध के लिए आतुरता, लोकनीति-शास्त्रों की प्रवृत्ति, भगवान् शङ्कर तथा पार्वती की आराधनप्रियता, ये ही **दैत्यमानव** के धर्म्म हैं । (३)-योगविद्याओं में अभिरुचि-तदनुगमन, तदध्ययन, प्रकृति-भूत-विज्ञान-तत्परता, योगेश्वर विष्णु तथा योगीश्वर शिव की उपासना, ये ही **सिद्धमानव** के धर्म्म हैं । (४)-वीणावादनतत्परा भगवती सरस्वती में अनन्य भक्ति, उपास्यदेव में तल्लीनता, नृत्य-वाद्य-गायन की सतत अनुगति, ये ही **गन्धर्व्वमानव** के धर्म्म हैं । (५)-भूतविज्ञानानुगति-पौरुषानुगति-माता पार्वती की भक्ति, ये ही **विद्याधरमानव** के धर्म्म हैं । (६)-गन्धर्व्वविद्या में पारङ्गतता (सङ्गीते), शङ्कर की भक्ति, सम्पूर्ण शिल्प-कलाओं का कौशल, ये ही **किम्पुरुषमानव** के धर्म्म हैं । (७)-ब्रह्मचर्य्य-मानराहित्य-योगाभ्यास में रति-सर्वत्र कामचारित्व, ये ही **पितृमानव** के धर्म्म हैं । (८)-ब्रह्मचर्य्य-स्वल्पभोजन-मन्त्रणप्रियता-नियमानुगति-धर्म्मरहस्यज्ञानानुगति, ये ही **ऋषिमानव** के धर्म्म हैं ।

(९)--वित्तशालिता--विविध लोकभोगरति--स्वाध्यायप्रियता--शङ्करभक्ति--अहङ्कारोपसेवन--अशुचिभाव--आदि ये ही **गुह्यकमानव** के धर्म्म हैं। (१०)--परस्त्रीगमन--परधनापहरणलोलुपता--पढ़ने का व्यसन--आदि ये ही **राक्षसमानव** के धर्म्म हैं। (११)--अविवेकता--मूर्खता--अपवित्रता--मलिनता--मांसभोजनलोलुपता--आदि ही **पिशाचमानव** के धर्म्म हैं। (१२)--स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य्य, दान, यजन, उदारता, भारचिन्तापार्थक्य--दया--अहिंसा--क्षमा--शौच--इन्द्रियनिग्रह--सत्यभाषण--सदा स्वस्ति--मङ्गलपरायणता--शङ्कर--सूर्य्य--भगवती का आराधन--आदि आदि ही **मानवात्मक मानव** के धर्म्म मानें गए हैं। यों मानव प्राणभेद से १२ योनिभावों में विभक्त हो रहा है, जैसाकि राक्षसमानव सुकेशी, तथा ऋषिमानवश्रेष्ठ के निम्न लिखित प्रश्नोत्तर--प्रकरण से स्पष्ट है।

सुकेशिरुवाच—किंलक्षणो भवेद्धर्म्मः ? किमाचरणसत्क्रियः ॥
यमाश्रित्य न सीदन्ति देवाद्यास्तु, तदुच्यताम् ॥१॥

ऋषय ऊचुः—१-देवानां परमो धर्म्मः सदा यज्ञादिकाः क्रियाः ॥
स्वाध्याय-वेदवेत्तृत्वं-विष्णुपूजारतिः-स्तुतिः ॥२॥

२-दैत्यानां बाहुशालित्वं-मात्सर्य्यं-युद्धसत्क्रिया ॥
विन्दनं नीतिशास्त्राणां-हरशक्तिरुदाहृता ॥३॥

३-सिद्धानामुदितो धर्म्मो योगयुक्तिरनुत्तमा ॥
स्वाध्यायं-ब्रह्मविज्ञानं-भक्तिर्द्वाभ्यामपि स्थिरा ॥४॥

४-उत्कृष्टोपासनं ज्ञेयं-नृत्य-वाद्येषु वादिता ॥
सरस्वत्यां स्थिरा भक्तिर्गान्धर्व्वो धर्म्म उच्यते ॥५॥

५-विद्याधरत्वमतुलं विज्ञानं-पौरुषे मतिः ॥
विद्याधराणां धर्म्मोऽथ भवान्यां भक्तिरेव च ॥६॥

६-गान्धर्व्वविद्यावेदित्वं-भक्तिः स्थाणौ तथा स्थिरा ॥
कौशल्यं सर्व्वशिल्पेषु धर्म्मः कैम्पुरुषः स्मृतः ॥७॥

७-ब्रह्मचर्य्य-ममानित्वं-योगाभ्यासरतिर्दृढा ॥
सर्व्वत्र कामचारित्वं धर्म्मोऽयं पैतृकः स्मृतः ॥८॥

८–ब्रह्मचर्य्यं–यताशित्त्वं–जप्यज्ञानञ्च राक्षस ! ॥
नियमा धर्म्मवेदित्त्वमार्षं धर्म्मं प्रचक्षते ॥९॥

९–धनाधिपत्यं–भोगानि–स्वाध्यायं–शङ्करार्चनम् ॥
अहङ्कार–मशौचञ्च–धर्म्मोऽयं गुह्यकेष्विति ॥१०॥

१०–परदाराभिमर्शित्त्वं-परार्थेऽपि च लोलुता ॥
स्वाध्याय-स्त्र्यम्बके भक्तिर्धर्म्मोऽयं राक्षसः स्मृतः॥११॥

११–अविवेकता–थाज्ञानं–शौचहानि–रसत्यता ॥
पिशाचानामयं धर्म्मः-सदा चामिषगृध्नुता ॥१२॥

१२–स्वाध्यायं–ब्रह्मचर्य्यञ्च -दानं–यजनमेव च ॥
अकार्पण्य–मनायासं–दयाऽहिंसाक्षमादयः ॥१३॥
जितेन्द्रियत्त्वं–शौचञ्च–माङ्गल्यं–भक्तिरुच्यते—
शङ्करे–भास्करे–देव्यां, धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः ॥१४॥

——*——

योनयस्तु द्वादशैताः सह धर्म्माश्च राक्षस ! ॥
ब्रह्मणा कथिताः पुण्या द्वादशैव गतिप्रदाः ॥१५॥

वामनपुराण, ११ वाँ अध्याय

शास्त्रसम्मताः— मानववर्गाः

१–देवयोनिः–	देवाः—	देवधर्म्मः—	तदनुगताः–	देवमानवाः
२–दैत्ययोनिः–	दैत्याः—	दैत्यधर्म्मः—	तदनुगताः–	दैत्यमानवाः
३–सिद्धयोनिः–	सिद्धाः—	सिद्धधर्म्मः—	तदनुगताः–	सिद्धमानवाः
४–गन्धर्वयोनिः–	गन्धर्वाः—	गन्धर्वधर्म्मः—	तदनुगताः–	गन्धर्वमानवाः
५–विद्याधरयोनिः–	विद्याधराः—	विद्याधरधर्म्मः–	तदनुगताः–	विद्याधरमानवाः
६–किम्पुरुषयोनिः–	किम्पुरुषाः–	किम्पुरुषधर्म्मः–	तदनुगताः–	किम्पुरुषमानवाः
७–पितृयोनिः–	पितरः—	पितृधर्म्मः—	तदनुगताः–	पितृमानवाः
८–ऋषियोनिः–	ऋषयः—	ऋषिधर्म्मः–	तदनुगताः–	ऋषिमानवाः
९–गुह्यकयोनिः–	गुह्यकाः—	गुह्यकधर्म्मः—	तदनुगताः–	गुह्यकमानवाः
१०–राक्षसयोनिः–	राक्षसाः—	राक्षसधर्म्मः—	तदनुगताः–	राक्षसमानवाः
११–पिशाचयोनिः–	पिशाचाः—	पिशाचधर्म्मः–	तदनुगताः–	पिशाचमानवाः
१२–मानवयोनिः–	मानवाः—	मानवधर्म्मः—	तदनुगताः–	मानवमानवाः

द्वादशयोन्यनुगताः—पुराणसम्मताः—मानववर्गाः (१२)

लोकसम्मताः—शास्त्रानुमोदिता वर्गाः

लोक–भूतदृष्ट्या तु–अत्रैव पौराणिकसन्दर्भे–मानवविभागेष्वेव–एतेषामप्यन्तर्भावः— कर्त्तुं शक्यते । यथाहि—

१३–पशुयोनिः—	पशवः—	पशुधर्म्मः—	तदनुगताः–	पशुमानवाः
१४–पक्षियोनिः—	पक्षिणः—	पक्षिधर्म्मः—	तदनुगताः–	पक्षिमानवाः
१५–कीटयोनिः—	कीटाः—	कीटधर्म्मः—	तदनुगताः–	कीटमानवाः
१६–कृमियोनिः—	कृमयः—	कृमिधर्म्मः–	तदनुगताः–	कृमिमानवाः

पश्वादियोन्यनुगताः– लोकसम्मताः–मानववर्गाः (४)

सांख्यशास्त्रानुगत-चान्द्र-अष्टविध-जीवसर्गेन समतुलनम्—

[८]—ऋषियोनिः—ऋषयः—ऋषिधर्म्माः— तद्रूपाः—ब्राह्मजीवाः [१]
[३]—सिद्धयोनिः—सिद्धाः—सिद्धधर्म्माः— तद्रूपाः—प्राजापत्यजीवाः [२]
[७]—पितृयोनिः—पितरः—पितृधर्म्माः— तद्रूपाः—पैत्र्यजीवाः [३]
[१]—देवयोनिः—देवाः—देवधर्म्माः— तद्रूपाः—ऐन्द्रजीवाः [४]

चतुर्विधाः—चान्द्रजीवाः सूर्य्यानुगताः—दिव्याः [४]

[४]—गन्धर्वयोनिः—गन्धर्वाः—गन्धर्वधर्म्माः
[५]—विद्याधरयोनिः—विद्याधराः—विद्याधरधर्म्माः
} तद्रूपाः—गन्धर्वजीवाः [१]

[११]—पिशाचयोनिः—पिशाचाः—पिशाचधर्म्माः तद्रूपाः—पिशाचजीवाः [२]

[१]—दैत्ययोनिः—दैत्याः—दैत्यधर्म्माः
[१०]—राक्षसयोनिः—राक्षसाः—राक्षसधर्म्माः
} तद्रूपाः—राक्षसजीवाः [३]

[६]—किंपुरुषयोनिः—किंपुरुषाः—किंपुरुषधर्म्माः
[६]—गुह्यकयोनिः—गुह्यकाः—गुह्यकधर्म्माः
} तद्रूपाः—यक्षजीवाः [४]

चतुर्विधाः—चान्द्रजीवाः—स्वानुगताः आन्तरिक्ष्याः [४]

[१]—प्राकृताः—मानवाः— त एव—चान्द्रमानवाः—[१]

पशुजीवाः—[१]
पक्षिजीवाः—[२]
कीटजीवाः—[३]
कृमिजीवाः—[४]

चतुर्विधाः—चान्द्रजीवाः पृथिव्यनुगताः—पार्थिवाः [४]

अन्तःसंज्ञाः—अर्द्धचेतनजीवाः
असंज्ञाः—अचेतनजीवाः
} स्तम्बजीवाः—भौमाः [१]

स एष—चतुर्विंद्दशविधो भूतसर्गः

२०५-पुराणसम्मत १२ योनिसर्गों का सांख्य के ८ योनिसर्गों में अन्तर्भाव, एवं द्वादशासर्गात्मक-अष्ट सर्गों का देवभावत्त्व, अतएव सांस्कृतिकत्त्व --

पुराण नें जिन १२ योनियों का दिग्दर्शन कराया है, उन का सांख्यदृष्टि से ८ ही योनियों में अन्तर्भाव हो जाता है। सचमुच पुराणशास्त्रसम्मता धर्म्मभाषा का यह महान् कौशल है कि, उस नें जहाँ अन्य सब योनियों का संग्रह कर लिया है मानववर्ग के सम्बन्ध में, वहाँ पश्वादि चार योनिवर्गों को छोड़ दिया है। कारण स्पष्ट हैं। अवधानपूर्वक पौराणिक वर्गों को लक्ष्य बनाने पर आप को यह विदित होगा कि-सभी योनियों का येन-केन रूपेण साक्षात्-अथवा तो परम्परया देवभाव से सम्बन्ध है। दैत्य-राक्षस-पिशाच-जैसी योनियाँ भी क्रमशः-**हरशक्तिरुदाहृता, त्र्यम्बके भक्तिः**, इत्यादि रूप से शिव-शक्ति-आदि देवभावों से अनुप्राणित हैं। दैत्य-राक्षसादि मानवों की देवभक्ति के इतिहास से समाप्लुत है पुराणशास्त्र। इस देवभावानुगति से ही (जोकि आत्मानुगत मानव की मानवता का मूलाधार मानी गई है) दैत्य-राक्षसादि योनियों को भी 'मानव' के साथ समन्वित मान लिया है भगवान् व्यास ने।

२०६-पशु-पक्षी-कीट-कृमि-भेदेन चतुर्विध सर्गों की देवभाव से पराङ्मुखता, अतएव असांस्कृतिकता, एवं तदनुबन्धी आयोजनों की केवल प्राकृतता—

पशु-पक्षी-कीट-कृमि-चार पार्थिव योनियों में आते आते देवप्राण सर्वथा ही अभिभूत हो जाता है। इन चारों प्राकृतिक वर्गों में तो केवल मनःशरीर ही प्रधान रह जाते हैं। देवभाव की इस आत्यन्तिक अन्तर्म्मुखता के कारण ही पुराण नें इन चारों वर्गों के साथ 'मानव' जैसी श्रेष्ठ अभिधा का सम्बन्ध कराना धर्म्मभाषा के विरुद्ध ही अनुभूत किया, जब कि प्राकृतिक सृष्टिप्रक्रिया के माध्यम से अनुप्राणिता लोकदृष्टि से लोकभाषा-इतिहासभाषा में इन चारों वर्गों के साथ भी मानव को जोड़ा जा सकता है, दुर्भाग्यवश जुड़ता आया है इस वर्गचतुष्टयी के साथ भी मानव सम्भवतः सदा से ही। तभी तो राजर्षि मनु को मानव के सम्बन्ध में * '**पशुधर्म्मो विगर्हितः**' जैसे वाक्य का भी उच्चारण कर ही देना पड़ा। लोक में तो स्पष्ट ही-"**अरे ! तू तो पशु बन गया, क्या श्वानवृत्ति का अनुगामी बन रहा है ?, बैल है-गधा है-कीट है, कृमि है, कीड़े की मोत मर जाने वाला है,**" इत्यादि रूप से अमुक वर्ग के मानवमहानुभावों के लिए ऐसी ऐसी सम्मानित उपाधियाँ सुनीं जातीं ही हैं। कौन है-इन उपाधियों के पात्र ?। जो धर्म्मभावना से सर्वथा ही बहिर्म्मुख हैं, देवभावना से एकान्ततः ही पराङ्मुख हैं। वे हैं इन उपाधियों के प्रधानपात्र, जिन्होंनें आत्म-बुद्धि भावानुगत मोक्ष-धर्म्म-नामक दोनों पुरुषार्थों को सदा के लिए जलाञ्जलि समर्पित कर पशु-पक्षियों की भाँति मानसिक काम, एवं शारीरिक अर्थ, इन दो की तुष्टि-पुष्टि (मानसिक तुष्टि, और शारीरिक पुष्टि) को ही मानवजीवन के महान् पुरुषार्थ घोषित कर दिए हैं। और वें हैं इन उपाधियों के सम्मानित पात्र, जिन के कामपौरुष ने आत्मानुगत मोक्ष का निगरण कर लिया है, एवं जिन के अर्थपौरुष ने धर्म्म का निगरण कर लिया है। एवं इसी दृष्टिबिन्दु से कुछ और भी समझलेना है भारतीय मानव को।

---

*-अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्म्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥
—मनुः ९।६६

२०७-मानव के प्रकृत्यर्थात्मक चार पुरुषार्थ, एवं चारों के चार सामाजिक प्रतिनिधि—

मानव के आत्मा–बुद्धि–मन–शरीर–इन चार पर्वों के उपकारक क्रमशः **मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थ**–नामक चार पुरुषार्थ मानें गए हैं, जिन से भारत के आबालवृद्धवनिता–सभी वर्ग सुपरिचित नहीं, तो अपरिचित भी नहीं हैं। इन चारों पर्वों के पुरुषार्थों की पद्धतियों के संरक्षक चार सामाजिक वर्ग नियत कर दिए हैं भारतीय समाजशास्त्रियों नें, जिनका एकमात्र प्रधान उत्तरदायित्व माना गया है मानव को आत्मादि चारों पर्वों का स्वरूप–समझाते हुए चारों से अनुप्राणित मोक्षादि चारों पुरुषार्थों का स्वरूप व्यवस्थित बनाए रखना। वे ही चारों सामाजिक प्रतिनिधि क्रमशः **संन्यासी, पण्डित, वैद्य, प्राड्विवाक,** इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। आत्मानुगत मोक्ष का रहस्यद्रष्टा–वर्ग **संन्यासी** है। बुद्ध्यनुगत धर्म्म का निर्णायक वर्ग श्रौतस्मार्त–धर्म्मज्ञाता **पण्डित** है। मनोऽनुगत कामतन्त्र का व्यवस्थापक वर्ग **वैद्य** है। एवं शरीरानुगत–शरीरोपयिक अर्थतन्त्र का व्यवस्थापक न्यायशास्त्र–(कानून) का परिज्ञातृवर्ग ही **प्राड्विवाक** है।

२०८--भारतीय--धार्म्मिक जीवनपद्धति का महान् उत्कर्षात्मक दृष्टिकोण, एवं वर्त्तमान--प्रकृति--वादियों का अपकर्षात्मक दृष्टिविमोहन—

जिस मानवसमाज को आत्मनिष्ठ तपस्वी संन्यासी, तथा बुद्धिनिष्ठ धर्म्मशील पण्डित, दोनों का सहयोग प्राप्त होता रहता है, उसके मनोमय काम, एवं शरीरमय अर्थ, दोनों मोक्ष–धर्म्म–भावानाओं से धार्म्मिक बने रहते हुए कदापि उसे अर्थ–कामासक्त नहीं बनने देते। और उस अवस्था में काम, अर्थ के प्रतिनिधि वैद्य–प्राड्विवाकों के आश्रय के बहुत ही कम अवसर आते हैं। अतएव अधिक वैद्य उत्पन्न करना, अधिक औषधालय बनवाना कदापि भारतीय सामाजिक पुरुषार्थ नहीं माना गया। अपितु अधिक धार्म्मिक-भावना का विकास करना हीं यहाँ मुख्य आधार माना गया है समाज की प्रकृतिस्थता के लिए। **'रोग उत्पन्न ही न होनें देना'** हीं यहाँ का महान् कौशल रहा है। अर्थ–और कामतन्त्र को धर्म्म-नियन्त्रण से पृथक् सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र कर देने का एकमात्र दुष्परिणाम होता है मानव की मनःशरीरात्मिका प्रकृति का अमर्य्यादित बन जाना। यह अमर्य्यादा ही कामानुबन्धी विविध रोग, तथा अर्थानुबन्धी विविध–विप्लव की जननी बनती रहती है। यों पहिले तो कामार्थों को धर्म्मनियन्त्रण से पृथक् कर देना, तत्परिणाम-स्वरूप इन्हें अनर्य्यादित बन जाने के लिए एक प्रकार से स्वतन्त्र कर देना, और फिर इस स्वतन्त्रता से अवश्यंभावी सभी रोगों-विप्लवों के निरोध के लिए वैद्यप्रवाह का सर्जन करते रहना, प्राड्विवाकों की अभिवृद्धि करते रहना कदापि भारतीय दृष्टिकोण तो नहीं माना जा सकता। हॉस्पिटल बनाते जाना, तत्र रोगशय्याओं की अभिवृद्धि करते जाना, और इसी को महान् पौरुष कहते जाना कदापि भारतीव–सामाजिक–उत्कर्ष नहीं है। राष्ट्र अधिकाधिक नीरोग हो, राष्ट्र अधिकाधिक अर्थचिन्ता से मुक्त हो, राष्ट्र अधिकाधिक स्वस्थालय बनावे, न कि आतुरालय, यही यहाँ का उत्कर्ष है। और निश्चयेन यह उत्कर्ष उस दुरवस्था में अवश्यमेव अभिभूत हो जाया करता है, जब कि मानव के मनोमूलक काम, तथा शरीरमूलक अर्थ, दोनों मोक्ष–धर्म्म (आत्म–बुद्धि) के नियन्त्रण से पृथक् होकर अमर्य्यादित बन जाया करते हैं। क्या स्थिति हो जाती है इन की अमर्य्यादा से समाज की ?, प्रश्न का समाधान आज स्पष्टतम बन चुका है। यदि फिर भी सुनने की कामना है, तो यह कह देने में अणुमात्र भी संकोच नहीं किया जायगा कि—

२०९–मन के द्वारा आत्मा का, शरीर के द्वारा बुद्धि का निगरण, तदपेक्षया मोक्ष-तथा धर्म्म का अभिभव, एवं तत्स्थान में मनःशरीरप्रधान–कामार्थ का प्रभुत्व, और तत्प्रतिनिधि डाक्कर-वैरिस्टरों की महती दानपात्रता—

आज मन खागया है आत्मा को, शरीर खागया है बुद्धि को । तात्पर्य्य–मानसिक कामवृत्तियोंनें आत्मभाव को अन्तम्मुंख बना दिया है, तो शारीरिक–अर्थचिन्तानें बुद्धि के सहसद्विवेक को ढँक लिया है । सहजभाषानुसार मननें आत्मा पर नियन्त्रण कर लिया है, तो शरीर ने धर्म्म पर प्रतिबन्ध लगा दिया है । लोकैषणात्मिका मानसिक कामनानें आत्मचिन्तन का द्वार अवरुद्ध कर दिया है, तो वित्तैषणात्मिका शारीरिक लालसा ने धर्म्मचिन्तन को अभिभूत कर लिया है । लोकैषणा ही आज मुक्ति का द्वार है, वित्तैषणा ही आज धर्म्म का स्तम्भ है । परिणामतः मोक्ष का सन्देशवाहक संन्यासी आज मृतप्राय है, धर्म्म का सन्देशवाहक पण्डित आज उपेक्षितप्राय है । समादर है आज समाज में उन दो महारथियों का हीं, जो समाज की मोक्ष–धर्म्म–शून्या प्रवृद्धतमा–अमर्य्यादिता कामार्थ–चिन्ताओं की निवृत्ति तो नहीं कर पाते । किन्तु निवृत्ति का तात्कालिक अभिनय अवश्य ही कुशलतापूर्वक कर सकते हैं, करते रहते हैं । उन्हीं दोनों सुप्रसिद्ध वर्गों का नाम आज की भाषा में है–**डॉक्टर**, और **वैरिस्टर**, जो कि प्राचीन भारत के **वैद्य** और **प्राड्विवाक** का ही सुविकसित–सुसभ्य रूप है । यही वर्गद्वयी आज समाज के लिए परमाराध्य बनी हुई है, जिस इस आराधना–कर्म्म में सफलता मिली है केवल उसी वर्ग को, जो सर्वात्मना पहिले इस वर्गद्वयी की मानसिक–शारीरिक कामार्थचिन्ताओं का पूरा पूरा समाधान कर सकने की क्षमता रखता है । अर्थात्–जो वर्ग मोक्ष–धर्म्मक्षेत्रों की भाँति किसी भी तर्क–युक्ति–हेतुवाद को उपस्थित किए बिना सर्वथा प्रणतभाव से, दीन–हीन–भाव से अञ्जलिबन्धरूपेण–श्रद्धापूर्वक इस वर्गद्वयी के प्रति इस की इच्छा के अनुरूप सर्वस्व–समर्पण करने की क्षमता रख सकता है, वह अर्थसम्पन्न वर्ग ही इन महान् अतिथियों से वर प्राप्त कर सकता है । स्पष्ट है कि, अर्थनामव्यञ्जना से भी अपरिचित अत्मच्छद्दश राष्ट्र का अधिक समूह तो अर्थाभाव के कारण इन के अनुग्रह–सहयोग से वञ्चित ही रह जाता है । अमुक सम्पन्न वर्ग के ही कामार्थस्वातन्त्र्य से उत्पन्न रोग–विप्लवों में तो इसे भी हिस्सा बँटा लेना पड़ता है, अधिक मात्रा में बँटा लेना पड़ता है अर्थाभावजनिता असुविधा के अनुग्रह से । किन्तु जब सुविधा का अवसर आता है, तो यह इस के दायविभाग से वञ्चित कर दिया जाता है । परिणाम क्या होता है अन्ततोगत्वा इस सामाजिक असन्तोष का ?, प्रश्न के यथार्थ समाधान के लिए सम्भवतः अब राष्ट्र को अधिक समय प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी ।

२१०–'उन्नति'–और–'अभ्युदय' शब्दों के तत्त्वार्थ का विश्लेषण––

जब जब समाज केवल मनःशरीरप्रधान बन जाता है, तब तब ही चार के स्थान में दो ही तो पुरुषार्थ शेष रह जाते हैं, एवं दो ही संरक्षक–रह जाते हैं । आत्मा, और बुद्धि के पराभव के साथ ही सन्यासीवर्ग, एवं पण्डितवर्ग का भी पराभव हो जाता है । मन और शरीर की उन्नति के साथ ही डॉक्टर और वैरिस्टरवर्ग भी सम्मुन्नत हो जाता है । 'उन्नति' के अर्थ से तो शब्दार्थरहस्यवेत्ता परिचित होंगे हीं । 'उत्–नति' ही उन्नति का अक्षरार्थ है, जिसका अर्थ है–भौतिक–प्राकृतिक–जड़ सभ्यता के उत्–(सर्वोच्च

शिखिर) पर पहुँचने के अनन्तर--ऊपर चढ़ कर--गिर जाने के अनन्तर भारतीय परिभाषा में तो 'बचने' के लिए केवल गरुड़पुराण ही शेष रह जाता है। सच बात है। पर्वतशिखिर से धरातल पर गिर पड़ने वाले के लिए और बच भी क्या रहता है ?। क्या बचे इस पतन के अनन्तर ?, प्रश्न का एकमात्र समाधान **'गरुड़पुराण बचे'** ही तो हो सकता है। इसीलिए तो भारतीय ऋषिप्रज्ञाने 'उन्नति' शब्द का समादर न कर उस--**'अभ्युदय'** शब्द का ही ग्रहण किया है, जो अपने--**'अभि--[सामने]--उत्--(ऊपर)--अय--[गमन]'** निर्वचन से उत्तरोत्तर निःश्रेयसभाव का ही समर्थक बना हुआ है, जिसमें कदापि किसी अवस्था में भी दुर्गति--नति--अवनति--पतन--आदि की सम्भावना भी नहीं है *।

२११-राष्ट्र के सांस्कृतिक-प्रतिनिधि-'ब्राह्मण' की करुणगाथा, एवं तन्निष्ठा पर प्रकृतिवादियों की निर्म्मम- आघातपरम्पराओं का प्रचण्ड प्रहार—

इसी प्रसङ्ग में हम अपने राष्ट्रीय--समाज के सम्मुख एक वैसी अत्यन्त--करुणापूर्णा गाथा का उद्बोधनात्मक इतिवृत्त दो शब्दों में सर्वथा प्रणतभाव से निवेदन कर ही देना चाहते हैं, जिस गाथा के बिना प्रस्तुत प्रसङ्ग अपूर्ण बना रह जाता है। गाथा आज के लिए नवीन नहीं है। आज सभी इस गाथागान में सोत्साह प्रवृत्त हैं। केवल इसकी अनुकरणात्मिका व्यञ्जना का ही यहाँ दिग्दर्शन अभीष्ट है। जैसा कि किसी पूर्व प्रसङ्ग में निवेदन किया जा चुका है, ब्रिटिश सत्ताधीशों की दृष्टि ने सूक्ष्मेक्षण के द्वारा भारतराष्ट्र की उस मौलिक धर्म्मनिष्ठा को ही सर्वप्रथम लक्ष्य बनाया, जिसका सन्देशवाहक ब्राह्मण--पण्डितवर्ग था। इसके जीवित रहते उसकी कामार्थचिन्ता का सर्वात्मना पुष्पित--पल्लवित होते रहना असम्भव था। अतवए सर्वप्रथम अपने शिक्षायन्त्र के द्वारा उसने सर्वप्रथम यहाँ की धार्मिक सामाजिक--जीवनपद्धतियों को ही जड़--भूत--विज्ञान के चाकचिक्य--प्रयोगों से मूर्खतापूर्णा--रूढ़िवादात्मिका--पद्धतियाँ कहना--कहलवाना आरम्भ कर दिया। दुर्भाग्यवश धर्म्म की मूलाधारभूता ज्ञानविज्ञानात्मिका मूलसंस्कृति के स्वरूपबोध से यहाँ का पण्डितवर्ग शताब्दियों से पराङ्मुख बना चला आरहा था। अतएव अपने धर्म्म का, सामाजिक जीवनपद्धतियों के नित्यविज्ञानरहस्य का परिचय देने में यह असमर्थ ही बना रह गया। और यों विज्ञानाभासरूप भूतविज्ञान की चकाचौंध ने इसे हतप्रभ ही कर डाला। परिणाम यह हुआ कि, उन चाणाक्षचतुरों की शिक्षा से दीक्षित स्वयं--भारतीय ही धार्मिक जीवनपद्धतियों के, एवं तत्सहैव तत्सन्देशवाहक नवशिक्षित धर्म्मभीरु भावुक-वर्ग ब्राह्मणवर्ग के प्रति न केवल निरपेक्ष--तटस्थ ही बन गए। अपितु प्रचण्डरूप से अशिष्टता--अभद्रता--पूर्वक विरोध करते रहना भी तच्छिक्षादीक्षितों का महान् पौरुष बन गया। यह पौरुष आगे जाकर तो इस जघन्यता में परिणत होगया कि, राष्ट्र की परतन्त्रता के मूलकारण भी ब्राह्मण, ब्राह्मणों का वर्गवादात्मक धर्म्म, रुढ़ि--आदि ही प्रमाणित किए जाने लगे। परिणामस्वरूप यदि किसी ने भूले--भटके कभी ब्राह्मण से, तत्प्रदर्शित धर्म्म--कर्म्म से सम्पर्क स्थापित कर भी लिया, तो उसे पोंगापन्थी--पुराणपन्थी--रुढ़िभक्त--अन्धभक्त--आदि आदि उपाधियों से सुविभूषित करने में भी इस नवीनवर्ग ने महान् पौरुष ही प्रदर्शित कर डाला।

---

*-न हि कल्याणकृत् कश्चित्--दुर्गतिं तात ! गच्छति।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

२१२–बहिर्भावुक, किन्तु अन्तर्निष्ठ ब्राह्मण के द्वारा सांस्कृतिक–सूत्रों की उच्चारणानुगति, एवं तद्द्वारा ही सांस्कृतिक–परम्पराओं का संरक्षण—

बहिर्भावुक, किन्तु सांस्कृतिक–परम्परा के अप्रत्यक्ष–मूलस्रोत–प्रवाह के अनुग्रह से अन्तर्निष्ठ भी ब्राह्मण इस भूताक्रमण का समाधान तो न कर सका। दूसरे शब्दों में ज्ञानविज्ञानात्मक समाधान से पराङ्मुख ब्राह्मण तर्कवादी इन नवीन सभ्यों–शिक्षितों का सन्तोष तो न करा सका। किन्तु स्वयं निष्ठापूर्वक यह गिरता–पड़ता–पिटता–कुटता–रोता–हुआ भी संस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठित धार्मिक सूत्रों का उच्चारण अवश्य करता रहा। सत्तातन्त्र से उपेक्षित इस निरीह ने केवल अपनी आस्था के बल पर सम्पन्न–वणिक्–वर्ग का आश्रय लिया एकमात्र धर्म्मसूत्र–प्रतिष्ठा–कामना से। इसकी इस कामना का अर्थ समझा जाने लगा आगे जाकर इसकी भिक्षावृत्ति। शरीर तो इसके भी था, मन भी था ही। अतएव तदनुबन्धिनी आवश्यकताओं के उत्पीड़न ने विवश भी बना रक्खा था भिक्षावृत्ति के लिए इसे। किन्तु कदापि इसने कोट्यधीश–लक्षाधीश बन जाने की कल्पना न की, जब कि थोड़ी जघन्यता से, बर्बरता से, दानवता से अमुक तन्त्रों की उपासना के द्वारा यह भी इस दिशा में अन्यों की भाँति सफलता प्राप्त कर सकता था। आलोचक कहते हैं–ब्राह्मण कभी व्यवसाय में सफल हो ही नहीं सकता। हम इसी आलोचना को तो ब्राह्मण की जीवननिष्ठा का मूलस्तम्भ मानते हैं। यही तो ब्राह्मण की महती योग्यता है कि, वह अमुक तन्त्रों से युक्त व्यवसाय कर ही नहीं सकता। करता है, तो सफल नहीं हो सकता। और यही इसका जन्मसाफल्य है।

२१३–सर्वतः उत्पीड़ित–अवमानित भी राष्ट्रीय ब्राह्मण की संस्कृतिनिष्ठा का गौरवपूर्ण इतिहास, एवं तद्द्वारा ही भारतीय संस्कृति का अद्यावधि–पर्य्यन्त संरक्षण—

हाँ, तो किसी भी निमित्त से सही ही–शताब्दियों से उत्पीड़ित–अवमानित-प्रतारित–भर्त्सित-पददलित–क्षतविक्षत–दीन–हीन–मलिन भी राष्ट्र के इस ब्राह्मण ने सब कुछ सहते हुए भी, न–न कहने–वालों के द्वारा अवरुद्ध बने रहते हुए भी धर्म्मसूत्रों के पारायणव्यासङ्ग का कभी परित्याग न किया। यही भारतराष्ट्र के इस भूदेव की वह करुण–गाथा है, जिसके अनुग्रह से ही आज भी हमें राष्ट्रीय संस्कृति के चिरन्तन–शाश्वत सत्य के दर्शन का महद्भाग्य प्राप्त हो रहा है। पूजन–पाठ–वरण–ग्रहशान्ति–विवाह–यज्ञ–व्रत–कथा–आदि की परम्पराओं को सतत–प्रक्रान्त रखते रहने वाले इस अपमानित भूदेव के अनुग्रह से ही इन परम्पराओं के गर्भ में ही संस्कृति का बीज आजतक सुरक्षित रहता चला आ रहा है, जिसके लिए राष्ट्रीय समस्त प्रज्ञाशील–मानवों को तो अवनतशिरस्क बन कर कृतज्ञ ही बना रहना पड़ेगा इस भूदेव के प्रति निरपवादरूप से ही। क्या कोई दूसरा वर्ग ऐसी करुण–स्थिति में आकर यों धर्म्मनिष्ठा पर सुदृढ़ बना रह सकता था ?, किंवा बना रहा है चिरन्तन ऐतिहासिक पृष्ठों पर ?। गाथा अवश्य करुणापूर्णा है। इसे सुन कर इच्छा हमारी भी यही हो रही है कि, राष्ट्रीय ब्राह्मण को इस पथ से पृथक् ही बन जाने की प्रार्थना करदी जाय ?। किन्तु नहीं। हमारे सम्मुख वह महान् धर्म्मसूत्र जागरूक है, जिस–'**सम्मानात्–नित्यमुद्विजेत ब्राह्मणो विषादिव**' इस सूत्र की विद्यमानता में अपमान सहते हुए भी तत्प्रार्थना से हम अपने आपको

प्रायश्चित्त के भागी नहीं बना सकते। हाँ, यह प्रार्थना अवश्य की जा सकती है कि, जिस अभाव ने इस प्रकार के उत्पीड़न–पथों का सर्ज्जन कर डाला है, उस अभाव को अवश्य ही शीघ्र से शीघ्र पराभूत कर देना चाहिए इस भूदेव को, जिस 'अपमानपराभूति' का एकमात्र राजपथ है–'**ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा–मूल–संस्कृति**' के स्वाध्याय में अनन्यनिष्ठा से प्रवृत्ति।

२१४–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–भारतराष्ट्र की प्रज्ञा से किञ्चिदिव सामयिक आवेदन—

साथ ही तथाविधा करुणगाथा के सर्ज्जक–महानुभावों से भी हम करबद्ध यह आवेदन कर देना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य ही मानेंगे कि, जब ब्रिटिशसत्ता के वारुणपाश से राष्ट्र उन्मुक्त होगया, जबकि महद्भाग्य से राष्ट्र सर्वतन्त्र–स्वतन्त्रबन गया, तो अब तो ब्रिटिशसत्ता के द्वारा एकमात्र दासताभिवृद्धि के लिए प्रवृत्त अनुकरण–भावों का हमें परित्याग कर ही देना चाहिए। न आज सत्ता 'पर' है, न ब्राह्मण 'पर' है। सभी समानबन्धु हैं। सभी प्रज्ञाशील हैं, सारासारविवेकी हैं, राष्ट्रहितचिन्तक हैं। इस चिन्तननिष्ठा के द्वारा ही सम्पूर्ण तथ्यों का मूल्याङ्कन स्वदर्शनदृष्टि से कर ही लेना चाहिए एक बार हमें। तदनन्तर ही आलोचना–प्रसङ्गों की कल्पना में आना चाहिए। उन्होंनें जो कह दिया था, सिखा दिया था, यदि वही आज भी हम कहते रहे, सिखाते रहे, तो यह तो स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए ब्राह्मण की करुणगाथा से भी कहीं अधिक भयानक वैसी करुणगाथा प्रमाणित हो जायगी, जिससे शताब्दियों पर्य्यन्त राष्ट्रप्रजा उन्मुक्त न हो सकेगी। कदापि अब हमें भूल देखनें में भूल नहीं कर बैठना चाहिए। यदि अब भी–भूल देखने में राष्ट्र भूल कर बैठा, तो सचमुच राष्ट्र को पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा भूतवत् आगामिनीं अनेक शताब्दियों पर्य्यन्त।

२१५–पर्व–उत्सव,–सम्मेलन–समारोह–नामक भारतीय चतुर्विध सांस्कृतिक–आयोजनों की (प्रत्येक की) सर्वात्मकता (पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता) का समन्वय—

प्रकृतमनुरामः। पुराण के आधार पर मानव के जो १२ वर्ग व्यवस्थित हुए हैं, उनका अमुक अन्तर्भाव से सांख्यसम्मत भूतसर्ग के साथ भी समतुलन हो रहा है, यह निवेदन किया जा चुका है। इसी को आधार मान कर उस सूक्ष्मभेद का समन्वय प्रतिज्ञात बना था पूर्व में, जिसके माध्यम से ही पुरातन सांस्कृतिक–आयोजन, एवं वर्त्तमान प्राकृतिक आयोजन के समानरूपात्मक बाह्यस्वरूप का समतुलन हुआ था।

ब्रह्मा, प्रजापति, पितर, इन्द्र, इन चार तत्त्वों के साथ क्रमशः **ब्राह्म–प्राजापत्य–पैत्र्य–ऐन्द्र**– इन चतुर्विध उन चान्द्रजीवों का क्रमिक सम्बन्ध है, जो चान्द्र बनते हुए भी सौर–अमृतभावानुबन्ध से दिव्य–सौरवर्ग प्रमाणित हो रहे हैं। स्वायम्भुव प्राण ही '**ब्रह्मा**' है, यह ऋषिमूर्त्ति है। 'प्राण' ही ऋषि कहलाया है। यही ब्राह्मजीवों का मूलाधार बनता है। पारमेष्ठ्य आपः ही '**प्रजापति**' है। यही प्राजापत्यजीवों का मूलाधार बनता है। पारमेष्ठ्या सौम्या वाक् ही 'पितर' है *, यही पितृवाक् '**सुब्रह्मण्यावाक्**' कहलाई है।

---

* पितरो वाक्यमिच्छन्ति, भावमिच्छन्ति देवताः।

तद्रूप वाङ्मय पारमेष्ठ्य पितर ही पैत्र्यजीवों का मूलाधार है। बृहतीवाग्रूप–सौर–अमृतप्राण ही **'इन्द्र'** है, एवं यही ऐन्द्रजीवों का मूलाधार है। यों स्वायम्भुव ब्रह्मा, पारमेष्ठ्य–आपोमय प्रजापति, सौम्यपितर, सौर इन्द्र- ये चारों अमृत देवता ही सूर्य्यानुगत **ब्राह्म–प्राजापत्य–पैत्र्य–ऐन्द्र**–इन चार चान्द्रजीवसर्गों के मूलाधार बने हुए हैं। इन चारों हीं चान्द्रदेवों का मानव की अध्यात्मसंस्था में भी भोग हो रहा है, जिस भोग का वही विस्तारक्रम है, जो व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–रूप से पूर्व में विभिन्न तालिकाओं के द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है। मानवीय भूतात्मा ब्रह्मभावात्मक है, मानवीया बुद्धि प्रजापतिभावात्मिका है, मानवीय मन × पितृभावात्मक है, एवं मानवीय शरीर वासवेन्द्रभावात्मक है। ये ही चारों वैय्यक्तिकभाव परिवारसंस्था में तद्रूप से क्रमशः व्यवस्थित हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है। यही वह सूक्ष्मभेद है, जिसके माध्यम से ब्रह्मभावानुगत–ब्राह्मजीवानुग्रहीत–**पर्वायोजन**, प्रजापतिभावानुगत–प्राजापत्यजीवानुग्रहीत **उत्सवायोजन**, पितरभावानुगत–पैत्र्यजीवानुग्रहीत **सम्मेलनायोजन**,एवं इन्द्रभावानुगत–ऐन्द्रजीवानुग्रहीत **समारोहायोजन**, ये चार भारतीय सांस्कृतिक आयोजन व्यवस्थित हुए हैं, जो इत्थंभूत सांस्कृतिक–सूक्ष्मसमन्वय सूक्ष्मा–पुराणी–सांस्कृतिकी–चिन्तनशीला–चिरन्तनप्रज्ञा का ही विषय माना जायगा। कदापि भूतदृष्टिलक्षणा बाह्यदृष्टि से यह सूक्ष्मेक्षण सम्भव नहीं है।

× **मन इव वै पितरः**

तान्येतानि–देवभावानुगतानि–भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनानि–चान्द्रभावानुगतानि–मनःशरीरात्मकान्येव

ऐन्द्रायोजनानि–समारोहात्मकानि वैय्यक्तिकानि

१—भूतात्मा—ब्रह्मा——ब्राह्मजीवः— } पर्व
२—बुद्धिः—प्रजापतिः—प्राजापत्यजीवः } उत्सवः
३—मनः——पितरः—पैत्र्यजीवः— } सम्मेलनम्
४—**शरीरम्—इन्द्रः——ऐन्द्रजीवः— } समारोहः**

१
} समारोहायोजनम्–सर्वात्मकम्–वैय्यक्तिकम्
(बालभावप्रधानम्)

पैत्र्यायोजनानि–सम्मेलनात्मकानि पारिवारिकानि

१—कुलवृद्धः—ब्रह्मा——ब्राह्मजीवः— } पर्वः
२—युवापुत्रः——प्रजापतिः–प्राजापत्यजीवः } उत्सवः
३—**नारी——पितरः—पैत्र्यजीवः– } सम्मेलनम्**
४—बालः———इन्द्रः——ऐन्द्रजीवः– } समारोहः

२
} सम्मेलनायोजनम्–सर्वात्मकम् पारिवारिकम्
(नारीभावप्रधानम्)

प्राजापत्यायोजनानि–उत्सवात्मकानि सामाजिकानि

१—ब्राह्मणः—ब्रह्मा——ब्राह्मजीवः—— } पर्व
२—**क्षत्रियः—प्रजापतिः–प्राजापत्यजीवः } उत्सवः**
३—वैश्यः—पितरः—पैत्र्यजीवः— } सम्मेलनम्
४—शूद्रः—इन्द्रः——ऐन्द्रजीवः—— } समारोहः

३
} उत्सवायोजनं–सर्वात्मकम् सामाजिकम्
(युवाभावप्रधानम्)

ब्राह्मायोजनानि–पर्वात्मकानि राष्ट्रीयानि

१—प्रजातन्त्रम्——इन्द्रः——ऐन्द्रजीवः } समारोहः
२—गणतन्त्रम्——पितरः——पैत्र्यजीवः } सम्मेलनम्
३—अनुशासनतन्त्रम्–प्रजापतिः–प्राजापत्यजीवः } उत्सवः
४—**नीतितन्त्रम्——ब्रह्मा——ब्राह्मजीवः— } पर्व**

४
} पर्वायोजनं–सर्वात्मकं—राष्ट्रीयम्
(कुलवृद्धभावप्रधानम्)

२१६–भारतीय–चतुर्विध–आयोजनों का देवभावत्त्व—

चान्द्र–सत्त्वभाव चार देवभागों से समन्वित, अतएव तदनुबन्धी चार ही चान्द्र–देव-सर्ग। अतएव तदनुबन्धी–(मनोऽनुबन्धी) देवभावात्मक आयोजन भी चतुर्विध ही। यही भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों के चातुर्विध्य की मूलप्रतिष्ठा है। अवश्य ही वर्त्तमान आयोजनों की हीं भाँति इनमें भी मनः–शरीरानुबन्धी–नृत्य–गीत–वाद्यादि सभी व्यासङ्ग सर्वात्मना–सोल्लास समाविष्ट हैं। किन्तु इनका मूल देवभाव है। अतएव सब आयोजन देवभाव में हीं श्रद्धापूर्वक समर्पित हैं। अतएव च ये मर्य्यादित बने रहते हैं। और यही भारतीय आयोजनों की देवभावानुगता सांस्कृतिकता है। पूर्वप्रदर्शित–पुराणसम्मत–ऋषि (ब्रह्मा)-सिद्ध (प्रजापति)–पितृ–देव (इन्द्र)–नामक चारों योनियों का भी सांख्यसम्मत सत्त्वविशाल ब्राह्म–प्राजापत्य–पैत्र्य–ऐन्द्र–इन चार जीवसर्गों में हीं अन्तर्भाव है।

२१७–गन्धर्व–पिशाच–राक्षस–यक्ष–प्राणानुबन्धी लौकिक आयोजनों की स्वरूप-दिशा का वेतालचेष्टित–समन्वय—

यह तो हुई उस मनःशरीरयुग्म की व्याख्या, जिसका उक्त चार चान्द्रसर्गों से सम्बन्ध है, जिनमें सत्त्व-गुण प्रधान है। अतएव सत्त्वानुबन्धी देवभाव ही जिनमें प्रधान बनें हुए हैं। अब उस दूसरे मनःशरीरयुग्म की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसके साथ क्रमशः गन्धर्व–पिशाच–राक्षस–यक्ष–इन चार चन्द्रसर्गों का सम्बन्ध है। इन्हें ब्राह्मादि सर्गापेक्षया रजोविशाल कहा जायगा, जिसका अर्थ होगा सत्त्व–रजोमय। रज की प्रधानता, सत्त्व की आंशिकता ही इन चारों का स्वरूप होगा। इस आंशिक सत्त्वभाव के कारण हीं पुराण नें इन राक्षस–पिशाचादि के साथ त्र्यम्बक–शक्ति–महेशादि देवभावों का सम्बन्ध स्वीकार किया है, जैसाकि तत्रैव स्पष्ट किया जा चुका है। इच्छा थी कि, वर्त्तमान–आयोजनों का इस विभाग में हीं, अन्तर्भाव कर लिया जाता। किन्तु प्रयास करने पर भी हम इस द्वितीय समन्वय में सफल नहीं हो रहे। क्योंकि वर्त्तमान आयोजनों में प्रयास करने पर भी हमें किसी भी प्राकृतिक–प्राणदेवता की भावना उपलब्ध ही नहीं हो रही। जबकि इनमें अंशतः भी देवभावना नहीं है, तो कदापि इनके साथ ब्रह्म–देवानुगत 'सम्' उपसर्ग समन्वित नहीं हो सकता। अतएव इस मध्यस्थ युग्म की दृष्टि से भी इन्हें 'संस्कृति' शब्द का सम्मान नहीं किया जा सकता। पुराणशास्त्रानुसार **गन्धर्व–विद्याधर–पिशाच–दैत्य–राक्षस–किंपुरुष–गुह्यक** इन स्थानों का सांख्यशास्त्रानुगत १–गन्धर्व [**गन्धर्व, और विद्याधर**], २–पिशाच, ३–राक्षस [**दैत्य, और राक्षस**], ४–यक्ष [**किंपुरुष, और गुह्यक**], इन चार सत्त्वरजोविशाल सर्गों में ही अन्तर्भाव हो रहा है। प्रथम युग्मानुगत पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहात्मक–चतुर्विध–सांस्कृतिक–आयोजनों के साथ साथ चतुर्विध गन्धर्वादि–आयोजन भी समन्वित हो रहे हैं। वृक्षादिभुक्त गन्धर्व–पूजन, राक्षसपूजन, पिशाचतुष्टि, यक्षपूजन–आदि भी भावुक मानवों की मान्यता से अनुप्राणित रहते हुए यथाकथंचित भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं में संग्रहीत हो रहे हैं, जोकि निष्ठा की दृष्टि से तो उपेक्षणीय ही माने गए हैं। वर्त्तमाम सिद्धों की सिद्धियों का एकमात्र यही मापदण्ड है, जिसे आज की भाषा में **चमत्कार** कहा जाता है, एवं जिन चमत्कारों के प्रलोभनों से आज की आत्मस्वरूपविमूढा जनता निर्लक्ष्या बन कर अध्यवसायनिष्ठा से पराङ्मुख हो चली है। वह आज इन चमत्कारों से ही सभी विभूतियाँ प्राप्त कर लेना चाहती है, जबकि इन यक्ष–राक्षस–पिशाच–गन्धर्वादि भावों का आत्म–बुद्धि–विभूतियों से स्वाप्निक सम्पर्क भी तो नहीं है। इसी आधार पर भगवान् को यह कहना पड़ा है कि—

यजन्ते सात्त्विका देवान्–(पर्वोत्सवादि-आयोजनेभ्यः)—
यक्ष–रक्षांसि–राजसाः (विविधबलिप्रदानेन)
प्रेतान्–भूतगणाँश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं, तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

—गीता १७ अ०।४,५,६,।

२१८–तान्त्रिक चमत्कार--सिद्धि--व्यामोहनों के अकाण्डताण्डव, एवं तत्परित्राणोपाय-प्रदर्शन—

मनोवशवर्त्ती–अशुचिभावापन्न–चान्द्रमानव, सूर्य्यविरोधी धामच्छद–पारदर्शकताप्रतिबन्धक–अत्रिप्राण से समन्विता मलीमसा (ऋतुमती) आत्रेयी नारी, षोडशवर्ष से पूर्व का अपरिपक्व–मानसमूर्त्ति बालक, आदि आदि शिथिल क्षेत्र ही इन गन्धर्व–राक्षस–पिशाच–यक्ष–नामक चान्द्रप्राणों के अधिष्ठान बन जाया करते हैं, जिन के निरोध के लिए ही महर्षि चरक को–'भूतोपशमनीयाध्याय' की स्थापना करनी पड़ी है। जादू–टोना–भूतावेश–आदि–आदि त्राटकों–यामलों–जारण–मारण–मोहन–उच्चाटनादि मलीमस–भावों का भी इसी चान्द्रप्राणचतुष्टयी से सम्बन्ध है, जिसका सौर आत्मबुद्धिनिबन्धन निष्ठाक्षेत्र में आकर उसी प्रकार सर्वात्मना अभिभव ही हो जाता है, जैसे कि सूर्य्य–सत्ताकाल में चन्द्रमा सर्वथा निष्प्रभ–निस्तेज–निष्प्राण बन जाया करता है। प्राजापत्या–संस्कृतिनिष्ठा–आचारात्मिका–शास्त्रीय–निष्ठाओं के अन्तर्मुख बन जाने के कारण हीं इन चान्द्री भूत–प्रेतादि भावुकताओं के द्वारा वञ्चक लोगों नें राष्ट्र के भावुक चान्द्र मानवों को, सौम्य नारी–बाल्लवर्ग को अपनी वञ्चकता के केन्द्र बना लिया है, एवं यही वञ्चनापूर्ण पथ आज के सन्तों–सिद्धों–तान्त्रिकों–की सिद्धियों–चमत्कारों का एकमात्र महान् पथ बना हुआ है, जिसे शास्त्रीय निष्ठाबल के द्वारा शीघ्र से शीघ्र यातयाम बना देने से ही राष्ट्र की संस्कृति का पुनर्जागरण सम्भव है। होतीं हैं ये योनियाँ अवश्य हीं। प्रकृति के साम्राज्य में सभी कुछ है। किन्तु कदापि इन के व्यामोहनपाश में आबद्ध नहीं हुआ जाता। प्राकृतिक–व्यामोहनों से परित्राण करते हुए अमृतत्त्वलाभ करना हीं तो संस्कृति–धर्म्म–निष्ठा का एकमात्र महान् उदर्क है। कदापि धार्म्मिक–सात्विक–देवमानवों का इन प्राकृतिक–मलीमस–गन्धर्वादि योनिभावों से, एवं अन्यान्य प्राकृतिक व्यामोहनों से कोई अनिष्ट नहीं होसकता। प्राणात्मिका भूतबाधाएँ, तथा भूतात्मिका भूतबाधाएँ कामार्थपरायण–असंस्कृत–अधार्म्मिक–मलीमस–चान्द्रमानवों को ही अपनी आश्रयभूमि बनाने में समर्थ हुआ करतीं हैं। कालान्तर में यह आश्रयभूमिता आश्रितभाव में हीं परिणत हो जाती है। स्वय ये चान्द्रमानव उस सीमापर्य्यन्त मलीमस बन जाते हैं, जिस सीमा पर पहुँचने के अनन्तर ये स्वयं तद्योनिभावों से ही अभिन्न बन जाते हैं। जिसप्रकार श्मशान के प्रेतरूप श्वान में, तथा प्रेत में कोई अन्तर नहीं रहता। तथैव गन्धर्वादि योनियों में, एवं आत्मबुद्धिविमूढ़ ऐसे चान्द्रमानवों में भी कोई अन्तर

नहीं रह जाता। जिसप्रकार कोमलसत्त्व मानवों को गन्धर्वादि उत्पीड़ित करते रहते हैं, एवमेव तद्रूप ऐसे चान्द्रमानवों से भी कोमलप्रज्ञ उत्पीड़ित बने रहते हैं, जिन से आत्मत्राण करने का एकमात्र उपाय संस्कृतिनिष्ठा ही माना गया है। जबतक सांस्कृतिक, निष्ठात्मक सूर्य्य का उदय नहीं हो जायगा, तबतक तो ये चान्द्र–भूत–वेतालगण अपने ताण्डवनृत्यों से सत्त्वशीला भावुकप्रजा को यों हीं उत्पीड़ित करते ही रहेंगे।

२१९–'पशु' शब्द का चिरन्तन-इतिहास, एवं तत्प्रेमी प्राकृत-मानव—

गन्धर्वादि-भेदभिन्न चान्द्रसर्ग के अनन्तर क्रमप्राप्त वह तीसरा मनःशरीरयुग्म हमारी दृष्टि के सम्मुख उपस्थित होता है, जिसका पृथिव्यनुगत, अतएव 'पार्थिव' नामक चान्द्र तमोविशालसर्ग से सम्बन्ध है, जिसके कि **'पशु–पक्षी–कीट–कृमि'** भेद से चार मुख्य जातिवर्ग हैं। सर्वान्त के भौमसर्ग की अपेक्षा यह युग्मसर्ग जहाँ रजोविशाल माना जायगा, वहाँ अपने से ऊपर के गन्धर्वादिसर्गापेक्षया इसे तमोविशाल ही कहा जायगा। अतएव तृतीय युग्मानुगत इस सर्ग को **'रजस्तमोविशाल'** सर्ग माना जायगा। द्रष्टृत्त्वधर्म्म है–आत्मा, और देवता का। दृश्यत्त्वधर्म्म है आत्मदेवता के द्वारा देखे जाने वाले भौतिकजगत् का। देखने वाला ही **'द्रष्टा'** है, देखा जाने वाला ही **'दृश्य'** है। आत्मानुगत देवता द्रष्टा हैं, तो अनात्म–अदेवभावात्मक मर्त्य–भूत दृश्य हैं। प्रजापति नें (देवसमष्टिरूप मनःप्राणमय प्रजापति ने, आत्माने) हीं सर्वप्रथम इस मर्त्य भूत को देखा, अतएव **'यदपश्यत्'** निर्वचन से इस मर्त्य–आत्मदेवभावशून्य भूतविवर्त्त का नाम हो गया 'पशु,' जिसके पशु–पक्षी–कीट–कृमि-ये चार अवान्तर विवर्त्त हो जाते हैं। चारों का सामान्य नाम जहाँ–'यदपश्यत्' निर्वचन से * पशु है, वहाँ विशेषभेदानुबन्धी नाम पशु–पक्षी–कीट–कृमि हैं। यही वह चान्द्र तृतीय सर्ग है, जिसे तालिका में हमनें सांख्यदृष्टया 'तमोविशालसर्ग' कहा है। एवं जिसका पुराणशास्त्र ने आत्मदेवभावानुबन्धी मानवसर्ग से पार्थक्य करते हुए धर्म्मकोटि से बहिष्कार ही कर दिया है। आत्म–देव–भाव की आत्यन्तिक अभिभूति ही इस वर्गचतुष्टयी की धर्म्म–बहिष्कृतता का मुख्य कारण हैं, जब कि आत्म–देवभावात्मक धर्म्म के अतिरिक्त अन्य मानसिक–शारीरिक भावों की दृष्टि से मानव में, तथा चतुर्विध–इस पशुसर्ग में कोई विशेष भेद नहीं है, जैसा कि–**'सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्'—'धर्म्मो हि तेषामधिको विशेषः,–धर्म्मेण हीनाः पशुभिः-समानाः'** इत्यादि से स्पष्ट है।

२२०–सत्त्वरजस्तमोगुणतारतम्यानुपात से अनुप्राणित चान्द्र-पार्थिव चतुर्विध सर्गों के इतिवृत्त का उपराम—

अब सर्वान्त में केवल एक युग्म शेष रह जाता है, जिस में यद्यपि सूक्ष्मरूप से सुप्त–मन अवश्य है। अतएव इसे भी 'मनःशरीरयुग्म' अवश्य मान लिया जा सकता है। तथापि शरीर की ही इस चतुर्थ वर्ग में

***–प्रजापतिरग्निरूपाण्यभ्यध्यायत्। स योऽयं कुमारो रूपाण्यनुप्रविष्ट आसीत्–तमन्वैच्छत्। सोऽग्निरवेत्-अनु वै मा पिता प्रजापतिरिच्छति-इति। हन्त तद्रूपमसानि, यन्म एष न वेद-इति। स एतान्येव पञ्च पशूनपश्यत्। यदपश्यत्–तस्मादेते पशवः।**

(शत० ब्रा० ६।१।१,१,२,)

क्योंकि प्रधानता है, अतएव इसे अचेतन–जड़–भूतसर्ग–(अमनस्कसर्ग) ही कहना अनुरूप होता है। यों मनःशरीरनिबन्धन चान्द्र–पार्थिव–प्रकृतिभावों से अनुप्राणित सत्त्व–रज–स्तमोगुण–भावों के तारतम्य से चान्द्र–पार्थिव–सर्गों के चार मुख्य वर्ग हो जाते हैं, जिन चारों प्राकृतिक–वैकारिक–कर्त्तव्यकलापों को मनःशरीर-धर्म्मों की अमुक समानता से हम प्राकृतिक–मानसिक–शारीरिक–आयोजन कह सकते हैं।

२२१–महान् मानव की सहजसिद्धा आत्मनिष्ठा का वैकारिक–विजय, एवं अन्ततोगत्त्वा स्वयं मानव की आत्मनिष्ठा से ही इन का महान् उद्बोधन—

विषय प्रकृति के सूक्ष्म सर्गों से अनुप्राणित है। अतएव थोड़ा दुर्बोध्य प्रमाणित हो रहा है। विशेषतः आज तो यह दुर्बोध्यता अवश्यमेव समादरणीया बन रही है, जिस आज के भौतिक युग में मानव का एकमात्र लक्ष्यबिन्दु जड़–भूतजगत् ही बनता जा रहा है, किंवा बन चुका है। अतएव इस के लिए तो यह सामान्य सा भी वर्गीकरण अवश्यमेव दुर्बोध्य–प्रमाणित हो सकता है। यह सब कुछ मान लेने पर भी हमें मानव के उस अन्तर्निगूढ सुगुप्त आत्मबुद्धि-रूप नैष्ठिक स्वरूप पर पूर्ण आस्था है, जिसके सम्मुख ऐसी दुर्बोध्यता का कोई भी महत्त्व शेष नहीं रह जाता। मानव सभी युगों में अपने अन्तर्जगत् से सदा ही मानव ही है, आत्म-बुद्धिनिष्ठ ही है, भले ही मनःशरीरनिबन्धना इसकी बाह्या भूतप्रकृति–भूतसंस्था युगधर्म्मानुपात से किसी भी युग्म को अपना ले। यही कारण है कि, आत्मभाव–पुण्य–धर्म्म–सत्त्वगुण–आदि आदि दैवीविभूतियाँ हीं मानव को अपनी ओर सदा ही आकर्षित करतीं रहतीं हैं। इसी आकर्षण से मानव सदा ही अपने आप को श्रेष्ठ–उत्तम–मानने–मनवाने के लिए ही इच्छुक बना रहता है। सदाचार–सन्निष्ठा–धर्म्म–आत्मदेवसंस्कृति–आदि ही मानव के अभीप्सित विषय बने रहते हैं। एक प्रचण्ड दुर्दान्त डाकू भी अपने आपको पुण्यात्मा कहलाने में सुनने में प्रसादगुण का अनुभव करता है। पापी–दुराचारी–हीनकर्म्मा–मदान्ध–आदि आदि निकृष्ट उपाधियों से तथाविध पापात्मा–दुराचारी–मानव भी अपने अन्तर्जगत् (एवं बाह्यजगत् में भी) घृणा ही अनुभूत करते रहते हैं। इसलिए कि, ये सब अनाचार मानव की अपने आत्मदेवानुबन्धिनी मानवता–मानवधर्म्म के सर्वथा विपरीत तत्त्व हैं। अतएव स्पष्ट प्रमाणित है कि, प्राकृतिक–वैकारिक, अथवा तो भौतिक–किसी भी क्षेत्र में भावुकतावश आत्मबुद्धिविमूढ–मानव पहुँच भले ही जाय। किन्तु सभी अवस्थाओं में उस की आत्मानुगता मानवता भी येनकेनरूपेण इस में सुरक्षित बनी ही रहती है। सहजभाषा में मानव मानव ही है अन्ततोगत्त्वा। अतएव प्रकृति का दुर्बोध्यस्वरूप जहाँ प्राकृत प्राणियों के लिए दुर्बोध्य बना रहता है, वहाँ प्रकृतिविजेता मानव के आत्मानुगत पौरुष के सम्मुख तो इस प्रकृति की दुर्बोध्यता का कोई भी महत्त्व शेष नहीं रह जाता।

२२२–चान्द्र–पार्थिव–सर्गों की दुर्बोध्यता, एवं प्रकारान्तर से तत्समन्वयचेष्टा—

प्राकृतिक व्यामोहन से सम्बन्ध रखने वाली प्राकृतिक जीवसर्गों की दुर्बोध्यता का अब एक दूसरे दृष्टि-कोण से भी समन्वय कर लीजिए, जिससे दुर्बोध्यता सुबोधभाव में परिणत हो सकती है। एक ओर चन्द्रमा

को प्रतिष्ठित कर दीजिए, तो दूसरी ओर उस भूपिण्ड को प्रतिष्ठित मान लीजिए, जिसके पृष्ठ पर आप–हम–पशु–पक्षी–आदि आदि सभी स्थावर–जङ्गम प्राणी स्वच्छन्द विचरण करते रहते हैं। चन्द्रमा भी एक पिण्ड है, भू भी एक पिण्ड है। ये दोनों हीं पिण्ड अपना अपना एक स्वतन्त्र प्राणमण्डल बनाते हुए अपने अपने प्राणमण्डल के केन्द्र में प्रतिष्ठित होकर ही अपने अपने दक्ष–अक्ष–क्रान्ति–आदि वृत्तों पर नियतरूप से परिक्रमा लगा रहे हैं। चन्द्रमा दक्षवृत्त पर भूपिण्ड के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं, तो अपने अक्षवृत्त पर अहोरात्र में परिभ्रममाण भूपिण्ड क्रान्ति के आधार पर सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है, जोकि परिभ्रमणात्मिका सम्वत्सरचक्रप्रक्रिया ही यज्ञभाषा में 'दर्शपूर्णमासप्रक्रिया' कहलाई है। चन्द्रपिण्ड का प्राणमण्डल चन्द्रिकामय होने से प्रत्यक्षदृष्ट है, जबकि भूपिण्ड का प्राणमण्डल व्यक्त ज्योतिर्भाव से असम्बद्ध रहने के कारण दृष्टि का विषय नहीं बन रहा। किन्तु विश्वास कीजिए–चन्द्रिकामण्डलवत् भूपिण्ड के चारों ओर भी एक प्राणमण्डल व्याप्त है। चन्द्रमण्डल **चन्द्रलोक** है, जो चन्द्रपिण्ड के अवलोकन का माध्यम बनता है, तो भूमण्डल **पृथिवीलोक** है, जो भूपिण्ड के अवलोकन का आधार बना हुआ है।

२२३–पार्थिव–चान्द्र–साममण्डलों का परस्पर 'अतिमान' सम्बन्ध—

यों भूपिण्ड के अतिरिक्त **भूमण्डल**, एवं चन्द्रपिण्ड के अतिरिक्त **चन्द्रमण्डल**, ये दो मण्डल हमारे सम्मुख और उपस्थित हो जाते हैं। इन दोनों मण्डलों का परस्पर उसी प्रकार एक दूसरे मण्डल के साथ अतिमान सम्बन्ध हो रहा है, जैसे कि दो–मानवशरीरों के प्राणमण्डलों का परस्पर सम्बन्ध होता रहता है, एवं जिस इस मण्डलात्मक–सुसूक्ष्म, अतएव अदृष्ट–प्राणसम्बन्ध से ही दोनों मानवों के शारीरिक–मानसिक गुण–दोष एक दूसरे मानव में संक्रमण करते रहते हैं। चन्द्र–भूपिण्ड के प्राण चान्द्र–पार्थिव–मण्डलों के इसी अतिमानसम्बन्ध से (जोकि–सम्बन्ध सामपरिभाषा में—'**सामातिमान**' कहलाया है) दोनों के गुणधर्म्म दोनों लोकों में समाविष्ट हो रहे हैं। इसी से '**चान्द्रपार्थिव**' नामक सम्मिलितभाव अभिव्यक्त होते रहते हैं। एवं यही अभिव्यक्ति प्रजासर्गाभिव्यक्ति का मूलाधार बन रही है।

२२४–पार्थिव-चान्द्र-त्रैलोक्य का स्वरूप-परिचय—

भूपिण्ड के प्राणमण्डल का पारिभाषिक नाम है—'**पृथिवी**', जो सूर्य्यपिण्ड से भी कुछ ऊपर तक अपनी व्याप्ति रखने के कारण '**राथन्तरी**' कहलाई है। सूर्य्य ही–'**आदित्यो वै देवरथ**', के अनुसार 'रथ' है। इसका भी तरण करने के कारण हीं पार्थिव अन्तिम सीमात्मक साम '**रथन्तरसाम**' कहलाया है। चन्द्रपिण्ड का चन्द्रिकामय प्राणमण्डल क्योंकि सूर्य्यरश्मिप्रतिफलनात्मक है *। अतएव सूर्य्यमण्डल में हीं इस चन्द्रमण्डल का अन्तर्भाव मान लिया जाता है। एवं इसी मण्डलात्मक समन्वय के कारण—'**सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' यह व्यवस्था हो गई है। सूर्य्य द्युलोक के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। चन्द्रमण्डल इससे अभिन्न है। अतएव चन्द्रपिण्ड के प्राणमण्डल का पारिभाषिक नाम भी यही 'द्यौः' हो जाता है। और

---

*–अत्राह गोरमन्वत, नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे।
—ऋक्संहिता १।८४।१५।

यों चान्द्र द्यु लोक, भौम पृथिवी--लोक, दोनों का **'द्यावापृथिव्य'** भाव समन्वित हो जाता है । 'द्यावा' का आकार दोनों के मध्यवर्त्ती तीसरे स्वतःसिद्ध अन्तरिक्ष का संग्राहक बन जाता है । इसप्रकार द्यौः--अन्तरिक्ष--पृथिवी--ये तीन लोक हो जाते हैं । यही द्यावापृथिवी नामक चान्द्र--पार्थिव वह त्रैलोक्य है, जो सूर्य्यानुगता रोदसी त्रिलोकी से सर्वथा विभिन्न वस्तुतत्त्व है । चान्द्रपार्थिव त्रैलोक्य ही उन चार प्रकार के चान्द्रपार्थिवानुगत मनःशरीरयुग्मों का, एवं तदनुगत प्राणिसर्गों का प्रवर्त्तक--अधिष्ठान बन रहा है, जिनका पूर्व में तालिकारूपेण दिग्दर्शन कराया जा चुका है ।

२२५--पार्थिव--चान्द्र--'मनोता--त्रयी'--स्वरूप--परिचय--

उक्त स्थिति से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, उस ओर चन्द्रपिण्ड है, इस ओर भूपिण्ड है । दोनों पिण्डों के मध्य में चान्द्र--पार्थिव--मण्डलात्मक पृथिवी--अन्तरिक्ष--द्यौः--नामक वे तीन लोक हैं, जिनमें चान्द्रतत्त्व भी प्रतिष्ठित हैं, एवं पार्थिवतत्त्व भी प्रतिष्ठित है । क्या स्वरूप है--उन चान्द्रपार्थिव--तत्त्वों का ?, एकमात्र इस प्रश्न के समन्वय से ही प्राकृतिक जीवसर्गों का स्वरूप सर्वात्मना समन्वित हो जाता है । तत्त्व का पारिभाषिक नाम है--**'--मनोता'** । चान्द्रतत्त्व **'रेतः--श्रद्धा--यशः'** नाम से, एवं पार्थिवतत्त्व **'वाक्--गौः--द्यौः'** नाम से प्रसिद्ध हैं । ये ही क्रमशः चान्द्र--पार्थिव मनोता हैं । तत्त्वात्मिका इस मनोता--त्रयी से चान्द्रमण्डल क्रमशः **भूत--प्राण--प्रज्ञात्मक** बना हुआ है, एवं अपनी तत्त्वात्मिका मनोतात्रयी से पृथिवीमण्डल **वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति** बना हुआ है । तीनों तीनों से तथाकथित अतिमानसम्बन्ध के द्वारा परस्पर एक दूसरे में समन्वित हो रहे हैं । विस्तार में न जाकर केवल तालिकारूप से ही इस समन्वय का समन्वय कर लेना चाहिए ।

चान्द्रपार्थिवत्रिलोकी	चान्द्रमण्डलभावाः	चन्द्रपिण्डः	पार्थिवमण्डलभावाः	
	१--चान्द्रमनोता-यशः--प्रज्ञात्मकः	(दिव्यतत्त्वः)	पार्थिवमनोता--द्यौः-प्राज्ञः	(दिव्यः)
	२--चान्द्रमनोता-श्रद्धा--प्राणात्मिका	(आन्तरिक्ष्यः)	पार्थिवमनोता--गौः--तैजसः	(आन्तरीक्ष्यः)
	३--चान्द्रमनोता-रेतः--भूतात्मकम्	(पार्थिवः)	पार्थिवमनोता--वाक्-वैश्वानरः	(पार्थिवः)
		भूपिण्डः		

२२६-मनोतात्रयी के अतिमान से चान्द्र--पार्थिवी-'युग्मत्रयी' का आविर्भाव, एवं तदनुबन्धेन 'विवर्त्तचतुष्टयी' का समन्वय—

यशो-भावानुगता **प्रज्ञा** चान्द्रतत्त्व है। द्यौ-भावानुगत **प्राज्ञ** पार्थिवतत्त्व है, दोनों का समन्वितरूप ही चान्द्रपार्थिव प्रथम युग्म है, एवं इस में ज्ञानशक्तिप्रधान सत्त्वगुण की प्रधानता है। श्रद्धा--भावानुगत **प्राण** चान्द्रतत्त्व है, गौ--भावानुगत **तैजस** पार्थिवतत्त्व है, दोनों का समन्वितरूप ही चान्द्रपार्थिव द्वितीय युग्म है, एवं इसमें क्रियाशक्तिप्रधान सत्त्वगर्भित रजोगुण की प्रधानता है। रेतो--भावानुगत **भूत** चान्द्रतत्त्व है, वाग्--भावानुगत **वैश्वानर** पार्थिवतत्त्व है, दोनों का समन्वित रूप ही चान्द्रपार्थिव तृतीय युग्म है, एवं इसमें अर्थशक्तिप्रधान रजोगर्भित तमोगुण की प्रधानता है। शेष रह जाता है भूपिण्ड, जिसमें केवल उस पशव्या कुमाराग्नि की ही प्रधानता है, जिसके चित्य-चितेनिधेय--भेद से अग्निचयनविद्या में दो विवर्त्त मानें गए हैं। चितेनिधेयाग्नि प्राणाग्नि है, चित्याग्नि भूताग्नि है। प्राणाग्नि के गर्भ में चान्द्रतत्त्व सुप्त है, भूतभाव में पार्थिवतत्त्व सुप्त है। यों चान्द्रपार्थिव-तत्त्व ही इस अन्तिम सीमा में आकर अपनी सुप्तावस्था से भूरूप में परिणत हो रहे हैं। यही चौथा चान्द्रपार्थिवयुग्म मान लिया गया है। तदित्थं चन्द्रमा से आरम्भ कर भूपिण्ड--पर्य्यन्त **चान्द्र मानसभाव**, तथा **पार्थिव शरीरभाव**, दोनों के चार विवर्त्त हो जाते हैं। ये ही चार विवर्त्त ब्रह्मादि स्तम्बपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले भूतसर्गों के प्रवर्त्तक बने हुए हैं।

२२७-यशोरूप चान्द्र--प्रज्ञाभाव के, तथा द्यौरूप पार्थिव-प्राज्ञभाव के समन्वय से ब्राह्म-प्राजापत्य-पैत्र्य-ऐन्द्र-सर्गचतुष्टयी का, एवं श्रद्धारूप चान्द्रप्राणभाव के, तथा गौरूप पार्थिव तैजसभाव के समन्वय से गन्धर्व-पिशाच-राक्षस-यक्ष-सर्गचतुष्टयी का आविर्भाव—

यशोरूप प्रज्ञात्मक चान्द्रमन, एवं द्यौरूप प्राज्ञरूप पार्थिवशरीर, इन दोनों की समष्टिरूप-सत्त्वगुण-प्रधान प्रथम द्युलोकीय चान्द्रपार्थिवयुग्म से देवभावप्रधान **ब्राह्म-प्राजापत्य-पैत्र्य-ऐन्द्र**-नामक इन चार जीवसर्गों का विकास हुआ है। यही सत्त्वविशाला प्राकृतिकी प्रथमा 'प्रजा' है।

श्रद्धारूप-प्राणात्मक-चान्द्र मन, एवं गौरूप-तैजसात्मक पार्थिव शरीर, इन दोनों की समष्टिरूप सत्त्वगुणगर्भित-रजोगुणप्रधान-द्वितीय-अन्तरिक्षलोकीय चान्द्रपार्थिवयुग्म से देवभावगर्भित-आसुरभावप्रधान **गन्धर्व-पिशाच-राक्षस-यक्ष** नामक इन चार जीवसर्गों का विकास हुआ है। यही सत्त्वगर्भिता रजोविशाला, किंवा 'सत्त्वरजोविशाला' प्राकृतिकी द्वितीया 'प्रजा' है।

२२८--रेतोरूप चान्द्र भूतभाव, एवं वाग्रूप पार्थिव वैश्वानरभाव के समन्वय से पशु-पक्षी-कीट-कृमि-सर्गचतुष्टयी का प्रादुर्भाव—

रेतोरूप-भूतात्मक चान्द्रमन, एवं वाग्रूप वैश्वानरात्मक पार्थिव शरीर, इन दोनों की समष्टिरूप-रजोगुणगर्भित-तमोगुणप्रधान-तृतीय-पार्थिवलोकीय-चान्द्रपार्थिवयुग्म से आत्मदेवभावशून्य-पशुभावप्रधान-पशु-पक्षी-कीट-कृमि-नामक इन चार जीवसर्गों का विकास हुआ है। यही रजोगर्भिता तमोविशाला, किंवा 'रजस्तमोविशाला' प्राकृतिकी तृतीया प्रजा है।

२२९-चितेनिधेयप्राणरूप चान्द्रतत्त्व, एवं चित्याग्निरूप भौम भूततत्त्व के समन्वय से असंज्ञभावात्मक भूतभौतिकसर्गों का उद्भव—

चितेनिधेयप्राणरूप चान्द्रतत्त्व, एवं चित्याग्निरूप भौमतत्त्व, इन दोनों की समष्टिरूप-आत्यन्तिक रूपेण-तमोमय-चतुर्थ-भौमलोकीय-चान्द्रभौमयुग्म से आत्मदेवाभिभवलक्षण-प्रवर्ग्यभावप्रधान-अनन्त- असंख्यविध अन्तःसंज्ञ ओषधि-वनस्पतिवर्ग, तथा अनन्त-असंख्यविध-असंज्ञ-पाषाण-लोष्ट-धातु-आदि वर्ग की समष्टिरूप भूतभौतिक अचेतन पदार्थों का विकास हुआ है, जो उत्तरभावी जनन-भाव से वञ्चित होने कारण 'प्रजा' न कहला कर 'भूतानि' ही कहलाए हैं। यही आत्यन्तिक तमोरूप चतुर्थ, किंवा अन्तिम भूतभौतिक सर्ग है।

२३०--प्रकृतिपरायत्त मानव के समावेश से चान्द्र--पार्थिवसर्ग की चतुर्दशविधता—

यों चान्द्रपार्थिव सर्ग-'**चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**' के अनुसार चान्द्रपार्थिवानुबन्धी प्राकृतिक गुणसर्ग चार विवर्त्तभावों में परिणत होता हुआ १३ अवान्तर भावों में परिणत हो रहा है। यदि दुर्भाग्यवश मानव भी प्रकृति से परायत्त बन जाता है, तो वह भी अपने पुरुष (आत्म) भाव को विस्मृत कर जन्म-मृत्युनिबन्धन-इस चान्द्रपार्थिवसर्ग का ही एक प्राकृतिक 'जीव' मात्र बनता हुआ इस १३ को १४ की संख्या में परिणत कर देता है, जो कि परिणति भारतीय मानव का तो कभी भी पुरुषार्थ नहीं माना गया।

२३१--भारतीय मानव का 'भारति'--त्वानुबन्धी सौरभाव, एवं तदनुबन्धिनी इसकी भारतीय--मानवता का स्वरूप--समन्वय—

सौर-इन्द्र-निबन्धन-'परं भाः' रूप से रति करने वाला आत्मरत सौर-इन्द्र-मानव ही-'भा-रत' (आत्मप्रकाश में रत) मानव है। यही इसका 'भा-रतत्त्व' है, और यही भा--रताग्निमूलक--जागरूक--त्रयीवेदात्मक-'भारतदेश' की मूलव्याख्या है, जो श्वेतक्रान्तिनिबन्ध में स्पष्ट कर दी गई है। भारत-अग्नि के देश इस भारत में उत्पन्न भारतीय--मानव का तो एकमात्र पुरुषार्थ माना जायगा--प्रकृतिस्वरूप-

संरक्षणपूर्वक आत्मस्वरूपबोध प्राप्त करने के लिए सतत जागरूक बने रहना। आत्म--देव--भावशून्य मानव तो अन्ततोगत्त्वा प्राकृतिक व्यामोहनों में हीं आबद्ध हो जाता है। उस दशा में तो इसे आत्मलक्षणा-'परं भा:'-से वञ्चित, अतएव 'भा' (आत्मप्रकाश) की रति से शून्य अभारतीय ही कहा जायगा। अब यह उत्तर--दायित्त्व स्वयं भारतीय मानव का है कि, प्रकृति से सम्बद्ध १३ प्राकृत--सर्गों में से अपनी भारतीयता के अनुपात से स्थान चुन ले। और हम समझते हैं--आत्म--देव--निष्ठ भा--रत--भारतीय मानव के लिए स्वस्वरूप--निर्णय के सम्बन्ध में ऐसा बोधगम्य मापदण्ड अन्यत्र कहीं इस सुगमता से उपलब्ध नहीं है। इसी उपलब्धि के द्वारा इसे अपने आयोजनों की सांस्कृतिकता--असांस्कृतिकताका, किंवा भारतीयता-अभारतीयता का निर्णय कर लेना चाहिए।

२३२--पतनावस्थानुगत भी भारतीय मानव की परम्परानुप्राणिता सांस्कृतिक--निष्ठा का सर्वापेक्षया उत्कृष्टत्त्व, एवं तालिकारूपेण चान्द्र--पार्थिव--सर्गसमन्वय—

अत्यन्त पतनावस्था के उपस्थित हो जाने पर भी अन्यदेशीय प्राकृत मानवों के समतुलन में तो अपनी परम्परासिद्धा आत्म--देव--भावना के सांस्कृतिक अनुग्रह से आज भी भारतीय--मानव अपने स्वरूप--निर्णय में सर्वात्मना समर्थ ही माना जायगा। इसी सामर्थ्याकर्षण से हमनें इसके सम्मुख अत्यन्त प्रणत--भाव से प्राकृतिक--सर्ग--के चार युग्म उपस्थित कर देने की धृष्टता कर ली है, जिस युगधर्म्मानुगता इत्थंभूता धृष्टता के लिए उसकी सुविशाला सांस्कृतिक--दृष्टि में हम क्षम्य ही मान लिए जायँगे। तालिका स्पष्टरूप से प्रमाणित कर रही है कि, ब्राह्मसर्ग से आरम्भ कर ऐन्द्रसर्ग पर्य्यन्त देवभाव की प्रधानता है। गन्धर्वसर्ग से आरम्भ कर यक्षसर्ग पर्य्यन्त अंशतः देवभाव प्रतिष्ठित मात्र है, जब कि पशुसर्ग से आरम्भ कर भूतपदार्थरूप अन्तिम सर्ग पर्य्यन्त देवभावशून्य केवल मनः--शरीरभाव ही प्रधान बने हुए हैं। अतएव आत्मदेवभावशून्य कोई भी मानसिक--शारीरिक आयोजन कदापि स्वप्न में भी भारतीय सांस्कृतिक--आयोजन तो नहीं ही माने जा सकते, नहीं ही मानना चाहिए किसी भी भारतीय मानव को तो किसी भी युग में।

चन्द्रमाः

द्यौः

अन्तरिक्षम्

पृथिवी

भूमिः

भूपिण्डः

*

१–यशो–भावानुगता प्रज्ञा [१] (चान्द्री)–मनः
द्यौः–भावानुगतः-प्राज्ञः [२] (पार्थिवः)-शरीम्
—सत्त्वगुणान्वितः–प्रथमो युग्मः —चान्द्रपार्थिवः—

*

२–श्रद्धा–भावानुगतः–प्राणः [१] (चान्द्रः)-मनः
गौः–भावानुगतः-तैजसः [२] (पार्थिवः)-शरीरम्
—सत्त्वगर्भित–रजोगुणान्वितः— द्वितीयो युग्मः —चान्द्रपार्थिवः

*

३–रेतो–भावानुगतं–भूतम् [१] (चान्द्रम्)-मनः
वाग्-भावानुगतो वैश्वानरः [२](पार्थिवः)शरीरम्
—रजोगर्भित–तमोगुणान्वितः— तृतीयो युग्मः —चान्द्रपार्थिवः—

*

४–चितेनिधेयः–प्राणभावः [१]–मनः-सुप्तम्
चित्यः–भूतभावः (२)–शरीरं-सुप्तम्
-आत्यन्तिकतमोरूप-चतुर्थो युग्मः चान्द्रगर्भितः–भौमः

*

चान्द्र–पार्थिव–लोकभावाः	यशः— प्रज्ञा—	श्रद्धाः— प्राणः—	रेतः भूतम्	चान्द्रभावाः–मनोभावाः
	द्यौः— प्राज्ञः—	गौः तैजसः	वाक् वैश्वानरः	पार्थिवभावाः शरीरभावाः
	पृथिवी—	अन्तरिक्षम्	द्यौः	लोकभावाः
३	सत्त्वप्रजा (१)	सत्त्वरजः-प्रजा (१)	रजस्तमोप्रजा (३)	प्रजा ह तिस्रः *

*–"प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे"

—ऐतरेय आरण्यक

(१)--प्रथमयुग्मानुगता--प्रजाचतुष्टयी
--दिव्या प्रजा--

- १--ब्राह्मजीवाः (१)
- २--प्राजापत्यजीवाः (२)
- ३--पैत्र्यजीवाः (३)
- ४--ऐन्द्रजीवाः (४)

}--देवभावानुगताः--प्रजाः
--सांस्कृतिकदेवभावसम्बन्धेन--
संस्कृतिनिष्ठाः

(२)--द्वितीययुग्मानुगता प्रजाचतुष्टयी
आन्तरीक्ष्या--प्रजा--

- ५--गन्धर्वजीवाः (१)
- ६--पिशाचजीवाः (२)
- ७--रासक्षजीवाः (३)
- ८--यक्षजीवाः (४)

}--असुरभावानुगताः--प्रजाः--
असुरभावानुगताऽपि--आंशिक--
देवभावेन--सांस्कृतिकी

(३)--तृतीययुग्मानुगता प्रजाचतुष्टयी
--पार्थिवी प्रजा--

- ९--पशुजीवाः (१)
- १०--पक्षिजीवाः (२)
- ११--कीटजीवाः (३)
- १२--कृमिजीवाः (४)

}--पशुभावानुगताः--प्रजाः
--असांस्कृतिकी--देवभावविरहात्

(४)--चतुर्थयुग्मानुगतानि भूतानि
--भौमानि भूतानि--

- १३-ओषधिवनस्पतयः
- धातूपधातवः

(१) }--भूतानि--नात्र प्रजाभावः

यदि मानवः प्राकृतश्चान्द्रः–पार्थिवो–भौमो वा । तर्हि तु–तस्यापि–तथाविधा एव प्राकृतिका वर्गा निष्पद्यन्ते सांस्कृतिकेतिहासात्मकेन पुराणानुबन्धेन–पूर्वोक्तेन । यथा हि–

सांख्यदृष्टौ — पुराणदृष्टौ

१—ब्राह्ममानवः—ऋषिमानवः
२—प्राजापत्यमानवः—सिद्धमानवः
३—पैत्र्यमानवः—पितृमानवः
४—ऐन्द्रमानवः—देवमानवः

—(१)—प्रथमयुग्मानुगताः–सांस्कृतिनिष्ठाः–मानवाः
—देवभावानुगतिरत्र—

५—गन्धर्वमानवः—गन्धर्वविद्याधरमानवः
६—पिशाचमानवः—पिशाचमानवः
७—राक्षसमानवः—दैत्यराक्षसमानवः
८—यक्षमानवः—किम्पुरुषगुह्यकमानवः

—(२)—द्वितीययुग्मानुगताः–संस्कृत्यनुगताः–मानवाः
—आंशिकदेवभावोऽत्र—

९—पशुमानवः
१०—पक्षिमानवः
११—कीटमानवः
१२—कृमिमानवः

—(३)—तृतीययुग्मानुगताः–प्राकृताः–मानवाः
—देवभावनिरपेक्षितात्र—

१३—भूतमानवः

—(४)—चतुर्थयुग्मानुगताः–वैकारिकाः–मानवाः
—देवभावविरोधोऽत्र—

—*—

२३३–नाममात्र के लिए 'सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र' भी भारतराष्ट्र की आत्म–बुद्धि–मनः–शरीरेण सर्वात्मना तत्त्वतः परतन्त्रता, एवं तदवस्था में समायोजित आजके इन आयोजनों की अब्रह्मण्या महती विडम्बना—

सैषा प्राकृतिकसर्गस्थितिः। स्थितस्य गतिश्छिन्तनीया। यदि हमारा मन वसन्तऋतु में, किंवा वर्षाऋतु में लतागुल्मों को देख कर, मेघों को देख कर, कोकिल–मयूर–शुक–सारिकाओं की ध्वनि सुनकर विभोर हो पड़ता है, इस विभोरता में आसक्त हो कर यदि हम थिरकने–गुनगुनाने लग पड़ते हैं, तो अवश्यमेव हम प्राकृतमानव हैं, पशु–पक्ष्यादि के समानधर्म्मा मनोवशवर्त्ती जीवमात्र हैं। जैसे पशु–पक्षी अमुक प्राकृतिक आकर्षणों से कूदने–फुदकने–थिरकने–नाचने–गाने–लग पड़ते हैं बिना ही किसी पुरुषार्थात्मक लक्ष्य के, वैसा ही कुछ करते हुए हम भी इन से अधिक और क्या पौरुष–साधन कर लेते हैं इन आत्म–देव–विशून्य–मानस–शारीरिक आयोजनों से ?। क्या इन मानसिक–शारीरिक–पशुसमानधर्म्मा अनुरञ्जनों को सांस्कृतिक–आयोजन मान लेगा हमारा अन्तरात्मा ?। मुकुलितनयन बन कर अन्वेषण कीजिए अपने अन्तर्जगत् में हीं इन प्रश्नों के मार्म्मिक समाधानों के तथ्यों का। प्रकृति के सामान्य से विमोहनकर्म्म से–"**वाह–वाह–अहाहा–हा–क्या बात है–क्या कहा है–मुकर्ररा फर्माइए**–आदि आदि रूपेण अपने मानवीय आकार को सर्वथा भावुकतापूर्ण अङ्ग–प्रत्यङ्ग–चेष्टाओं में परिणत करते हुए स्वयमपि आत्मविस्मृत हो जाने का ही नाम क्या **'सांस्कृतिक–आयोजन'** है ?। मयूर को थिरकते देख कर उसी के अनुकरण से मयूरपंख लगा कर नाचने लग पड़ना, इसी नर्त्तन को–**'मयूरनृत्य'** उपाधि से विभूषित करते हुए इसे ही उच्चघोषणापूर्वक–'सांस्कृतिक–आयोजन' कहने लग पड़ना हीं क्या 'संस्कृति' शब्द का अक्षरार्थ है ?। और सर्वोपरि जिस युग में राष्ट्र की शारीरिक–मानसिक–बौद्धिक–आत्मिक–सभी विभूतियाँ शताब्दियों से प्रक्रान्ता परतन्त्रता–दासता से सर्वथा अन्तर्म्मुख बन रहीं हों, जिस अन्तर्मुखता से आज भी राष्ट्र का अंशतः भी परित्राण न हुआ हो, संस्कृति–साहित्य–आदर्श–शिक्षा–जीवनपद्धति–आदि आदि की कथा तो विदूर रही, जो राष्ट्र अभी तक अपनी शारीरिक–अन्नवस्त्र की चिन्ता से भी अपना परित्राण न कर सका हो, उसका यों अनर्गलरूप से नृत्य–गीत–वाद्य–परायण बन जाना, इन्हीं को संस्कृति का महान् उद्धार कहने लग पड़ना हीं क्या 'सांस्कृतिक–आयोजन' का सारगर्भित इतिहास मान लिया जायगा ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम्। महती विनष्टिः !!!

२३४–मानवीय–मनःशरीरानुबन्धी गीत–रमणादि मानस विनोद, एवं तत्सम्बन्ध में प्राजापत्या–पार्थिवी–गायत्री–त्रिया के माध्यम से ऋषिप्रज्ञा की कालिक–व्यवस्था–मर्य्यादा—

गीत–रमणादि व्यासङ्ग मानसिक धर्म्म हैं। इन्हें भी मानवीय क्षेत्र में प्रविष्ट पशुभावों के समतुलन के लिए प्रश्रय देते रहना आवश्यक है। किन्तु कब ?, किस अवस्था में ?। सुनिए ! ऋषिप्रज्ञा क्या उत्तर दे रही है इन प्रश्नों का ?—

त्रयीवेदात्मिका ब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति ने अपने मानसिक काम (कामना) से, प्राणात्मक तप से, एवं वाङ्मय श्रम से अपनी यजुर्म्मयी वाक् के उपादान से सब से

पहिले पानी हीं उत्पन्न किया। अत्यन्त तपः–श्रम से उत्पन्न इस पानी से प्रजापति ने पृथिवी का स्वरूप बनाना चाहा। इस कामना को सफल करने के लिए प्रजापति ने पुनः प्रचण्ड तपः–श्रम किया। इस अध्यवसाय से पानी **फेन** (झाग) रूप में परिणत हो गया। पुनः वही तपः–श्रम, पुनः पुनः वही प्रचण्ड संघर्ष, और इस धारावाहिक–अनन्य काम–तपः–श्रनात्मक परिश्रम से, अध्यवसायात्मिका अनन्यनिष्ठा से फेन की क्रमशः **मृत्–सिकता–शर्करा–अश्मा–अयः–हिरण्य**–रूप में परिणति। पुनः वही अध्यवसाय। तदनुग्रह से अष्टावयव भूपिण्ड की पानी के द्वारा स्वरूपनिष्पत्ति। पुनः वही संघर्ष, वही तप, वही श्रम। तद्द्वारा जीवनीय रसात्मक ओषधि–वनस्पतिवर्गों का आविर्भाव। ऐसा प्रचुर–प्रभूत–भूतात्मक आविर्भाव, जिसके द्वारा वही पृथिवी आज सर्वात्मना सब ओर से सस्यशामला–अन्नबहुला–बन गई, जो इससे पूर्व सर्वथा रिक्त ही बनी हुई थी इसके बिना। –'**ओषधि–वनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्**'। यों अपने प्रचण्ड तपः–श्रम–अध्यवसाय के नैरन्तर्य्य से प्रजापति ने एकमात्र 'पानी' के अवलम्ब से ही भूपिण्ड बना डाला, प्रजा बना डाली, प्रजा की योगक्षेम–समस्या को सदा सदा के लिए समन्वित करने के लिए सम्पूर्ण पृथिवी को ओषधि–वनस्पतियों से (अन्न–फलों से) ढँक दिया, हाँ निश्चयेन ढँक दिया। और यों अपनी सम्पूर्ण पार्थिवी–राष्ट्रकामनाओं को सर्वात्मना सुसम्पन्न–सुसमृद्ध बना लिया प्रजापति ने एक क्षण भी विश्राम किए बिना। अब प्रजापति के लिए वैसा प्रतिष्ठास्थान सम्पन्न हो गया, जिसे कोई भी आसुरीशक्ति विचलित नहीं कर सकती थी–'**अभूद्वा इयं प्रतिष्ठा–प्रजापतेः**'। इस सम्पूर्ण स्वरूप–निष्पत्ति के अनन्तर ही मानो पृथिवी गा उठी। पृथिवी का सहज स्वरूप–विकास ही इसका सङ्गीत बना–'**सेयं पृथिवी सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना अगायत्**'। इस सहजगान से ही सस्यशामला–प्रजा–सम्पत्ति–हिरण्यादि–वित्तबहुला माता पृथिवी '**गायत्री**' नाम से प्रसिद्ध हो गई। स्मरण रहे–प्रजापति ने तो स्वयं फिर भी गान नहीं किया। गा उठी पृथिवी की प्रजा। प्रजापति तो यह सब कुछ बना कर–'**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' रूप से भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित होकर नियन्ता ही बन गए इस पार्थिव सङ्गीत के *।

राष्ट्र का प्रजापति–स्वामी जो भी होगा, उसे भी उसी प्राजापत्यधर्म्म पर प्रतिष्ठित होना हीं पड़ेगा। वह अनन्यनिष्ठा से श्रम–तप–सन्तपन–अध्यवसायपूर्वक राष्ट्र को जबतक सर्वात्मना सुसमृद्ध–सम्पन्न नहीं कर लेगा, तबतक वह किसी को न तो गाने देगा, न मानसिक–विनोदात्मक रमणभावों में प्रवृत्त होने देगा। अपितु दृढ़तम नियन्त्रण के साथ सर्वात्मना जागरूक बना रहता हुआ प्रजापति का प्रातिनिध्य करने वाला सत्तातन्त्र सर्वप्रथम अपने राष्ट्र को सब ओर से समृद्ध बनाने में स्वयं भी तपः–श्रम–परिश्रमपूर्वक जुट पड़ेगा, और प्रजा को भी स्नेहपूर्वक–वात्सल्यपूर्वक–जुटाए रहेगा। जब राष्ट्र की सभी आवश्यकताएँ पूरीं हो जायँगीं, तभी राष्ट्रप्रजा को नृत्य–गीत–वाद्यादि मानसिक रमणभावों–(विनोदों) का अवसर मिल सकेगा, सो भी उसी सीमापर्य्यन्त, जिससे मर्य्यादिता राष्ट्रप्रजा अपना स्वरूप विस्मृत न कर बैठे। और स्वयं सत्तातन्त्रात्मक प्रजापति ?। वह तो सदा ही तटस्थ ही बना रहेगा इन मानस–विनोद–भावों से।

---

*–**प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।**
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
—यजुःसंहिता

'सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना पृथिवी एव अगायत् । न तु तन्निर्म्माता प्रजापतिः' से स्पष्ट ही सत्तातन्त्र को इन मानस विजृम्भणों–नाच–गानादि–आयोजनों से तटस्थ ही प्रमाणित किया है श्रुति ने । कौन सा प्रजावर्ग गान–रमणात्मक मनोविनोद का अधिकार रखता है ?, सर्वान्त में इस प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कहते हैं—

"सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना अगायत् । तस्मादियं गायत्री । अथोऽआहुः- अग्निरेवास्यै पृष्ठे सर्वः–कृत्स्नो मन्यमानः–अगायत् । यदगायत् , तस्मादग्निर्गायत्र इति । तस्मात्--हैतत्--यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते, गायति चैव, गीते वा रमते" ।

—शतपथब्राह्मण ६।११।११ से १५ कण्डि का पर्य्यन्त

२३५--प्रजापति के मूर्त्तप्रतिनिधिरूप ब्रह्म (तत्त्वचिन्तक ब्राह्मण),–तथा क्षत्र (सत्तातन्त्र), एवं इन की मानस–विनोदभावों से आत्यन्तिक तटस्थता, तथा तद्द्वारा ही राष्ट्रीय–निष्ठा का संरक्षण—

देखा आपने ? । क्या देखा, और क्या समझा हमनें और आपनें ? । देखा यही, और समझा यही, कि मूलाधिष्ठाता प्रजापति मानसिक विनोद करने की स्वीकृति देते ही नहीं अपनी प्रकृति को तबतक, जबतक कि प्रकृति सर्वात्मना अपना बाह्य–भौतिक–स्वरूप सर्वात्मना परिपूर्ण–सम्पन्न–सुसमृद्ध–नहीं कर लेती । जो प्रकृति (मन और शरीर) प्रजापति (आत्मबुद्धिस्वरूप) की इस अनुशासनवृत्ति की उपेक्षा कर देती है, वह नष्ट ही होजाया करती है । प्रजापति के स्वरूप हैं–आत्मा, और बुद्धि । बुद्धि का प्रतिनिधि है क्षात्र सत्तातन्त्र, जिस पर बाह्य भौतिक व्यवस्थाओं के सञ्चालन का महान् उत्तरदायित्त्व प्रतिष्ठित है । आत्मा का प्रतिनिधि है राष्ट्र का तत्त्वचिन्तक ब्राह्मण, जिस पर सत्तातन्त्र की राजनीति की मर्य्यादा का नियमन अवलम्बित है धर्म्मनीति के द्वारा । यह अत्यन्त गुहानिहित प्रजापति है, तो सत्ताधीश व्यक्त–प्रकट प्रजापति है । दोनों हीं मनःशरीरानुबन्धी–गीत–रमणादि मानस–विनोदों से तटस्थ रहने वाले हैं । हाँ, सत्तातन्त्रात्मक व्यक्तप्रजापति तटस्थसाक्षीरूप से अवश्य ही द्रष्टा बनता रहता है इन आयोजनों का, जिससे आयजनकर्त्री प्रजा मर्य्यादा से स्खलित न हो जाय । किन्तु सर्वाध्यक्ष–मूलप्रजापतिरूप ब्राह्मण तो साक्षी भी नहीं बनता इन आयोजनों का, नहीं बनना चाहिए । अपितु यह तो गुहानिहित बना रहता हुआ अपनी चिन्तननिष्ठा से सत्तातन्त्र को ही मर्य्यादित बनाए रहता है । यही कारण है कि श्रुति ने एक स्थान पर राष्ट्र की ब्राह्मणप्रज्ञा को यह उद्बोधन प्रदान कर देना आवश्यक मान लिया है कि, ब्राह्मण को तो सर्वात्मना हीं नर्त्तन–गायन–वादनादि व्यासङ्गों से सर्वथा सदा तटस्थ ही बना रहना चाहिए । देखिए !

"य एष ब्राह्मणो गायनो वा नर्त्तनो वा भवति, तं--'आग्लागृधः' (शिथिलप्रज्ञः- हीनप्रज्ञः--निष्ठाच्युतः--भावुकः)--इत्याचक्षते । तस्माद्--ब्राह्मणः--नैव गायेत् , न नृत्येत् । मा आग्लागृधः स्यात्" ।

—गोपथब्राह्मण पू० २ प्र० । २१ ब्रा० ।

२३६--इन वर्त्तमान आयोजनों के सम्बन्ध में वर्त्तमान भारतराष्ट्र से प्रश्न, एवं तन्माध्यम से इन आयोजनों के भारतीय--संस्कृति–विघातक नामों का दुःखपूर्ण वाग्विजृम्भण—

सुसमृद्ध–सुसम्पन्न–सर्वात्मना सुनिश्चिन्त–परिपूर्ण–राष्ट्र का समृद्धिशाली प्रजावर्ग ही यदा कदा पर्वोत्सव-सम्मेलन–समारोहात्मक सांस्कृतिक निमित्तों–पर मर्य्यादापूर्वक–आत्मदेवभावनापूर्वक नृत्य–गीतादि–मानस आयोजनों का अनुगामी बन सकता है, जिसका तटस्थ साक्षी बन रहा है–सत्तातन्त्र, एवं सर्वथा निरपेक्ष नियन्ता बना रहता है सांस्कृतिक आचारनिष्ठ तत्त्वचिन्तक राष्ट्रीय ब्राह्मण । क्या आज आपका भारतराष्ट्र इस निश्चिन्तता पर पहुँच गया है ?, क्या राष्ट्र का सर्वाङ्गीण विकास पूर्ण हो चुका है ? । यदि 'हाँ', तो कीजिए आयोजन । यदि 'नहीं', तो आयोजन का नाम लेने वाले को भी राष्ट्रहित का विरोधी आततायी मान कर **'आततायिनमायान्तं हन्यादेव–अविचारयन्'** नियमानुसार राष्ट्रविरोधी–राष्ट्रस्वरूपविध्वंसक इन आयोजकों को, तथा आयोजनों को निःशेष ही बना डालिए । ठीक इसके विपरीत आयोजनों को न केवल प्रोत्साहन ही देना, अपितु स्वयं सत्तातन्त्र का भी सोल्लास इनमें प्रवृत्त होते रहना, सत्ता के आकर्षण से राष्ट्र के अन्यान्य संस्कृतिनिष्ठों का भी इन आयोजनों में योगदान करते रहना, आत्म–देव–भावशून्य इन कुतूहलों को–भी बड़े ही गर्व से 'सांस्कृतिक–आयोजन' जैसी पावन अभिधा से समन्वित करते जाना, आदि आदि सभी कुछ विधि के विचित्र ही तो विधान कहे जायँगे । और यहीं दुःखपूर्ण–नामकरणात्मक प्रक्रान्त उस प्रसङ्ग का उपराम कर दिया जायगा, जिसकी पूर्व में जिज्ञासा हुई थी । कुण्ठित है हमारी प्रज्ञा आज के इन आयोजनों का भारतीय दृष्टि से नामकरण–कर देने में । स्वतन्त्र है आज की सत्ता, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है आज का जनमानस सत्तास्वातन्त्र्य के अनुग्रह से । 'सांस्कृतिक' ही क्या, वह इन मानसिक–निर्लक्ष्य विनोदों को–**'संस्कृतिसंहारक–आयोजन'**–**'मानवताविघातक–आयोजन'**–**'अनैतिकताप्रवर्द्धक–आयोजन'**, किंवा **'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रायोजन'**–**'गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्रीयायोजन'**–**'सर्वोद्धारक–आयोजन'** आदि आदि किसी भी नाम से समन्वित करने में स्वतन्त्र है । शताब्दियों से परतन्त्र बने रहने वाले यहाँ के जनमानस के लिए तो सभी नाम समादरणीय ही रहे हैं, समादरणीय ही रहेंगे ।

२३७–सत्तासापेक्षता के महान् व्यामोहन में आसक्त राजभक्त--सत्ताश्रित भारतीय विद्वानों के द्वारा सत्तानुरञ्जन के लिए रतिरहस्यादि मानस--निबन्धों का निर्म्माण, एवं तद्द्वारा मूलसंस्कृति का अभिभव—

'कोउ हो नृप, हमें का हानि' जैसे भावुकतापूर्ण सन्तवचन को अपना आदर्श मान बैठने वाले हम सत्तानिरपेक्ष, किंवा सत्ताभक्त भारतीयों का ऐसा मानते रहना, एवं दूसरों को भी ऐसा ही मनवाते रहना कोई आज के युग का ही नवीन कर्म्म नहीं है । विगत–भुक्त–प्रक्रान्त तीन सहस्र वर्षों का सम्पूर्ण इतिहास ही हमारी इसी सत्तासापेक्षा-संस्कृति का ज्वलन्त उदाहरण बना हुआ है । फलस्वरूप सत्ताधीशोंनें जिन जिन आयोजनों को सांस्कृतिक–आयोजन कह डाला, सर्वसाधारण जनतन्त्र की कौन कहे, देश के उन ब्राह्मणविद्वानोंनें भी उन आयोजनों को ही महतोमहीयान् सांस्कृतिक–आयोजन-प्रमाणित करते रहने में हीं अपना समस्त प्रज्ञाकौशल समाप्त कर दिया, जिन विद्वानों की प्रज्ञानिष्ठा पर ही राष्ट्रीय–संस्कृति के संरक्षण का महान् उत्तरदायित्व प्रति-

ष्ठित था। काम-भोग-परायण, मनः-शरीरमात्रासक्त-विलासलीलानिमग्न-सामन्त राजाओं के अनुरञ्जन के लिए इस देश की ब्राह्मणप्रज्ञा ने हीं तो **अनङ्गरङ्ग-कन्दर्पचूड़ामणि-रतिरहस्य-कामकलाविलास-नायिकाभेद**-आदि आदि परःशत-सहस्र वैसे मानस निबन्धों का सर्जन कर ही तो डाला, जिनके सांस्कृतिक ?, हाँ विशुद्ध सांस्कृतिक ? संस्कारों ? से आज पर्य्यन्त भी यहाँ की ब्राह्मणप्रज्ञा अपना परित्राण नहीं कर सकी है।

२३८--परमसंस्कृतिभक्त ? राजाभोज का सांस्कृतिक ? युग, एवं तद्युग में मूलसंस्कृति के प्राणप्रतिष्ठारूप वेदशास्त्र का उपहास, तथा भोजाश्रित विद्वानों की कामकला-विलासलीलाएँ—

संस्कृतसाहित्य के लिए 'स्वर्णिमकाल' नाम से प्रसिद्ध भारतीय राजा भोज का ही तो वह महान् सांस्कृतिक युग था, जिसमें देश की सर्वाराध्या-सर्वमूलभूता वैदिकसंस्कृति के परिशिष्ट चिह्नों के स्मरण करने वाले शिखा-सूत्रधारी-वेदपारायणकर्त्ता ब्राह्मणों की शिखा का उपहास किया जाता था इसी भोज के सांस्कृतिक ? युग में। इन्हें-**'वेदाभ्यासजड़मति'** जैसी उपाधि से समलंकृत करते हुए भोजसत्ता के वे रसज्ञाता कविगण लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अवनतशिरस्क नहीं बनते थे। मनस्तन्त्रानुगत-रसप्रवाहमाधुरी से समन्वित-**'द्रुमाः सपुष्पाः, सलिलं, सपद्मं, स्त्रियः सकामाः-पवनः-सुगन्धिः'-'युवतिजनेषु शनैः शनैरनङ्गः'** जैसे कर्णमधुर ?, भावमधुर ?, सर्वमधुर ? शब्दगुम्फनों के समतुलन में-**'बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुः'-'अनुष्टुभमनुचचूर्य्यमाणम्' 'अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र'-'अग्निर्जागार तमृचः-कामयन्ते'** इत्यादि कर्कश ? रूक्ष ? शब्दजालों का कौन समादर करता उस सुसमृद्ध ? रसमय साहित्यिक युग में।

२३९--शृङ्गाररसप्रधान--साहित्य के द्वारा आविर्भूता अनुकूलता के अभिशाप से मानसिक-असन्तुष्टयाभिव्यक्तिमूलक-'कवितायुग' का आविर्भाव—

इसी अनुकूलताने, इसी मानसिक भावुकता ने ब्राह्मणप्रज्ञा को वेदनिष्ठा की ओर से शास्त्रनिष्ठात्मिका दार्शनिक भावुकता की ओर आकर्षित कर दिया कालान्तर में। जब दार्शनिकता में भी कठिनता अनुभूत होने लगी, तो सम्प्रदायवादात्मिका भागवती कथाएँ हीं आश्रयभूमि बन गईं इन विद्वानों के लिए। जब इनका भी रहस्यात्मक समन्वय संघर्षात्मक प्रतीत होने लगा, तो 'कविता' का आश्रय लिया जाने लगा, जोकि मानसिक अतृप्ति-अतुष्टि के आधार पर ही जन्म लिया करती है।

२४०--कवितानुग्रह से स्खलितमना नितान्त भावुक मानव की कल्पना के द्वारा कालान्तर में शेषभूत 'हरे राम हरे राम' का तुमुल निनाद—

कवितापरिपाटी में भी थोड़ा बुद्धि का संस्पर्श था। अतएव कवितामय साहित्य भी कालान्तर में गद्यात्मक साहित्य का अनुधावन करने लग पड़ा। फिर भी शब्दों के जोड़-तोड़ बैठाने में बुद्धि का आश्रय लेना आवश्यक बना ही रह गया था। प्रवृत्ति उत्तरोत्तर अनुकूलता के प्रति अनुधावन करती जा रही थी। बौद्धिक संघर्ष उत्तरोत्तर शिथिल होता जारहा था। अतएव परिणाम वही हुआ, जोकि होना चाहिए था। कविता गई, गद्य गए, सब कुछ चला गया। और सर्वान्त में रह गया-**'हारे का हरिनाम'**, झञ्झा-ताल-मृदङ्ग-घुँघरूँ

के आकर्षक नाद, हरे–राम राधेश्याम–सीताराम–का तुमुल उद्घोष–और तद्द्वारा सदेह बैकुण्ठ प्राप्ति के राजपथ का सर्वथा अनुकूलता–सरलता–पूर्वक–निर्म्माण। यों बिना हीं संस्कृति–साहित्य–आचार–धर्म्म–आदर्श आदि के सहज में हीं अनुकूलतापूर्वक ही बैकुण्ठद्वार ढूँढ़ ही तो लिया भारतवर्ष की सांस्कृतिक–प्रज्ञाओंनें ?। क्यों ? ठीक है न ?। सुनते हैं–**अजामील–गीध–व्याघ–गणिका**–आदि इसी नामभक्ति–महिमा से भवसागर से पार उतर गए थे।

२४१--अनुकूलता की चरमसीमा में विराजमान, जीवनीय संघर्ष से शून्य, शवशरीर--मात्र भारतीय मानव की अन्तिम विश्रामभूमि--"बिना भक्ति के ही भगवान् के अनुग्रहमात्र से मुक्त हो जाने की लिप्सा--लालसा"—

किन्तु हमारे इन नवीन भक्तोंनें तो उन नामभक्तों से भी कहीं सरल पथ निकाल ही तो लिया। इन नवीन भक्तोंनें भगवान् के सम्मुख अपना यही मन्तव्य निर्लज्जतापूर्वक रख ही तो डाला कि,–'**उन भक्तों को तो आपने भक्ति के बल तारा था। हम तो आपको भगवान् ही तब जाने, जब कि आप हमें तो बिना भक्ति के ही तार दें, "बिना भक्ति तारो, तो तारबो तिहारो"**। क्या कही है, और कैसी कही है। वाह–वाह–बोलो भगवान् की नहीं, अपितु भगवान् के ऐसे प्यारे भक्तों की जय!!! जिन्होंनें बिना भक्ति के ही भगवान् को सुलभ बना दिया। अजामील–गीध–व्याधादि की भक्ति अवश्य ही भगवान् नामक तत्त्व से अविभक्ता रही होगी। अवश्य ही आस्थापूर्वक उन भक्तप्रवरोंनें तल्लीनता प्राप्त कर ली होगी। किन्तु आज के कीर्त्तनपरायण भक्तों के तो अहोरात्र सर्वथा अमानवीय, किंवा ÷ दानवीय व्यवसाय करते हुए ही व्यतीत होते हैं, जिनके मायाचार से, अर्थगृध्नुता से मानवता विकम्पित होती रहती है, वे ही थोड़े समय के लिए स्थानविशेषों में समवेत होकर बिना ही भक्ति के जब अपने दैमंदिनीय पापों का प्रक्षालन करने में समर्थ बनते रहते हैं, तो कुण्ठित है हमारी प्रज्ञा ऐसे भक्तिपथ के सम्बन्ध में कुछ भी निवेदन करने में। यही उस पारम्परिक स्खलन का संक्षिप्त इतिहास है, जिसके द्वारा भावुकता से हो पड़ने वाले पतन का हम भलीभाँति समन्वय कर सकते हैं। इसी आधार पर एक सूक्ति प्रसिद्ध है कि—

वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं--
शास्त्रैर्विहीनाश्च पुराणपाठकाः ॥
पुराणहीनाः कवयो भवन्ति।
भ्रष्टास्ततो * भागवता भवन्ति ॥

÷ **कड़ी हाली पन्सेरी, पोथी हालो भट्ट**
माला हालो बाणियो--तीन्यूँ गलाकट्ट।
—लोकसूक्ति

* **नामसङ्कीर्त्तनपरायणाः--इति यावत्।**

अपिच— अवहाय निजं धर्म्म--'रामकृष्णेति' वादिनः ।
ते हरेर्द्वेषिणः पापाः, धर्म्मार्थं जन्म यद्धरेः ॥
सर्वदा दास्यमिच्छद्भिरकर्म्मण्यैरविघ्नकैः ।
वैष्णवैर्भारतं वर्षं भिक्षुकी क्रियते कलौ ॥

२४२--'संस्कृति' से सर्वथा असंपृष्ट ये आज के 'सांस्कृतिक ? आयोजन', एवं तद्द्वारा सांस्कृतिक--भारतराष्ट्र की महती विडम्बना—

बिना हीं भक्ति के भगवान् की प्राप्ति में सर्वात्मना सुनिश्चिन्तता अनुभूत कर लेने वाले ऐसे भक्तप्रवरों के अनुग्रह से ही कालान्तर में 'भक्ति' शब्द भी सर्वथैव उच्छिन्न होगया, और भक्ति के साथ साथ भगवान् भी । भगवान् , और भक्ति से शून्य शेष रह गए केवल भक्त, और इनके झरझा-ताल-मृदङ्ग-घूँघरूँ आदि । भक्तों को तो भक्तिसंस्कारवश किसी न किसी की भक्ति करनीं ही जो थी । भगवान् नहीं, तो भगवान् का संसार तो कहीं भी नहीं गया था । भगवान् की स्थापना हो गई जनता में । जनता 'जनार्द्दन' बन गई । और लोकभक्तिरूपा इसी जनताजनार्द्दन–भक्ति के आवेश ने वेद–शास्त्र–पुराण–कविता–नामस्मरण–आदि आदि सब को जलाञ्जलि समर्पित करवा कर लोकोत्तर, किन्तु लोकरञ्जक–जनमनरञ्जक-सर्वकामार्थ–संसाधक–उस आयोजनताण्डव का आविष्कार कर ही तो डाला, जो लोकभाषा में आज सर्वत्र उच्च उद्घोषपूर्वक–**'सांस्कृतिक--आयोजन'** नाम से प्रसिद्ध है । छोटी से छोटी योजना हो, अथवा तो बड़ी से बड़ी योजना, सामान्य उद्घाटन कर्म्म हो, अथवा बड़ा उद्घाटन कर्म्म, सामान्य श्रमदान हो, अथवा बड़ा श्रमदान, सर्वत्र उपक्रम और उपसंहार में जबतक 'सांस्कृतिक–आयोजन' को अमृतोपस्तरण, और अमृतापिधानात्मक आचमनकर्म्म की भाँति प्रतिष्ठित नहीं कर लिया जाता, तबतक राष्ट्र का कोई भी कार्य्य, कोई भी योजना सफल बन ही नहीं सकती । अहो ! महतीयं विडम्बना भारतराष्ट्रस्य ! ! !

२४३--नियन्त्रणमूला भारतीय–जीवनपद्धति पर मनोविनोदप्रेमियों का आक्षेप, एवं तत्समाधान चेष्टा—

अब इस सम्बन्ध में केवल एक यही महत्त्वपूर्ण यह प्रश्न शेष रह जाता है कि, क्या भारतीय संस्कृति-धर्म्म–आदर्श--सदाचार--आदि से सम्बन्ध रखने वाली जीवनपद्धति ऐसी रूक्षा--कर्कशा–कठोरा–है, जिसमें प्रतिष्ठित रहने वाले भारतीय सांस्कृतिक मानव को न हँसने का अधिकार है, न प्रकृति को देख कर मुस्काराने का अधिकार है ? । यदि सचमुच में भारतीय 'जीवनपद्धति' की ऐसी ही कुछ उद्वेगकरी ही परिभाषा है, तो प्राकृतिक विश्व में रहने वाला, सामाजिक जीवनपद्धति से सञ्चालित रहने वाला, प्रकृति के ही महान् पर्वरूप मन, और शरीर को स्वस्वरूप में अन्तर्भुक्त रखने वाला भारतीय मानव ही क्या, संसार का कोई भी मानव कदापि किसी भी अवस्था में तथोपवर्णिता वीतरागभावात्मिका--उल्लास–उत्साह–जीवनीयरसप्रवाह–आदि से शून्या जीवनपद्धति का स्वप्न में भी संस्मरण भी तो नहीं करना चाहेगा । वह जीवन ही क्या, जिसमें उन्मुक्तता न हो । वह जीवनीय आनन्द ही क्या, जिसमें पदे पदे नियन्त्रण लग रहा हो । वह प्राकृतिक प्रेम ही क्या, जिसमें मानवीय मन को स्वच्छन्द विचरण करने का अवसर ही न दिया जाता हो । ऐसी

स्थिति में कदापि नियन्त्रणमूला भारतीय-जीवनपद्धति का कोई भी समादर नहीं कर सकता, नहीं करना चाहिए, जिस पद्धति में 'प्रकृति' का कोई भी समादर नहीं हुआ है।

२४४-शब्दात्मक अभिनयों से अतीता 'भारतीय-संस्कृति' की सच्चिदानन्दघनैकरसता, एवं तन्मूलाधारेण प्रतिष्ठित-'भारतीय'-'सांस्कृतिक-आयोजनों' की आनन्दरसाप्लुतता—

असमर्थ है यह वेदाभ्यासजड़मति उक्त तर्क का बुद्धिगम्य समाधान करने में। इसलिए असमर्थ है कि, इस की संस्कृति ने इसे प्राकृतिक प्रेम की जो परिभाषा बतलाई है, उसका वर्त्तमान प्रकृतिप्रेम से अंशतः भी तो समतुलन नहीं है। रही बात रूक्षता-कर्कशता-नीरसता की, सो इस सम्बन्ध में इसलिए स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है कि, स्नेहार्द्रता-सरसता आदि भावों से अनुप्राणिता आनन्दमाधुरी के स्पष्टीकरण के लिए आजतक किसी भी वैज्ञानिक नें किसी शब्द का आविर्भाव ही नहीं किया है। संस्कृति में, एवं तदनुप्राणिता सांस्कृतिक-जीवनपद्धति में कैसा आनन्दरस प्रवाहित है ?, प्रश्न का समाधान शब्द से तो कदापि सम्भव नहीं है। आत्मबुद्धिप्रधाना जीवनपद्धति में आनन्द ही आनन्द है, जब कि मनःशरीरप्रधाना जीवनपद्धति में अनुकूलवेदनात्मक सुख, तथा प्रतिकूलवेदनात्मक दुःखरूप द्वन्द्वभाव ही जागरूक है, इस भेद को शब्दद्वारा कथमपि स्पष्ट नहीं किया जासकता। इसके लिए तो पुरातन-नूतन-मानवों की जीवनपद्धतियों से सम्बन्ध रखनें वाले सत्-असत् परिणाम हीं अमुक सीमापर्य्यन्त परिचायक बनते रहते हैं। और हम समझते हैं-फलानुगत इस ऐतिहासिक तथ्य के अतिरिक्त मानवप्रकृति के कोश में अन्य कोई भी ऐसा मौतिक मापदण्ड नहीं है, जिस से यह जीवनपद्धतियों का मूल्याङ्कन कर डाले।

२४५-संस्कृति-सभ्यता-आनन्द-समृद्धि-सुख-जीवन-जीवनपद्धति-मुक्तता-आयोजन-श्रद्धाप्रेम-वात्सल्यप्रेम-स्नेहप्रेम-कामप्रेम-रतिप्रेम-आदि आदि शब्दों के अक्षरार्थों से भी असस्पृष्ट प्राकृत मानवों की भारतीय-जीवनपद्धति के सम्बन्ध में भ्रान्त कल्पनाएँ—

वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, जो प्राकृतिक मानव आज जिसे 'जीवनपद्धति' कहते हैं, जिसे जीवन का 'सुख' कहते हैं, क्षमा करेंगे वे प्राकृत-बन्धु हमें कि, उन की प्राकृतिक दृष्टिने, एवं तदाधारभूत उनके प्रत्यक्ष-सिद्ध भूतविज्ञान ने अभीतक भारतीय शब्दकोश के-**'संस्कृति'-'सभ्यता'-'आनन्द'-'समृद्धि'-'सुख'-'जीवन'-'जीवनपद्धति'-'मुक्तता'-'आयोजन'-'श्रद्धाप्रेम'-'वात्सल्यप्रेम'-'स्नेहप्रेम'-'कामप्रेम'-'रतिप्रेम'** आदि आदि शब्दों के अक्षरार्थ-समन्वय का भी अनुग्रह नहीं किया है। जबकि शब्दों का अक्षरार्थमात्र ही प्राकृतिक-मानवों के लिए सर्वथा निरपेक्ष बना हुआ है, तो फिर तदनुगता भारतीय-पद्धतियों के सम्बन्ध में रूक्षता-कर्कशता-की कल्पना कर बैठना कदापि कम से कम बुद्धिगम्य पक्ष तो नहीं ही कहा जासकता। वैसे 'मुखविवर' स्वतन्त्र है, वागिन्द्रिय भी स्वतन्त्र, एवं बोलने की शक्ति में भी मानव पूर्ण स्वतन्त्र। बिना शब्दार्थसमन्वय के कुछ भी कहा-सुना जासकता है। कोई आपत्ति नहीं है। और फिर हम उनकी जीवनपद्धति के सम्बन्ध में निवेदन कर भी कहाँ रहे हैं ?। स्वतन्त्र हैं वे अपनी जीवनपद्धतियोंमें। निवेदन

तो हमें उस देश की उस मानवप्रज्ञा से कर देना है, जो अपने आप को कह तो रही है भारतीय, एवं उपयोग कर रही है वह यहाँ के शब्दकोश का, किन्तु व्यवहार में सर्वथा भारतीय-पद्धति-भारतीय शब्दार्थमर्य्यादा की उपेक्षा ही करती जारही है। अनुकरण अन्य किसी अज्ञाता पद्धति का, छाप उस पर भारतीय-संस्कृति की। एतावन्मात्र ही विसंवाद है हमारा। हमनें कभी यवनों की सभ्यता की आलोचना करना आवश्यक नहीं समझा। अमेरिका-रूस-इंग्लेण्ड-आदि की जीवनपद्धतियों से भी कोई सम्पर्क नहीं है हमारा। अवश्य ही वे अपने अपने देश-काल-पात्र-योग्यता-शिक्षा-सभ्यता-आदि के अनुपात से ठीक ही होंगे। किन्तु भारतवर्ष की संस्कृति का नामकरण तो करना भारतीय शब्दों के द्वारा, एवं अर्थ, और व्यवहार में सर्वत्र नामकरणों से विपरीत ही गमन करना, यही वह शूल है, जो अवश्य ही प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी भारतीय भानव को हमारी ही भाँति निश्चयेन उत्पीड़ित ही कर रहा होगा। जिस भारतीय मानव को यह शूल उत्पीड़ित नहीं कर रहा, यह उसका, और उसके साथ साथ हमारा भी राष्ट्रानुबन्ध से दुर्भाग्य ही माना जायगा।

२४६-भारतीय 'संस्कृतिक-आयोजनों' की लोकोत्तरा आनन्दमाधुरी—

अब बात शेष रह जाती है उस रूक्षता-कर्कशता-की, जिस कल्पित अभियोग का इसलिए यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है कि, हम उदाहरण के लिए एक सामान्य से सांस्कृतिक-आयोजन की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं, और वे अपने कल्पित किसी बड़े से बड़े प्राकृत-आयोजन का व्यक्त स्वरूप रखदें। स्वयं वे ही दोनों का समतुलन करें। एवं तदनन्तर ही वे ही यह निर्णय व्यक्त करने का अनुग्रह कर दें कि, दोनों में कौन कर्कशा-रूक्षा है ?, एवं कौन सरसा-आनन्दमयी है ?। उदाहरण बतलाने की आवश्यकता वस्तुतः न हमें हैं, न उन्हें हीं। उनके उदाहरण तो आज सर्वात्मना जागरूक हैं हीं। हमारे उदाहरण दुर्भाग्यवश हमारी संस्कृति के रक्षकवर्गों के अन्तर्लीन हो जाने के कारण पूर्णरूप से तो आज व्यवस्थित नहीं रह पाए हैं। तथापि गच्छतः-स्खलनरूप से जो कुछ स्वरूप बचा रह गया है एकमात्र संस्कृति प्रवर्त्तक-संरक्षक जगदीश्वर के अनुग्रह से, एवं ईश्वरनिष्ठा-आस्था-श्रद्धा-शीला जनता के अनुग्रह से, वही पर्य्याप्त है तथाविध समतुलन के लिए। **रक्षाबन्धन-विजयदशमी-होलिका-दीपावली** आदि आदि में से किसी भी सांस्कृतिक-आयोजन पर दूर खड़े खड़े दृष्टिमात्र ही डाल लेने का अनुग्रह कर लीजिए। निश्चयेन आप को यह अवनतशिरस्क बन कर मान ही लेना पड़ेगा कि, शान्तानन्दपूर्वक प्रकृति का जैसा समृद्धानन्द इन भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों में समसमन्वित हुआ है, वर्त्तमान आयोजन अपनी समस्त शक्ति का व्यय करके भी ऐसे समतुलन की अपने आत्म-देवभाव वञ्चित केवल-प्राकृत-आयोजनों में कल्पना भी तो नहीं कर सकते।

प्रकृति की किस छटा से भारतीय मानव विभोर नहीं हुआ ?। प्रकृति के किस पर्व पर इसने आयोजन नहीं मनाया ?। इसने अपने किस प्राकृतिक क्षण को आनन्दायोजन से वञ्चित रक्खा ?। इसने जो आनन्दोल्लास जन्म समय में उपक्रान्त किया, उसे जीवनपर्य्यन्त पर्व-उत्सव-सम्मेलन-समारोहों से श्वः-श्वः-उत्तरोत्तर परिवर्द्धित ही बनाए रक्खा। सर्वान्त में निधनावस्था पर भी इसने गायन-वादन-नर्त्तन के साथ ही भूतपति महामहेश्वर की आराधना से, उनके ताण्डवनृत्यस्थान (श्मशान) से अपने आपको जीवनीयरस से ही समन्वित किया। सर्वत्र सब अवस्थाओं में व्यक्तितः-परिवारतः-समाजतः-राष्ट्रतः-इसने आनन्द ही आनन्द की तो उपासना प्रक्रान्त रक्खी, जिस प्रक्रान्ति के एक एक अङ्ग-प्रत्यङ्ग की सूची भी आज के बुद्धिवादी को भी थका देने की क्षमता रख रही है।

२४७-केवल जड़भावात्मक वर्त्तमान 'प्रकृतिप्रेम', और भारतीय-सर्वसमन्वयात्मक प्रकृति का आराधन—

प्राकृतिक-प्रेम ! ! ! हाँ प्रेम की घोषणा अवश्य ही आज नवीन है। न प्रकृति नवीन है, न प्रेम शब्द ही नवीन है। किन्तु दोनों की व्याख्या अवश्य ही अश्रुतपूर्वा है। क्या अर्थ है-'**प्राकृतिक प्रेम**' का ?, प्रश्न के समाधान के लिए अन्य निबन्ध देखने का ही अनुग्रह करना चाहिए। अभी हमें भारतीय-आयोजनों में से एक दो आयोजनों की रूपरेखा बतलाने की चेष्टा करनी है। विषय विस्तृत होता जारहा है। अतएव इस प्रेमचर्चा को यहीं उपरत कर दिया जाता है। प्रसङ्गसमन्वयमात्र के लिए यही निवेदन कर दिया जाता है इस सम्बन्ध में कि, भारतीय मानव ने प्रकृति का '**पूजनात्मकप्रेम**' किया है, जबकि आज के प्रेम की परिभाषा है-'**कामात्मकप्रेम**'। पूजन का आधार है-'**श्रद्धारस**', एवं काम का आधार है **जड़भूत**। श्रद्धारसात्मक प्राणवान् **जीवितप्रेम** ही पूजनात्मक प्रेम है, एवं कामात्मक निष्प्राण--भूतासक्तिलक्षण--प्रेम हीं जड़प्रेम है। श्रद्धाप्रेम में प्रेमी--प्रेमपात्र--प्रेमपद्धति सब का स्वरूप अक्षुण्ण है, जब कि कामप्रेम में प्रेमीजी--प्रेमपात्रजी और प्रेमपद्धतिजी-सभी धूलिधूसरित बन जाते हैं। अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है इस देश का **प्रकृतिपूजनात्मक-शक्त्याराधनतत्त्व**, जिसे बिना श्रद्धा के सुनना-सुनाना भी निषिद्ध माना गया है। अतएव इस दिशा में विशेष व्याख्या करने में हम असमर्थ हैं। माता प्रकृति के अज्ञात-यत्किञ्चित्-अणुप्रदेश से अपना कायस्वरूप व्यक्त करने वाला यह असमर्थ सेवक क्या योग्यता रखता है मातप्रकृति के पूजनप्रकार की व्याख्या करने की।

> **यच्च किञ्चिद्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाऽखिलात्मिके ।**
> **तस्य सर्वस्य या शक्तिः सात्वं किं स्तूयसे तदा ॥**
> —रहस्यशास्त्रे

२४८-महामाया प्रकृति से राष्ट्रोद्बोधन के लिए अनुग्रहभिक्षायाञ्चा—

जगन्माता जगदम्बा प्रकृतिदेवी से प्रणतभावपूर्वक यही कामना है प्रस्तुत प्रसङ्ग में कि, अपनी सहज-सिद्धा-'**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति**' इस कृपा का स्मरण कर हम भ्रान्त-भारतीयों का उद्बोधन करातीं हुईं वे आज हमें अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता, अपने सांस्कृतिक-आयोजन-अपने आचार-व्यवहार-आदर्श-शिल्प-कला-सङ्गीत-आदि आदि अपनीं ही आत्म-देवानुबन्धिनीं विभूतियों के प्रति स्व-दर्शनमूला-निष्ठा प्रदान करने का अनुग्रह करें, जिस स्वदर्शन के बिना, साथ ही भावुकतामूलक-परदर्शनानुगत आत्मबुद्धिस्वरूपविमोहन के द्वारा हम आज के उसके कुपुत्र भारतीय उसके पूजन-आराधना-प्रकारों से भी दुर्भाग्यवश अपरिचित रहते हुए सर्वथा ही दिग्भ्रान्त-उद्भ्रान्त-क्लान्त-श्रान्त बने हुए हैं। एकमात्र माताप्रकृति ही हमें इन भावुकतापूर्ण भ्रान्तियों के महामोहात्मक उन गर्त्तों से निकाल सकतीं हैं, जिन अन्ध-गर्त्तों के भी अन्तस्तलों में निमज्जित हम भारतीय सर्वथा ही लक्ष्यविहीन बनते जा रहे हैं। सम्भव है प्रकृति-पूजनात्मक, देवप्राणप्रधान-पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मक भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा से हमारा ध्यान संस्कृति के मौलिक स्वरूप की ओर सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः आकर्षित हो सके, एकमात्र इसी मङ्गल-कामना से इन आयोजनों के एक दो उदाहरणों की संक्षिप्ता-रूपरेखा प्रस्तुत निबन्ध में उपस्थित कर दी जाती

है, जोकि इस प्रक्रान्त द्वितीय प्रकरण का प्रतिज्ञात विषय है। श्रयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् ! किन्तु आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

२४९-राष्ट्रीय आयोजनात्मक-'पर्व', सामाजिक आयोजनात्मक-'उत्सव', पारिवारिक आयोजनात्मक 'सम्मेलन', तथा वैय्यक्तिक आयोजनात्मक 'समारोह' नामक भारतीय चतुर्विध सांस्कृतिक-आयोजन—

मानवीय आत्मा से अनुप्राणित भारतीय **पर्व**, बुद्धि से अनुप्राणित **उत्सव**, मन से अनुप्राणित **सम्मेलन**, एवं शरीर से अनुप्राणित **समारोह**, भेद से चार वर्गों में विभक्त भारतीय सांस्कृतिक-आयोजन एक अन्य दृष्टि से क्रमशः **पर्वात्मक राष्ट्रीय आयोजन**, **उत्सवात्मक सामाजिक-आयोजन**, **सम्मेलनात्मक पारिवारिक आयोजन**, एवं **समारोहात्मक वैय्यक्तिक आयोजन**, इन अभिधाओं से भी समन्वित किए जा सकते हैं, जैसाकि पूर्व परिच्छेदों में यत्रतत्र विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। इन चारों वर्गों से समन्वित पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोह नामक चारों आयोजनों के अवान्तर अनेक विभेद हैं, जिनके क्रमिक समन्वय के लिए तो भारतीय सांस्कृतिक-इतिहासरूप रहस्यपूर्ण पुराणशास्त्र का ही अध्ययन करना चाहिए। बिना पुराणशास्त्र-स्वाध्याय के अन्यान्य भावुकतापूर्ण प्रयत्नसहस्रों से भी भारतीय लोकसंस्कृति-लोकसभ्यता से सम्बन्ध रखने वाले प्राणवान् सांस्कृतिक आयोजनों का, प्राणवती सभ्यता का अंशतः भी परिचय नहीं प्राप्त किया जा सकता। दुर्भाग्यवश वेदशास्त्रवत् तदुपबृंहणरूप पुराणशास्त्र का भी तात्त्विक अध्ययनाध्यापन क्योंकि अनेक शताब्दियों से विलुप्तप्राय हो गया है। अतएव वेदशास्त्र-स्वाध्याय-परम्पराओं के शिथिल हो जाने से जैसे भारतीय सांस्कृतिक-आचारनिष्ठालक्षण-**मोक्ष**, **धर्म्म**, **काम**, **अर्थ** नाम की चारों आचारात्मिका शास्त्रीय-संस्कृतियों का अभिभव हो गया, एवमेव पुराणशास्त्र की परम्परा के विच्छिन्न हो जाने से **पर्व-उत्सव-सम्मेलन-समारोह**-नामक चारों सांस्कृतिक-आयोजनों का भी एक प्रकार से अभिभव ही हो गया। एवं तत्स्थान में 'संस्कृति' की मौलिकता से वञ्चित परिवर्त्तनशील सत्तातन्त्रों की युगधर्म्मानुगता जड़-भूत-सभ्यताओं के निष्प्राण जड़-भूतभौतिक प्रतीक ही 'संस्कृति' नाम से व्याख्यात होने लग पड़े जड़भूतात्मक परिचयचिन्हों के अन्वेषक पुरातत्त्व-विशोधकों की कृपाकोर से।

२५०-भौतिक ध्वंसावशेषों का काल्पनिक-व्यामोहन, एवं वर्त्तमान पुरातत्त्ववादियों का विभ्रामक-सांस्कृतिक-दृष्टिकोण—

'भस्मान्तं शरीरम्' का मर्म्म समझने वाली जिस भारतीय-प्रज्ञा ने निष्प्राण-शवशरीरी मानव के वसन-आभूषण-परिग्रहादि परिचयचिन्हों का महाब्राह्मण के प्रति उत्सर्ग कर देना हीं अपना सांस्कृतिक-कर्त्तव्य माना हो, वह इन परिचयचिन्हों को संस्कृति के स्वरूप मान ही कैसे सकती थी। इसकी संस्कृति तो वह आचारसंस्कृति है, जिसका मानवीय-जीवन के अभ्युदय-निःश्रेयस् से अन्यतम (तादात्म्य) सम्बन्ध है। कदापि यह प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। अतएव कदापि निष्प्राण-कङ्कालावशेष संस्कृति के परिचायक नहीं माने जा सकते। हाँ अमुकसीमा-पर्य्यन्त इन भौतिक-ध्वँसावशेषों को सत्तातन्त्रानुगता परिवर्त्तनशीला सभ्यता के परिचयचिह्न अवश्य ही माना, और मनवाया जा सकता है, जिस इत्थंभूता मान्यता के गर्भ में सत्तापदलोलुपता-लक्षणा लोकैषणा ही प्रच्छन्नरूपेण प्रतिष्ठित रहा करती है।

२५१--ललितकला--लोकशिल्प--लोकनृत्य-वाद्य-गान--आदि आदि लोकविजृम्भणों की भारतीय--'सांस्कृतिक--सीमा' से असंस्पृष्टता—

यही अवस्था उन लोकशिल्पों--लोककलाओं, आज की भावुक भाषा में ललितकलाओं--लोकनृत्यों--लोकवाद्यों, आदि आदि लोकविजृम्भणों की है, जिन्हें ध्वंसावशेषों की ही भाँति आज संस्कृति के महान् प्रतीक माना--मनवाया जा रहा है। किसी ने अपनी तूलिका से अपने मानस भावों के अनुरूप विचित्र प्रकार का रेखाङ्कनमात्र कर दिया, तो वह महान् सांस्कृतिक--कलाभाव बन गया। किसी ने विविधाकार--चित्रणयुक्त मृत्पात्र बना डाला, तो वह सांस्कृतिक--कलाकृति हो गई। किसी ने विचित्र--भावभङ्गिमा के द्वारा उछल--कूद कर ढोलक बजा कर--घूँघट में, किंवा नग्नमुखरूपेण उत्तालमुद्राओं से नाचना आरम्भ कर दिया, गला फाड़ना आरम्भ कर दिया, तो यही वेतालचेष्टाएँ महान् सांस्कृतिक--आयोजन बन बैठे, जिन इत्थंभूत--मानसशिल्पों, कलाकृतियों, लोकनृत्यों, आदि आदि के साथ कदापि भारतीय--संस्कृति का, किंवा सांस्कृतिक--आयोजनों का तो कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यही नहीं, इन कल्पनाप्रसूनों को तो भारतीय--सभ्यता के भी आयोजन नहीं माना जा सकता। अपितु यह सब अकाण्डताण्डव तो हमारी स्खलित--अव्यवस्थित--असन्तुष्ट--अतृप्त--अशान्त--क्षुब्ध--मनोवृत्तियों के तात्कालिक **'अनुरञ्जन'** नामक तात्कालिक काल्पनिक विजृम्भणमात्र ही हैं, जिनसे हम अपने मनोराज्य में क्षणमात्र के लिए यह भ्रान्ति अवश्य कर लेते हैं कि, मानों इनसे हमारा मन सन्तुष्ट हो गया, जब कि बात होती है ठीक इसके विपरीत ही। विजृम्भणात्मक--काल्पनिक अनुरञ्जन तो मानवीय मन के सहजसिद्ध प्रसादगुण को उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुख ही बनाते जाते हैं, जिस अन्तर्म्मुखता को तत्काल मन अनुभव कर ही नहीं सकता। इस धारावाहिक मनो--रञ्जक--क्रम से जब मन की सत्त्वविभूति सर्वथा ही अन्तर्म्मुख बन जाती है, तभी इसके भयानक परिणामों का उदय होता है। उस परिणामदशा में पहुँचने के अनन्तर बौद्धिक--विवेक से सर्वथा पृथक् हो जाने वाला मन **'बुद्धिमानी'** पथ को जलाञ्जलि समर्पित कर वैसी **'मनमानी'** ही करने लग पड़ता है, जिससे यह अपने साथ साथ अपने परिग्रहमण्डल को भी सर्वथा निर्लक्ष्य ही बना लेता है।

२५२--भारतीय सांस्कृतिक--आयोजनों के नित्य--नैमित्तिक, एवं काम्य विवर्त्तों का स्वरूपदिग्दर्शन—

भारतीय मानव 'संस्कृति' शब्द के चिरन्तन इतिहास के माध्यम से अपने भारतीय--सांस्कृतिक--आचारात्मक, अतएव प्राणवान्--जीवन्त--आयोजनों को समझने का प्रयास करे, तद्द्वारा उन विस्मृतप्राय आयोजनों को व्यवस्थापूर्वक अपनी जीवनपद्धति के साथ समन्वित करे, इस समन्वयात्मक आचार से यह अपने मन को सशक्त--सबल--सवीर्य्य--बनाता हुआ बुद्धिनिष्ठा का अनुग्रह प्राप्त करे, इस बुद्धिनिष्ठा के द्वारा संस्कृतिमूर्त्ति--समब्रह्म--रूप अव्ययात्मब्रह्म के साथ सायुज्यभाव प्राप्त कर तद्द्वारा अपना आत्म-स्वरूपानुगत मानवजीवन सफल बनावे, इसी पारम्परिक--मङ्गल--क्रम की ओर भारतीय मानव का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही उसके सांस्कृतिक--आयोजनों के कतिपय उदाहरण अत्र उपस्थित हो रहे हैं।

तथाकथित पर्वोत्सवादि के असंख्य भेद हैं, यह निवेदन किया जा चुका है। चारों के स्थूलतम अवान्तर वर्गभेद आरम्भ में १२ बारह हो जाते हैं। चारों हीं आयोजन **नित्य--नैमित्तिक--काम्य--रूप**

से तीन तीन अवान्तर वर्गों में विभक्त हैं। नित्यपर्व, नैमित्तिकपर्व, काम्यपर्व, एवमेव नित्योत्सव–नैमित्तिकोत्सव–काम्योत्सव, तथैव नित्यसम्मेलन, नैमित्तिकसम्मेलन, काम्यसम्मेलन, तथैव च नित्यसमारोह, नैमित्तिकसमारोह, काम्यसमारोह, भेद से चारों हीं तीन तीन अवान्तर वर्गों में विभक्त हैं। इन अवान्तर वर्गों का प्रत्येक अवान्तरवर्ग भी प्राणदेवादि के भेद से अवान्तर असंख्य भेदों में विभक्त हो रहा है।

२५३--भारतराष्ट्र के नित्य–राष्ट्रीय–पर्व—

उदाहरण के लिए नित्य–नैमित्तिक–काम्य–पर्वों में से केवल नित्यपर्वों को ही लीजिए। तत्र केवल एक तिथिपर्व की दृष्टि से ही तिथि की संक्षिप्ता सूचीमात्र उपस्थित कर दी जाती है, जिससे भलीभाँति यह अनुमान तो लगाया ही जा सकता है कि, भारतीय जीवन किस प्रकार सदा से ही प्रकृतिपूजन के द्वारा अपने लोकजीवन को शान्ति–स्वस्ति–तुष्टि–पुष्टि–समृद्धि–आनन्द–पूर्वक उत्तरोत्तर अभ्युदय–निःश्रेयस् का अधिकारी बनाता रहता है (बनाता रहता था)। यह तो आत्मानुबन्धी, अतएव देवप्रधान 'पर्व' नामक एक सांस्कृतिक–आयोजन के भी नित्य–नैमित्तिक–काम्य–इन तीन अवान्तर वर्गों में से केवल नित्य–पर्व–वर्ग की ही, तत्रापि शुक्लपक्षानुगता तिथियों की ही, तत्रापि प्रमुख–प्रमुख नित्य पर्वों की ही संक्षिप्ततमा सूची है। अवश्य ही आज के आयोजन-प्रेमियों की दृष्टि में इस नित्य–पर्व सूची का कोई महत्त्व नहीं है। यही नहीं, वे इसे सर्वथा निरर्थक भी मान सकते हैं। मानना भी चाहिए निरर्थक ही। क्योंकि इन पर्वों का आचारात्मक पक्ष सचमुच आज सर्वथैव रूढ़िग्रहग्रस्त बनकर अपने मौलिक सांस्कृतिक स्वरूप से अभिभूत हो गया है। अतएव ये नित्यपर्व आज तो केवल आत्मप्रतारणा के ही साधन, अथवा तो भावुक धर्म्मभीरुओं की तात्कालिक–प्रवञ्चनाओं के ही साधक बने हुए हैं। किन्तु स्वयं पर्व का इस अपराध से कोई सम्बन्ध नहीं माना जासकता। जीवनीय अन्न हमारी मूर्खता से अतियोग–मिथ्यायोग–हीनयोग–अयोग–भावों के कारण समत्त्वयोग से वञ्चित होता हुआ जीवन के स्थान में यदि मृत्यु का कारण बन जाता है, तो इसमें अन्न का क्या अपराध ?। इसी विवेकभावना से आस्था–श्रद्धापूर्वक हमें पर्वसूची को लक्ष्य बनाना चाहिए। एवं यथाशक्य इनके आचारात्मक पक्ष का जीवनपद्धति के साथ समन्वय करते रहना चाहिए।

२५४–नित्य–नैमित्तिक–काम्य–भेद से त्रिविध राष्ट्रीय–पर्वों का स्वरूप दिग्दर्शन—

स्पष्ट है कि, **पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह**–इन चार सांस्कृतिक–आयोजनों के प्रत्येक के **नित्य–नैमित्तिक–काम्य**–भेद से बारह अवान्तर श्रेणिविभाग हो जाते हैं। पूरे सम्वत्सर (वर्ष) के ३६० (तीनसौ साठ) अहोरात्र (दिनरात) उस सौरकालचक्र के ही अङ्गात्मक अवयव हैं, जिस सौरकालचक्र का स्वरूप **वसु–रुद्र–अग्नि–यम–मृत्यु–ईशान–भग–अर्य्यमा–सविता–सरस्वती–विष्णु–पर्जन्य–इन्द्र–धाता–पूषा–मित्र–वरुण–अंशु–विवस्वान–त्वष्टा–नाभानेदिष्ठ–बालखिल्या–एवयामरुत्–वृषाकपि–शवसोनपात्**–आदि आदि विभिन्न दिव्यशक्तिरूप देवप्राणों से सम्पन्न हुआ है। सर्वदेवप्राणसमष्टिरूप, अतएव **'आधिदैविक'** उपाधि से सुविभूषित देवप्राणघन * भगवान् सूर्य्यनारायण के कालचक्रात्मक सम्वत्सरमण्डल के अवयवरूप ३६० अहोरात्रसमष्टि, तथा व्यष्टिरूप से उभयथा किसी न किसी आधिदैविक दिव्यप्राण से अवश्यमेव समन्वित है। तत्तत् प्राणदेवताभोगानुबन्धी तत्तत् अहोरात्र से अनुप्राणित तत्तत्

* **चित्रं देवानामुदगात्** (यजुःसंहिता)।

प्राणदेवता को आधार बना कर नियमित–नित्य रूप से प्रवृत्त–प्रक्रान्त रहने वाले प्रकृतिसिद्ध–नित्य–देवकर्म्म–विशेषों का ही नाम है-**'नित्यपर्व'** । ये ही नित्यपर्व विशेष निमित्तों के अनुबन्धों के तारतम्य से **'नैमित्तिकपर्व'** बन जाते हैं, एवं फलविशेषकामनाओं के अनुबन्ध से ये ही–**'काम्यपर्व'** रूप में परिणत हो जाते हैं । यों विश्वेश्वर की सौरदेवमयी प्रकृति से अनुप्राणित प्राणदेवों के नित्य–नैमित्तिक–काम्य–भोगों के अनुबन्ध से देवप्राणनिबन्धन राष्ट्रीय–पर्व तीन अवान्तर श्रेणिविभागों में परिणत हो जाते हैं, जिनका भारतीय संस्कृति के प्राणवान् इतिहासात्मक पुराणशास्त्र में यत्रतत्र विस्तार से, तथा संक्षेप से गाथा–महात्म्य–कथा–आदिरूप–से उपबृंहण हुआ है । राष्ट्रीय त्रिविध पर्वों की आचारात्मिका पद्धति के समन्वय, एवं स्वरूपबोध के लिए तो आस्था–श्रद्धाशील राष्ट्रीय मानवों को निष्ठापूर्वक आर्य्यसर्वस्वरूप पुराणशास्त्र का ही स्वाध्याय करना चाहिए । तदर्थ प्रारम्भ की भूमिका के लक्ष्य से हम राष्ट्रीय–मानवों का ध्यान सुप्रसिद्ध **'बृहन्नारदीयपुराण'** की ओर ही आकर्षित करेंगे, जिसमें सम्वत्सर की तिथियों के अनुपात से इन राष्ट्रीय पर्वों का, तत्रापि विशेषतः तिथ्यनुगत नित्यपर्वों का दिग्दर्शन हुआ है । प्रकृत में उसी पुराण के आधार पर तिथिक्रमानुसार पर्वों की संक्षिप्त तालिका–मात्र उद्धृत कर दी जाती है, जो निश्चयेन सांस्कृतिक–राष्ट्रीय–मानव का ध्यान तो अपने भारतराष्ट्र की महामङ्गलमयी सांस्कृतिक–जीवनपद्धति की ओर अवश्यमेव आकर्षित करेगी । लक्ष्यीभूता पर्वसूची के सम्बन्ध में यह निवेदन कर देना भी आवश्यक होगा कि, प्रकृत सूची में शुक्लपक्ष की प्रतिपत् (पड़वा) तिथि से आरम्भ कर पूर्णिमापर्य्यन्ता तिथि के शुक्लपक्षीय पर्वों का ही समावेश अत्र पर्य्याप्त मान लिया गया है विस्तारभिया । कृष्णपक्ष की तिथियों में भी यत्किञ्चित् भेद के साथ शुक्लपक्षीय पर्व ही यथाक्रम क्योंकि समन्वित हैं । इसलिए भी उनकी स्वतन्त्रसूची अनावश्यक मान ली गई है ।

२५५–(१) शुक्लपक्ष की प्रतिपत्तिथि (पड़वा) के राष्ट्रीय पर्व —

१–चैत्रशुक्लप्रतिपत् के पर्व–		विद्याव्रत, गार्हपत्याग्नि में वेदस्रष्टा ब्रह्मा की तुष्टि के लिए हवन (यह तिथि कल्पव्यवस्थानुपात से सृष्ट्यारम्भकाल माना गया है) ।
२–वैशाख	,,	सृष्टिसर्ज्जक चतुर्म्मुख ब्रह्मा की आराधना, तथा सृष्टिपालक चतुर्भुज विष्णु का स्तवन ।
३–ज्येष्ठ	,,	सूर्य्योदयवेला में रक्तकरवीर (कनैर) पुष्प का पूजन, रक्तसूत्र से तदावेष्टन (सूर्य्यप्रतीकोपासनापर्व)
४–आषाढ	,,	साम्बसदाशिवोपासनापर्व ।
५–श्रावण	,,	लक्ष्मी (भूतसम्पत्ति), तथा श्री–(प्राणसम्पत्ति)–संसाधक पञ्चवक्त्र–महाशिवाराधनपर्व ।
६–भाद्रपद	,,	शिवाराधनपूर्वक 'मौनव्रत', 'महत्तमव्रत', तथा षोडशफलदानपूर्वक षोडश–संख्यायुक्त ब्राह्मणपूजन ।
७–आश्विन	,,	'अशोकमहिमव्रत', अशोकवृक्षपूजन, अशोकमूर्त्तिदान । नवरात्रस्थापनपर्व, आद्याभगती का आराधन ।
८–कार्त्तिक	,,	नवसस्येष्टियज्ञ, अन्नकूट, मार्गपाली–(कुशगौ)–पूजन, गोवर्द्धनपूजन, रक्षादेवी–आराधन ।

९–मार्गशीर्षशुक्लप्रतिपत् के पर्व–धनव्रत, रात्रि में विष्णुस्तवन, रक्तवस्त्रदान, गृह्यहोम।
१०–पौष ,, हिरण्मयाण्डमूर्त्ति सूर्य्यनारायण का आराधन, एकाशन, हवन।
११–माघ ,, हिरण्यरेता हव्यवाट् अग्निदेव का आराधन, यजन, हवन।
१२–फाल्गुन ,, मदनदहनकर्त्ता दिगम्बर रुद्रात्मक शिव का आराधन।

——१——

२५६–(२)–शुक्लपक्ष की द्वितीया (दोज) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्लद्वितीया के पर्व–साक्षात्तेजोमयी सावित्री से अभिन्न सौर हिरण्यगर्भब्रह्मा का आराधन, हवन, हविष्यान्न का नैवेद्यार्पण। नेत्रस्वास्थ्यव्रत, रजतनेत्रदान।
२–बैशाख ,, सप्तधान्य समन्वित वारुणकलश (घट) का पूजन, तत्र भगवान् विष्णु का आराधन, जलघटदान, प्रपादान (पथिकजलवितरण–प्याऊ लगाना)।
३–ज्येष्ठ ,, चतुर्भुजात्मक स्वस्तिक (साथिया) मूर्त्ति चतुर्मुखवेदमूर्त्ति सौर ब्रह्मा का आराधन, हवन, पूजन।
४–आषाढ ,, त्रिनाभि–सप्ताश्व–एकचक्रात्मक हिरण्मयरथ की प्रतीकात्मिका रथयात्रा, सौरसम्वत्सरप्रतीकोपासना।
५–श्रावण ,, पारमेष्ठ्य ब्रह्मा का शयनमहोत्सवपर्व, शय्यास्थ ब्रह्मा का आराधन–स्तवन।
६–भाद्रपद ,, सौर मघवा नामक इन्द्र का आराधन, सोमपानव्रतानुष्ठान।
७–आश्विन ,, सर्वविध दानव्रतानुष्ठान–द्वारा यमदंष्ट्रा की उपशान्ति।
८–कार्त्तिक ,, यम–यमी–पूजन, भ्रातृद्वितीया (भाईदोज), मसीपात्र, तथा लेखिनी–पूजन।
९–मार्गशीर्ष ,, नान्दीश्राद्ध के द्वारा पितृतर्पण, पितृपूजन।
१०–पौष ,, श्रीबालचन्द्रपूजन, गोशृङ्गपूजन, गोशृङ्गोदक से मार्जन, उपवास, हविष्यान्नभक्षण।
११–माघ ,, रक्तकरवीरदान–पूर्वक सूर्य्याराधन। गोधूम (गेहूँ) परिपूर्ण ताम्रकलश का दान।
१२–फाल्गुन ,, श्वेतपुष्पों से ज्ञानप्रदाता क्षीराभ शिव का आराधन, पुष्पविमान के द्वारा शिवपूजन।

——२——

२५७–(३)–शुक्लपक्ष की तृतीया (तीज) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्लतृतीया के पर्व–गणपतिगौरी (सवत्सा पार्वती का आराधनात्मक गणगोरपर्व) जयन्तीपर्व, गौरीपूजन, स्तवन (स्त्रीप्रधानपर्व)।

२–वैशाखशुक्लतृतीया के पर्व-अक्षयतृतीयापर्व (त्रेतायुगारम्भपर्व), सक्तुव्रत, भागीरथीस्नानपर्व, नारायणस्तवन, हवन ।
३–ज्येष्ठ ,, रम्भातृतीयाव्रत, स्त्रियों के द्वारा ब्राह्मणदम्पती का पूजन ।
४–आषाढ ,, लक्ष्मीनारायणपूजन, हवन । स्त्रियों के द्वारा व्रतानुष्ठान ।
५–श्रावण ,, स्त्रियों के द्वारा '**स्वर्णगौरीव्रत**' का अनुष्ठान (तीज का मेला) । हरितालिका–तृतीयाव्रत । साम्बसदाशिवानुगता अर्द्धनारीश्वरोपासना, एवं व्रत ।
६–भाद्रपद ,, हरितालिकाव्रत । हस्तनक्षत्रानुगत '**हस्तगौरीव्रत**' । कोटीश्वरी–लक्षेश्वरी–व्रत । (कोटि, किंवा लक्ष अक्षतों से विनिर्म्मिता गौरीप्रतिमा का पूजन–स्त्रियों के द्वारा) ।
७–अश्विन ,, बृहद्गौरीव्रतानुष्ठान ।
८–कार्त्तिक ,, विष्णुगौरीव्रतानुष्ठान ।
९–मार्गशीर्ष ,, हरगौरीव्रतानुष्ठान ।
१०–पौष ,, ब्रह्मगौरीव्रतानुष्ठान ।
११–माघ ,, सौभाग्यसुन्दरीपूजनाराधन ।
१२–फाल्गुन ,, कुलसौख्यदा पूजनाराधन ।

——३——

२५८–(४)–शुक्लपक्ष की चतुर्थी (चौथ) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्ल–चतुर्थी के पर्व-वासुदेवस्वरूप गणपतिपूजनाराधन ।
२–वैशाख ,, संकर्षणस्वरूप गणपतिपूजनाराधन । शङ्खदान ।
३–ज्येष्ठ ,, प्रद्युम्नस्वरूप गणपतिपूजनाराधन पुष्प–फलदान । सतीव्रत ।
४–आषाढ ,, अनिरुद्धस्वरूप गणपतिपूजनाराधन । ब्राह्मणसंन्यासी को कमण्डलुदान । रथ-व्रत (सूर्य्यप्रतीकात्मक) ।
५–श्रावण ,, दूर्वागणपतिव्रतानुष्ठान । चन्द्रोदयवेला में गणपतिपूजनाराधन ।
६–+भाद्रपद ,, सिद्धिविनायकपूजनाराधन (श्रीमहागणपतिचतुर्थी–महाराष्ट्रीय महापर्व) चन्द्र-दर्शननिरोध । फल–मिष्टान्न–पुष्पादि प्रक्षेप ।
७–आश्विन ,, पुरुषसूक्तद्वारा कपर्द्दीश विनायक का पूजनाराधन ।
८–*कार्त्तिक ,, प्रातः शुद्धयनन्तर धेनुश्रृङ्गजल का पान । नागपूजन ।
९–मार्गशीर्ष ,, मूषकमूर्त्तिनिर्म्मित रथ पर आरूढ गणपतिप्रतिमा का पूजनाराधन, तथा 'वर-व्रत' का अनुष्ठान ।

+ भाद्रपदकृष्णचतुर्थी को विशेष—बहुलाधेनुकापूजनाराधन ।
* कार्त्तिककृष्णचतुर्थी को विशेष—स्त्रियों के लिए करकचतुर्थीव्रतानुष्ठान (करवाचौथ) । चन्द्रोदय-वेला में गणपतिपूजन, दश ब्राह्मणों को भोजन, तदनन्तर व्रतपारण ।

१०–पौषशुक्ल-चतुर्थी के पर्व–गणपतिपूजनाराधन । तदनन्तर ब्राह्मण का मोदकभोजन से सन्तर्पण ।
११–÷माग " गौरीव्रततनुष्ठान । ढुण्ढिराजव्रतानुष्ठान । कुण्डीव्रतानुष्ठान । ललिताव्रतानुष्ठान । शान्तिव्रतानुष्ठान । आदि आदि ।
१२–फाल्गुन " ढुण्ढिराजव्रतानुष्ठान । तिलपृष्ट से ब्राह्मण का सन्तर्पण ।

— ४ —

२५६–(५)–शुक्लपक्ष की पञ्चमी (पाँच) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्ल-पञ्चमी के पर्व–मत्स्यजयन्तीपर्व । श्रीपञ्चमीपर्व । पृथ्वीव्रतपर्व । चन्द्रव्रतपर्व । हयग्रीवव्रतपर्व ।
२–वैशाख " अनन्त शेषपूजनाराधनपर्व ।
३–ज्येष्ठ " नान्दीमुखपितर–आराधना-पर्व ।
४–आषाढ " ग्राम–नगर तट पर कमलाङ्किता–पञ्चरङ्गध्वजा का आरोपण, एवं तद्द्वारा वायुपरीक्षण–वर्षापरीक्षण । वायुदेवताराधनपूजन । निराहारव्रतानुष्ठानपूर्वक भूतलशयन (वार्षिक शुभाशुभपरिज्ञानात्मिका स्वप्नरात्रि) ।
५–*श्रावण " नागपञ्चमी–व्रतानुष्ठानपर्व, अष्टविध नाक्षत्रिक–सर्पपूजन, दिव्यसर्पपूजन, भौतिक सर्पपूजन, सर्पबन्धनविमुक्ति, आस्तीकसंस्मरण, शीतलभोजन से व्रत–पारायण–आदि ।
६–+भाद्रपद " ऋषिपञ्चमी, ऋषितर्पण, वेदव्रतानुष्ठानात्मक महापर्व, सप्तर्षिपूजनाराधन, तन्निमित्त हवनादि ।
७–आश्विन " उपाङ्ग–ललिताव्रतानुष्टान, ललिताभगवती का पूजनाराधन, हवनादि ।
८–कार्त्तिक " जयाभगवती का व्रतानुष्ठान, ब्राह्मण को भोजनदान–हवनादि ।
९–मार्गशीर्ष " अष्टविध दिव्यनागपूजनाराधन, क्षीरदान ।
१०–पौष " पितृपूजन, नागपूजन, गृह्य हवनादि ।
११–माघ " श्रीपञ्चमीपूजन, वसन्तपञ्चमी से अनुप्राणित शारदापूजनानुष्ठान (शारदा-महोत्सव–वसन्तोत्सवोपक्रम) ।
१२–फाल्गुन " पितृपूजनानुष्ठान, हवनादि ।

— ५ —

÷ माघकृष्णचतुर्थी को विशेष–संकष्टव्रतानुष्ठान । चन्द्रोदयानन्तर मृण्मयी गणपतिप्रतिमा का पूजनाराधन
* श्रावणकृष्णपञ्चमी को विशेष—अन्नव्रतानुष्ठान, शिवपूजन, अन्नदानादि ।
+ भाद्रपदकृष्णपञ्चमी को विशेष—अष्टविध नागदेवताओं के लिए क्षीरदान ।

२६०-(६)-शुक्लपक्ष की षष्ठी (छठ) के राष्ट्रीय पर्व--

१-चैत्रशुक्ल-षष्ठी के पर्व—कुमारव्रतानुष्ठान, षरमुख स्वामिकार्त्तिकेय का पूजन, पुत्रदा षष्ठीव्रत, हवनादि।

२-वैशाख	,,	चैत्रशुक्लषष्ठीव्रत।
३-ज्येष्ठ	,,	सूर्य्यनारायणव्रत-पूजन-हवनादि।
४-आषाढ	,,	स्कन्दव्रत-पूजन-हवनादि।
५-श्रावण	,,	शरजन्माव्रत-पूजन-हवनादि।
६-*भाद्रपद	,,	चन्दनषष्ठीव्रत-देवीपूजन-हवनादि।
७-आश्विन	,,	कात्यायनीव्रत। (कुमारीकन्या उत्तम वरप्राप्ति के लिए बालू की कात्यायनी प्रतिमा बना कर पूजन करती है। गोपकुमारियोंनें श्रीकृष्णभक्ति-प्राप्ति के लिए इसी व्रत का अनुगमन किया था)।
८-कार्त्तिक	,,	सपत्नीक स्वामिकार्त्तिक का पूजन-स्तवन, अग्निपूजन, हवनादि। (इसी तिथि को श्रीकार्त्तिक का देवसेना के साथ परिणय हुआ था)।
९-मार्गशीर्ष	,,	तारकासुरवधानुगत स्वामिकार्त्तिक का पूजन-स्तवन। (इसी तिथि को कुमार कार्त्तिक ने देवविद्वेषी तारकासुर का वध किया था)।
१०-पौष	,,	
११-माघ	,,	वारुणीपर्व। (कूप-तड़ाग-नद-नदी-समुद्रादि में वरुणदेवता का पूजन-स्तवन)।
१२-फाल्गुन	,,	पार्थिवशिवलिङ्गपूजन स्तवन हवनादि।

— ६ —

२६१-(७)-शुक्लपक्ष की सप्तमी (सातें) के राष्ट्रीय पर्व—

१-चैत्रशुक्ल-सप्तमी के पर्व—सोपकरण-सपरिग्रह (सारथी-अश्व-रथ-ध्वज-आदि युक्त) सूर्य्यनारायण का षोडशोपचार पूजनाराधन।

२-वैशाख ,, **कमलव्रतानुष्ठान** (इस अनुष्ठान में नीम के पत्तों से सूर्य्य का पूजन होता है। भोज्यपदार्थों में नीम के पत्ते भी समाविष्ट रहते हैं, एवं अधःशयन होता है। इसी तिथि को **'शर्करासप्तमी'** व्रतानुष्ठान। सोमामृत का पान करते समय सूर्य्यमुख से कुछ बिन्दु भूतल पर गिर पड़े। उन्हीं से इक्षुरस (साँठे के रस) का निर्म्माण हुआ। अतएव यह व्रत शर्करासप्तमीव्रत कहलाया। भोज्य-पदार्थों में शक्कर का सेवन, शक्कर का दान आवश्यक। इसी तिथि को स्व

---

* **भाद्रपदकृष्णषष्ठी को विशेष**—ललिताव्रत। बालू मिट्टी से ललितादेवी की पाँच पार्थिव-पिण्ड-प्रतिमाएँ बना कर, बांस के छबले में रख कर स्वयं श्वेतवस्त्र पहिन कर गृहिणी के द्वारा पूजन-जागरण-व्रतपारण, एवं सप्तमी को प्रतिमाविसर्जन।

आसन को बहा ले जाने के कारण महर्षि जह्नु ने रुष्ट होकर गङ्गा का पान कर लिया था। तदनन्तर महाभाग भागीरथ की प्रार्थना करने पर कर्णद्वार से गङ्गाप्रवाह को प्रवाहित किया था। तभी से भागीरथी जाह्नवी (जन्हुकन्या) नाम से प्रसिद्ध हुई। अतएव **'गङ्गासप्तमी'** रूप से भी इस तिथि की मान्यता प्रसिद्ध है।

३–ज्येष्ठशुक्ल-सप्तमी के पर्व-इस तिथि में सौरमण्डल में **'मघवा'** नामक इन्द्रप्राण सर्वात्मना अभिव्यक्त रहता है, जो **'दक्षिणाक्षिपुरुष'** नामक **'चाक्षुषपुरुष'** के अधिष्ठाता माने गए हैं। इन्हीं इन्द्रदेव का व्रतानुष्ठान-स्तवन-हवनादि।

४–आषाढ " बारह प्रकार के आदित्यों में से **'विवस्वान्'** नामक आदित्य इस तिथि में सर्वात्मना अभिव्यक्त रहते हैं। इन्हीं विवस्वान् का व्रतानुष्ठान–स्तवन–हवनादि।

५–श्रावण " अव्यङ्गव्रतानुष्ठान, वस्त्रदान, हवनादि।

६–भाद्रपद " अमुक्ताभरणव्रतानुष्ठान। चन्द्रमा, तथा शिव का पूजनाराधन, हवनादि।

७–आश्विन " कपिलाव्रतानुष्ठान–कपिला गौ का पूजनाराधन–हवनादि।

८–कार्त्तिक " शाकसप्तमीव्रतानुष्ठान–शाकाहार, शाकदान।

९–मार्गशीर्ष " 'मित्र' नामक आदित्यव्रतानुष्ठान (कश्यप, तथा अदिति के दाम्पत्य से इस तिथि में सूर्य्य का प्रादुर्भाव)।

१०–पौष " अभयव्रतानुष्ठान, मार्त्तण्डव्रतानुष्ठान, सूर्य्यव्रतानुष्ठान, तथा मोदकभोजन, दान।

***११–माघ** " अचलासप्तमी–त्रिलोचनजयन्ती–रथसप्तमी–सूर्य्यसप्तमी–पुत्रसप्तमी–आदि व्रतानुष्ठान (राजस्थान की राजधानी जयपुर में इस तिथि को सूर्य्यरथ–परिभ्रमण महोत्सव–सम्मेलन–मेला–मनाया जाता है, जो धर्म्मनिरपेक्षात्मक वर्त्तमान सत्ताकाल में प्रायः उपेक्षित बन गया है)।

१२–फाल्गुन " अर्कपत्रव्रतानुष्ठान (आक के पत्तों से सूर्य्यपूजन)। यज्ञव्रत, यज्ञजयन्ती, यज्ञपुरुषावतारमहोत्सव।

—७—

२६२–(८)–शुक्लपक्ष की अष्टमी (आठँ) के राष्ट्रीय पर्व—

१–*चैत्रशुक्ल अष्टमी के पर्व-श्रीभवानी–आविर्भावमहोत्सव, महाष्टमीपर्व, अशोककलिकाप्राशन, तथा भगवती–पूजनाराधन, हवनादि।

---

* **माघकृष्ण सप्तमी को विशेष** सर्वाप्तिव्रतानुष्ठान, सूर्य्यबिम्बपूजन, रात्रिजागरण, अधःशयन, हवनादि।

*–**चैत्रकृष्णाष्टमी को विशेष**——श्रीशीतलाष्टमी–पूजनाराधन (यातमाम–परिग्रहों का अनुगमन)

२–बैशाखशुक्ल-अष्टमी के पर्व-अपराजिता भगवती का पूजनाराधन–हवनादि। माष (उर्द) युक्त जल से मातृप्रतिमा का स्नान, पूजनादि।

३–ज्येष्ठ	,,	शिव, एवं शक्ति–पूजनाराधन–हवन–व्रतादि।
४–आषाढ	,,	यातयाम (बासी) जल से स्नान करके भगवती का भी यातयामजल से ही पूजन–आराधनव्रत–हवनादि।
५–श्रावण	,,	दुग्धाभिषेक–जलसेकादि से भगवती का पूजन–आराधन–व्रत–हवनादि।
६–÷भाद्रपद	,,	राधाष्टमीपर्व, दूर्वाष्टमीपर्व, सन्तानकामार्थ–दूर्वापूजनाराधन।
७–आश्विन	,,	विप्रमहाष्टमीव्रत–पूजनाराधन। महादुर्गाव्रत। हवन–पूजनादि–व्रतानुष्ठान।
८–×कार्त्तिक	,,	गोपाष्टमी–महाव्रत, गोपूजनाराधन, हवनादि।
९–क–मार्गशीर्ष	,,	भैरवाष्टमीव्रत–पूजन–आराधन–हवनादि।
१०–+पौष	,,	शिवपूजनाराधनव्रतहवनादि।
११–*माघ	,,	भीष्माष्टमीव्रताराधनहवनादि।
१२क–फाल्गुन	,,	शिवपार्वतीव्रताराधनहवनादि।

——८——

२६३–(९)-शुक्लपक्ष की नवमी (नोमी) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्लनवमी के पर्व–भद्रकालीपूजनाराधनाभिषेकादि (इस तिथि में भौममानवब्रह्माने भद्रकाली का पूजनाभिषेकादि किया था)। श्रीरामनवमी महोत्सव, व्रतानुष्ठान, हवनादि।

२–बैशाख	,,	श्रीश्रीचण्डिकापूजनाराधनहवनव्रतादि–अनुष्ठान।
३–ज्येष्ठ	,,	श्रीश्रीउमाव्रतपूजनाराधन–हवनादि।
४–आषाढ	,,	ऐरावतगजारूढा श्रीश्रीऐन्द्री महाशक्ति का पूजनाराधन–हवन–व्रतादि–अनुष्ठान।
५–श्रावण	,,	श्रीश्रीकुमारी–चण्डिका–भगवती का पूजनाराधन–हवन–व्रतादि–अनुष्ठान, रात्रि में व्रतपारण।

÷–भाद्रपदकृष्णाष्टमी में विशेष–दशफलव्रतानुष्ठान। श्रीकृष्णजन्माष्टमीव्रत।

×–कार्त्तिककृष्णाष्टमी में विशेष–करकव्रतानुष्ठान (करवाचौथ का व्रत)। शिवार्चन। उदित चन्द्रमा को अर्घ्यदान।

क–मार्गशीषकृष्णाष्टमी में विशेष–दूर्वा (दोभ) से विनिर्मित अनघ, एवं अनघा का पूजनाराधन।

+–पौषकृष्णाष्टमी में विशेष——श्राद्धाष्टक, एवं पितृतर्पण–हवनादि।

*–माघकृष्णाष्टमी में विशेष——भद्रकालीपूजनाराधनव्रतहवनादि।

क–फाल्गुनकृष्णाष्टमी में विशेष-भीमादेवी–पूजनाराधन–व्रत–हवनादि।

६–भाद्रपदशुक्लनवमीके पर्व		श्रीश्रीदुर्गाभगवती का पूजनाराधन–हवन–व्रतादि–अनुष्ठान।
७–आश्विन	,,	श्रीमहानवमीपूजन, तथा महाकाली पूजनाराधन–हवन–व्रतादि–अनुष्ठान।
८–कार्त्तिक	,,	श्रीअक्षयानवमीपूजन, तथा पीपल–वृक्ष की जड़ में देवताओं, एवं पितरों के लिए तर्पणानुष्ठान।
९–मार्गशीर्ष	,,	श्रीनन्दिनीनवमीपूजन, श्रीश्रीजगदम्बपूजनाराधन–हवन–व्रतादि–अनुष्ठान।
१०–पौष	,,	एकाशनपूर्वक श्रीश्रीमहामायापूजनाराधन–व्रत–हवनादि–अनुष्ठान।
११–माघ	,,	श्रीमहानन्दानवमीपूजन, स्नान–दान–हवन–व्रताद्यनुष्ठान।
१२–फाल्गुन	,,	श्रीआनन्दानवमीपूजन, श्रीश्रीनन्दादेवीपूजनाराधन–व्रत–हवनाद्यनुष्ठान।

—९—

२६४–(१०)–शुक्लपक्ष की दशमी (दस्सें) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्लदशमी के पर्व		श्रीधर्म्मराजव्रत–पूजन–आराधन, तथा ब्राह्मणभोजनान्त में व्रतपारण।
२–बैशाख	,,	श्रीविष्णुपूजनाराधनव्रताद्यनुष्ठान।
३–ज्येष्ठ	,,	श्रीभगवती भागीरथी–पूजनाराधन (गङ्गादशहरा)।
४–आषाढ	,,	आषाढीदशहराव्रतपूजनाराधन, सत्ताधीश के द्वारा मौक्तिक माध्यम से कृषिकर्म्मसम्पादन।
५–श्रावण	,,	शिवार्चनपूजनाराधनव्रताद्यनुष्ठान।
६–भाद्रपद	,,	दशावतारव्रत–पूजनाराधन–व्रताद्यनुष्ठान।
७–आश्विन	,,	विजयादशमी–महापर्व। श्रीरामपूजनाराधन।
८–कार्त्तिक	,,	सार्वभौमव्रतानुष्ठान। पापसंस्कारोपशम के लिए दशदिक्पालों का दश दिशाओं में पूजनाराधनाद्यनुष्ठान।
९–मार्गशीर्ष	,,	आरोग्यव्रत, दश विप्रों का पूजनातिथ्य, तच्चरणोदनपानादि।
१०–पौष	,,	एकाशनपूर्वक विश्वेदेवदेवताओं का पूजनाराधन।
११–माघ	,,	दशविध आङ्गिरसदेवदेवताओं का पूजनाराधन।
१२–फाल्गुन	,,	चतुर्द्दशविध यमदेवदेवताओं का पूजनाराधन।

—१०—

२६५–(११)–शुक्लपक्ष की एकादशी (ग्यारस) के राष्ट्रीय–पर्व—

[१] १–चैत्रशुक्ल–एकादशी के पर्व–कामदा–एकादशी–व्रतानुष्ठान, श्रीवासुदेवार्चन।

[२] २–बैशाख ,, मोहिनी–एकादशी–व्रतानुष्ठान. श्रीपुरुषोतमार्चन।

१–चैत्रकृष्णैकादशी को विशेष—आमलकी–एकादशी–व्रत, श्रीपुण्डरीकाक्षार्चन।

२–बैशाख ,, वरूथिनी–एकादशी–व्रत, श्रीमधुसूदनार्चन।

[३] ३-ज्येष्ठशुक्ल-एकादशी के पर्व-निर्जला-एकादशी-व्रतानुष्ठान, श्रीहृषीकेशार्चन।
[४] ४-आषाढ " देवशयनी-एकादशी-व्रतानुष्ठान, श्रीशेषशायी-अर्चन।
[५] ५-श्रावण " पवित्रा-एकादशी-व्रतानुष्ठान, श्रीजनार्द्दनार्चन।
[६] ६-भाद्रपद " पद्मा-एकादशी-व्रतानुष्ठान, श्रीलक्ष्मीनारायणार्चन।
[७] ७-आश्विनशुक्ल " पाशांकुशा-एकादशी-व्रतानुष्ठान, श्रीविष्ण्वर्चन।
[८] ८-कार्त्तिक " प्रबोधिनी-एकादशी-व्रतानुष्ठान, श्रीगदादामोदरार्चन।
[९] ९-मार्गशीर्ष " मोक्षदा-एकादशी-व्रतानुष्ठान, श्रीअनन्तार्चन।
[१०] १०-पौष " पुत्रदा-एकादशी-व्रतानुष्ठान, श्रीचक्री-अर्चन।
[११] ११-माघकृष्ण " जया-एकादशी-व्रतानुष्ठान, श्रीश्रीपत्यर्चन।
[१२] १२-फाल्गुन " आमलकी-एकादशी-व्रतानुष्ठान, श्रीपुण्डरीकाक्षार्चन।

—११—

२६६-(१२)-शुक्लपक्ष की द्वादशी (बारस) के राष्ट्रीय पर्व—

१-चैत्रशुक्लद्वादशी के पर्व--मदनव्रतानुष्ठान। अक्षतपरिपूर्ण कलश पर कामपूजन। भर्तृद्वादशी-व्रतानुष्ठान। श्रीलक्ष्मीनारायणव्रतानुष्ठान।
२-बैशाख " उपवासपूर्वक श्रीमाधवव्रतानुष्ठान।
३-ज्येष्ठ " श्रीत्रिविक्रमविष्णुव्रतानुष्ठान।
४-आषाढ " श्रीशेषशायीविष्णुव्रतानुष्ठान, एवं दश ब्राह्मणभोजन।
५-श्रावण " श्रीश्रीधरव्रतानुष्ठान।
६-भाद्रपद " श्रीवामनव्रतानुष्ठान।
७-आश्विन " श्रीपद्मनाभव्रतानुष्ठान।

३-ज्येष्ठ " अपरा-एकादशी-व्रत, श्रीत्रिविक्रमार्चन।
४-आषाढ " योगिनी-एकादशी-व्रत, श्रीनारायणार्चन।
५-श्रावण " कामिका-एकादशी-व्रत, श्रीश्रीधरार्चन।
६-भाद्रपद " अजा-एकादशी-व्रत, श्रीउपेन्द्रार्चन।
७-आश्विन " इन्दिरा-एकादशी-व्रत, श्रीपद्मनाभार्चन, शालग्रामशिला के सम्मुख पितृश्राद्धानुगमन।
८-कार्त्तिक " रम्भा-एकादशी-व्रत, श्रीकेशवार्चन।
९-मार्गशीर्ष " उत्पन्ना-एकादशी-व्रत, श्रीकृष्णार्चन।
१० पौष " सफला-एकादशी-व्रत, श्रीअच्युतार्चन।
११-माघ " षट्तिला-एकादशी-व्रत, श्रीवैकुण्ठार्चन।
१२-फाल्गुन " विजया-एकादशी-व्रत, श्रीयोगीशार्चन।

८-*कार्त्तिकशुक्ल एकादशी के पर्व-श्रीदामोदरव्रतानुष्ठान। नीराजनव्रतानुष्ठान। सूर्य्यशङ्कर-पार्वती-देवदेव-गण-पितर-गौ-की आराधना।
९-मार्गशीर्ष ,, सान्ध्यव्रतानुष्ठान। द्वादश साध्यदेवों का अर्चन-पूजन।
१०-+पौष ,, सुजन्माव्रतानुष्ठान। गोशृङ्गोदकपान।
११-माघ ,, श्रीविष्णुव्रतानुष्ठान।
१२-फाल्गुन ,, श्रीवैकुण्ठनाथव्रतानुष्ठान।

—१२—

२६७-[१३]-शुक्लपक्ष की त्रयोदशी [तेरस] के राष्ट्रीय पर्व—

१-चैत्रशुक्लत्रयोदशी के पर्व-चन्दननिर्म्मित कामदेवप्रतिमापूजनाराधन, तथा प्रेङ्ख-व्यजन (पङ्खाझलना)।
२-वैशाख ,, मदनव्रतानुष्ठान।
३-ज्येष्ठ ,, दौर्भाग्यशमनव्रत, श्वेतमन्दार-अर्क, और रक्तकरवीर (लालकनैर) का पूजन।
४-आषाढ ,, उमामहेश्वरव्रतानुष्ठान।
५-श्रावण ,, रतिकामव्रतानुष्ठान (वैधव्यनिवारकव्रत)।
६-भाद्रपद ,, गोत्ररात्रिव्रतानुष्ठान। लक्ष्मीनारायणार्चन।
७-आश्विन ,, अशोकव्रतानुष्ठान।
८-÷कार्त्तिक ,, श्रीशङ्करनिमित्त शत, किंवा सहस्र-दीपदान। शिवसहस्रनामपारायण।
९-मार्गशीर्ष ,, वसन्तदेवव्रतानुष्ठान।
१०-पौष ,, कामारिव्रतानुष्ठान।
११-माघ ,, पञ्चवक्त्रशिवव्रतानुष्ठान।
१२-फाल्गुन ,, साम्बसदाशिवव्रतानुष्ठान।

—१३—

२६८-[१३]-शुक्लपक्ष की चतुर्दशी [चौदस] के राष्ट्रीय पर्व—

१-+चैत्रशुक्लचतुर्दशी के पर्व-शिवार्चन। राधाकृष्णार्चन। शिवलिङ्गसमाराधन।
२-वैशाखशुक्ल ,, श्रीनृसिंहव्रतानुष्ठान (नृसिंहावतारलीलामहोत्सव)।
३-ज्येष्ठ ,, श्रीरुद्रव्रतानुष्ठान। सायं धेनुदान।
४-आषाढ ,, साम्बसदाशिवव्रतानुष्ठान।

---

*-कार्त्तिककृष्णद्वादशी को विशेष—गोवत्सद्वादशी (सवत्सा गौमाता का पूजनाराधन)।
÷-कार्त्तिककृष्णत्रयोदशी ,, यमदीपदान, धनत्रयोदशीपर्व। नूतनपात्रक्रय।
+-पौष ,, ,, रूपव्रतानुष्ठान।
+-चैत्रकृष्णचतुर्दशी को विशेष-उपवासपूर्वक केदारोदकपान।

५-श्रावणशुक्ल--चतुर्दशी के पर्व--पवित्रारोपणपर्व ।
६-भाद्रपद ,, अनन्तव्रत-कदलीव्रत-रम्भार्चन ।
७-*आश्विन ,, श्रीधर्म्मराजपूजनानुष्ठान ।
८-कार्त्तिक ,, ब्रह्मकूर्चव्रतानुष्ठान । पञ्चगव्यपान । पाषाणव्रतानुष्ठान । गौरीपूजन-व्रतानुष्ठान ।
९-मार्गशीर्ष ,, वृषभपूजन, सोममहेश्वरपूजन ।
१०-पौष ,, विरूपाक्षव्रतानुष्ठान, शिवपूजन ।
११-माघ ,, यमतर्पणानुष्ठान ।
१२-फाल्गुन ,, श्रीश्रीदुर्गापूजनव्रतानुष्ठान ।

—१४—

२६९-[१५]-शुक्लपक्ष की पूर्णिमा [पून्यूँ] के राष्ट्रीय पर्व—

१-चैत्रशुक्लपूर्णिमा के पर्व-चन्द्रतुष्टि के लिए कुम्भोदकदान ।
२-बैशाख ,, श्रीधर्म्मराजव्रतानुष्ठान ।
३-*ज्येष्ठ ,, वटसावित्रीव्रतानुष्ठान (वटपूजन) ।
४-आषाढ ,, गोपीव्रत, विष्णुव्रत, एवं कोकिलाव्रतानुष्ठान ।
५-श्रावण ,, उपाकरण, श्रावणी, रक्षाबन्धनमहापर्व ।
६-+भाद्रपद ,, उमामहेश्वरव्रत, शक्रव्रतानुष्ठान ।
७-आश्विन ,, कोजागरव्रत, महालक्ष्मीपूजन, दीपदान ।
८-÷कार्त्तिक ,, कुमारकार्त्तिकपूजन, कृत्तिकापूजन, एवं वृषोत्सर्गव्रतानुष्ठान ।
९-मार्गशीर्ष ,, श्रीविष्णु-इन्द्र-चन्द्र-पूजनानुष्ठान ।
१०-पौष ,, शिवपूजनानुष्ठान ।
११-माघ ,, दक्षिणामूर्तिपूजनानुष्ठान ।
१२-फाल्गुन ,, होलिकादहनपर्व ।

—१५—

---

*-आश्विन ,, गयाश्राद्धानुष्ठान, काकबलिप्रदान ।
÷-फाल्गुन ,, महाशिवरात्रिपर्वानुष्ठान ।
*-ज्येष्ठकृष्णामावास्या को विशेष—सावित्रीव्रतानुष्ठान ।
+-भाद्रपदकृष्णामावास्या को विशेष-कुशोत्पाटनानुष्ठान ।
÷-कार्त्तिककृष्णामावास्या को विशेष-दीपमालिकामहापर्व ।

२७०-सांस्कृतिक-आयोजनों का इतिवृत्तात्मक महान् कोश पुराणशास्त्र—

शास्त्रीय-**सांस्कृतिक-आचारों** की प्रतिच्छाया से समतुलित, अतएव तिथि-नक्षत्र-ग्रह-चन्द्रमा-सूर्य्यादि से समन्वित, कालानुबन्धी कालखण्डात्मक तिथ्यादिलक्षण 'पर्व' (अवयव) ही 'पर्व' नामक **सांस्कृतिक-आयोजनों** के व्यवस्थापक बने हुए हैं, जिनमें परम्परया शास्त्रीय-आचार ही साक्षी बने रहते हैं। नित्य-नैमित्तिक-काम्य-पर्वात्मक तीनों हीं प्रकार के 'पर्व' अपने अङ्गभूत व्रत-उपवास-नियमोपनियम-आदि आदि विधि-विधानों के तारतम्यानुपात से असंख्य-संख्याओं में विभक्त हो रहे हैं, जिनके सांस्कृतिक-इतिवृत्त का नाम हीं 'पुराणशास्त्र' है। **संस्कृति, सांस्कृतिक-आचार**, तथा **सांस्कृतिक आयोजन**, तीनों के मूलाधार क्रमशः श्रुति-स्मृति-पुराण-ही बने हुए हैं। **'संस्कृति' के इतिवृत्त का नाम हीं 'श्रुति' है, 'सांस्कृतिक-आचारों के इतिवृत्त का नाम हीं 'स्मृति' है, एवं 'सांस्कृतिक-आयोजनों' के इतिवृत्त का नाम हीं 'पुराण' है।**

२७१-श्रुति-स्मृति-पुराण-माध्यम से 'संस्कृति' शब्द का समन्वय—

माया-कला-गुण-विकार-अञ्जन-आवरण, नामक छह प्रकार के बलपरिग्रहों से समन्वित **मायी-सकल-सगुण-सविकार-साञ्जन-सावरण**-रूप षड्विध महिमाभावों (विवर्त्तभावों) में परिणत, सर्वत्र समवस्थित 'समब्रह्म' नामक षोडशी-पुरुषात्मक अव्ययेश्वर की महिमामयी आत्मिक-दैविक-भौतिक-कृति ही 'संस्कृति' है, एवं इस संस्कृति का अथ से इतिपर्य्यन्त निरूपण करने वाला ज्ञानविज्ञानात्मक विद्याशास्त्र ही स्वतःप्रमाणभूत अपौरुषेय 'श्रुतिशास्त्र' है। आचारलक्षण धर्म्म का धर्म्मत्त्व इसी श्रौती संस्कृति पर अवलम्बित है, जिसे 'वैदिकसंस्कृति' कहा गया है। **'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः, धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'** (मनुः) इत्यादि रूपेण उपगीयमान वेदशास्त्र (श्रुति), तथा धर्म्मशास्त्र (स्मृति) ही क्रमशः संस्कृति (तत्त्वविज्ञान), एवं सांस्कृतिक-आचरण के नियामक शास्त्र हैं। 'संस्कृति' सहजसिद्ध सनातन तत्त्व है। इसके कर्त्तव्यात्मक-अनुष्ठेयात्मक-आचरणात्मक स्वरूप का ही नाम **'सांस्कृतिक-आचार'** है, जिसके **मोक्ष-धर्म्म-काम-अर्थ**-नामक चार विवर्त्त सुप्रसिद्ध हैं। इन चतुर्विध स्मार्त्त सांस्कृतिक-आचारों की केन्द्रीय-आत्मप्रतिष्ठा को साक्षी बनाते हुए इनके तत्त्वावधान में हीं सामान्य-प्रजावर्ग के द्वारा अनुष्ठीयमान दिग्-देश-काल-पात्रानुबन्धी-प्रदर्शनात्मक आयोजन हीं **'सांस्कृतिक-आयोजन'** हैं, जिनकी मौलिकता जहाँ परम्परया श्रुति-स्मृति-द्वारा ही व्यवस्थित है, वहाँ इनका बाह्य स्वरूप लोकसभ्यतानुबन्धन से उस सीमापर्य्यन्त परिवर्त्तित भी होते रहते हैं, जिस परिवर्त्तन में मूलनिष्ठाओं पर आक्रमण नहीं होता। एवंविध-प्रदर्शनात्मक लौकिक आचरण हीं-**'सांस्कृतिक-आयोजन'** कहलाए हैं, जिनका व्यवस्थापक पुराणशास्त्र बन रहा है।

२७२-आत्म-देव-भूत-भावानुगता संस्कृति के तीन महिमा-विवर्त्त—

दूसरे दृष्टिकोण से इन तीनों प्रक्रमों का समन्वय कीजिए। समब्रह्मलक्षण अव्ययेश्वर की ('सम' ब्रह्म की) कृति का ही नाम 'संस्कृति' है, जिसका फलितार्थ निकलता है—**'षोडशीप्रजापति-(ईश्वर)-विशिष्ट सम्पूर्ण विश्व'**। आत्मेश्वर-विशिष्ट विश्व ही आत्मेश्वर की 'संस्कृति' रूपा (आत्मविशिष्टा-आत्मसमन्विता) 'कृति' है, जिसके **आत्मिक-दैविक-भौतिक**-तीन पर्व बतलाए गए हैं पूर्व में। विश्वात्मिका कृति का आत्मभाव **'स्वयम्भू'** से अनुप्राणित है, देवभाव **'सूर्य्य'** से अनुप्राणित है, एवं भूतभाव **'भूपिण्ड'** से अनुप्राणित है, जिन इन तीनों सृष्ट्यनुबन्धों के कारण हीं 'विश्वविद्या' **शिरोमूला (स्वयम्भुमूला), हृदयमूला** (सूर्य्य-

मूला), पादमूला (भूपिण्डमूला) कहलाई है। महाविश्वप्रजापति का मस्तक स्थानीय 'स्वयम्भू' ही **'प्रथमा-(मूला) संस्कृति'** है जिसका-"**सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा** (यजुः सं० ७।१४।) इत्यादि यजुर्मन्त्र ने सूर्य्यमाध्यम से संस्मरण किया है। प्रथमत्त्वेनैव स्वयम्भू को **'महाभूतादि'** कहा गया है, जैसाकि—**'महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः'** * इत्यादि मनुवचन से स्पष्ट है। **पञ्चपर्वा विश्वविद्या** ÷ का प्रथम पर्व स्वयम्भू ही है। अतएव अवश्य ही स्वायम्भुवी परमाकाशात्मिका, **'परमेव्योमन्'** लक्षणा आत्मसंस्कृति को सम्पूर्ण विश्व का संवरण करने वाली **'विश्ववारा'** प्रथमा संस्कृति कहा जा सकता है, जिसे दर्शनभाषा में हम **'अव्यक्ता संस्कृति'** भी कह सकेंगे, जिसका कि-कर्त्तव्यनिष्ठात्मक आचरण से कोई सम्बन्ध न होगा।

इसी उक्त प्रथमा स्वायम्भुवी संस्कृति का द्वितीय प्रक्रम वह सौरीसंस्कृति कहलाएगी, जिसे **'आचारसंस्कृति'** माना जायगा। एवं इसे मूलप्रतिष्ठा बना कर प्रवृत्त होने वाली पार्थिवी-भौतिक-संस्कृति ही **'आयोजनसंस्कृति'** कहलाएगी। और इसप्रकार **तत्त्वसंस्कृति, आचारसंस्कृति, आयोजनसंस्कृति**-भेद से उसी अव्ययेश्वरप्रजापति की प्रथमा संस्कृति **स्वयम्भू-सूर्य-भूः**-रूप से त्रिपर्वा बनती हुई **आत्म-देव-भूत-भाव**-भेद से विवर्त्तत्रयात्मिका प्रमाणित हो रही है, जिन्हें क्रमशः **आत्मसंस्कृति, देवसंस्कृति, भूतसंस्कृति**, नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है। परिलेखमाध्यम से इस दृष्टिकोण का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जाता है।

आत्मक्षर-अक्षर-अव्ययात्मक-षोडशीपुरुषविशिष्टः-प्रजापतिरेव संस्कृतिर्विश्वात्मा
तस्यैतस्य विश्वात्मनो महिमा-भावाः
१—स्वयम्भूः—अव्यक्तभावः—आत्मभावः—आत्मसंस्कृतिः—प्रथमा
२—सूर्य्यः——व्यक्तभावः——देवभावः——देयसंस्कृतिः—द्वितीया
३—भूपिण्डः——मूर्त्तभावः——भूतभावः——भूतसंस्कृतिः—तृतीया

१—स्वायम्भुवी-संस्कृतिः—तत्त्वसंस्कृतिः—(संस्कृतिः) (श्रुतिरेवात्र प्रमाणम्)।
२—सौरी-संस्कृतिः——आचारसंस्कृतिः-(सांस्कृतिक-आचाराः)-श्रुत्यर्थानुसारिणी स्मृतिरेवात्र प्रमाणम्
३—पार्थिवी-संस्कृतिः—आयोजनसंस्कृतिः-(सांस्कृतिक-आयोजनानि)-श्रुति-स्मृत्यनुगतं पुराणमेवात्र प्रमाण

—— * ——

* ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥
—मनुः १।६।

÷ देखिए, एतन्नामक स्वतन्त्र निबन्ध सांस्कृतिक-व्याख्यानपञ्चकान्तर्गत ।

२७३–शक्तित्रयी, और संस्कृति के तीन प्रक्रम—

लोकप्रचलिता दार्शनिक–भाषा की दृष्टि से उक्त समन्वय का इन शब्दों में भी अभिनय किया जासकता है कि, सम्पूर्ण विश्व **ज्ञान–क्रिया–अर्थ**–शक्तित्रयी का ही समन्वितरूप है । **प्रज्ञा-प्राण भूत**–नाम की सुप्रसिद्धा तीन मात्राओं के समन्वितरूप का ही नाम विश्व है । प्रज्ञामात्रात्मिका ज्ञानशक्ति ही स्वायम्भुवी ब्राह्मी शक्ति है, जिसके मूलाधिष्ठाता मानें गए हैं चित्पति स्वयम्भू ब्रह्मा । प्राणमात्रात्मिका क्रियाशक्ति ही वैष्णवी शक्ति है, जिसके मूलप्रवर्त्तक मानें गए हैं क्रियापति हिरण्यगर्भ–सत्यनारायण–सौर विष्णु । एवं भूतमात्रात्मिका अर्थशक्ति ही शैवी शक्ति है, जिसके कारण शिव–भूतेश–भूतनाथ कहलाए हैं, एवं जिस शक्ति के मूलप्रवर्त्तक मानें गए हैं, ये ही भूतपति पार्थिव महेश । त्रिदेवात्मिका तीनों शक्तियाँ हीं क्रमशः पूर्वोक्त आत्म–देव–भूत–भावों से समन्विता हैं । एवं ये ही तीनों ब्राह्मी–वैष्णवी–माहेश्वरी–शक्तियाँ अपने अपने आत्म–देव–भूत–भावों से क्रमशः संस्कृति–सांस्कृतिक आचार–सांस्कृतिक आयोजन–इन तीन प्रक्रमों की अधिष्ठात्रियाँ बन रहीं हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

१—ज्ञानशक्तिः–ब्राह्मी—स्वायम्भुवी-चित्प्रतिर्ब्रह्मात्र प्रतिष्ठा-आत्मानुगता
२—क्रियाशक्तिः-वैष्णवी-सौरी——-क्रियापतिर्ब्रह्मात्र प्रतिष्ठा–देवानुगता
३—अर्थशक्तिः-माहेश्वरी-पार्थिवी—-भूतपतिर्ब्रह्मात्र प्रतिष्ठा -भूतानुगता

—**—

१—ज्ञानशक्तिरेव संस्कृतिः————श्रुत्यनुगता
२—क्रियाशक्तिरेव सांस्कृतिक-आचारः——स्मृत्यनुगतः
३—अर्थशक्तिरेव सांस्कृतिक-आयोजनम्—पुराणानुगतम्

}—{ आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम् । त्रयं सदेकमयमात्मा ।

—**—

२७४–द्वितीयप्रकरण–विराम—

श्रौती संस्कृति, तथा स्मार्त्त सांस्कृतिक आचार, दोनों प्रक्रमों को हृत्प्रतिष्ठा बनाए रखने वाला श्रुति–स्मृति–सम्मत–लोकानुबन्धी पौराणिक आयोजन ही भारतीय '**सांस्कृतिक–आयोजन**' की रूपरेखा का स्वरूप-निष्कर्ष है, जिसका अनेक दृष्टियों से एतन्नामक प्रक्रान्त द्वितीय प्रकरण में दिग्दर्शन कराने का प्रयास हुआ है । अगणित व्रतोपवासादि से समन्वित अगणित राष्ट्रीय सांस्कृतिक पर्व, अगणित सामाजिक उत्सव, अगणित पारिवारिक सम्मेलन, तथा अगणित हीं वैय्यक्तिक समारोह–भेद से चार श्रेणियों में विभक्त भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा से अनुप्राणित 'पर्व' नामक प्रथम आयोजन के ही चार उदाहरणों का अब हमें क्रमशः दिग्दर्शन करा देना है, जो उदाहरण क्रमशः **रक्षाबन्धन, विजयदशमी, दीपावली, होलिका**–इन नामों से राष्ट्रीय प्रजा में सुप्रसिद्ध हैं । कामना थी कि, पर्ववत् उत्सवादि शेष आयोजनों के भी कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर दिए जाते । किन्तु निबन्ध के विस्तार ने अत्रैव कामना का अवरोध कर दिया । इस शेष उत्तरदायित्त्व को अन्य निबन्धसापेक्ष मानते हुए अब प्रतिज्ञात पर्वात्मक चारों राष्ट्रीय आयोजनों की इतिकर्त्तव्यता के सम्बन्ध में, [illegible] मौलिक उपपत्ति के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है ।

उपरतञ्चेदं सांस्कृ[illegible]–आयोजनरूपरूपरेखात्मकं द्वितीयं प्रकरणम्

—२—

—**—

श्रीः

राष्ट्रीय-पर्वात्मक-'सांस्कृतिक-आयोजनेतिवृत्त'

नामक

तृतीय–प्रकरण

३

तत्रैतानि अवान्तर–प्रकरणानि निरूपितानि द्रष्टव्यानि–

श्रीः

तृतीय प्रकरणान्तर्गत—

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय पर्व

रक्षाबन्धन

(आत्मनिष्ठ-राष्ट्रसंरक्षक-ब्राह्मणानुगत-पर्व)

१



श्री:

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व रक्षाबन्धन

१

——**——

१-आत्मसंस्कृति-परायणा आर्षप्रजा का रक्षाबन्धनपर्व—

आत्मसंस्कृति-परायणा, तदभिन्न शाश्वत-आर्षधर्म-(ऋषिधर्म)-समन्विता आस्था-श्रद्धा-समाप्लुता भारतीय-राष्ट्रप्रजा प्रतिवर्ष 'आषाढशुक्लपूर्णिमा' नाम की पावन तिथि में महता समारम्भेण सोल्लास-सोत्साह-जिस सांस्कृतिक महान् पर्व **'रक्षाबन्धन'** नामक **'सांस्कृतिक-आयोजन'** का सदा सदा से अनुगमन करती चली आरही है, आज दो शब्दों में उदाहरणधिया सर्वप्रथम हम उसी महान् पर्वायोजन की रूपरेखा की ओर संस्कृतिप्रेमियों का ध्यान आकर्षित करने जारहे हैं, जिस आकर्षण से ही सम्भवतः ही नहीं, अपितु निश्चय ही आज के उन आयोजन-भक्तों को भी इस ओर आकर्षित होना हीं पड़ेगा, अवश्यमेव होना पड़ेगा।

२-ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-वर्णानुगत रक्षाबन्धन, विजयदशमी, दीपावली, होलिका, नामक चार राष्ट्रीय पर्व—

वर्त्तमान में रक्षाबन्धनपर्व का स्वरूप यही है कि, धर्मसूत्रों का प्रचारक राष्ट्रीय ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, सच्छूद्र, आदि आदि अपने यजमानबन्धुओं के दक्षिण-हस्त (दहिने हाथ) में कौशेय-सूत्र (रेशम के डोरे)-तूलसूत्र-आदि से गुम्फित विविध आकारसमन्वित-अनेक वर्ण (रँग) रञ्जित-**'राखी'** नाम से लोक-प्रान्तभाषा में प्रसिद्ध **'रक्षासूत्र'** बाँधा करते हैं, एवं प्रतिफलस्वरूप श्रद्धालु यजमानों की श्रद्धा--शक्ति के तारतम्यानुपात से, अथवा तो परम्परानुगता दानपद्धति के निग्रहात्मक अनुग्रह से अमुक 'दक्षिणाद्रव्य' के द्वारा मनस्तुष्टि का अनुभव कर लेते हैं। यही आज के रक्षाबन्धन का प्रमुख इतिवृत्त है। सम्भवतः इसीलिए रक्षाबन्धनपर्व ब्राह्मणवर्ग का प्रधान पर्व बन गया है लोकभाषा में, जबकि विजयदशमीपर्व क्षत्रियों का प्रधान पर्व, दीपावली वैश्यों का प्रधान पर्व, एवं होलाष्टकपर्व (होली) शूद्रों का प्रधान पर्व माना जारहा है लोकमान्यता की दृष्टि से।

३-विजयदशमी--दीपावली--होलिका--पर्वत्रयी का क्षत्रिय--वैश्य--शूद्र--रूपा वर्णत्रयी के साथ क्रमिक अनुप्राणन—

शत्रुपराजयपूर्वक विजयलाभ कराना एकमात्र संहाराधिष्ठात्री महाकाली के अनुग्रह पर ही निर्भर है। उधर शस्त्रबलानुगत पौरुष--बल का क्षत्रियवर्ग के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। विजयश्री-

लाभ का पौरुषबलप्रदात्री महाकाली से ही प्रधान सम्बन्ध है। अतएव **'विजयदशमीपर्व'** को अवश्य ही क्षत्रियवर्ण का प्रधान पर्व माना जासकता है। एवमेव दीपावलीपर्व से सम्बद्धा वैश्यवर्ण की कारणता भी सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः अवश्य ही समझ में आरही है। कार्तिककृष्णा--अमावास्या--तिथि महालक्ष्मी की जयन्तीतिथि (जन्मतिथि--आविर्भावतिथि) मानी गई है। इसी दिन **'निर्ऋति'-'दरिद्रा'-'धूमावती'** आदि विविध नामों से प्रसिद्धा जगन्माता अलक्ष्मी का निर्गमन माना गया है। यों यह तिथि लक्ष्मी की आगमनतिथि, एवं अलक्ष्मी की निर्गमनतिथि बन रही है। महालक्ष्मी ही अपने नैदानिक--वाहन * के माध्यम से जड़--भूतसम्पत्तिरूप अर्थतन्त्र (वित्ततन्त्र) की अधिष्ठात्री बन रहीं हैं। उधर भलन्दनवशावतंस महाभाग वैश्यबन्धु ही अपनी प्रकृतिभूता--विश्वेदेवानुगता--विट् से अनुप्राणिता अर्थशक्ति के कारण आर्थिक मनोभावों के ही कुशल सम्राट् प्रमाणित हो रहे हैं। अर्थसम्पत्ति ही वैश्यवर्ण के मनोमय जीवन का महान् पौरुष है। अतएव अर्थशक्त्यधिष्ठात्री महालक्ष्मी से सम्बद्ध दीपावलीपर्व को इस दृष्टि से अवश्य ही वैश्यवर्ण का प्रधान पर्व माना जासकता है। तथैव च मदनमहोत्सवात्मक, दूसरे शब्दों में कामपूजनात्मक 'होलिकापर्व' में **गायत्री--त्रिष्टुप्--जगती--**छन्दों से क्रमिक सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण--क्षत्रिय--वैश्य--वर्णों की छन्दोऽनुगता मर्य्यादा सीमा का अतिक्रमण कर देती है अमुक सीमानियन्त्रण के क्षेत्र में हीं। अतएव यह पर्व अंशतः शरीरधर्म्मा बनता हुआ उन्मर्य्यादभावों से भी समन्वित हो जाता है। होलाष्टकपर्वविला में सभी वर्ण एक प्रकार से अच्छन्दस्क--अवर्ण--भाव में परिणत होते हुए स्वच्छन्दस्क--समानभाव में हीं परिणत होजाते हैं, दूसरे शब्दों में सभी समानधर्म्मा बन जाते हैं। **'न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्त्तयत्'**÷ इत्यादि श्रौत--सिद्धान्त के अनुसार इस महान् पर्व में (होली के अवसर पर) सचमुच आबालवृद्धवनिता, आमूर्ख--विद्वज्जन--सभी वर्ग शूद्रवत् अच्छन्दस्क बनते हुए स्वच्छन्द--सर्वतन्त्रस्वतन्त्र बन जाते हैं। शारीरिक स्वातन्त्र्य ही तत्त्वपरिभाषा में 'स्वच्छन्दता' कहलाई है, जिसके द्वारा ही मानवीय मनः-शरीर अमर्य्यादाभावों की ओर आकर्षित हो पड़ते हैं। यह स्वच्छन्दता ही मानव की प्राकृता यथाजाता वह चान्द्र-मानवावस्था है, जिसका पूर्वपरिच्छेदों में दिग्दर्शन कराया जाचुका है, एवं जिस इत्थंभूत अच्छन्दस्क--स्वच्छन्द--मनःशरीरमात्रप्रधान प्राकृत--चान्द्रमानव को महर्षि कपिलने भूतसर्ग का ही प्राणीविशेष (जन्तु-विशेष) माना है। यथाजातभावानुगता स्वच्छन्दता ही शूद्रता है, जिसमें शरीर ही प्रधान बना रहता है। होलापर्व में अमुक सीमापर्य्यन्त क्योंकि इस शरीरधर्म्म का भी समावेश है। अतएव अवश्य ही इस दृष्टि से इसे **'शूद्रपर्व'** कह देना अनुरूप मान लिया जासकता है। यों **विजयदशमी--दीपावली--होलिका**--तीनों राष्ट्रीय पर्व क्रमशः क्षत्रिय--वैश्य--शूद्र--प्रधान पर्व प्रमाणित हो रहे हैं।

४-ब्राह्मणवर्णनिबन्धन-रक्षाबन्धनपर्व के सम्बन्ध में अनार्ष-धारणाएँ—

प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष में रक्षाबन्धनपर्व के साथ ब्राह्मणवर्ण के सम्बन्ध का कोई कारण प्रतीत नहीं हो रहा, जैसे कारण तथाविध तीनों पर्वों में प्रतीत हो रहे हैं। अपितु प्रतीत ऐसा हो रहा है, मानो ब्राह्मण अपने यज-

*--तन्त्रपरिभाषानुसार महालक्ष्मी का प्रधान वाहन निशाविहारी पक्षिविशेष (उल्लू) ही माना गया है, जिस की जड़ता, अमङ्गलता लोकसाधारण में भी सुप्रसिद्ध है।

÷--'गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यम्। न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्त्तयत्'।

मानों से रक्षासूत्र–समर्पण के माध्यम से दक्षिणा प्राप्त कर तद्द्वारा दुरन्ता उदरदरी को भरते हुए सभी वर्गों के यजमानों से अपनीं रक्षा ही करा रहे हैं। तो क्या ब्राह्मण की शरीररक्षा, उदररक्षा के कारण यह पर्व ब्राह्मण का पर्व मान लिया गया है ?। लोकदृष्टि से प्रतीत तो ऐसा ही कुछ हो रहा है। सुनते हैं–राखी 'भूखा' त्यौंहार है, जिसमें ब्राह्मण रक्षा–सूत्रों की राशि लटकाए कपर्दिकाओं की भिक्षा के लिए उसी प्रकार अपने यजमानों के सम्पन्न द्वारों पर भटकते रहते हैं इस पर्व पर, जैसे कि राहु–ग्रहणपर्वों पर कङ्गाल सड़कों पर अन्नदान के लिए, एवं घर के जोशी ग्रहणदान के लिए इतस्ततः दन्द्रम्यमाण बने रहते हैं। यदि सचमुच 'रक्षा' का यही अर्थ है, यदि सचमुच ऐसी जघन्या–मलीमसा–लोकमान्यतानुगता–बुभुक्षिता-रक्षा से ही यह पर्व 'ब्राह्मणपर्व' कहलाया है, तो उस दिशा में तो इसे राष्ट्रीयपर्व न कह कर '**तस्करपर्व**' ही कहना उचित होगा।

५–भिक्षावृत्ति की निरतिशया असांस्कृतिकता––

क्योंकि हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का इस सम्बन्ध में यह उद्घोष है कि–'जो सत्ताधीश अपने राष्ट्र में स्वाध्याय करने वाले स्नातकों से अतिरिक्त, एवं चतुर्थ आश्रम में (७५ वर्ष से ऊपर के सन्यासाश्रम में) पहुँच जाने वाले शरीरतः असमर्थ–तपस्वी सन्यासियों से अतिरिक्त, तथा हीनाङ्ग–असमर्थ–जराजीर्णशरीरों से अतिरिक्त वर्गों को भिक्षा-प्रश्रय-देता हुआ देखता रहता है, वह सत्ताधीश अपने राष्ट्र में अकर्म्मण्य-चौरों की हीं संख्या बढ़ाता है। अवश्य ही उक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त भिक्षा माँगने वाले, एवं भिक्षा देने वाले, दोनों हीं वर्ग सत्ताद्वारा दण्डित ही होने चाहिएँ''। देखिए !

अव्रताश्चानधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः।
तं देशं दण्डयेद्-राजा, चौरभक्तप्रदो हि सः॥

—स्मृतिः

६–राष्ट्र के अन्यतम रक्षक का अन्वेषण—

और रक्षाबन्धन का ब्राह्मणानुबन्ध से जैसा स्वरूप आज हमें उपलब्ध हो रहा है, उसे देखते हुए, सुनते हुए तो निश्चयेन ऐसा कर्म्म 'सांस्कृतिक–पर्व' न कहला कर वैसा असभ्य–अशिष्ट–मलीमस–पर्व ही कहलाएगा, जिसके द्वारा राष्ट्र की ज्ञानविज्ञानात्मिका संस्कृति के महान् प्रतीक ब्राह्मण का अधःपतन ही प्रमाणित हो रहा है। क्या अर्थ है इस रक्षा का ?, क्या हितसाधन हो रहा है इस रक्षासूत्रबन्धन से ?, एवं किस की कौन रक्षा कर रहा है इस सूत्र के द्वारा ?। बाँधने वाला ब्राह्मण यजमान का रक्षक है ?, अथवा बँधवाने वाला यजमान ब्राह्मण को भिक्षाप्रदान करता हुआ इसकी रक्षा कर रहा है ?। ये ही वे कतिपय प्रश्न हैं, जो इस महान् सांस्कृतिक–पर्व के सम्बन्ध में हमारी सांस्कृतिक–श्रद्धा को आज विकम्पित कर रहे हैं। प्रस्तुत उदाहरण–प्रकरण में हमें इस श्रद्धाविकम्पन के निरोध का ही उपाय ढूँढ़ निकाल लेना है। एवं इस उपाया–न्वेषण में प्रवृत्त होते ही सर्वप्रथम हम अपने आप से ही यह प्रश्न कर लेते हैं कि—

राष्ट्र का रक्षक कौन ?

७–अहः–मासः–वर्षम्–शब्दों का विचालित्व–एवं अहः–मास–वर्ष–तीनों की [प्रत्येक की] त्र्यात्मकता का समन्वय—

राष्ट्र का रक्षक कौन ?, इस प्रश्न की व्याप्ति **राष्ट्र–समाज–परिवार**–व्यक्ति, इन चार संस्थानों में हो रही है, जिन इन चार संस्थानों से सम्बन्ध रखने वाले मानव को पूर्वपरिच्छेदों में हमने क्रमशः व्यक्ति-

मानव–परिवारमानव–समाजमानव–राष्ट्रमानव–भेद से चार संस्थानों में विभक्त माना है। जिस प्रकार **अहः–मास–वर्ष**–तीनों शब्द विचाली हैं, एवमेव व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–ये चारों शब्द भी विचाली ही माने गए हैं। साधारणदृष्टि से अहोरात्ररूप अहः का भूपिण्ड से सम्बन्ध है, शुक्ल–कृष्णपक्षरूप मास का चन्द्रमा से सम्बन्ध है, एवं उत्तरायण–दक्षिणायन-कालात्मक वर्ष का सूर्य्य से सम्बन्ध है। भूपिण्ड २४ होराओं (घन्टों) में अपने 'अक्ष' वृत्तात्मक धुर पर ही एक परिक्रमा लगा लेता है, और यही भूपिण्ड का 'स्वाक्षपरिभ्रमण' कहलाया है। यही भूपिण्ड की 'दैनंदिनगति' कहलाई है। इसी से अहोरूप अहोरात्र का प्रादुर्भाव हो रहा है। एवमेव चन्द्रपिण्ड अपने दक्षवृत्त पर ३० अहोरात्रों में भूपिण्ड के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। भूपिण्ड-वत् चन्द्रपिण्ड का स्वाक्षपरिभ्रमण नहीं है। उधर क्रान्तिवृत्त पर भूपिण्ड सूर्य्य को केन्द्र मान कर सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। यही भूपिण्ड की वार्षिकगति कहलाई है। भूः–चन्द्रमाः–सूर्य्यः–तीनों की प्रजा क्रमशः **मानव–पितर–देवदेवता**–इन नामों से प्रसिद्ध है। मानव का अहः २४ घन्टे का है, पितरों का अहः ३० दिन का है, देवताओं का अहः एक वर्ष का है। यों अहः शब्द अहः–मास–वर्ष–तीनों के साथ समन्वित हो रहा है। अहः का अहर्भाग शुक्लपक्ष है, रात्रिभाग कृष्णपक्ष है। मास का शुक्लभाग शुक्ल-पक्ष है, कृष्णभाग कृष्णपक्ष है। वर्ष का उत्तरायणभाग शुक्लपक्ष है, दक्षिणायनभाग कृष्णपक्ष है। पक्षद्वय की समन्वितावस्था का नाम हीं क्योंकि–'मास' है। अतएव इस दृष्टि से दो–दो पक्षभावों से समन्वित अहः–मास–वर्ष–तीनों को 'मास' शब्द से भी व्यवहृत किया जा सकता है। अब वर्ष शब्द का समन्वय कीजिए। भूपिण्ड अपने क्रान्तिबिन्दु से चल कर घूमता हुआ पुनः जब उसी वृत्तबिन्दु पर आ जाता है, तो एक 'वर्ष' का स्वरूप सम्पन्न होता है। वृत्तभावानुगता यह वर्षपरिभाषा भी **अक्ष–दक्ष–क्रान्ति**–तीनों वृत्तों के साथ समन्वित हो रही है। भूपिण्ड अपने अक्षवृत्त का परिभ्रमण एक अहोरात्र में कर लेता है। अतएव इस वृत्त-पूर्णता से अहः को 'वर्ष' भी कहा जा सकता है। एवमेव पक्षद्वयात्मक चान्द्रमास को भी दक्षवृत्त की परिपूर्णता से 'वर्ष' कहा जा सकता है। पार्थिव–क्रान्तिवृत्तात्मक वर्ष का वर्षत्व तो प्रसिद्ध है ही। तदित्थं–दृष्टिकोणभेद से अहः–मास–वर्ष–तीनों शब्द तीनों व्यवहारों के लक्ष्य बनते हुए 'विचाली' शब्द ही प्रमाणित हो रहे हैं। एवं इसी विचाली-धर्म्म के आधार पर द्वादशलक्षणी–पूर्वमीमांसा के स्रष्टा भगवान् जैमिनिनें–**'अहर्वाविसंख्यानात्'** इस बिन्दु के माध्यम से ही श्रुति के **'सहस्रवर्षात्मक यज्ञ'** का समन्वय किया है। प्रसङ्ग यही है वहाँ का कि, श्रुति ने एक सहस्रवर्षात्मक यज्ञ का विधान किया है, जिसका नाम है–सत्रविशेष। वेदोक्त मानवायुः का माप-दण्ड जब १०० वर्ष का है, तो उसे १००० वर्षात्मक यज्ञ का आदेश किस आधार पर दिया गया ?, यह प्रश्न उठाया है भगवान् जैमिनि ने। द्रष्टव्या है वहाँ की प्रश्नोत्तरविमर्शात्मिका मीमांसा, जिसके अन्त में यही सिद्धान्त स्थापित हुआ है कि—मानवीय विधि के प्रसङ्ग में वर्ष शब्द का अर्थ है–'अहः'। फलतः–एकसहस्र वर्ष का अर्थ होता है एकसहस्र अहोरात्र, अर्थात् अनुमानतः तीन वर्ष। यही पारिभाषिक वर्षकाल है, जिसका पौराणिक तथ्यों के साथ यत्रतत्र समन्वय हुआ है। **अमुक तपस्वी ने ३६००० (छत्तीसहजार) वर्ष तप किया,** इसका अर्थ इसी मीमांसा–परिभाषा के अनुसार होगा ३०००० दिन, अर्थात् पूरे १०० वर्ष, अर्थात् जीवन पर्य्यन्त।

८ मानवव्यक्ति-परिवारव्यक्ति-समाजव्यक्ति-राष्ट्रव्यक्ति-निबन्धन-'व्यक्तित्त्व' का तात्त्विक समन्वय—

यदि 'मानव' का भी ऐसा ही, अहः–मास–वर्ष–वत् ही कोई पारिभाषिक स्वरूप हो, तो राष्ट्र–परिवार–आदि शब्द भी विचाली बन सकते हैं। मानवव्यक्ति का वह पारिभाषिक स्वरूप है–'आत्मा–बुद्धि–

मनः–शरीर' इन चार पर्वों की समष्टि । चारों पर्वों की समन्वितावस्था का नाम हीं–'**व्यक्तिमानव**' है । ये ही चारों पर्वधर्म्म परिवार–समाज–एवं राष्ट्र में विभिन्न विभिन्न–नामरूपों से व्यवस्थित हैं, जो पर्व क्रमशः व्यक्तिमानव के आत्मा-बुद्ध्यादि चारों वैय्यक्तिक पर्वों का ही प्रातिनिध्य कर रहे हैं । और इस प्रातिनिध्यदृष्टि से व्यक्ति ही परिवार–समाज–राष्ट्र–तीन भावों में परिणत हो रहा है । अतएव व्यक्तिशब्द चारों संस्थानों के लिए विचाली बना हुआ है । परिवार भी एक 'व्यक्ति' है, समाज भी एक व्यक्ति है, राष्ट्र भी एक व्यक्ति है, एवं व्यक्ति तो 'व्यक्ति' है ही । इस 'व्यक्तित्त्व' की दृष्टि से **मानवव्यक्ति** शरीरप्रधान है, **परिवारव्यक्ति** मनःप्रधान है, **समाजव्यक्ति** बुद्धिप्रधान है, एवं **राष्ट्रव्यक्ति** आत्मप्रधान है ।

९–मानवव्यक्ति, और उसके व्यक्तित्त्व की परिभाषा—

यों मानवव्यक्ति की शरीर–मन–बुद्धि–आत्मा–रूपा अभिव्यक्तियाँ हीं इन चारों के अभिव्यक्तित्त्वरूप व्यक्तित्त्व के कारण बने हुए हैं । इसी समन्वय से हमें इस निष्कर्ष पर भी पहुँच जाना पड़ा कि–'मानवव्यक्ति' के व्यक्तित्त्व का राष्ट्र में वही महत्त्व है, जो महत्त्व मानवसंस्था में केवल शरीर का है। 'समाजव्यक्ति' के व्यक्तित्त्व का राष्ट्र में वही महत्त्व है, जो महत्त्व मानवसंस्था में केवल 'शरीर' का है । 'परिवारव्यक्ति' के व्यक्तित्त्व का राष्ट्र में वही महत्त्व है, जो महत्त्व मानवसंस्था में केवल बुद्धि का है, एवं 'राष्ट्रव्यक्ति' के व्यक्तित्त्व का राष्ट्र में वही महत्त्व है, जो महत्त्व मानवसंस्था में केवल भूतात्मा का है । अर्थात् मानवव्यक्ति राष्ट्र के शरीर हैं, परिवारव्यक्ति राष्ट्र के मन हैं, समाजव्यक्ति राष्ट्र की बुद्धियाँ हैं, एवं राष्ट्रव्यक्ति राष्ट्र के आत्मा हैं । केवल–'व्यक्ति' शब्द के विचालीभावों का यही प्रासङ्गिक समन्वय है ।

१०–परिवारव्यक्ति, और उसके व्यक्तित्त्व की परिभाषा—

यही स्थिति–'**परिवार**'-शब्द की है । '**परिवारमानव**' का पारिभाषिक स्वरूप है–**कुलवृद्ध–समर्थ-युवापुत्र–नारीवर्ग–बालवर्ग**–इन चारों पर्वों की समष्टि । मानव अपने भूतात्मा से स्वयं ही इस अंश में 'कुलवृद्ध' का प्रातिनिध्य कर रहा है, अपनी बुद्धि से स्वयं ही अजरामरवत् प्राज्ञ युवापुत्र का प्रतिनिधि बना हुआ है । अपने मनोरूप से यह स्वयं ही 'नारीभाव' में भी परिणत होरहा हैं । एवं अपने शरीररूप से यही 'बालभाव' में भी परिणत हो रहा है । अतएव व्यक्तिमानव स्वयं भी अपने हीं आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–भावों से वृद्ध–युवा–नारी–बाल–इन चारों भावों से समन्वित होता हुआ स्वयं अपने व्यक्तित्त्व से भी '**परिवार**' नाम का अधिकारी प्रमाणित है । '**समाजमानव**' का पारिभाषिक स्वरूप है-**ब्राह्मण-क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र**–इन चारों पर्वों की समष्टि । समाज का ब्राह्मणवर्ग कुलवृद्ध है, क्षत्रियवर्ग समर्थ युवापुत्र है, वैश्यवर्ग नारीवर्ग है, शूद्रवर्ग बालवर्ग है । यों '**समाजमानव**' में भी 'परिवार' भाव व्याप्त है । '**राष्ट्रमानव**' का पारिभाषिक स्वरूप है–**नीतितन्त्र–अनुशासनतन्त्र–गणतन्त्र–प्रजातन्त्र**–इन चारों पर्वों की समष्टि । राष्ट्र का नीतितन्त्र ही कुलवृद्ध है, अनुशासनतन्त्र ही युवापुत्र है, गणतन्त्र ही नारीवर्ग है, प्रजातन्त्र ही बालवर्ग है । यों 'राष्ट्रमानव' के साथ भी 'परिवार' शब्द समन्वित है । तदित्थं-व्यक्ति-परिवार-समाज–राष्ट्र–चारों में दृष्टिभेद से व्याप्त 'परिवार' शब्द भी व्यक्तिशब्दवत् विचाली ही प्रमाणित हो रहा है ।

११–समाजव्यक्ति, और उसके व्यक्तित्त्व की परिभाषा—

यही स्थिति क्रमप्राप्त तीसरे–'समाज' शब्द की है । समाज की परिभाषा है–ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण–वीर्य्यात्मक प्रकृतिसिद्ध–जन्मसिद्ध **ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र**–चारों वर्ण–वर्गों की समन्वितावस्था ।

व्यक्तिमानव आत्मना ब्रह्मवीर्य्यात्मक ब्राह्मण है, बुद्धया क्षत्रवीर्य्यात्मक क्षत्रिय है, मनसा विड्वीर्य्यात्मक वैश्य है, तो शरीरेण पौष्णभावात्मक शूद्र है। यों केवल व्यक्ति भी 'समाज' बन रहा है। कुलवृद्ध ब्राह्मण है, युवापुत्र क्षत्रिय है, नारी वैश्य है, बालवर्ग शूद्र है। यों केवल परिवार भी समाज बना हुआ है। नीतितन्त्राध्यक्ष ब्राह्मण है, अनुशासनतन्त्राध्यक्ष क्षत्रिय है, गणतन्त्राध्यक्ष वैश्य है, प्रजातन्त्राध्यक्ष शूद्र है। यों केवल राष्ट्र भी समाज बना हुआ है। तदित्थं–व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–चारों में दृष्टिभेद से व्याप्त 'समाज' शब्द भी परिवारशब्दवत् विचाली ही प्रमाणित हो रहा है।

१२–राष्ट्रव्यक्ति, और उसके व्यक्तित्त्व की परिभाषा—

यही समन्वय चौथे क्रमप्राप्त–'राष्ट्र' शब्द का है। राष्ट्र की परिभाषा है–नीति–अनुशासन–गणभाव–प्रजाभावों की समन्वितावस्था। व्यक्तिमानव शरीरेण प्रजातन्त्र है, मनसा गणतन्त्र है, बुद्धया अनुशासनतन्त्र है, एवं आत्मना स्वयं हीं अपना नीतितन्त्र है। यों केवल व्यक्ति भी चतुस्तन्त्रात्मक 'राष्ट्र' शब्द का अधिकारी बना हुआ है। पारिवारिक कुलवृद्ध नीतिनिर्द्धारक नीतितन्त्र है, युवापुत्र अनुशासनतन्त्र है, नारीवर्ग गणतन्त्र है, बालवर्ग प्रजातन्त्र है। यों केवल परिवार भी 'राष्ट्र' बना हुआ है। ब्राह्मण नीतितन्त्र है, क्षत्रिय अनुशासन तन्त्र है, वैश्य गणतन्त्र है, एवं शूद्र प्रजातन्त्र है। यों केवल 'समाज' के साथ भी 'राष्ट्र' शब्द समन्वित हो रहा है। तदित्थं–व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–चारों में दृष्टिकोणभेद से व्याप्त 'राष्ट्र' शब्द भी समाजशब्दवत् विचाली ही बना हुआ है।

१३–व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–समन्वयात्मक महान् कौशल, एवं संस्कृति का महतोमहीयान् उत्कर्ष—

क्या तात्पर्य्य है इस 'विचालीभाव' का ?। तात्पर्य्य यही है कि, यह सम्पूर्ण प्राकृतिक विश्व, विश्वगर्भीभूत चर–अचर पदार्थ क्योंकि किसी एक ही विश्वातीत–विश्वचर–विश्वकर्त्ता ब्रह्म का विवर्त्तभाव है। अतएव समष्टि, और व्यष्टिरूप से सभी में सब भाव दृष्टिकोण के तारतम्य से समन्वित हो रहे हैं। यही सर्वव्यापक–सर्वात्मक–एकमेवाद्वितीयं–ब्रह्म की सर्वाव्याप्ति का संक्षिप्त चिरन्तन इतिवृत्त है, जिसमें व्यवहार–व्यवस्थापेक्षया परस्पर श्रेणिविभाग के विद्यमान रहते हुए भी दृष्टि की अपेक्षा से सभी सर्वात्मना प्रमुख ही बने हुए हैं। समब्रह्मदृष्टया सब समान बने रहते हुए, आज की भावुकतापूर्ण भाषा के अनुसार वर्गभेदों से असंस्पृष्ट रहते हुए भी विषमा प्रकृति के व्यवहारात्मक आचारधर्म्म की अपेक्षा से सभी स्व–स्व–धर्म्मात्मक–स्व-स्व–महान् उत्तरदायित्वों का नियमपूर्वक–मर्य्यादापूर्वक सञ्चालन करते हुए समदृष्टया आत्मसम्पत्ति का, तथा व्यवहारधर्म्मेण विश्वसम्पत्ति का, इन दोनों निःश्रेयस्–अभ्युदय–भावों का समसमन्वयपूर्वक अर्जन करने में समर्थ बन जाते हैं। एवं यही भारतीय–संस्कृति का वह महान् उदात्त कौशल है, जिसमें लोक–परलोक–दोनों भाव निर्विरोध समन्वित हो रहे हैं। इस समन्वय से ही तो यहाँ के आयोजन वे 'सांस्कृतिक–आयोजन' कहलाए हैं, जिन में राष्ट्र के समाज–परिवार–व्यक्ति–सभी समानरूप से समन्वित होते रहते हैं। जबकि कल्पित साम्यवाद–प्रजासमाजवाद, किंवा केवल समाजवाद में विभोर–प्रकृतिविरुद्ध वर्गभेदहीनता के सुखस्वप्नद्रष्टाओं के आज के प्राकृतिक–आयोजनों में विशेष वर्ग के विशिष्ट मानव हीं प्रवेशाधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

१४-रक्षासापेक्ष-मानव की स्वरूपजिज्ञासा—

प्रकृतमनुसरामः । रक्षा-सापेक्ष 'राष्ट्र' की स्वरूपव्याप्ति पूर्वकथनानुसार व्यक्ति-परिवार-समाज-राष्ट्र-इन चार मानववर्गों से समन्वित है, जिस समन्वय की मूलप्रतिष्ठा आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से समन्वित मानव ही बना हुआ है । अतएव **राष्ट्र का रक्षक कौन ?**, इस पूर्वोपात्त प्रश्न का अत्र-**'मानव का रक्षक कौन ?**, इस स्वरूप पर ही विश्राम हो जाता है । इसी प्रश्न की सीमा में **मानव की स्वरूपजिज्ञासा, मानव की विपत्तियों का स्वरूप-परिचय, मानव के रक्षासाधन, रक्षासाधनों का उपयोग करने वाले रक्षक**, आदि आदि अनेक भाव स्वतः एव समाविष्ट हो जाते हैं । जहाँतक मानव की स्वरूपजिज्ञासा का प्रश्न है, तत्सम्बन्ध में पूर्वपरिच्छेदों में यत्रतत्र कई बार स्पष्टीकरण किया जाचुका है । क्योंकि रक्षा के लिए आतुर मानव का स्वरूप ही 'रक्षक' तत्त्व की समाधानभूमि बनने वाला है । अतएव प्रसङ्गसमन्वय-मात्र के लिए सर्वप्रथम दो शब्दों में मानव की स्वरूपजिज्ञासा ही उपशान्त कर दी जाती है ।

१५-स्वस्वरूपेण सुरक्षित मानव का आत्मस्वरूप—

सहज-लोकमान्यता के अनुसार **आत्मा**, और **शरीर**, दोनों का समन्वयात्मक एक विशिष्टतम अव्यक्ताव्यक्तस्वरूप ही मानव का स्वरूप है । अव्यक्त आत्मा का क्योंकि हम इन्द्रियों से साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं । अतएव इसका साङ्केतिक नाम रख दिया जाता है-**'अव्यक्त'** । शरीर का इन्द्रियों से अन्यान्य भूतभौतिक पदार्थों की भाँति साक्षात्कार हो रहा है । अतएव इसका साङ्केतिक नाम रख लिया जाता है-**'व्यक्त'** । अव्यक्त आत्मा शरीरदृष्टि से व्याप्त-सीमित-बनता हुआ भी अपने मूलस्वरूप से व्यापक असीम है । यह असीमता ही इस आत्मा का 'अमृतधर्म्म' है । सीमाभाव 'काल' का संग्राहक है, कालभाव दिग्देश का अनुग्राहक है । क्योंकि आत्मब्रह्म स्वस्वरूप से असीम है, अतएव यह निश्चयेन दिक्-देश-काल से अतीत है । सांसारिक यच-यावत् द्वन्द्वभावों का, आक्रमणभावों का, आक्रान्ताओं का, विपत्तियों का सम्बन्ध दिग्देशकालात्मिका सीमा से ही है । अतएव सीमातीत-असीम-अमृतधर्म्मा-अव्यक्त-आत्मब्रह्म दिग्देशकालानुबन्धिनी इन सांसारिक विपत्तिपरम्पराओं से सर्वथा असंस्पृष्ट ही बना रहता है । अतएव इसे **'अनुच्छित्तिधर्म्मा'** कहा गया है । अतएव च यह अजर-अमर-अविनाशी-शाश्वत-सनातन-तत्त्व ही माना गया है, जिस का कोई भी नाश नहीं कर सकता-**'विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तु मर्हति'** । इसी अविनाशी अव्ययात्मा से अक्षर के द्वारा क्षरोपादानमाध्यम से सम्पूर्ण विश्व का वितान-हुआ है-**'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना'** । अव्यक्त-अविनाशी-दिग्देशकालातीत इसी आत्मदेव का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए भगवान् ने तत्सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ॥
न चैनं क्लेदयन्त्यापः, न शोषयति मारुतः ॥१॥
अच्छेद्योऽय-मदाह्योऽय-मक्लेद्योऽ-शोष्य एव च ॥
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२॥
न जायते-म्रियते वा कदाचित्-नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥३॥

—गीता

१६-रक्षासापेक्ष मानवीय-शरीर, एवं तद्रक्षक-स्वरूप की जिज्ञासा—

जब कि तथाविध आत्मब्रह्म अविनाशी है, सनातन है, दिग्देशकालानवच्छिन्न है, तो उसका विश्व की विपत्तियाँ कैसे स्पर्श कर सकतीं हैं ?। जब कि वह सर्वथा सनातन है, तो उस पर कौन आक्रमण कर सकता है ?। जब 'विपत्ति' की कल्पना हीं आत्मक्षेत्र में सम्भव नहीं, तो तद्रक्षा का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वह तो स्वयं अपने स्वरूप से ही सदा ही सुरक्षित ही है। अतएव मानव अपने इस हृदयस्थ * अन्तर्य्यामी 'ईश्वरात्मा' लक्षण 'आत्मा' की दृष्टि से तो स्वयं अपने आप में हीं सुरक्षित है। और आत्मदृष्ट्या **मानव का रक्षक कौन** ?, यह प्रश्न भी सर्वथा अनुपपन्न ही बना रह जाता है। अब शेष रह जाता है— मानव का शरीर, जो कि दिग्-देश-काल-सीमाओं से सीमित बना रहता हुआ सादि-सान्त है, मरणधर्म्मा है, परिवर्त्तनशील है, अस्ति-जायते-वर्द्धते-विपरिणमते-अपक्षीयते-नश्यति-इन ६ भावविकारों-भूतविकारों से नित्य संश्लिष्ट है। अतएव च अवश्य ही प्राकृतिक विश्वानुबन्धी असंख्य-द्वन्द्वभावों के आक्रमण से इस विश्वावयवरूप व्यक्त-मूर्त्त-शरीर का द्वन्द्वाक्रान्त बने रहना भी सर्वथा स्वाभाविक ही बन जाता है। और इसी द्वन्द्वाक्रमणमाध्यम से इसका विपत्तियों से समावृत बनते रहना, किंवा बने रहना भी स्वाभाविक ही प्रमाणित हो जा ा है। इसीलिए अब प्रश्न के स्वरूप का इस रूप पर विश्राम माना जायगा कि—

१७-मानवशरीर के आविर्भाव का संक्षिप्त इतिवृत्त, एवं तदनुबन्धी आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-भाव—

ठहरिए। 'रक्षक' की जिज्ञासा से पूर्व मानव के 'शरीर' का ही पहिले स्वरूपान्वेषण कर लीजिए दो शब्दों में। तदनन्तर ही रक्षक की जिज्ञासा करना उचित होगा। शरीर-जिसे हम अपनी आंखों से देखते हैं, क्या स्वरूप है इसका ?, प्रश्न का समाधान कार्य्यरूप शरीर के उपादानरूप कारणद्रव्यों के स्वरूपबोध पर ही अवलम्बित है। एवं हि श्रूयते कि-माता के गर्भाशय में प्रतिष्ठित, पारदर्शकता के महान् प्रतिबन्धक, अतएव धामच्छद-सृष्टिसाक्षी अत्रिप्राण से समन्वित शोणित में जब पिता के पितृप्राणमय शुक्रद्रव्य की आहुति होती है, तो इस शुक्र-शोणित के अन्तर्य्यामात्मक-दाम्पत्यसम्बन्ध से, चितिसम्बन्धात्मक यागसम्बन्ध से ही 'गर्भशरीर' का स्वरूप-निर्म्माण आरम्भ होता है ×। यों शुक्ररूप सोम, तथा शोणितरूप अग्नि, दोनों के समन्वय से ही गर्भशरीर का प्राथमिक स्वरूप अभिव्यक्त होता है। अनन्तर माता के द्वारा खाए जाने वाले अन्नात्मक सोमरस की आहुति से, तथा शोणितप्रतिष्ठित अग्नि की पारम्परिक चिति से गर्भशरीर पुष्ट होने लगता है। यही अग्नि-सोम का दूसरा द्वन्द्व है। इसी के अनुग्रह से नवमासात्मिका

*-ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
—गीता

×-यदा वै स्त्रियै च पुंसश्च सन्तप्यते, अथ रेतः सिच्यते तत्। ततः प्रजायते- (शरीरं निष्पन्नं भवति)।
—शत० ब्रा० ३।५।३।१६।

सोमाहुति, तथा अग्निचिति से सर्वाङ्गीण बन जाने वाला गर्भशरीर एवयामरुत्–बालखिल्या–नाभादिष्ट–बालखिल्या–आदि आदि गर्भसहचारी प्राणविशेषों की कृपा से अमुक नियत समय पर भूमिष्ठ होता है, और यही मानव के शरीर का 'जन्म' कहलाया है, जिसका 'अस्ति' रूप भावविकार गर्भाशय में डिम्भरूप से ही प्रतिष्ठित हो गया था। भूमिष्ठ बनने के अनन्तर पुनः व्यक्तरूप से अन्नाहुतिक्रम प्रक्रान्त होता है। इस तृतीय अग्नीषोमात्मक यज्ञ से अपने आकृति–प्रकृति–अहङ्कृत्यात्मक गर्भबीजस्थ पारमेष्ठ्य महान् की सीमा के अनुपात से यह शरीर वृद्धिभावानुगत बनने लगता है। आयु के २५ पञ्चविंशतिवर्षात्मक उद्ग्राभ–काल में इसका यह व्यक्तशरीर सर्वाङ्गीणरूप से सम्पन्न हो जाता है **आकृत्या, प्रकृत्या, एवं अहङ्कृत्या च।**

१८–शोणिताग्निरूप पार्थिव तत्त्व, सौम्यशुक्ररूप चान्द्र तत्त्व, हिरण्यशकलरूप सौर तत्त्व, एवं तीनों के समन्वय से मानवशरीरत्रयी का आविर्भाव—

स्पष्ट ही तथाविध मानवशरीर के उपादानद्रव्यों में अभीतक स्पष्टरूप से हमें शोणिताग्नि, शुक्रसोम, रूप से दो ही द्रव्य उपलब्ध हुए हैं, जो क्रमशः मातृ–पितृ–अंश (प्रवर्ग्यांश) माने गए हैं। पदार्थस्वरूपदृष्ट्या दोनों हीं तरलद्रव्य हैं, अनस्थिमद्द्रव्य हैं, घनताशून्य द्रुत द्रव्य हैं। यदि शरीर केवल मांस–शोणित–स्वेद–कफ–लाला–मूत्र–मेदा–मज्जा–आदि आदि द्रव्यों की ही समष्टि होता, तब तो हम इन दोनों तरलद्रव्यों पर ही शरीर की कारणता का विश्राम मान ले सकते थे। किन्तु देखते हैं–एक 'अस्थि' (हड्डी) नामक वैसा ध्रुव (घनावयव) द्रव्य भी मानवशरीर में प्रतिष्ठित है, जिसके बिना शरीर का कोई स्वरूप ही नहीं रहता। शुक्र भी तरल, शोणित भी तरल। दोनों हीं अनस्थिमत्। फिर इन दोनों अनस्थिमद्द्रव्यों से अस्थिमत्–शरीर कैसे उत्पन्न हो गया ?, यह एक नवीन समस्या उपस्थित हो पड़ी, जिसका समाधान हुआ है निम्न लिखित उन वैज्ञानिक वचनों से, जो वैधयज्ञ के भूतपदार्थों के माध्यम से निदानरूपेण शारीरिक यज्ञ का विश्लेषण कर रहे हैं। देखिए !

"हिरण्यं पदे निधाय जुहोति (शत० ३।३।१।३।)। **चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा-अधिदेवने हिरण्यशकलं निधाय जुहोति"** (शत० ५।४।४।२१।)।

१९–अग्नीषोमात्मक यज्ञ के दैविक--भौतिक--आत्मिक--विवर्त्त, एवं तदाधारेणैव वैध-मानुष--यज्ञपद्धतियों का आविर्भाव—

प्राणाग्नीषोमात्मक आधिदैविकयज्ञ का जैसा स्वरूप है, भूताग्निसोमात्मक आधिभौतिकयज्ञ का स्वरूप भी ठीक वैसा ही है। क्योंकि प्रकृतिरूप दैविकयज्ञ से ही विकृति, किंवा विकाररूप भौतिक यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। प्रकृति–विकृत्यात्मक दैविक–भौतिक यज्ञ के अनुरूप ही मानवस्वरूपात्मक आध्यात्मिकयज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। अध्यात्मयज्ञ आधिदैविक-आधिभौतिकयज्ञ की साक्षात् प्रतिमा है, जैसा कि-**'यज्ञो वै पुरुषः'--'पुरुषो वै यज्ञः'** इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। इसप्रकार अग्नीषोमात्मक यज्ञ त्रिसंस्थ बन जाता है। त्रिसंस्थ इसी यज्ञ के अनुरूप भारतीय ऋषिमानव ने उस 'यज्ञविद्या' का आविर्भाव किया है, जो उक्त तीनों नित्य–प्राजापत्य–यज्ञों से सर्वथा समतुलित है। यही ऋषिमानव का एक वैसा अद्भुत आविष्कार है, जिसके बल पर ऋषिमानव कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ बने रहते थे। यही वैध–अनुष्ठेय–यज्ञ–

'अधियज्ञ' नाम से व्यवहृत हुआ है, जो मानव के आध्यात्मिक यज्ञ को महान् बल प्रदान किया करता है (था)। इसी आधार पर कहा गया है कि–**'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर !'** (गीता)। इत्थंभूत–कर्म्मात्मक यज्ञ (अधियज्ञ) की प्रक्रियाओं में जिन जिन भूत–भौतिक परिग्रहों का समन्वय हुआ है, वे सब नित्यसिद्ध दैविक–भौतिक–आत्मिक–यज्ञों के तत्तत् स्थूल–सूक्ष्म–पदार्थों के ही प्रतीक–प्रतिमान–निदान–अङ्ग–बने हुए हैं। अतएव इन्हीं के द्वारा उसके रहस्यों का समन्वय सम्भव बना करता है।

२०–भौम–चान्द्र–सौर–भावों के त्र्यात्मक यजन से मानव के त्र्यात्मक प्राकृतिक शरीर की स्वरूपनिष्पत्ति—

उत्तरावेदि के उत्तर भाग में अवस्थित चतुष्कोण आहवनीयाग्नि अग्नि है, गर्भाशय है। आज्याहुति-द्रव्य सोम है, शुक्र है। इस शुक्र में रक्खा हुआ सुवर्णखण्ड (हिरण्यशकल) है सौरप्राण का नैदानिक प्रतिमान। आज्याहुतिकाल में ऋषियों में परस्पर यह प्रश्न होता है कि, आज्य (शुक्र) जब तरल है, तो इस से अस्थिमती प्रजा कैसे उत्पन्न हो जाती है ?। दृष्टि आज्यद्रव्य पर है, प्रज्ञा (मन) शुक्र पर है। उत्तर दिया जाता है कि, आज्य यद्यपि तरल द्रव्य ही है। तथापि क्योंकि इस में हिरण्यशकल डाल कर इसकी आहुति की जाती है, अतएव प्रजा अस्थिमती बन जाती है। दृष्टि हिरण्यशकल पर है, प्रज्ञा सौरतेज पर है। पूर्वोक्त दोनों वचन इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। तात्पर्य्य यही है कि, **शोणिताग्नि पार्थिवतत्त्व है, शुक्रसौम्य चन्द्रतत्त्व है, एवं दोनों में प्रतिष्ठित अश्मासोममय सौरहिरण्यप्राण सौरतत्त्व है।** यों भौम–चान्द्र–सौर, तीनों द्रव्यों के यजन से ही मानव के उस शरीर का निर्म्माण हुआ है, जो पार्थिव–चान्द्र–सौर तीनों कारणद्रव्यों से अनुप्राणित है। एवं यही मानव के 'शरीर' की संक्षिप्ता स्वरूप–व्याख्या है।

२१-पार्थिव स्थूलशरीर, चान्द्र सूक्ष्मशरीर, एवं सौर कारणशरीर-रूप मानवीय 'शरीर' का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

मानवीय शरीर का पार्थिवभाग स्थूल है, चान्द्रभाग सूक्ष्म है, सौरभाग सूक्ष्मतम है। इन तीन भागों से एक ही शरीर **स्थूलशरीर–सूक्ष्मशरीर–कारणशरीर**–इन तीन नामों से व्यवहृत होने लग पड़ता है। शरीर को व्यक्त कहा गया है पूर्व में। विश्व में सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड तीनों व्यक्त–(प्रकट) भाव हैं। ये तीनों व्यक्तभाव ही मानव के कारण–सूक्ष्म–स्थूल–इन तीनों शरीरों के आरम्भक (उपादानकारण) बन रहे हैं। जिस उपादानकारणता का प्रचलित दर्शनभाषा में यों भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि, हमें अपनी आँखों से प्रत्यक्ष में जो दिखलाई देता है, वही मानव का स्थूलशरीर है, जिस में विज्ञानदृष्ट्या पार्थिवतत्त्व ही प्रधान है। यह स्थूलशरीर ही लोकसामान्यभाषा में–**'शरीर'** नाम से प्रसिद्ध है। स्थूल-शरीरात्मक इस 'शरीर' का आधारभूत **'मनोमयप्राणशरीर'** ही **'सूक्ष्मशरीर'** है, जिसका प्राणप्रधानत्वेन चक्षुरिन्द्रिय से साक्षात्कार तो सम्भव नहीं है। किन्तु तत्सहानुगत शारीरिक भूतों के परिवर्त्तन से–**'वातो देवेभ्य आचष्टे, यथा पुरुष ते मनः'** के अनुसार मन का भावात्मक अनुमान अवश्य हो जाता है। इस मनः–प्रधान सूक्ष्मशरीर का आधारभूत **'विज्ञानमयशरीर'** ही **'कारणशरीर'** है। इसप्रकार सर्वान्तर-तम–अव्यक्त–सनातन–अव्ययात्मा के अतिरिक्त मानवसंस्था में **बुद्धिरूप कारणशरीर, मनःप्राणलक्षण-**

सूक्ष्मशरीर, वाग्लक्षण स्थूलशरीर, इन तीन शरीरों की सत्ता सिद्ध हो जाती है । तीनों हीं शरीर शरीरत्वेन विनाशी हैं, नश्वर हैं, परिवर्त्तनशील हैं । अतएव तीनों के नाश का, क्षति-विक्षति-का, म्लान-ग्लान-भावों का भय सदा ही स्वाभाविक ही बना रहता है । अतएव इन तीनों का प्रयत्नपूर्वक संरक्षण-करते रहना मानव का अत्यावश्यक अनिवार्य्य कर्त्तव्य बन जाता है । **यों शरीरत्रयात्मक-द्वन्द्वात्मक-विनाशी शरीर, एवं द्वन्द्वातीत-अविनाशी आ मा, इन दो पर्वों की समष्टि को ही 'अहं' का स्वरूप माना जासकता है** । **अहम्**, अर्थात्-'**मैं**', अर्थात् '**मानव**' अमृतरूप आत्मा, तथा मृत्युरूप मरणधर्म्मा शरीर, दोनों की समष्टिमात्र ही है, जैसा कि-'**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन** !' इत्यादि गीताराद्धान्त से भी प्रमाणित है । दूसरे शब्दों में '**आत्मा-कारण-सूक्ष्म-स्थूल-शरीर**', इन चार पर्वों की समष्टि को भी 'अहं' (मानव) कहा जासकता है, एवं-'**आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर**' इन चार पर्वों की समष्टि को भी 'मानव' अभिधा का सम्मान दिया जासकता है । इसी मानवस्वरूप से यह भी स्वतः ही प्रमाणित हो जाता है कि, आत्मा जहाँ अपने स्वरूप से स्वतः सुरक्षित है, वहाँ शरीरत्रयी प्रयासद्वारा ही संरक्षणीया बना करती है । परिलेख के द्वारा 'मानवस्वरूप' को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने से अब हमें पूर्व प्रश्नों के इसी स्वरूप पर विश्रान्त होना पड़ रहा है कि—

मानव के तीनों शरीरों का रक्षक कौन ? ।

मानवस्वरूपेतिवृत्तम्		
	१-आत्मा ——— सर्वलक्षणः—अलक्षणो वा-'**आत्मा**' (१)	आत्मा-स्वतः-सुरक्षितः
	२-कारणशरीरम् —— बुद्धिलक्षणम्-विज्ञानलक्षणं वा '**बुद्धिः**' (२)	शरीरं-प्रयासेन संरक्षणीयम्
	३-सूक्ष्मशरीरम् —— मनोलक्षणं-प्राणलक्षणं वा-'**मनः**' (३)	
	४-स्थूलशरीरम् —— शरीरलक्षणं-वाग्लक्षणं वा-'**शरीरम्**' (४)	

२२-शरीरानुगत त्रिविध-तापों का उपक्रम—

जिन विपत्तियों से मानव के तीनों शरीरों की रक्षा अभीष्ट है, उन विपत्तियों का स्वरूप भी स्वतः एव प्रसङ्गधिया विजिज्ञास्य बन जाता है । अतएव दो शब्दों में विपत्तियों के चिरन्तन-इतिहास का भी समन्वय कर लेना चाहिए । 'दृश्य' को ही अपनी तत्त्वमीमांसा का प्रधान आधार मानने वाले लोक-भावुकतासंरक्षक-भारतीय-दार्शनिकोंनें विश्व की अगणित-अनन्त-असंख्य-समस्त विपत्तियों का तीन भागों में वर्गीकरण करते हुए लोकप्रसिद्ध-'**त्रिविधताप-त्रिविधदुःख**' से ही मानव की प्रज्ञा को विकम्पित किया है । ये तीनों ताप, किंवा दुःख क्रमशः **१-आधिदैविकताप, २-आध्यात्मिकताप, ३-आधिभौतिकताप**, इन नामों से सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध हैं ।

२३-प्राकृतिक विपत्तियाँ, और त्रिविध-ताप—

जिन विपत्तियों का मानवप्रज्ञा से प्रत्यक्ष में कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, दूसरे शब्दों में जिन विपत्तियों में लोकप्रज्ञा मानव को सर्वथा निरपराध मानती-मनवाती रहती है, उन प्राकृतिक-ईश्वरीय-

विपत्तियों को ही दर्शनभाषा में-'आधिदैविकताप' कहा गया है। व्यक्तिविशेषों के वैय्यक्तिक अपराधों से सम्बन्ध न रखनें वाले इन तापों का व्यक्तिविशेषों के साथ सम्बन्ध न होकर समष्टि के साथ ही सम्बन्ध रहता है। प्रान्तविशेष-देशविशेष-किंवा राष्ट्रविशेष को, अथवा तो कभी कभी सम्पूर्ण विश्वमानवों को इस ताप से उत्पीड़ित हो जाना पड़ता है। अतिवृष्टि-अनावृष्टि-हीनवृष्टि-विषमावृष्टि-जनपदविध्वंसिनी-(महामारी-प्लेग-हेजा-आदि आदि), आग्नेय-वारुण-वायव्य-ऐन्द्र-भेद से चतुर्द्धा विभक्त भूकम्प, तारा-उल्का-धिष्ण्या-वज्र-विद्युत्-भेद से पञ्चधा विभक्त आग्नेयसंवर्षताप, करकापात (ओलों की वृष्टि), झञ्झावात, अकाल, दुष्काल, आदि आदि भेद से असंख्य अवान्तर भेदों में विभक्ता प्राकृतिकी विपत्तियाँ हीं 'आधिदैविकताप' नाम से प्रसिद्ध हुई हैं।

२४-दैवी विपत्तियों के प्रति भी सत्तातन्त्र की, एवं मानव के वैय्यक्तिक प्रज्ञापराध की अनिवार्य्य--कारणता —

अवश्य ही यद्यपि भावुक-जनता की दृष्टि में इन विपत्तियों का मानव पर कोई उत्तरदायित्व नहीं है। तथापि निष्ठा की दृष्टि से तो ऋषिप्रज्ञा ने इन दैवी विपत्तियों का कारण भी मानव को ही माना है। किस मानव को ?, उस राष्ट्रमानव को, जिसका स्वरूप पूर्व में बतलाया जा चुका है। ब्राह्मणानुगत नीतितन्त्र, क्षत्रियानुगत अनुशासनतन्त्र, वैश्यानुगत गणतन्त्र, एवं शूद्रानुगत प्रजातन्त्र, इन चारों तन्त्रों से अनुप्राणित राष्ट्रमानव ही राष्ट्रमानव की स्वरूपव्याख्या है। जिस राष्ट्र का ब्राह्मणवर्ग धर्म्मनीतिलक्षण नीतिमार्ग का परित्याग कर देता है, जिस राष्ट्र का सत्तातन्त्र अनुशासन में शिथिल हो जाता है, जिस राष्ट्र का सम्पत्तिशाली वैश्यवर्ग गणभाव से पृथक होकर स्वार्थलिप्सु बन जाता है, जिस राष्ट्र का शूद्रवर्ग प्रजाभाव से पृथक् होकर उच्छृंखल हो जाता है, उस राष्ट्र की मानवता, मानवसमाज, मानवपरिवार, मानवव्यक्ति, सभी कुछ प्रकृतिविरुद्ध आचरणों-दुराचारों की ओर आकर्षित होते हुए अपने प्रकृतिसिद्ध सहज मानवस्वरूप से अस्तव्यस्त बन जाते हैं। मानवों के शरीर आलसी बन जाते हैं, मन भोगविलासपथानुगामी बन जाते हैं, बुद्धियाँ षडयन्त्रों-मायाचारों के सर्ज्जन में तल्लीन होजातीं है। फलस्वरूप आत्मदेव अन्तर्म्मुख बन जाते हैं। यों मानव के आत्मा-बुद्धि मनः-शरीर-चारों हीं पर्व सर्वथा ही 'मानवता' लक्षणा परिपूर्णता से पराङ्मुख हो जाते हैं।

२५--रामराज्य की एक महत्त्वपूर्ण घटना का संस्मरण, एवं--'राजा कालस्य कारणम्' की विस्पष्टतमा व्यञ्जना—

यद्यपि-'कुए भाँग पड़ी' इस लोकसिद्ध आभाणक के अनुसार तथाविध पराङ्मुखता के लिए राष्ट्र के सभी वर्ग दोषी हैं। तथापि-'राजा कालस्य कारणम्' इस लोकानुबन्धी सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार लोकजीवन की अवस्था, किंवा व्यवस्था का प्रधान उत्तरदायित्व लोकशासक-सत्तातन्त्र से ही सम्बद्ध माना गया है, माना जाना हीं चाहिए। सत्तातन्त्र की शिथिलता से, किंवा सत्तातन्त्र की अमर्य्यादा-अविवेकता-मद-मान-मत्तता-स्वैराचारपरायणता से ही दण्डभय शिथिल हो जाता है। एवं दण्डभय के शिथिल-कुण्ठित होते ही मानवमात्र प्राकृतिक व्यामोहनों के लक्ष्य बन जाते हैं। अतएव राष्ट्र की व्यवस्था का मूलकारण यदि सत्तातन्त्र है, तो इसके पतन का कारण भी सत्तातन्त्र ही बना करता है। जनसाधारण की

पतनावस्था का सत्तातन्त्र ही परम्परया उत्तरदायी है । अपने आपको–**'रामराज्य'** के आदर्शों पर प्रतिष्ठित मानते रहने वाले वर्त्तमान-सत्तातन्त्र के लिए प्रजानुरञ्जक राजा राम के युग की वह महत्त्वपूर्ण घटना तो सर्वथा विज्ञाता होगी ही कि, "एकबार एक बृद्धब्राह्मण अपने मृतपुत्र को लेकर रामसभा में पहुँच जाता है, और उस शवशरीर को राजाराम के सम्मुख फैंकर यह आक्रोश अभिव्यक्त कर देने में यत्किञ्चित् भी तो संकोच नहीं करता कि, मैंने जीवन में जब कोई पाप किया ही नहीं, तो असमय में मेरा पुत्र कैसे मर गया ? । अवश्य ही आपके राज्य में कोई महा पापकर्म्म हो रहा है, जिसका उत्तरदायित्व आप पर है । अतएव परम्परया आप ही के पाप से मेरा पुत्र मरा है" । जनतन्त्र के महान् प्रतीक राजाराम स्तब्ध हो जाते हैं, और तत्काल पुरोधा महर्षि वसिष्ठ के अनुग्रह से स्थिति से परिचित होते हैं । पापकर्म्म का उपशमन करते हैं, ब्राह्मणपुत्र जीवित हो पड़ता है । इस इतिवृत्त से स्पष्ट है कि, मुख्यरूप से सत्तातन्त्र ही प्रजा की, किंवा राष्ट्र की अनैतिकताओं का, पापाचारों का प्रधान कारण है, और महात्मा भीष्म के-**'राजा कालस्य कारणम्'** वाक्य का यही स्पष्टतम अर्थ है ।

२६–सर्वाधिक महत्त्वपूर्णा भी आधिदैविक-सुसूक्ष्म विपत्तियों के प्रति प्राकृत मानवों की उपेक्षा, एवं तद्दुष्परिणामस्वरूप दैविक विपत्तियों में अनुदिन वृद्धि--

यद्वा तद्वास्तु । आज इस तथ्य की मीमांसा का अवसर नहीं है, जब कि जनता स्वयं ही आज 'राजा' है, जब कि–**'जनता के लिए जनता के द्वारा जनता का राज'** * ही आज के सत्तातन्त्र की परिभाषा है । ऋषिप्रज्ञा ने प्राकृतिक–कोप का कारण भी लोकतन्त्र को ही माना है । मानव जब प्रकृतिविरुद्ध आचरण करने लग पड़ते हैं, तो मानव से अभिन्ना प्रकृति का अव्यवस्थित बन जाना स्वाभाविक बन जाता हैं । जिस–प्रकार अङ्गभूत छोटे यन्त्रों [पुर्जों] की विकृति से अङ्गीभूत महायन्त्र विकृत होता हुआ वस्तुनिर्म्माण के स्थान में विध्वंसक बन जाता है, एवमेव विश्वयन्त्ररूप महायन्त्र के प्रमुख अङ्ग–यन्त्ररूप मानवों के विकृत हो जाने से निश्चयेन महायन्त्ररूप विश्व भी विकम्पित हो पड़ता है, जिस प्रकृतिसिद्ध विकम्पन के लिए श्रद्धालु प्रजा में यह भाषा प्रसिद्ध है कि,–**'अरे मानवों के पाप से आज धरती काँप रही है'** । अतएव प्राकृतिक-आधिदैविक-तापों के सम्बन्ध में भी निष्ठादृष्टि से मानव को कभी निरपराध नहीं माना जा सकता । जब अधिक व्यक्ति इसी श्रेणि में अपना नाम लिखा लेते हैं, तो उस अवस्था में तो यह कम्पन सर्वथा ही धारावाहिक बन जाता है । अपराध है यह उस श्रेणि का, जिस के लिए व्यक्तिविशेष को अपराधी प्रमाणित कर देना कठिन हो जाता है । अतएव ऐसे प्राकृतिक–प्रकोपों के लिए वर्त्तमान सत्तातन्त्र के न्यायालयों में किसी के लिए कोई दण्डविधान नहीं है, जब कि अतीत भारत में राष्ट्र के ज्ञानविज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण को, तथा धर्म्मनिष्ठ सत्तातन्त्र को स्वयं ही इन आपत्तियों के उपशम के लिए शान्ति-स्वस्ति–कर्म्म करने कराने पड़ते थे । एवं जागरूकता के साथ इन आक्रमणों के मूलाधारभूत मानवीय अपराधों का अन्वेषण कर उन्हें दण्ड भी दिया जाता था । यही सर्वप्रधान उस आधिदैविक ताप की संक्षिप्त स्वरूपव्याख्या है, जिसकी दुर्भाग्य से आज भारतराष्ट्र में पुनः पुनः आवृत्ति तो होती जा रही है । किन्तु तन्निवृत्ति के लिए कोई भी

***-श्रीअब्राहम लिङ्कन की गणतन्त्रीय--प्रजातन्त्र की परिभाषा—**

वर्ग किसी भी उपाय का स्मरण करना भी आवश्यक नहीं मान रहा। मानो आज के सर्वसम्पन्न ? राष्ट्र के विकास ? के समतुलन में इन आधिदैविक विपत्तियों का कोई महत्त्व ही न हो।

२७–क्रमप्राप्त आधिभौतिक–ताप का स्वरूप–दिग्दर्शन–

अब क्रमप्राप्त दूसरे उस आधिभौतिक ताप को लक्ष्य बनाइए, जिसके स्वरूप से आज के सभी भूतवादी परिचित हैं। किसी बलवान् ने निर्बल पर शस्त्र–प्रहार कर दिया, किसी ने किसी के भूप्रदेश–गृह–वस्त्र–आदि का अपहरण कर लिया, किसी ने किसी का अपमान कर दिया, आदि आदि से उत्पन्न उत्पीड़न हीं आधिभौतिकताप है। सुनते हैं–सत्ता का सेनाविभाग, एवं पुलिसविभाग ऐसे अपराधों की प्रवृत्ति को निर्मूल बनाने के लिए ही सदा जागरूक है। यह भी सुना जा रहा है कि, मानवसुलभ असावधानी से कोई ऐसा अपराध कर भी लेता है इन रक्षकों की अज्ञानता में, तो ये अपराधी का अपने महान् कौशल से अन्वेषण कर उसे न्यायालयों में उपस्थित कर देते हैं, जहाँ इन अपराधियों को सुनते हैं–दण्ड दे दिया जाता है। आधिदैविकतापों की भाँति आधिभौतिक–तापों की आलोचना–प्रत्यालोचना का भी आज अवसर नहीं रह गया है। **साहस (फौजदारी), और दाय (दीवानी)**–दो विभागों में विभक्त वर्त्तमाना न्याय प्रणाली ने–गौतमीया **'पञ्चावयववाक्यसिद्धि'** नाम की प्रणाली का बहिष्कार कर 'न्याय' के साथ जो भावुकता की है, उसी का यह दुष्परिणाम है कि, जैसे रोगियों से अधिक वैद्य–डाक्टरों का आविर्भाव होता जा रहा है, तथैव न्यायपक्ष में विजय प्राप्त कराने वाले वाक्कीलक [वकील] प्राड्विवाकों की संख्या में अभिवृद्धि होती जा रही है। भारतीय दृष्टि से प्रजा को सत्ता की ओर से न्याय मिलता था, जबकि आज प्रजा न्याय की भिक्षा माँगती रहती है। यह भिक्षापद्धति किस सीमापर्य्यन्त महर्घ बन गई है ?, प्रश्न का स्मरणमात्र भी न्यायभिक्षुक को न्यायालयों के बाह्य–वातावरण में पहुँचने मात्र में भी असमर्थ बना रहा है। आलम्यालम्।

२८–क्रमप्राप्त आध्यात्मिक ताप का स्वरूपोपक्रम, एवं 'आध्यात्मिक' शब्द का फलितार्थ—

अब क्रमप्राप्त तीसरे 'आध्यात्मिकताप' का भी दो शब्दों में समन्वयानुग्रह कर लीजिए। भूतात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित 'शरीर' का ही नाम–'अध्यात्मम्' है*। कदापि विशुद्ध आत्मा का नाम–'अध्यात्मम्' नहीं है, जैसा कि आज समझा जा रहा है। आत्मा का किसी भी ताप से कदापि कोई भी सम्बन्ध नही है। अतएव 'आध्यात्मिकताप' से आत्मा कदापि संग्रहीत नहीं हो सकता। कदापि उस दशा में 'ताप' के साथ 'आध्यात्मिक' शब्द नहीं लगाया जा सकता। क्योंकि ताप को 'आध्यात्मिक' संज्ञा दी जारही है। आत्मा के साथ ताप का सम्बन्ध है नहीं। अतएव स्वतः ही 'अध्यात्म' का फलितार्थ शरीर ही हो जाता है।

---

*–सर्वसाधारण में 'अध्यात्म' शब्द का अर्थ आज 'आत्मा' समझा जा रहा है, जो कि तत्त्वविज्ञान–शून्या भावुकता का ही दुष्परिणाम है। आत्माधार पर प्रतिष्ठिता कारण–सूक्ष्म–स्थूल–शरीरत्रयी ही 'अध्यात्मम्' है। सहजभाषा में शरीरचर्चा का नाम ही अध्यात्मचर्चा है, जिससे सभी को सहजरूप से ही अध्यात्मचिन्तक माना जा सकता है।

२६–स्थूलशरीरात्मक शारीरिक–ताप, सूक्ष्मशरीरात्मक मानसिक–ताप, कारणशरीरात्मक बौद्धिक–ताप–भेद से आध्यात्मिक (शारीरिक) तापों के अवान्तर तीन मुख्य विवर्त्त—

स्थूल–सूक्ष्म–कारण–भेद से शरीर तीन विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है, जिन तीनों शरीरों के तात्त्विक नाम हैं क्रमशः **शरीर–मन–बुद्धि**। इन तीनों शरीरों से सम्बन्ध रखने वाले ताप का ही नाम–'आध्यात्मिकताप' है। सहजभाषा में **बौद्धिकताप, मानसिकताप, शारीरिकताप,** इन तीनों की समष्टि ही आध्यात्मिकताप है। **फोड़ा–फुन्सी–राजयक्ष्मा–ज्वर–वातशूल–गृध्रसी–विषूचिका–अपस्मार–अर्द्धाङ्ग**–आदि आदि असंख्य भेदों में विभक्त स्थूलशरीरात्मक–शरीर से सम्बन्ध रखने वाले शारीरिक रोग ही–**'शारीरिकताप'** हैं। प्रवृद्ध **काम–क्रोध–लोभ–मोह–मद–मात्सर्य्य–ईर्ष्या–असूया–दम्भ–मान**–आदि आदि भेद से अगणित भेदों में विभक्त सूक्ष्मशरीरात्मक मन से सम्बन्ध रखने वाले मानसिक रोग ही–**'मानसिकताप'** हैं। एवं–**अविद्या–आसक्ति–अस्मिता–अभिनिवेश–काम–कर्म्म–शुक्र–(सृष्टिबीज)–भावना**–आदि आदि अगणित भेदों में विभक्त कारणशरीरात्मक बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाले बौद्धिक रोग ही **'बौद्धिकताप'** हैं। निश्चयेन शारीरिकताप शरीर को सर्वथा अरक्षित बना देते हैं, मानसिकताप मन को सर्वथा अरक्षित अवस्था में ला खड़ा करते हैं। एवं बौद्धिकताप बुद्धि को विवेकशून्य कर देते हैं। इन तीनों विपत्तियों-रोगों–से तीनों शरीर अपनी सहज प्रकृतिस्थता से सर्वथैव पराङ्मुख हो जाते हैं। रुग्ण शरीर, चिन्तानिमग्न मन, विवेकशून्या बुद्धि, यही तो त्रिविध आध्यात्मिक तापों के महान् परिचयचिह्न हैं। जब मानव के ये तीनों शरीर यों इन तीनों आध्यात्मिक–तापों से सर्वात्मना आक्रान्त हो जाते हैं, तो ऐसा मानव निश्चयेन सभी क्षेत्रों में असफल बनता रहता है। ऐसे हीनशरीरी–चिन्तितमना–शून्यबुद्धि–प्राकृत मानव को ही बाह्य आक्रमणरूप आधिभौतिक–ताप का सम्मान्य अतिथि बन जाना पड़ता है। कोई ही इसके स्थूलशरीर पर प्रहार कर जाता है। कोई ही इसे अवाच्यवाद कह कर इसके मन को संतप्त कर जाता है। तो कोई भी इसके अविवेक से इसकी प्रवञ्चना कर जाता है। यों आधिभौतिक–तापत्रयी का कारण भी मुख्यरूप से यह आध्यात्मिक–तापत्रयी ही बनी रहती है। यही तापत्रयी मानव के द्वारा अनैतिकता का सर्जन कराती हुई इसे अधर्म्म–पथ की ओर आकर्षित करने लग पड़ती है। इसी अधर्म्मपथानुगति से मानव परम्परया प्रकृति–विकम्पन का कारण बन जाता है। विकम्पिता प्रकृति का दण्ड ही आधिदैविकताप कहलाया है, जिससे भी मानव के तीनों हीं शरीर अनुपात–तारतम्य से विपद्ग्रहग्रस्त बन जाते हैं। यों आध्यात्मिकतापत्रयी ही परम्परया आधिभौतिकतापत्रयी, तथा आधिदैविकतापत्रयी की भी कारणभूता मानी जा सकती है, मानी गई है। इसके त्रित्वानुबन्ध से ही भौतिक–दैविक–तापों को भी तीन तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। यों इस सूक्ष्म समन्वय की दृष्टि से मानव का आध्यात्मिकताप–ही भौतिक–दैविक–तापों के जन्म का निमित्त बन रहा है। आध्मात्मिक–तापों का मूल मानव का स्वयं का अपना **'प्रज्ञापराध'**, ही है, जिसे लोकभाषा में अज्ञान (नासमझी) कहा जाता है। स्वस्वरूपबोध के अभाव से ही मानव शारीरिक–मानसिक–बौद्धिक धातुओं को विषम बना डालता है।

३०--मानय का प्रज्ञापराध, एवं तद्द्वारा ही मानवीय शरीरत्रयी पर त्रिविध, किंवा पञ्चविध तापों का आक्रमण—

वात्त-पित्त-कफ-प्रमुख तीन शारीरिक धातु हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य्य-ये ६ प्रमुख मानसिक धातु हैं। एवं विद्या-काम-कर्म्म-शुक्र- ये चार प्रमुख बौद्धिक धातु हैं। तीन-छह-चार-धातुओं से ही शरीर-मन-बुद्धि का स्वरूप स्वस्वरूप से धृत-प्रतिष्ठित रहता है। अतएव इन्हें-'धातु' कहा गया है। प्रतिष्ठात्त्व ही 'धातु' शब्द का अर्थ है। धातुसाम्य जहाँ तीनों की प्रकृतिस्थता का कारण है, वहाँ धातुवैषम्य ही तीनों की प्रकृतिस्थता का विघातक बन जाता है। धातुओं का हीनयोग-मिथ्यायोग-अतियोग-अयोगात्मक विषमयोग जहाँ मानव को त्रिविध आध्यात्मिक तापों से युक्त कर देता है, वहाँ समत्त्वलक्षण समधातुयोग मानव की तीनों शरीरसंस्थाओं को सर्वथा प्रकृतिस्थ बनाए रहता है। यों प्रज्ञापराध से उत्पन्न विषमता ही मानव के त्रिविध ताप का कारण बन जाती है। यही परम्परया भौतिक-दैविक-तापों को आमन्त्रित करने का कारण बनती है। अतएव एकमात्र मानव ही भौतिक-दैविक-आत्मिक-तीनों तापों का सर्ज्जक प्रमाणित हो रहा है। इसी आधार पर तो-'स्वकर्म्मसूत्रग्रन्थितो हि लोकः' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। इसी आधार पर मानव के महान् उद्बोधक भगवान् ने कहा है—

> उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥१॥
> बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ॥
> अनात्मनस्तु शत्रुत्त्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥२॥
>
> —गीता ६।५,६, । *

३१--मानवीय शरीर की पाँच विपत्तियों का स्पष्टीकरण—

आध्यात्मिकतापवत् यद्यपि दैविक-भौतिक-तापों के भी शरीरत्रयी के भेद से तीन-तीन वर्ग माने जा सकते हैं, माने हैं सूक्ष्मदृष्टया शास्त्र ने। तथापि अभी उस विस्तारक्रम में न जाकर हमें समष्टिरूप से एकविध आधिदैविकताप, एकविध आधिभौतिकताप, तथा त्रिविध आध्यात्मिकताप, इत्येवंरूपेण तापलक्षणा विपत्तियों के पाँच ही प्रमुख भेद लक्ष्य बना लेने चाहिएँ। प्रज्ञापराधपथानुवर्त्मा प्राकृत मानव इस विपत्तिपञ्चक से सन्त्रस्त बन जाता है। प्राकृतिक विश्व के प्राकृतिक व्यामोहनों से अपना सन्त्राण करने में असमर्थ बन जाने वाला मानव निश्चयेन पाँचों में से किसी न किसी विपत्ति का अतिथि बना ही रहता है। और यही इसकी प्रकृति-निबन्धना वह अरक्षिता--सन्त्रस्ता-आर्त्ता-अवस्था, किंवा दुरवस्था है, जिसकी निवृत्ति का उपाय ही सर्वप्रथम अन्वेष्टव्य है। विपत्तिपञ्चक को परिलेख-द्वारा-लक्ष्यारूढ कीजिए, एवं तदनन्तर विप्रत्तित्राणात्मक रक्षासूत्रों का अन्वेषण कीजिए!।

---

* वचनों का रहस्यात्मक समन्वय गी० भू० बुद्धियोगपरीक्षा-खण्ड में देखना चाहिए।

विपत्तिपञ्चक-परिलेखः--

१—भूकम्प–महामारी–अनावृष्ट्यादिलक्षणा—विपत्तिरेव–आधिदैविकतापः } आधिदैविकतापः (१)

२—शस्त्र–मुष्टि–गाली–प्रहारादिलक्षणा—विपत्तिरेव—आधिभौतिकतापः } आधिभौतिकतापः (२)

३—अविद्यास्मितासक्त्यभिनिवेशलक्षणा—विपत्तिरेव–बौद्धिकतापः
—कारणशरीरानुगततापः–

४—प्रवृद्ध–काम–क्रोध–लोभादिलक्षणा—विपत्तिरेव–मानसिकतापः
—सूक्ष्मशरीरानुगततापः–

५—ज्वर–वातशूल–क्षय–पक्षघातादिलक्षणा–विपत्तिरेव–शारीरिकतापः
—स्थूलशरीरानुगततापः–

} आध्यात्मिकतापः

३२-पञ्चविध विपत्तियों से मानव का त्राण करने वाले रक्षक की स्वरूपजिज्ञासा--

विपद्ग्रस्त मानव का, तथा विपत्तियों का संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख व्यक्त करने की चेष्टा की गई। अब वह तीसरा रक्षात्मक प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है, जिसकी **मानव की शरीरत्रयी का रक्षक कौन ?**, इस रूप से पूर्व में उत्थानिका हुई थी। उक्त विपत्तिपञ्चक के स्वरूपविश्लेषणानन्तर अब इसी प्रश्न का यह भी रूप मान लिया जा सकता है कि,—**मानव को आधदैविक–आधिभौतिक–आध्यात्मिक, इन तीनों तापों से, किंवा पाँचों विपत्तियों से बचाने वाला कौन ?**।

३३-जिज्ञासा के समाधान की दुर्बोध्यता, एवं वर्त्तमान मानवीय मनस्तन्त्र के द्वारा रोग से ही रोगनिवृत्ति के उपाय का भावुकतापूर्ण–अन्वेषण -प्रयास—

प्रश्न जितना ऋजु है, उत्तर उतना हीं दुर्बोध्य है। इसलिए दुर्बोध्य है कि, भारतीय समाजशास्त्रियों ने इसका प्रकृतिसम्मत जो समाधान किया है, आज के युग में उस समाधान की रहस्यपूर्णा व्यञ्जना के लिए हमें क्षेत्र ही उपलब्ध नहीं हो रहा। क्योंकि आज तो 'प्रकृति' शब्द के अर्थ ही प्रत्यक्षदृष्ट भूत–भौतिक–अतएव नितान्त वैकारिक वे स्थूलतम पदार्थ ही माने जा रहे हैं, जो प्राणात्मिका सूक्ष्मप्रकृति के अन्तिम–प्रवर्ग्य माने गए हैं। सुसूक्ष्मा प्राणप्रकृति ही विकृति की प्रतिष्ठा है, विकृति से ही विकार उत्पन्न होते हैं। विकारों के पञ्चीकरण से ही वैकारिक वे भूत उत्पन्न होते हैं, जिन्हें सामान्यभाषा में 'महाभूत' कहा जाता है। विकारसंघात्मक वैकारिक महाभूतों के प्रवर्ग्यभागों से ही पार्थिव प्राणियों का स्वरूप–निर्म्माण हुआ है। अतएव प्राणीजगत् तो प्राणप्रकृति से कहीं विदूर सर्वथा अन्त में हीं प्रश्रयप्रयास प्राप्त करने वाला प्रवर्ग्यमात्र है। आज की विपत्तियें का परीक्षणस्थल भी केवल यही प्रवर्ग्य है, तो तन्निवृत्त्युपाय भी इसी प्रवर्ग्य को मूल बनाए हुए हैं। मानों रोग ही के द्वारा रोगनिवृत्ति का उपाय ढूँढा जारहा हो आज, जिस उपाय का मानवप्रकृति से संस्पर्श भी तो नहीं है।

३४–तापप्रवर्त्तक प्रवर्ग्य-भागों के प्रति मानव का महान् व्यामोहन, एवं तदनुग्रहेण त्रिविध तापों की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि––

जिन वैकारिक–प्रवर्ग्य–भूतों के व्यामोहन से मानव त्रिविध तापों का लक्ष्य बन रहा है, आज उन व्यामोहक प्रवर्ग्य–भूतों से ही मानव को सुख–शान्ति पहुँचाने का व्यर्थ का प्रयत्न प्रक्रान्त है। आत्मप्रतिष्ठा-शून्य–प्राणप्रकृतिशून्य जिस वैकारिक–भूतविज्ञानाकर्षण ने मानव को अस्वस्थ–अशान्त–आर्त्त बनाया है, आज उसी को मानव की सुख–शान्ति का कारण मानने-मनवाने का वाग्विजृम्भण महतासमारम्भेण प्रक्रान्त है। और हमारे भारतराष्ट्र का तो इस दिशा में यह अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण दृष्टिकोण है कि, जिस जड़भूतविज्ञानने प्रतीच्य–संसार की मानवता को मृत्यु के सन्निकट ला खड़ा किया है, आज हमारा राष्ट्र उसी भूतविज्ञान के परीक्षण–प्रचार के लिए आतुर बना हुआ है। यही नहीं, भूतविज्ञान की दानवीया पशुवृत्ति से सन्त्रस्त जो प्रतीच्य–प्रज्ञाशील आज इस महद्भय से त्राण प्राप्त करने के लिए बड़ी ही आशा–प्रतीक्षा के साथ भारतीय-प्रज्ञा से इस दिशा में सन्त्राण के उपाय जानने के लिए उत्सुक है, वह स्वयं भारतराष्ट्र अपनी **'पुराणीप्रज्ञा'** को विस्मृत कर याचमाना वृत्ति से अपने राष्ट्र की सुख–शान्ति के लिए प्रतीच्य–जगत् की भौतिक–सरणियों का ही अन्धानुकरण करता जा रहा है। कैसा है यह विधि का विचित्र विधान ?। और कैसी है यह भारतराष्ट्र की पर-प्रत्ययनेयमूला वह भावुकता ?, जिसने विगत अनेक शताब्दियों से यहाँ के मानव को वास्तविक समाधान से पराङ्-मुख ही बना रक्खा है। एकमात्र इसीलिए हम प्रश्न के समाधान को दुर्बोध्य मान रहे हैं, जबकि स्वयं भारतीय-दृष्टिकोण से तो समाधान प्रश्न की अपेक्षा भी सरलतम ही बना हुआ है, जिसकी सरलता का निम्न लिखित शब्दों में अभिनय कर दिया जाता है।

३५–राष्ट्र के महान् संरक्षक जागरूक–प्रहरी–ब्रह्म, एवं क्षत्र, तथा तदनुगत प्राकृतिक–रक्षात्मक विधि–विधान––

स्थूल–भौतिक–वैकारिक–जगत् की मूलभूता सुसूक्ष्मा प्राणप्रकृति का पूर्ण परीक्षण कर, उसके सुसूक्ष्म विधि–विधानों के आधार पर ही व्यक्त नियमों का सर्ज्जन करने वाला तत्त्वचिन्तक–ज्ञानविज्ञाननिष्ठ (केवल भूतविज्ञानासक्त नहीं)–जो कोई मानवश्रेष्ठ होगा, वही मुख्यरूप से समाज का 'रक्षक' माना जायगा, एवं उसे ही भारतीय–सामाजिकव्यवस्था में–**'ब्राह्मणवर्ण'** का सम्मान प्राप्त होगा। ब्राह्मण की चिरन्तना–सांस्कृतिक–प्रज्ञा से व्यवस्थित वे विधि–विधान हीं–**'शास्त्र'** कहलाएँगे, एवं शास्त्रवचनप्रामाण्य के आधार पर व्यवस्थित प्रकृतिभेद से विभक्त कर्त्तव्य–कर्म्म हीं मानव का विपत्तियों से सन्त्राण कर सकेंगे। इन विधि-विधानों की आचारव्यवस्था को, आचरणपद्धति को सुव्यवस्थित बनाए रखने वाला दण्डभयप्रवर्त्तक सामाजिकतन्त्र-विशेष ही समाज का बाह्य रक्षक माना जायगा, एवं उसे ही समाजशास्त्री **'क्षत्रिय'** सम्मान से समन्वित करेंगे। यही सहजभाषा में **'सत्तातन्त्र'** कहलाएगा। यों–राष्ट्र के तत्त्वज्ञ ब्राह्मण पर, एवं जीवनपद्धतिव्यवस्थासंरक्षक सत्तातन्त्र पर ही राष्ट्रीय समाज की रक्षा का उत्तरदायित्त्व व्यवस्थित माना जायगा, माना गया था भारतीयसमाज-व्यवस्था में। ब्रह्म, और क्षत्र से रक्षित समाज कभी किसी भी विपत्ति से प्रथम तो सन्त्रस्त हो ही नहीं सकता। यदि हो जाता है, तो तत्काल उसकी रक्षा करली जाती है। तदित्थं–भारतीय दृष्टिकोण से **ब्राह्मण, और क्षत्रिय,** ये दो वर्ग ही समाज के महान् प्रहरी–रक्षक–सेवक–माने गए हैं। जिस राष्ट्र के ब्रह्म–क्षत्र–वीर्य्य अभिभूत हो जाते हैं, सहजभाषा में जिस राष्ट्र के ज्ञान और पौरुष सुप्त हो जाते हैं, निश्चयेन वह राष्ट्र अरक्षित बनता हुआ आततायीवर्ग का ही ग्रास बन जाया करता है। सैषा स्थितिः प्राकृतिकी।

३६–आधिभौतिक–विपत्तियों से राष्ट्र का संरक्षण करने वाला क्षात्रतेज, और उसकी रहस्यपूर्ण- 'वर्म्मन्' उपाधि--

स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया । स्थूलशरीर से प्रधान सम्बन्ध रखने वाली विपत्ति ही आधिभौतिक-विपत्ति कहलाई है । शस्त्रप्रहार–गालीप्रहार–परिग्रहापहरण–आदि आदि से सम्बन्ध रखने वालीं विपत्तियों से देशाधिपति शास्ता क्षत्रिय ही दण्डबलात्मक पौरुष के द्वारा मानवसमाज की रक्षा करता है । जिसप्रकार बाहिर के तृण–कण्टक–आदि के आक्रमण से वर्म्म (कवच) मानव के स्थूलशरीर की रक्षा करता है । एवमेव क्षत्रियशास्ता मानो समाज का 'वर्म्म' ही बना रहता हुआ बाहिर के शस्त्रादि–आक्रमणों से मानवसमाजरूप बाह्यशरीर का रक्षण करता रहता है । इसी महान् उत्तरदायित्व को व्यक्त करने के लिए इसे--'**वर्म्मन्**' उपाधि प्रदान की गई है । सत्तातन्त्र समाजशरीर का वर्म्म है, कवच है, बाह्यरक्षा का दृढ़तम लौह--आवरण है । स्वयं 'क्षत्रिय' शब्द भी--'**क्षतात्--त्रायते**' निर्वचन से 'वर्म्म' स्थानीय इस क्षत्रिय के बाह्य रक्षाकर्म्म का ही समर्थन कर रहा है । जो क्षत्रिय इस रक्षाकर्म्म में असमर्थ है, कदापि उसे 'क्षत्रिय' नहीं कहा जा सकता । कदापि उसे भारतीय शासक तो नहीं हीं माना जा सकता *, एवं कदापि उसे 'वर्म्मा' उपाधि से समन्वित नहीं किया जा सकता ।

३७--आधिदैविक-विपत्तियों से राष्ट्र का संरक्षण करने वाला ब्राह्मतेज---

हमने देखा कि मानवसमाज की पाँच विपत्तियों में से '**आधिभौतिकविपत्ति**' नाम की एक विपत्ति से समाज की रक्षा करने वाला 'रक्षक' तो 'शास्तासत्तातन्त्र' के रूप से समाज को मिल गया । किन्तु अभी चार विपत्तियाँ शेष रह गईं । इन चारों विपत्तियों से समाज की रक्षा करने वाला वर्ग ही--'**ब्राह्मण**' कहलाया है । भूकम्प--अनावृष्ट्यादि--आधिदैविक विपत्तियों का कारण मानवसमाज का प्रज्ञापराधमूलक प्रकृतिविरुद्ध गमन (उत्पथगमन) हीं माना गया है । प्रकृतिविरुद्धाचरण का ही पारिभाषिक नाम है—'**अधर्म्म**' । इस अधर्म्म से ही प्राणमय प्रकृतिमण्डल क्षुब्ध हो पड़ता है । क्षुब्धा--विकम्पिता--रुष्टा--उत्तेजिता प्राणप्रकृति ही भूकम्पादि के द्वारा मानव--समाज पर दण्डप्रहार करने लग पड़ती है । प्राणप्रकृति के परीक्षक ब्राह्मण का यह आवश्यक, तथा अनिवार्य्य कर्त्तव्य होगा कि, वह मानवसमाज के प्रज्ञापराधमूलक उन अधर्म्म--भावों का अन्वेषण करे, जिनसे प्रकृति विकम्पित हो पड़ती है । उन कारणों का अनुसन्धान कर उन उन प्राकृतिक प्राणों के क्षोभ की शान्ति--स्वस्ति--के लिए श्रौतस्मार्त्त यज्ञ--उपासनादि--शान्ति--स्वस्त्ययनादि प्राणसमीकरणात्मक दैविक-कर्म्मों का अनुष्ठान करे, जिनका बाह्यस्वरूप सम्पादन करे सत्तातन्त्र । अवश्य ही इन शास्त्रीय अनुष्ठानों से ब्राह्मण प्राणसमीकरण के द्वारा प्रकृति को सुशान्त कर देता है, प्रकृति पुनः प्रकृतिस्था बन जाती है, उपद्रव शान्त हो जाते हैं, शान्तिसन्देशवाहक पुरोवात प्रवाहित होने लग पड़ता है । यही ब्राह्मण के द्वारा होने वाल शान्ति--स्वस्त्ययनात्मक आधिदैविक कर्म्मात्मक वह रक्षासाधन है, जिसके बल पर अवश्य ही यह ब्राह्मण-राष्ट्र की आधिदैविक–ताप से रक्षा करने में सर्वात्मना समर्थ बन जाता है ।

---

* **क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।**
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥

—**रघुवंशः**

३८- राष्ट्र के स्थूल--सूक्ष्म--कारण--शरीरात्मक शरीर--मन--बुद्धि--पर्वात्मक आध्यात्मिक तन्त्र का संरक्षक ब्राह्मतेज—

अब त्रिविध—आध्यात्मिक—तापों की निवृत्ति का समन्वय कीजिए । स्थूलशरीर—सूक्ष्मशरीर—कारणशरीर—तीनों के लिए **कर्म्म--उपासना--ज्ञान**--ये तीन मार्ग व्यवस्थित किए हैं ब्राह्मणप्रज्ञा ने । शास्त्रीय नित्य--नैमित्तिक--काम्य--यज्ञ--तपो--दानलक्षण विद्यासापेक्ष कर्म्मों से, तथा इष्ट--आपूर्त्त--दत्त--नामक त्रिविध--विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्मों से मानव की शरीरसंस्था सर्वात्मना प्रकृतिस्था बनी रहती है, विपत्ति का प्रवेश ही सम्भव नहीं होता । एवमेव परानुरक्तिरूपा उपासना से मानव का मन सर्वथा ही स्वस्तिभाव में परिणत रहता है । तथैव तत्त्वचिन्तनरूपा ज्ञाननिष्ठा से मानवीया बुद्धि सर्वात्मना योगनिष्ठा बनी रहती है । शरीरानुगत कर्म्म का रहस्यव्याख्यात्मक शास्त्र ही **'ब्राह्मण'** है, मनोऽनुगता उपासना का विश्लेषक शास्त्र ही **'आरण्यक'** है, एवं बुद्ध्यनुगत ज्ञान का व्यवस्थापक शास्त्र ही **'उपनिषत्'** है । ब्राह्मण--आरण्यक--उपनिषत् से अनुप्राणित--कर्म्म--उपास्ति--ज्ञान--निबन्धन--आचार--धर्म्म ही मानव के शरीर--मनो--बुद्धितन्त्र का महान् संरक्षक बना हुआ है, जिस रक्षात्मक सन्देश का उत्तरदायित्व मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के तत्त्वज्ञ ब्राह्मण पर ही अवलम्बित है । यों इस दृष्टि से ब्राह्मण आध्यात्मिक--संस्था के बुद्धि--मनः--शरीर--इन तीनों तन्त्रों का भी रक्षक बना हुआ है ।

३९--दर्शन--धर्म्म--आयुर्वेद--शास्त्रत्रयी के माध्यम से आध्यात्मिक--रक्षात्रयी का समन्वय, एवं ब्राह्मण की 'शर्म्मन्' उपाधि—

दूसरी दृष्टि से इस रक्षात्रयी का समन्वय कीजिए । आहार--विहारादि की नियमन--व्यवस्था का स्वरूपविश्लेषक, धातुसाम्यपद्धति का महान् शिक्षक, यच्चयावत् रोगों का प्रकृतिरहस्य--ज्ञानद्वारेण महान् चिकित्सक, प्राणपरीक्षक **'आयुर्वेदशास्त्र'** ही मानव के स्थूलशरीरात्मक 'शरीर' की रक्षा करता है, जो कि शास्त्र अथर्ववेद का ही उपवेदात्मक अङ्ग है, अतएव जो ब्राह्मणप्रज्ञा से ही समुद्भूत है । मानसिक--काम--क्रोध--लोभ--मोहादि का व्यवस्थापक,--व्रत--आचार--आदि कर्म्मों से मानसिक शुद्धि का प्रवर्त्तक,--मनु--याज्ञवल्क्य--विष्णु--वसिष्ठादि के द्वारा संकलित प्राकृतिक विधिविधानात्मक **'धर्म्मशास्त्र'** ही मानव के सूक्ष्मशरीरात्मक--'मन' की रक्षा करता है, जो कि शास्त्र वेदवित् ब्राह्मण की प्रज्ञा का ही व्यक्तरूप है । प्राकृतिक तत्त्वों का विश्लेषक, सृष्टिप्रक्रियाओं का तटस्थ विवेचक,--सृष्टिकारणता का प्रतिपादक **'दर्शनशास्त्र'** ही मानव की कारणशरीरात्मिका 'बुद्धि' को बल प्रदान करता है । तदित्थं **दर्शन--धर्म्म--आयुर्वेद**--तीनों शास्त्रों के विद्वान् , सहैव मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के परपारदर्शी भारतीय ब्राह्मण के द्वारा ही मानव के स्थूल--सूक्ष्म--कारण--शरीर सुव्यवस्थित सुरक्षित बने रह सकते हैं । एवं इस दृष्टि से आधिदैविक तापों की भाँति इन त्रिविध आध्यात्मिक तापों की उपशान्ति का उत्तरदायित्व भी वेदवित् ब्राह्मण पर ही अवलम्बित है । यों यह ब्राह्मण चार प्रकार की विपत्तियों से समाज की रक्षा करता हुआ सत्तापेक्षयापि कहीं महान् संरक्षक प्रमाणित हो रहा है । एकमात्र इसी अतिशय से इसे **'शर्म्मन्'** उपाधि से सुविभूषित कर दिया है यहाँ के समाजशास्त्रियोंनें ।

४०--'शर्म्मन्' उपाधि का लौकिक--अर्थसमन्वय—

'स्याद्दानन्दथुरानन्दशर्म्मशातसुखानि च' इत्यादि अमरवचन के अनुसार **'शर्म्मन्'** शब्द का लोकार्थ है--'सुख' । सुखी कौन ?, जिस के बुद्धि--मन--शरीर--रूप तीनों आध्यात्मिक तन्त्र स्व--स्वरूप में

व्यवस्थित रहते हुए प्रकृतिस्थ रहें, वही सुखी माना जायगा। यह प्रकृतिस्थता प्रकृतिसिद्ध धर्म्मात्मक विभक्त कर्त्तव्य–कर्म्मों के आचरण पर ही अवलम्बित है। आचारपद्धति का आधार शास्त्र है। शास्त्र का सन्देश-वाहक ब्राह्मण है। यों परम्परया 'शर्म्म' रूप सुख का ब्राह्मण ही निमित्त बना हुआ है। अतएव इसे अवश्य ही 'शर्म्म' प्रवर्त्तकत्वेन, शर्म्मप्रवर्त्तक–शास्त्राचार--सन्देशवाहकत्वेन–'**शर्म्मन्**' कहना अन्वर्थ बन रहा है। जिस राष्ट्र के शरीरत्रयात्मक शर्म्म (सुख) का उत्तरदायित्व शर्म्मा पर हो, निश्चयेन उस राष्ट्र की सुख–शान्ति में कोई आशङ्का नहीं की जासकती। एवं यही–'शर्म्मन्' का एक प्रकार का लौकिक–समन्वय है।

४१- लौकिक–'चर्म्मन्' शब्द, एवं वैदिक 'शर्म्मन्' शब्द का समन्वय–

'शर्म्मन्' उपाधि का वैदिक मर्म्म कुछ और ही है, जिसका–'**चर्म्मन्**' शब्द से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। 'चर्म्म' को भूतदृष्ट्या सुख का साधन मान लिया गया है। बाह्याकार की स्वरूपरक्षा भी 'चर्म्म' से होती है, एवं शरीर के भीतर के विभक्त–माँस–शोणित–शिरा–धमन्यादि अवयवों की स्वरूपरक्षा भी चर्म्म पर ही अवलम्बित है। जिसप्रकार लौहावरणरूप वर्म्म (कवच) से मानव अपने शरीर को बाहिर के कुश–कण्टकादि आवरणों से बचाता है, एवमेव चर्म्मरूप आभ्यन्तर–प्राकृतिक आवरण से मानवशरीर के भीतर के अङ्ग–प्रत्यङ्ग सुरक्षित रहते हैं। यह सुरक्षा ही शरीर की प्रकृतिस्थता है। और यही शरीर का प्राथमिक, एवं मुख्य सुख है, जिस से मानव की आकृति (शरीर) सुरक्षित बनी रहती है। फोड़ाफुन्सी के द्वारा चर्म्म के सच्छिद्र हो जाने से, शस्त्रप्रहारादि द्वारा क्षत–विक्षत हो जाने से, कुष्ठादि द्वारा विगलित हो जाने से, जरादि द्वारा शिथिल हो जाने से शरीर अनेक प्रकार की आधि–व्याधि–ईति–भीतियों का अतिथि बन जाता है। यों स्पष्ट ही भूतदृष्ट्या 'चर्म्म' मानव का सुखहेतु बना हुआ है। प्रत्येक प्राणी का सुख अपनी अपनी आकृति पर ही अवलम्बित है। आकृति का संरक्षण चर्म्म पर अवलम्बित है, जिसे प्रान्तीयभाषा में–'**खोल**'–'**चोल**'–'**चोला**' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। यही सुख की प्रथम भूमिका है। अतएव चर्म्म को सुख का साधन मान लिया गया है। इसी आधार पर लोक में–"**सब अपनी अपनी खोल में सुखी है**" यह आभाणक प्रसिद्ध हो पड़ा है। इसी आधार पर चर्म्मन्–का संग्राहक–'शर्म्मन्' शब्द संस्कृतसाहित्य में 'सुख' का वाचक बन गया है।

४२- मूलप्रतिष्ठात्मक 'ब्रह्मभाव', एवं उसकी 'शर्म्मन्' उपाधि--

स्वयं वेद में 'चर्म्म' के स्थान में–'शर्म्म' का ही उच्चारण हुआ है, जैसाकि **शर्म्मासीति** *

*–सुप्रसिद्ध हविर्यज्ञ में हविर्द्रव्यात्मक आहुतिद्रव्य के निर्म्माण के लिए हविर्द्धानशकट से 'धान' लिया जाता है। जिस उलूखल में धान कूटा जाता है, उसके नीचे कृष्णमृगचर्म्म (काले हरिण का चमड़ा, मृगछाला) बिछा दी जाती है। इसी सम्बन्ध में कृष्णमृगचर्म्म को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है कि–'**शर्म्मासि**' इति। अर्थात् आप शर्म्मन् हैं। इस मन्त्रभाग की व्याख्या करते हुए शतपथब्राह्मण के द्रष्टा भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है कि–"**चर्म्म वा एतत् कृष्णस्य यन्मानुषम्। शर्म्म देवत्रा। तस्मादाह–शर्म्मासीति**" (शतपथब्रा०१।१।४।४।)। अर्थात् यह वस्तुतः काले हरिण का चर्म्म (चमड़ा) ही तो है। मानवभाषा में (संस्कृतभाषा में) इसे 'चर्म्म' कहा जाता है, जबकि 'छन्दोभ्यस्ता' नाम की देवभाषा में 'चर्म्मन्' के स्थान में 'शर्म्मन्' का ही उच्चारण प्रचलित है–'**शर्म्मदेवत्रा**'।

(यजुःसंहिता) इस मन्त्रभाग से स्पष्ट है । शर्म्म का सुखार्थ भी चर्म्म के द्वारा पूर्वकथनानुसार सर्वात्मना सुसमन्वित है । समाज का सुख-शान्ति-स्वस्ति-लक्षण **'शर्म्मभाव'** क्योंकि तत्त्ववेत्ता धर्म्मिष्ठ-आचारनिष्ठ ब्राह्मण के द्वारा निष्पन्न-सम्पन्न-होने वाले चतुर्विध-रक्षाकर्म्म पर ही अवलम्बित है, अतएव इसे अवश्य ही समाजरूप शरीर का 'चर्म्म' माना जा सकता है । यही ब्राह्मण का 'चर्म्मन्' भाव है, जिसका अर्थ है-'शर्म्मन्' भाव । 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है--'प्रतिष्ठा' । आत्मतत्त्व ही ब्रह्म है, यही-**'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'** के अनुसार सम्पूर्ण प्राकृत विश्व की प्रतिष्ठा है--"**प्रतिष्ठा ह्येषा-यद्ब्रह्म । तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति**" (**ब्राह्मणः**)" । ब्राह्मण अपनी आत्मभावनानुगता तत्त्वनिष्ठा से इस ब्रह्मप्रतिष्ठा का ही प्रतीक है । यही ब्राह्मण का 'ब्राह्मण्य', किंवा ब्राह्मणत्त्व है . इसी तत्त्वप्रतिष्ठा से यह 'ब्राह्मण' कहलाया है । तत्त्वप्रतिष्ठा के बल पर ही समाज को चारों विपत्तियों से बचाने में समर्थ बनता हुआ यह समाज का चर्म्मरूप सुख बना हुआ है । यही इसका-'शर्म्मन्' पना है । जो ब्राह्मण तत्त्वज्ञान से शून्य बना रहता हुआ केवल जातिमात्रोपजीवी है, जिससे समाज की कोई रक्षा नहीं होती । ऐसा ब्राह्मण न तो ब्राह्मण ही है, न शर्म्मन् ही है । राष्ट्रपीड़ा को अपनी पीड़ा मानने वाला, तत्त्वनिष्ठ-शान्ति-स्वस्ति- द्वारा राष्ट्रसुख का प्रवर्त्तक ब्राह्मण हीं राष्ट्र का 'शर्म्मन्' ब्राह्मण है ।

४३-'चर्म्मन्' रूप 'शर्म्मन्' ब्रह्म से, एवं 'वर्म्मन्' क्षत्र से सुरक्षित-सुगुप्त राष्ट्र का वैश्यवर्ग, एवं उस की 'गुप्त' उपाधि का तात्त्विक समन्वय—

जिसप्रकार चर्म्मरूप शर्म्म से, तथा वर्म्मरूप कवच से अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग-आक्रमणों से सुरक्षित बनता हुआ हमारा शरीर सुगुप्त-सुरक्षित-रहता है, ठीक इसीप्रकार राष्ट्र की अर्थशक्ति का प्रातिनिध्य करने वाला वैश्यरूप समाज शर्म्मा-ब्राह्मणरूप चर्म्म से, वर्म्मा-क्षत्रियरूप कवच से, दोनों रक्षकों से सुरक्षित-सुगुप्त बना रहता है । इसी तथ्य को सूचित करने के लिए व्यक्तराष्ट्र के व्यक्त-महान्बल-अर्थबल के प्रतिनिधि श्रेष्ठ वैश्यवर्ग को यहाँ के समाजशास्त्रियोंनें-**'गुप्त'** उपाधि से समलङ्कृत किया है । यह सर्वथा सुनिश्चित तथ्य है कि, जिस राष्ट्र में ज्ञानगुप्ति के अधिष्ठाता शर्म्माभावापन्न ब्रह्मवीर्य्य का, तथा कर्म्मगुप्ति (पौरुष) के अधिष्ठाता वर्म्माभावापन्न क्षत्रवीर्य्य का अभिभव हो जाता है, उस राष्ट्र का अर्थगुप्तिरूप वैश्यबल, एवं तदनुगत अर्थबल, सुख-शान्ति-स्वस्ति-सभी वैभव पलायित हो जाते हैं । ब्रह्म-क्षत्र से अरक्षित राष्ट्र का अर्थ कदापि सुगुप्त-सुरक्षित नहीं रह सकता । निश्चयेन ऐसे अरक्षित अर्थ को सशक्त आक्रान्ता अपने स्वत्वाधिकार में लेकर राष्ट्रस्वातन्त्र्य का अपहरण ही कर लेते हैं । यदि सौभाग्य से घुणाक्षरन्यायेन राष्ट्रको आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो भी जाती है, किन्तु दुर्भाग्य से राष्ट्र को इस अर्थस्वातन्त्र्ययुग में ब्रह्मक्षत्र (ज्ञान, और पौरुष) का सहयोग नहीं मिल पाता, तो ऐसा केवल अर्थस्वातन्त्र्य स्वच्छन्दस्क बनता हुआ स्वव्यवहार की नियन्त्रण-पद्धतियों में स्व (अर्थ) रूप से सर्वथा असमर्थ बनता हुआ कालान्तर में अनर्थपरम्पराओं का ही सर्ज्जक बन जाता है । अर्थ कदापि स्वयं अपना नियन्त्रण नहीं कर सकता । यही नहीं, प्रज्ञा-पौरुष-रूप ब्रह्म-क्षत्र के नियन्त्रण की सीमा से बहिर्भूत सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अर्थ तो सर्वप्रथम कामभाव का आविष्कारक बन जाता है । अपने कामभावों की तात्कालिक-तुष्टि के लिए काममय विविध आयोजनों में तल्लीन हो जाता है । अन्ततोगत्त्वा इस कामार्थपरायणता से इस में वैसा व्यक्तित्वविमोहन उत्पन्न हो जाता है कि, यह स्वयं अपने आपको ही सर्वशास्ता-नियन्ता-भोक्ता-मान बैठने की भ्रान्ति में निमग्न हो पड़ता है । और यही राष्ट्रपतन का महान्

दुर्भाग्यपूर्ण अवसर माना गया है । अर्थ और काम के अतिरिक्त, दूसरे शब्दों में मानसिक और शारीरिक भावों के अतिरिक्त बुद्ध्यनुगत ज्ञान, तथा आत्मानुगता प्रतिष्ठा, दोनों हीं इसप्रकार के अर्थकाममय स्वातन्त्र्य के लिए सर्वथा उपेक्षित ही बन जाते हैं । न राष्ट्र को ज्ञान अपेक्षित, न पौरुष । अपेक्षित रह जाते हैं केवल अर्थ–काम । क्या परिणाम, किंवा महाभयानक दुष्परिणाम होते हैं इस अर्थकामपरायणता के ?, प्रश्न का संस्मरण भी राष्ट्र की समृद्धि को, सुख–शान्ति–स्वस्ति को आज विकम्पित कर रहा है ।

४३–'बलं सत्यादोजीयः'–श्रुतिवचन का समन्वय, एवं वणिक्तन्त्र की अर्थमूला महती भ्रान्ति—

निश्चय ही आज हमारा भारतराष्ट्र अर्थकामप्रधान ब्रिटिशसत्तातन्त्र के महान् दायादभोग के कारण अपना भी कुछ वैसा ही स्वरूप मान बैठा है । तद्युग के वैश्यबन्धुओंनें हीं इस मान्यता का प्रथमाविष्कार किया है । और इसी अर्थतन्त्र की आज यह स्वाभाविक–भाषा बन गई है कि–**'पैसे से सब कुछ खरीदा जासकता है'** । इसी भ्रान्ति ने राष्ट्र की संस्कृति–ज्ञानविज्ञान–धर्म्म–आचार–आदर्श–मानवता–आदि आदि विभूतियों को अन्तर्म्मुख बना दिया है । जड़ता जड़ता को ही ख़रीद सकती है, चैतन्य को नहीं । जब भी जड़ता चैतन्य पर आक्रमण करने चलती है, तो प्रथम तो जड़ता स्वयं ही पराभूत हो जाती है । यदि–**'बलं सत्यादोजीयः'** ? के अनुसार कुछ समय पर्य्यन्त जड़ता अपने धृष्टतापूर्ण नर्त्तन–गायन–वादन में सफल हो भी जाती है, तो चैतन्य तत्समय के लिए अन्तर्म्मुख हो जाता है । कालान्तर में यही जड़ता स्वयं अपने द्वारा ही समूल विनष्ट हो जाया करती है । यही शाश्वत देवासुरसंग्राम का चिरन्तन इतिवृत्त है । दुर्भाग्यवश आज हमारा सत्तातन्त्र भी इसी भ्रान्ति को प्रोत्साहित करता जारहा है । वणिक्तन्त्र की अर्थप्रवृत्ति की वासना हीं आज सर्वात्मना राष्ट्रीय–समस्याओं का एकमात्र निदान बनता जारहा है । कदापि ब्रह्म–क्षत्र के जागरण के बिना केवल अर्थस्वातन्त्र्य के बल पर राष्ट्र की–**'राजते'** उपाधि को चरितार्थ नहीं किया जासकता । ब्रह्म–क्षत्र ही राष्ट्र के चर्म्म–वर्म्म–स्थानीय रक्षक हैं । इन रक्षकों के बिना राष्ट्ररक्षा–राष्ट्रसमृद्धि अन्यान्य प्रयत्नसहस्रों से तो कदापि सम्भव नहीं है ।

४४-क्रतु–दक्षात्मक मित्रब्रह्म, एवं वरुणक्षत्र की समन्वयमूला राष्ट्ररक्षा का सामञ्जस्य–

उक्त सन्दर्भ के माध्यम से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, मानवसमाज ही अन्तरङ्गरक्षा का भार 'ब्राह्मण' से ही अनुप्राणित है । क्षत्रिय एकांश का रक्षक अवश्य है । किन्तु यह रक्षाबल इसे प्राप्त हुआ है–ब्राह्मण के द्वारा ही । राज्याभिषेक के अवसर पर मन्त्रपूत विभिन्न–जलाभिषेकों से ब्राह्मण हीं क्षत्रिय–राजा में उस वीर्य्य का आधान करता है, जिसके बल पर यह शासनदण्ड–सञ्चालन में समर्थ बन पाता है । अतएव श्रुति ने ब्रह्म को ही क्षत्र की योनि (प्रतिष्ठा) माना है । अतएव मैत्रावरुणग्रह-विज्ञान–प्रतिपादिका श्रुति ने ब्राह्मण को **अभिगन्ता** माना है, एवं क्षत्रिय–राजा को **कर्त्ता** कहा है । अग्रगामी ब्राह्मण पथप्रदर्शक है, निर्दिष्ट पथ पर ब्राह्मण के पीछे पीछे चलने वाला सत्तातन्त्र है । इसीलिए तो ब्राह्मण को–**'पुरोधा'** (आगे चलने वाला) कहा गया है । आज्ञा–ब्राह्मण की, कर्म्म सत्तातन्त्र का । यही क्रतु–दक्षात्मक मित्रब्रह्म–तथा वरुणक्षत्र का वह सामञ्जस्य है, जिसके द्वारा राष्ट्र ही की स्वरूपरक्षा हुआ करती है ।

४५–ब्रह्मप्रतिष्ठामूलक सत्तातन्त्र, एवं महात्मा भीष्म के द्वारा सत्तातन्त्र का महान् उद्बोधन—

प्रस्तुत निबन्ध के प्रथम प्रकरण में ब्रह्म–क्षत्र के सामञ्जस्य से सम्बन्ध रखने वाले इस प्राकृतिक रहस्य का मैत्रावरुणग्रहविज्ञानात्मक श्रौतसन्दर्भ के द्वारा विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है। निवेदन–निष्कर्ष यही है कि, ब्रह्ममित्रप्राणात्मक, अतएव 'मैत्र' नाम से प्रसिद्ध तत्त्ववित् ब्राह्मण के द्वारा प्राप्त बल पर ही क्षत्रवरुणप्राणात्मक क्षात्र सत्तातन्त्र का वर्म्मस्थानीय बहिरङ्ग–रक्षाकर्म्म प्रतिष्ठित है। ब्रह्मप्रतिष्ठा से वञ्चित क्षत्र कदापि इस बाह्यरक्षा कर्म्म में सफल नहीं हो सकता। **'ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति'** श्रुति से स्पष्ट ही क्षत्रियसत्ता की ब्राह्मणाश्रयता प्रमाणित हो रही है। अतएव कहा, और माना जासकता है कि, अपने चतुर्विध रक्षाकर्म्मों के साथ साथ क्षात्रसत्तातन्त्र के द्वारा होने वाले आधिभौतिक–रक्षाकर्म्म में भी परम्परया ब्राह्मण की रक्षा ही प्रतिष्ठित हो रही है। यों ब्राह्मण हीं तत्त्वतः पाँचों रक्षाकर्म्मों का साक्षात्, तथा परम्परया अधिष्ठाता बना हुआ है। अतएव ब्राह्मण को ही मानवसमाज का प्रधान संरक्षक माना जासकता है, माना गया है। अतएव सत्तातन्त्र का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, राष्ट्र के अन्यतम महान् संरक्षक इस ब्राह्मणवर्ग का सर्वात्मना जागरूकता से संरक्षण करता रहे। सत्ता के द्वारा अपनी संस्कृतिनिष्ठा से सुरक्षित ब्राह्मण हीं राष्ट्र का विपत्तिपञ्चक से परित्राण किया करता है। जो सत्तातन्त्र ब्राह्मण की उपेक्षा कर देता है, उस राष्ट्र की ब्राह्मणमूला संस्कृति अरक्षित होजाती है। संस्कृति के अरक्षित हो जाने से राष्ट्र का ब्राह्मण अरक्षित हो जाता है। एवं एकमात्र सत्ताओं के अपराध–प्रमाद–उपेक्षा–निरपेक्षिता–आदि दोषों से ही यों परम्परया राष्ट्र का ब्राह्मण, उस की संस्कृति–सब कुछ अरक्षित ही बन जाते हैं। सांस्कृतिकबल से शून्या सत्ता, एवं ब्राह्मण, दोनों का ही, सहज भाषा में ब्रह्म–क्षत्र–दोनों का ही स्वरूप अभिभूत हो जाता है। ब्रह्म अन्तर्म्मुख हो जाता है, क्षत्र विनष्ट हो जाता है। दोनों रक्षकों के इस दशा पर पहुँचने के अनन्तर राष्ट्र सर्वथा अरक्षित हो जाता है। अरक्षित राष्ट्र तथाकथित पाँचों विपत्तियों का लक्ष्य बन जाता है। इसी स्थिति को लक्ष्य बना कर महाभारतकारने अश्वपति केकयराज, तथा कबन्ध अथर्वाराक्षस की संवादभाषा में ब्राह्मण को ही राष्ट्र का अन्यतम रक्षक उद्घोषित किया है, जैसाकि तत्प्रकरण के निम्न लिखित कतिपय वचनों से स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है।

केकय उवाच—**आत्मविज्ञानसम्पन्नस्तपस्वी सर्वधर्म्मवित् ॥**
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः ॥१॥
गोब्राह्मणेभ्यो यज्ञेभ्यो नित्यं स्वस्त्ययनं मम ॥
आशासते जना राष्ट्रे मामकान्तरमाविशः ॥२॥

राक्षस उवाच—**येषां गोब्राह्मणं रक्ष्यं प्रजारक्ष्याश्च केकय ! ॥**
न रक्षोभ्यो भयं तेषां, कुत एव तु पावकात् ॥३॥
येषां पुरोगमा विप्रा येषां ब्रह्मपरं बलम् ॥
अतिथिप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः ॥४॥

भीष्म उवाच—तस्माद् द्विजातीन् रक्षेत, ते हि रक्षन्ति रक्षिताः ॥
आशीरेषां भवेद् राजन् ! राज्ञां सम्यक्-प्रवर्त्तताम् ॥५॥
तस्माद् राज्ञा विशेषेण विकर्म्मस्था द्विजातयः ॥
नियम्याः संविभज्याश्च तदनुग्रहकारणात् ॥६॥
—महाभारत शान्तिपर्व राज० ७७ अध्याये

४६-ब्रह्मवीर्य्यानुगत ब्राह्मण की स्वानुगता स्वरूपरक्षा का मौलिक रहस्य, एवं सत्तातन्त्र के राष्ट्रीय-रक्षाकर्म्म का मूलबीज —

यह एक अविस्मरणीय तथ्य है कि, राष्ट्र का ब्राह्मण अपने आभ्यन्तर स्वरूप से सदा 'ब्राह्मण' हीं बना रहता है, बना रहेगा, जबकि इतर वर्ग राष्ट्र के प्रति निरपेक्ष बन जाया करते हैं। राष्ट्रीय आपत्तिकालों में अपने बाह्यस्वरूप से अरक्षित भी ब्राह्मण अपने आभ्यन्तर स्वरूप से सदा सुरक्षित ही बना रहता है। सत्तातन्त्र के द्वारा उपेक्षित ब्राह्मण का बाह्य स्वरूप बदल सकता है, बदल रहा है, बदलता रहेगा। किन्तु स्वयं अपने रूप से ब्राह्मण ब्राह्मण हीं बना रहता आया है, इस तथ्य को 'मित्र-ब्रह्म' के स्वरूप से वञ्चिता आज की भूतप्रज्ञा कदापि हृदयङ्गम नहीं कर सकती। सत्तातन्त्र के सहयोग से अपने बाह्य स्वरूप को सुसमृद्ध बनाता हुआ ब्राह्मण राष्ट्रसमृद्धि का कारण बन जाता है। सत्तासहयोग से वञ्चित ब्राह्मण इस राष्ट्रसमृद्धि से वञ्चित रहता हुआ भी अपने स्वरूप से कदापि अभिभूत नहीं होता, जैसे कि ब्राह्मण की सांस्कृतिक-निष्ठा से वञ्चित सत्तातन्त्र, तथा तत्सहैव अन्यान्य वर्ग अपना स्वरूप ही खो बैठते हैं। श्रुतिनें निम्न लिखित शब्दों में इसी तथ्य का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है कि—**"यह सर्वथा ही ठीक ठीक है, प्रकृतिसिद्ध ही है कि, ब्राह्मण अराजन्य भी रह सकता है। अर्थात् सत्ता से प्रथक् रह कर भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं हो पाता। यदि इसे राजन्य (सत्ता) का सहयोग मिल जाता है, तो यह राष्ट्र की समृद्धि है। किन्तु यह तो सर्वथा ही अनुपपन्न है कि, ब्राह्मण के सहयोग के बिना राजन्य (सत्ता) स्वस्वरूप से सुरक्षित रह जाय। ब्राह्मण अराजन्य भी रह सकता है, किन्तु राजन्य कदापि अब्राह्मण (ब्राह्मण के सहयोग से वञ्चित) होकर स्वस्वरूप से सुरक्षित नहीं रह सकता। ब्राह्मणनिष्ठा के सहयोग से वञ्चिता राजन्यसत्ता का कोई भी कर्म्म समृद्ध-सफल हो ही नहीं सकता। अतएव आवश्यक है कि, सत्तातन्त्र सर्वात्मना ब्राह्मणनिष्ठा को आधार बना कर ही राष्ट्ररक्षाकर्म्म में प्रवृत्त हो"** (शत० ब्रा० ४ काण्ड। १ अध्याय। ४ ब्राह्मण। ६ ठी कण्डिका।

४७-ब्राह्मण की वहिर्भावुकतामूला पतनावस्था का एकमात्र उत्तरदायी सत्तातन्त्र, एवं तत्र महात्मा भीष्म के द्वारा सत्ता को उद्बोधन प्रदान—

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य यही है कि, जहाँतक ब्राह्मण के अपने ब्राह्मणत्वनिबन्धन स्वरूप का प्रश्न है, उस सीमापर्य्यन्त तो ब्राह्मण सुरक्षित है अपने ही स्वरूप से। सत्ता के द्वारा इस ब्राह्मणत्व की रक्षा नहीं होती। अपितु सत्ता तो ब्राह्मण के बाह्य लोकजीवन का रक्षणमात्र करती है। लोकजीवनात्मिका रक्षा से रक्षित ब्राह्मण का लोकस्वरूप सत्ता-को समृद्धिसूत्र प्रदान करता हुआ राष्ट्रसमृद्धि का कारण बन जाता है। अतएव इस

'ब्राह्मणरक्षा' के गर्भ में राष्ट्रीय–सत्ता के अपने स्वरूप की रक्षा का ही बीज सुरक्षित है। कदापि इसके साथ ब्राह्मण के प्रति कोई उपकार–दया–करुणा-भाव का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु ये शब्द तो ब्राह्मण की ओर से सत्ता को ही उपलब्ध होते रहते हैं, जैसाकि—**'आशीरेषां भवेद् राजन् ! राज्ञां सम्यक्प्रवर्त्तताम्'** से स्पष्ट है। ब्राह्मण की सहज दया-करुणा–मिश्रिता आशीः से ही सत्तातन्त्र सुरक्षित रह सकता है, रहता आया है। अतएव सत्ता को कभी इस भ्रान्ति में नहीं पड़ जाना चाहिए कि, "वह ब्राह्मण के लोकजीवन की रक्षा करती हुई ब्राह्मण पर दया कर रही है"। जब से राजन्य-सत्तातन्त्रों में इस भ्रान्ति का उदय हो पड़ा है, जब से सत्तातन्त्रोंनें अपने आपको आश्रय, तथा ब्राह्मण को आश्रित मानने–मनवाने की महती भ्रान्ति का श्रीगणेश कर दिया है, तभी से सत्ताश्रित-राज्याश्रित यहाँ के ब्राह्मण की बाह्य जीवनपद्धति सर्वथैव दासभाव में ही परिणत हो गई है, जो कि ब्राह्मण का पतन ही माना गया है। कदापि स्वयं ब्राह्मण इस पतन का कारण नहीं है। अपितु सत्ता की 'आश्रय' प्रदानरूपा भ्रान्ति से ही ब्राह्मण का बाह्य स्वरूप विकृत बन गया है आज। स्पष्ट ही ब्राह्मण के इस बाह्य पतन का एकमात्र कारण सत्तातन्त्र को ही माना जाना चाहिए, माना गया है। अन्यथा अपने आभ्यन्तर स्वरूप से तो ब्राह्मण तो आज भी ब्राह्मण ही है। आज भी ब्राह्मण की मूलसंस्कृति ही येन केनरूपेण सर्वत्रैव परम्परया राष्ट्र का आधार बनी हुई है। **विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तु 'मर्हति'**। महात्मा भीष्मने विस्पष्ट शब्दों में यही तथ्य युधिष्ठिर के सम्मुख रक्खा है। वहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि, लोकजीवनपद्धति की दृष्टि से हीन प्रमाणित हो जाने वाले ब्राह्मणों की इस हीनता का स्वयं ब्राह्मण कदापि कारण नहीं है। अपितु यह तो सत्ता के अपराध से ही विवश बन जाता है इस हीन जीवन-पद्धति को अपनाने के लिए। देखिए !

भीष्मउवाच—ब्राह्मणानाञ्च ये केचिद्विकर्म्मस्था भवन्त्युत ॥
विकर्म्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन ॥
नियम्याः संविभज्याश्च 'धर्म्मानुग्रहकारणात्' ॥१॥
यस्य स्म विषये राजन् ! स्तेनो भवति वै द्विजः ॥
"राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते तद्विदो जनाः" ॥२॥
अवृत्या यो भवेत् स्तेनो वेदवित् स्नातकस्तथा ॥
राजन् ! स राज्ञा भर्त्तव्य-इति 'वेदविदो विदुः' ॥३॥

—महाभारत शा० राज० ७६ अध्याय।

४८–'धर्म्मानुग्रहकारणात्'-मूलक भीष्मवचन की श्रुतिसिद्धान्त के द्वारा प्रामाणिकता का समन्वय—

'धर्म्मानुग्रहकारणात्'। अर्थात् धर्म्म के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए ही तत्सन्देशवाहक ब्राह्मण की बाह्य–लोकजीवनपद्धति का सत्ता के द्वारा संरक्षण आवश्यक है। अर्थात् ब्राह्मण के अनुग्रह के लिए ही ब्राह्मण-रक्षा आवश्यक है, न कि इस सत्ता से रक्षण ब्राह्मण पर कोई अनुग्रह कर रही है। **'ते हि रक्षन्ति रक्षिताः'**

का भी यही अर्थ है। अतएव ब्राह्मण को जहाँ अपने रूप से सत्ता के प्रति सर्वथा निरपेक्ष ही रहना चाहिए, वहाँ सत्ता को सदा प्रणतभाव से ब्राह्मण के प्रति सापेक्ष ही बना रहना चाहिए, जैसाकि—"**उप मावर्त्तस्व, संसृजावहै, पुरस्त्वा करवै, त्वत्प्रसूतः कर्म्म करवै। तस्मादु क्षत्रियेण कर्म्मकरिष्यमाणेन–उपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः। सं हैवास्मै (सत्तातन्त्राय) तत् ब्रह्मप्रसूतं कर्म्मर्ध्यते**" इत्यादि मैत्रावरुणग्रहश्रुति से भी स्पष्ट है।

४९–ब्रह्मबलात्मक 'सांस्कृतिकबल', तदभिन्न–'धर्म्मबल', एवं तद्द्वारा राष्ट्र का स्वरूप-संरक्षण—

उक्त विवेचन से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाना पड़ा कि, प्रक्रान्त प्रश्न का एकमात्र प्रमुख समाधान तत्त्वज्ञ–आचारनिष्ठ-राष्ट्रीय–ब्राह्मण हीं **है**। ब्राह्मण ही पाँचों विपत्तियों से राष्ट्र के मानवसमाज की रक्षा करने में समर्थ है। अब प्रश्न केवल यही शेष रह जाता है कि, ब्राह्मण के कोष में वह ऐसा कौनसा रक्षाबल है, जिससे यह राष्ट्रमानव की रक्षा में समर्थ हो जाता है, जबकि प्रत्यक्ष में कोई भी भूतबल इसके सान्निध्य में उपलब्ध नहीं हो रहा ?। प्रश्न का समाधान है–'**ब्रह्मबल**', 'ब्रह्मबल' का अर्थ है–'**तपोयुक्त विद्याबल**', विद्याबल का अर्थ है–स्वायम्भुव ऋषिप्राणात्मक ऋक्-यजुः-सामार्थवरूप वेदतत्त्व से अनुप्राणित सृष्टि के रहस्यात्मक ज्ञानविज्ञानमय तात्त्विक स्वरूप की स्वरूपव्याख्या। इसी बल का नाम है–'सांस्कृतिकबल'। यही बल मानव को स्वरूपबोध कराने की क्षमता रखता है। स्वरूपबोध से समन्वित मानव ही प्रकृतिसिद्ध आचारव्यवस्था पर स्वयं अपनी इच्छा से ही प्रतिष्ठित हो जाता है। आचारव्यवस्था का नाम हीं है–'**धर्म्म**'। यही धर्म्म मानव को अधर्म्मपथ से बचाता है। प्रकृतिविरुद्धगमन हीं अधर्म्म है। धर्म्मानुगति से अपनी जीवनपद्धति को व्यवस्थित रखने वाले मानव के बुद्धि–मन–शरीर–तीनों हीं तन्त्र सर्वथा सुव्यवस्थित बने रहते हैं, जो कि धार्म्मिक जीवनपद्धति-"**दाम्पत्यजीवनमूला-गृहस्थाश्रमप्रधाना-आश्रमजीवनपद्धति**" कहलाई है। इस पद्धति पर प्रतिष्ठित रहने वाले व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–चारों हीं तन्त्र सर्वात्मना स्व–स्व–स्वरूपों से अपनी अपनी धर्म्मनिष्ठाओं से सुरक्षित बने रहते हैं। यों ब्राह्मण की ज्ञानविज्ञानसंस्कृतिरूपा–धर्म्मनिष्ठा से मानवसमाज सुरक्षित बना रहता है, इसी आधार पर-'**धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा**' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। धर्म्मव्यवस्थापक ब्राह्मण है, धर्म्मसूत्रों की बाह्य आचारपद्धतियों का नियामक क्षात्र सत्तातन्त्र है। उभय तन्त्रों से सुरक्षित–सुव्यवस्थित धर्म्म हीं समाज-राष्ट्र की रक्षा करता है। और '**धर्म्मो रक्षति रक्षितः**' का यही रहस्यात्मक समन्वय है, जिस इत्थंभूत आत्मबुद्धिसम्मत धर्म्म की सुसूक्ष्मा गति–प्रतिष्ठा को केवल मनःशरीरधर्म्मा भूतासक्त मानव कदापि समन्वित नहीं कर सकता, नहीं कर सकता। और केवल भूतासक्ति को ही मानवजीवन का परमपुरुषार्थ मान बैठने वाला ऐसा ही समाज ब्रह्मक्षत्रानुबन्धी धर्म्म से पराङ्मुख होकर तथाविध पञ्चविध विपत्तियों का सम्मान्य अतिथि बना रहता है। '**तस्माद् धर्म्मं परमं वदन्ति**' (शत०)।

५०–प्रासङ्गिक–'बल' शब्द, एवं तत्सम्बन्ध में सत्तातन्त्र की भ्रान्ति—

प्रसङ्ग 'बल' का चल पड़ा। अतएव दो शब्दों में इस 'बल' शब्द का भी इतिहास जान लेना आवश्यक होगा। 'बल' शब्द का सम्मान आज एकमात्र 'सत्तातन्त्र को ही दिया जा रहा है। प्राकृतभाषा में बल का अर्थ किया जाता है–'ताक़त'। और सत्ता को ही इस 'ताक़त' से समन्वित माना–मनवाया जा रहा है।

सत्ता वर्त्तमान में 'अर्थप्रधाना' है। अतएव कह सकते हैं कि,-'अर्थबल' का ही नाम आज 'सत्ताबल' माना जा रहा है। भारतीय परिभाषा में बल का मापदण्ड क्या है ?, प्रश्न के समन्वयमात्र से स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जाता है, जिस मापदण्ड का आधार स्वयं चतुष्पर्वा व्यक्तिमानव ही बना हुआ है।

५१-मानवसंस्थानुगत-आत्मबल, बुद्धिबल, मनोबल, एवं शरीरबल,-रूप चतुर्विध बलों का सोदाहरण स्वरूप-समन्वय—

मानवसंस्था में **आत्मबल-बुद्धिबल-मनोबल-शरीरबल**-इन चार बलों का बीजरूप से अवस्थान है, जिनके आधार पर **विद्या-पराक्रम-वीर्य्य-बल**-इन चार बलों की व्यवस्था हुई है। शरीरबल ही '**बल**' नामक बल है। मनोबल ही '**वीर्य्य**' नामक बल है। बुद्धिबल ही '**पराक्रम**' नामक बल है। एवं आत्मबल ही-'**विद्याबल**' नामक बल है। शरीरबलात्मक 'बल' का उदाहरण '**हाथी**' है। मनोबलात्मक 'वीर्य्य' का उदाहरण '**सिंह**' है। बुद्धिबलात्मक 'पराक्रम' का उदाहरण बुद्धिमान् '**प्राकृत मानव**' है। एवं आत्मबलात्मक 'विद्याबल' का उदाहरण आत्मनिष्ठ-'**ज्ञानविज्ञाननिष्ठ मानव**' है। चारों बलों में उत्तरोत्तरापेक्षया पूर्व पूर्व बल श्रेयान्-ज्यायान्-बलीयान् हैं। बलशाली हाथी को वीर्य्यशाली सिंह परास्त कर देता है, तो वीर्य्यशाली सिंह को पराक्रमशाली मानव पञ्जरबद्ध कर देता है। ज्ञानविज्ञाननिष्ठ विद्याशाली मानव प्राकृतमानवों के सम्पूर्ण बुद्धिदम्भ को क्षणमात्र में छिन्न भिन्न कर सकता है (करता नहीं लोक-भावुकतासंरक्षण-संग्रह-दृष्टि से)।

५२-ब्रह्म-क्षत्र-विट् शूद्र-भावानुगत वर्च्-भ्राज-द्युम्न-सुम्न-रूप चतुर्विध तेजोभावों का समन्वय—

ये ही चारों बल परिवार में क्रमशः **कुलवृद्ध-युवापुत्र-नारी-बाल**-इन चारों में व्यवस्थित बनते हैं। परिवारद्वारा ये ही चारों बल क्रमशः-**ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र**-इन चार प्राकृतिक-वर्णमानवों में यथाक्रम व्यवस्थित होते हैं। यहाँ आकर इन चारों के क्रमशः **ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण** ये नाम हो जाते हैं। एकप्रकार का 'तेज' ही बल है। एवं चारों ही बलात्मक तेज अपना अपना विभिन्न स्वरूप रख रहे हैं। अतएव चारों के नामरूपगुणकर्म्म भी सर्वथा विभिन्न ही माने गए हैं। ब्रह्मबलावच्छिन्न विद्याबल से सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण का सुशान्त-किन्तु अन्तः प्रदीप्ततम तेज ही-'**वर्च्**' कहलाया है। क्षत्रबलावच्छिन्न-पराक्रमबल-से सम्बन्ध रखने वाले क्षत्रिय का उग्र तेज ही-'**भ्राज**' कहलाया है। विड्बलावच्छिन्न-वीर्य्यबल से सम्बन्ध रखने वाले वैश्य का रत्न-मणि-माणिक्यादि-भूतज्योतियों से समन्वित-बाह्यप्रदर्शनात्मक-तेज ही-'**द्युम्न**' कहलाया है। एवं पौष्णबलावच्छिन्न बलात्मक बल से सम्बन्ध रखने वाले शूद्र का तेज ही-'**सुम्न**' कहलाया है। सुम्न अरक्षित है द्युम्न के बिना। द्युम्न अरक्षित है भ्राज के बिना। एवं तीनों हीं अरक्षित हैं-वर्च् के बिना। अतएव ऋषिप्रज्ञा ने सर्वरक्षासाधनभूत वर्च्-कामना को ही राष्ट्रीय अन्यान्य कामनाओं के समतुलन में प्रमुखता प्रदान करते हुए कहा है-'**आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्**' (यजुःसंहिता)। जिस राष्ट्र का वर्चोलक्षण भूतात्मनिबन्धन-सांस्कृतिक-ब्राह्मणबल अन्तर्म्मुख बन जाता है, उस राष्ट्र के बुद्धि-मनः-शरीर-निबन्धन भ्राज-द्युम्न-सुम्न-सभी इतर तेज सर्वथा अरक्षित बनते हुए कालान्तर में नष्ट ही हो जाते हैं। इसी आधार पर राजर्षि विश्वामित्र की-'**धिग् बलं क्षत्रबलं**-

'ब्रह्मतेजो बलं बलम्' यह उद्गारसूक्ति समन्वित हुई है। वर्त्तमान सत्तातन्त्रने चारों में से किस बल को आज प्रमुखता प्रदान कर रक्खी है ?, इस प्रश्न की मीमांसा का उत्तरदायित्व हमसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। स्वयं सत्ता को ही इस मीमांसा का समन्वय कर लेना चाहिए प्राकृतिक तथ्यों के आधार पर तालिकामाध्यम के द्वारा।

१–आत्मा–आत्मबलम्–तदेव–विद्याबलम्	—व्यक्तिमानवानुगता–बलचतुष्टयी
२–बुद्धिः–बुद्धिबलम्–तदेव–पराक्रमबलम्	
३–मनः–मनोबलम्–तदेव–वीर्य्यबलम्	
४–शरीरम्–शरीरबलम्–तदेव–बलंबलम्	

—*—

१–विद्याबलात्मकं–वर्चतेजः–परिवारे कुलवृद्धस्य, समाजे ब्राह्मणस्य	रक्षकं बलम्
२–पराक्रमबलात्मकं–भ्राजतेजः–परिवारे युवापुत्रस्य, समाजे क्षत्रियस्य	रक्षिता बलत्रयी
३–वीर्य्यबलात्मकं–द्युम्नतेजः–परिवारे नारीवर्गस्य–समाजे वैश्यस्य	
४–बलबलात्मकं–सुम्नतेजः–परिवारे बालवर्गस्य–समाजे शूद्रस्य	

—*—

५३–राष्ट्र का सर्वमूर्द्धन्य 'वर्च' तेज, एवं तत्प्रधान राष्ट्रीय रक्षाकर्म्म—

ऋषिप्राणात्मक–अपौरुषेय–तत्त्वात्मक–स्वायम्भुव वेदसत्य ही प्राकृतिक विश्व की मूलप्रतिष्ठा है, जो इत्थंभूत रहस्यात्मक तत्त्व विगत ३ सहस्र वर्षों से उत्पीड़ित ब्राह्मण की प्रज्ञा से भी पराङ्मुख बन गया है। तथाविध तत्त्ववेद के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषक शब्दात्मक–मन्त्रब्राह्मणात्मक ग्रन्थ ही वेदशास्त्र कहलाया है। पितर–देवता–मानव की, किंबहुना समस्त चराचर विश्व की जीवनपद्धति के

तत्त्वात्मक बीज इसी सनातनशास्त्र के गर्भ में निहित हैं *। अतएव इस **ऋषिकृतशास्त्र** को भी तत्त्ववेद द्रष्ट्या–'**ऋषिदृष्ट**' का सम्मान मिल गया है। यही इसका मन्त्रत्त्व है। इत्थंभूत प्राकृतिक रहस्यशास्त्र का मर्म्मज्ञ विद्वान् ब्राह्मण हीं 'द्विजाति' उपाधि का वास्तविक अधिकारी माना गया है ÷। यत्नपूर्वक जागरूकता के साथ वेदाभ्यास में प्रतिष्ठित ब्राह्मण हीं दम–शम–पूर्वक आत्मनिष्ठा में हीं तल्लीन रहा करता है ×। ऐसा आत्मनिष्ठ वेदतत्त्वज्ञ ब्राह्मण हीं उस 'ब्रह्मवर्च्' से समन्वित रहता है, जो वर्च् राष्ट्र की विपत्तिपञ्चक से रक्षा करता रहता है।

५४–प्रतीक–धर्म्मों के व्यामोहन के प्रति राजर्षि का उद्बोधनसूत्र—

'**यथोक्तान्यपि कर्म्माणि परिहाय**' वाक्य अत्यन्त ही चमत्कारपूर्ण उद्बोधनसूत्र है ब्राह्मण के लिए। अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरण–भेद से चतुर्द्धा विभक्त आचारात्मक प्रतीकधर्म्म ही 'साध्यधर्म्म' माना गया है, जिसका प्रथम प्रकरण में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जा चुका है। अवश्य ही अमुकदृष्टि से प्रतीकात्मक इस आचारधर्म्म का भी बड़ा ही महत्त्व है। यही लोकसंग्रह की मूलप्रतिष्ठा भी है। किन्तु कदापि प्रतीक ही सर्वस्व नहीं है। वेदतत्त्वानुगत आत्मबोध पर प्रतिष्ठित रह कर ही प्रतीकधर्म्म 'धर्म्म' सीमा में अन्तर्भूत हुआ करता है। अतएव दोनों के समतुलन में आत्मबोधोपयिक वेदतत्त्वचिन्तनात्मक स्वाध्यायधर्म्म ही प्रधान बना हुआ है राजर्षि की दृष्टि में। जब दोनों का संघर्षावसर उपस्थित हो जाय, तो निश्चयेन निःसंकोच प्रतीकधर्म्मों की उपेक्षा कर देनी चाहिए। एवं अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को वेद–स्वाध्याय में, तथा तदनुगत आत्मबोध में हीं समर्पित कर देनी चाहिए। आज के प्रतीकभक्त, किन्तु वेदशास्त्र–स्वाध्यायविमुख ब्राह्मणों के लिए राजर्षि के इस–'**यथोक्तान्यपि कर्म्माणि परिहाय वेदाभ्यासे यत्नवान्**' उद्बोधनसूत्र से अधिक और क्या उद्बोधन–पथ होगा ?।

५५–प्रतीकव्यामोहन से ब्राह्मण के रक्षाबल का राष्ट्रभक्षणकर्म्म में उपयोग—

वेदशास्त्रस्वाध्याय से उत्पन्न होने वाली वर्च्बलान्विता आत्मनिष्ठा ही ब्राह्मण का वह महान् 'आत्मबल' है, जिस के द्वारा बौद्धिक पराक्रम–मानसिक वीर्य्य–शारीरिक बल–तीनों परास्त हो जाया करते हैं। इसी विद्याबलात्मक वेदबल से सत्यनिष्ठापूर्वक राष्ट्ररक्षाकर्म्म में प्रवृत्त ब्राह्मण राष्ट्र की रक्षा करने में निश्चयेन समर्थ बन जाता है। '**सत्यनिष्ठापूर्वक**' यह वाक्य इसलिए उद्धृत करना पड़ा कि, इस आत्मबल का व्यक्तित्वविमोहन से पापाचरणात्मक–मायाचारों में भी उपयोग सम्भावित है। अवश्य ही

***–पितृ–देव–मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।**
अशक्यं चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ (मनुः १२।९४)

÷–एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत् कृतकृत्यो हि द्विजो भवति, नान्यथा ॥ (मनुः १२।९३।)

×–यथोक्तान्यपि कर्म्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्यात्–वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥ (मनुः १२।९२।)

शस्त्र से यदि अपराधी को दण्ड दिया जा सकता है, तो स्वार्थसाधन के लिए वही शस्त्र निरपराधी के ग्रीवानिकृन्तन का भी काम कर सकता है। सम्पूर्ण विश्व के सुसूक्ष्म तथ्यों का स्वरूपविश्लेषक वेदशास्त्र जिसकी प्रज्ञा में समाविष्ट हो जाय, वह यदि इस बल का रक्षात्मक पुण्यभावों के स्थान में विनाशात्मक पापभावों में उपयोग लेने लग पड़े, तो क्या हो ?, सर्वनाश। '**कुतस्तत्र प्रतीकारो-रक्षको यत्र भक्षकः**'।

५६–'न वेदबलमाश्रित्य पापकर्म्मरुचिर्भवेत्' का समन्वय—

और क्षमा करेंगे हमें हमारे ब्राह्मणबन्धु, जिन की सहज ब्राह्मणप्रज्ञा ने-विगत शताब्दियों से वेद-आगम-आदि बलाभासों के बिमोहन से अपने आपको स्वरूपविमुग्ध करते हुए वेदपुराणस्मृत्यादि शास्त्रों के नामव्याज से मायाचारों को ही प्रोत्साहित किया है। जघन्या-मलीमसा-ब्राह्मण्य-विरोधिनी प्रतिक्रिया के आवेश में आकर क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत बन कर ब्राह्मणों नें हीं शास्त्रनिष्ठा को कलुषित किया है। जिसने शास्त्र से जैसा चाहा, वैसा ही वर प्राप्त कर लिया इन ब्राह्मणों से। मानो शास्त्र का अपना कोई निश्चित स्वरूप है ही नहीं। यों निर्भ्रान्त-शास्त्र भी मायाचारों के द्वारा आज सर्वथा अश्रद्धा का ही कारण बन गया है। अतएव राजर्षि को यह उद्बोधन सूत्र भी प्रदान करना पड़ा कि—

न वेदबलमाश्रित्य पापकर्म्म रुचिर्भवेत् ॥
अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म्म, नेतरत् ॥

५७-मानवीय उद्बोधनसूत्र का रहस्यात्मक समन्वय—

उद्बोधनसूत्र की आवश्यकता यह प्रतीत हुई राजर्षि को कि, इन्होंनें वेदस्वाध्यायनिष्ठारूप तप को भूतात्मा के कर्म्मज-पाप दोषों का निवारक बतलाया है। वेदस्वाध्यायनिष्ठ द्विजाति का यह तपोऽग्नि इसके सञ्चित पापादि दोषों को उसी प्रकार जला डालता है, जैसे कि प्रचण्ड-प्रदीप्त- अग्नि आर्द्र (गीले) वृक्षों को भी भस्मसात् कर दिया करता है *। इसी आधार पर वेदज्ञ को यह भी भ्रान्ति हो सकती है कि-"मैं यदि स्वार्थसिद्धि के लिए अमुक पापाचार-मायाचार-करता भी रहूँगा, तो वेदाग्नि इन पापसंस्कारों को भी कर्म्मज दोषों की भाँति जलाता ही रहेगा। और यों पापाचारों से होने वाले लाभ तो मुझे मिलते रहेंगे, किन्तु इन से उत्पन्न पापसंस्कार मेरा कोई अनिष्ट न कर सकेंगे"। इसी काल्पनिक भ्रान्ति के निराकरण करने के लिए राजर्षि को आगे चल कर-'**अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म्म, नेतरत्**' यह कहना हीं पड़ा। भूल से, किंवा बुद्धिविभ्रम से होने वाला दोष ही नष्ट हुआ करता है वेदाग्नि से। किन्तु जो पाप जान बूझ कर स्वार्थसाधन के लिए किया जाता है, कदापि उससे वेदज्ञ का भी परित्राण नहीं हो सकता। "**अतएव कदापि स्वप्न में भी इस वेदनिष्ठ मित्रब्राह्मण को किसी भी अवस्था में पापाचार-मायाचार-का स्वप्न में भी संस्मरण भी नहीं करना चाहिए**"।

***-यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।**
तथा दहति वेदज्ञः कर्म्मजं दोषमात्मनः ॥
—मनुः १२।१०१।

५८–ब्राह्मण के रक्षाबल से समन्वित 'रक्षासूत्र', एवं तदनुबन्धी 'रक्षाबन्धनपर्व'—

अब यह सर्वात्मना संसिद्ध हो चुका है कि, एकमात्र वेदवित् ब्राह्मण हीं प्राकृतिक रहस्यज्ञानात्मक-सांस्कृतिक-धर्म्मबल से मानवसमाज का संरक्षक बना हुआ है, जिसका तात्पर्य्य है-**'वेदविद्या'**। यह वेदविद्या ही वह **'रक्षासूत्र'** है, जिससे क्षत्रिय-ब्राह्मण-सच्छूद्रादि को आबद्ध कर ब्राह्मण इन की रक्षा किया करता है। एवं यही-**'रक्षाबन्धनकर्म्म'** का मूलबीज है, जिसके लौकिक स्वरूप के समन्वय का उत्तरदायित्व लोकप्रज्ञा पर ही निर्भर माना जायगा। हमें तो इस सम्बन्ध में यही दिग्दर्शन करा देना अभीष्ट था कि, ब्राह्मण हीं वेदनिष्ठा के द्वारा समाज का रक्षक है। नियतिःसत्य से समन्वित सूत्रात्मा ही वेदसत्य का प्रवर्त्तक है। इस सूत्रसत्य से ही नियतिःसत्य (धर्म्म) रूप वेदसत्य भी सूत्रात्मा बना हुआ है। यही वह 'रक्षासूत्र' है, जिसका मानव के प्रकृतिभेदभिन्न-स्व-स्वनियत-कर्त्तव्य-कर्म्मों के साथ सम्बन्ध कराता हुआ, कर्म्म को रक्षासूत्र से आबद्ध-नियमित-व्यवस्थित करता हुआ ब्राह्मण अपने इस रक्षाबन्धनकर्म्म से मानवसमाज का विपत्तिपञ्जक से परित्राण कर लेता है। एवं यही रक्षासूत्रबन्धनात्मक-'रक्षाबन्धनकर्म्म' का तात्त्विक स्वरूप-परिचय है, जिसके अनुबन्धन से अवश्य ही इस पर्व को-**'ब्राह्मणपर्व'** कहा जासकता है, कहा गया है लोकमान्यता में।

५९–रक्षाबन्धनकर्म्म की लौकिक-व्याख्या का उपक्रम—

अवश्य ही आत्मनिष्ठ मानवों के लिए तो रक्षाबन्धन–पर्व की यही व्याख्या पर्य्याप्त बन जायगी। किन्तु जो बुद्धिमान् हैं, मनोऽनुगत हैं, शरीरधर्म्मा हैं, वे एतावता ही तुष्ट-तृप्त नहीं हो सकते। उनके बौद्धिक विजृम्भण के लिए, मानसिक उपलालन के लिए, तथा शारीरिक कण्डू–शान्ति के लिए तो इस सम्बन्ध में कुछ निवेदन कर देना आवश्यक हो ही जाता है। इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए लोकसंग्रहधिया अब दो शब्दों में 'रक्षाबन्धनपर्व' की लौकिक-व्याख्या का भी दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

६०–रक्षासूत्रानुगत भौतिक-द्रव्यों की गुण-शक्तियों का दिग्दर्शन—

"हाथ में बाँधा जाने वाला 'रक्षासूत्र' (राखी) स्वयं अपने भौतिक–स्वरूप से कुछ भी अतिशय नहीं रखता", यह कह देना तो भारतीय 'संस्कृति' के हृदय के प्रति अपनी अनभिज्ञता ही प्रकट करना होगा। स्वयं भारतीय आयुर्वेदशास्त्रनें भी द्रव्यविशेषों की प्राणात्मिका विशेषगुणशक्तियों की सत्ता स्वीकार की है, जिन विशेषद्रव्यों के शरीर के साथ सम्बन्ध करा देने मात्र से, शरीरावासरूप गृहद्वारादि के साथ सम्बन्ध करा देने मात्र से भूतबाधादि के आक्रमणों का सर्वथा निरोध हो जाया करता है। सुप्रसिद्ध आर्षग्रन्थ–**'चरकसंहिता'** के रक्षाविधिप्रकरण में उन सब रक्षोघ्न ओषधिद्रव्य-विशेषों का विस्तार से स्वरूप-विश्लेषण हुआ हैं, जिनमें रक्षाकर्मातिशय प्रकृत्या ही विद्यमान है। मन्त्रपूत जलघट, खदिर, कर्कन्धु, पीलु, आदि वृक्षों की शाखाएँ, सर्षप-तण्डुलकणिका-मुसल-वचा-कुष्ठ-क्षौमक-हिङ्गु-लशुन-आदि द्रव्यों की बाँदरवाल बना कर सूतिकागृह में नवजात शिशु की रक्षा के लिए बाँधने का विधान हुआ है तत्रैव। सर्षपादि कतिपय द्रव्य तो **'रक्षोघ्न'** नाम से ही प्रसिद्ध हैं, जिनका श्राद्धादि अन्य श्रौत-स्मार्त्त-कर्म्मों में भी संग्रह हुआ है। **'भूतोपशमनीयाध्याय'** प्रकरण में महर्षि चरक ने इन विशेषद्रव्यों के अचिन्त्य प्रभावों की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

६१-मणि-मन्त्र-ओषधि-द्रव्यादि के अचिन्त्य प्रभाव, एवं तत्र वेदसूक्तिसंस्मरण—

न केवल आयुर्वेदशास्त्र में हीं, अपितु उपवेदात्मक आयुर्वेद के मूलभूत स्वयं अथर्ववेद में भी मणि-मन्त्र-ओषधि-तीनों वर्गों के अचिन्त्य-प्रभावों का पदे पदे विस्तार से उपबृंहण हुआ है। उदाहरण के लिए-'यक्षु' नदी के बालुका-कणों में उपलब्ध होने वाले 'दाक्षायण' नामक विशिष्टतम सुवर्ण के धारणमात्र करने के सम्बन्ध में अथर्ववेदनें यह अतिशय व्यक्त किया है कि, "जो आभूषणरूप से, अथवा तो हिरण्य-शकलरूप से वस्त्र में वेष्टित कर इसे धारणमात्र कर लेता है, उस की यक्ष्मादि-रोगप्रवर्त्तक अमीवादि सुसूक्ष्म-घातक-राक्षसादि चान्द्रप्राणों से रक्षा हो जाती है"। एवमेव **जङ्गिड़मणि, प्रतिसरमणि, दर्भमणि, वरणमणि**, आदि मणिविशेषों का भी इसी रक्षाकर्म्म के प्रसङ्ग से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। केवल अङ्ग के साथ स्पर्शमात्र करा देने से मणियों में प्रतिष्ठित सुसूक्ष्म प्राणशक्तियाँ मानव के आयुःप्राण में बलाधान करतीं हुईं इसे दीर्घजीवी बना देतीं हैं। शत्रु का स्तम्भन हो जाता है इन के प्रभाव से। द्वेष्टा जलने लगते हैं परिताप से। लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए निम्न लिखित मन्त्रों को। एवं तदाधारेण-**'अचिन्त्यो हि मणि-मन्त्रौषधीनां प्रभावः'** इस सिद्धान्त के समन्वय की चेष्टा कीजिए। अवश्य ही आस्था-पूर्णा-सांस्कृतिकी-श्रद्धा से आप तुष्ट ही होंगे इस चेष्टा में सफलता प्राप्त करने के अनन्तर।

(१)-इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्त्वाय तेजसे।
दर्भं सपत्नदम्भनं द्विषतस्तपनं हृदः॥ (अथर्वसंहिता १६।२८।१)।

(२)-जङ्गिडोऽसि जङ्गिडो रक्षितासि जङ्गिड़ः।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकं रक्षतु जङ्गिड़ः (अथर्व० १६।३४।१)।

(३)-उग्र इत् ते वनस्पते! इन्द्र ओज्मानमा दधौ।
अमीवाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे!॥ (अथर्व० १६।३४।६)

(४) शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा।
आरोहन् वर्चसा सह मणिदुर्णामचातनः॥ (अथर्व० १६।३६।१)।

(५)-नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमं ह्येतत्।
यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः॥ -अथर्व० १।३५।२।

(६)-न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥ (अथर्व० १६।३८।१)।

६२-दर्भ-सुवर्ण-गुग्गुलु-आदि रक्षोघ्न द्रव्यों का संस्मरण, एवं तदनुबन्धिनी त्राटक-विद्या—

दर्भ की सहज पवित्रता से आबाल-वृद्ध-वनिता-सभी परिचित्त हैं ही, जो कि ब्राह्मण का तो अत्यन्त ही प्रिय उपकरण माना गया है। दर्भपवित्रपाणिता ही ब्राह्मण का बाह्य परिचयचिह्न माना गया है। साधारण

सुवर्ण में भी अशुचिप्राणनिरोध की शक्ति है, यह तो भारत की प्रत्येक सांस्कृतिक-नारी को भी विदित है ही, जो ऋतुकालानुबन्धी स्पर्शदोष से युक्त अबोध-बालकों को सुवर्णपूत जलप्रोक्षण से पवित्र कर दिया करती है, जोकि पवित्र-प्रोक्षण जल हमारे प्रान्त की भाषा में—**'सोनामानी का छाँटा'** कहलाया है। **गुग्गुलु के धूम्रमात्र से राजयक्ष्मा के कीटाणु विनष्ट हो जाते हैं** (अथर्व १६।३८।१), इस द्रव्यशक्तिरहस्य का भले ही आजतक भूतविज्ञानवादियोंनें अपने परीक्षणालयों-लेबोरेटूरियों (Laboratorys) में साक्षात्कार न किया हो, किन्तु यहाँ की सांस्कृतिक-प्रज्ञा के लिए तो ये सदा से ही स्व : ही परीक्षित तत्त्व हैं। और सबके लिए सुलभ भी, जबकि वैज्ञानिकों के परीक्षायन्त्रों के वारुणपाश से निकलने वालीं साधारण सी औषधियाँ भी सर्वसाधारण के लिए दुर्लभ ही बनीं रहतीं हैं। सर्वात्मना संसिद्ध है कि, तत्तद् विशेष मणि-ओषधि-भूत-भौतिक द्रव्यों में भी विशेष शक्तियाँ प्रकृत्या हीं प्रतिष्ठित हैं, जिन द्रव्यशक्तियों के आधार पर ही तन्त्रशास्त्र का सुप्रसिद्ध-'त्राटक' (टोटक्या) विभाग सुप्रतिष्ठित है।

६३-रक्षाबन्धनसूत्रानुगता-'रक्षापोटलिका' की अचिन्त्य-शक्ति—

रक्षासूत्र केवल डोरे का ही नाम नहीं है। अपितु इसका नाम हीं इसकी गुणशक्ति का परिचय दे रहा है। नाम है इसका-**'रक्षापोटलिका'**। आज दुर्भाग्यवश यक्षुनदी के साथ हमारा सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया है। किन्तु जब हमारी संस्कृति जागरूक थी, उस देवयुग में यक्षुनद का रक्षोघ्न-दाक्षायण सुवर्ण भी हमारे लिए सर्वथा सुलभ था। इस सुवर्णशकल का भी रक्षापोटलिका में निधान हुआ करता था-तद्यु ग में, जैसाकि रक्षाबन्धनमन्त्र से स्पष्ट होने वाला है। सर्षप-तण्डुल-दाक्षायण-सुवर्णखण्ड-अन्यान्य कतिपय सिद्ध-ओषधियाँ-इन सबको मन्त्रपूत करके जो सूत्रमयी पोटलिका बनाई जाती है (बनाई जाती थी), उसी का नाम है—'रक्षापोटलिका'। जिसप्रकार वैय्यक्तिक-समारोहात्मक-सांस्कृतिक आयोजनरूप विवाहोत्सव में वरवधु की रक्षा के लिए ब्राह्मण 'रक्षापोटलिका' बनाता है, जिसे कि लोकभाषा में-**'काँकर-डोरड़ा'** कहा गया है, जोकि 'रक्षासूत्र' ही है, ठीक वही प्रकार इस रक्षासूत्र का समझिए। आज तो दोनों हीं सूत्र संस्कृति के प्राणवान् स्वरूप के अन्तर्मुख हो जाने से केवल प्रदर्शनसूत्रमात्र ही बनें रह गए हैं। द्रव्यशक्ति-मन्त्रशक्ति-ब्राह्मण की भावनाशक्ति-उपाकर्मदिवसीया विद्याशक्ति-ऋषितर्पणप्रयुक्ता ऋषिशक्ति-आदि आदि अनेक शक्तियों से समन्वित रक्षापोटलिका सचमुच एक महान् शक्तिसूत्र ही माना जायगा, जिस मान्यता का हमारा सांस्कृतिक-इतिहास (पुराणशास्त्र) इन शब्दों में स्वरूपविश्लेषण अभिव्यक्त कर हमें धन्य बना रहा है कि—

उपाकर्म्मदिने प्रोक्तमृषीणाञ्चैव तर्पणम् ॥
ततोऽपराह्णसमये 'रक्षापोटलिकां' शुभाम् ॥१॥
कारयेदक्षतैः शस्तैः सिद्धार्थैः-हेमभूषिताम् ॥
वस्त्रैर्विचित्रैः कार्पासैः क्षौमैर्वा मलवर्ज्जितैः ॥२॥
विचित्रं ग्रथितं सूत्रं स्थापयेत् भाजनोपरि ॥
—भविष्योत्तरे

६४-रक्षाबन्धनसूत्र में 'रक्षादेवता' का आधान—

रँग-विरँगे-सूती, अथवा तो रेशमी वस्त्र में सुवर्ण-तण्डुल-सर्षप-सिद्धद्रव्य सावधानी से रख कर जो रक्षापोटलिका बनाई जाती है (ब्राह्मण के द्वारा), वही रक्षासूत्र कहलाया है। अवश्य ही रक्षासूत्र का

यह तात्त्विक स्वरूप सत्तातन्त्रों की निरपेक्षिता से, किंवा द्वेष से अन्तर्म्मुख बन गया है। फलस्वरूप केवल रेशम–सूत–के फल-पत्तों के विविध विन्यास से निर्म्मित यह महान् सूत्र भी आज आपणव्यवसायमात्र का ही साधन बना रह गया है। और यों एकप्रकार से अपने मूल-तात्त्विक-स्वरूप से वञ्चित यह सूत्र यद्यपि केवल प्रदर्शनात्मकसूत्र प्रमाणित है आज। तथापि इसकी पारम्परिक–सांस्कृतिक–पवित्र भावना से तो आज भी इसे पृथक् नहीं किया जा सकता। यदि ब्राह्मण इस बाजारू सूत्र को भी मन्त्रपूत कर देता है, यदि भावना के द्वारा इसमें रक्षादेवता का आधान कर देता है, तो–'भावमिच्छन्ति देवताः' इस सांस्कृतिक सिद्धान्त के ही अनुसार इसे भी उपयोगी माना ही जा सकता है। यदि ब्राह्मण केवल पैसों के लोभ से भी इस भावनात्मक सूत्र को घर–घर बाँधता फिरता है, तो यह भी इस ब्राह्मण की महती तपोनिष्ठा–संस्कृतिनिष्ठा ही मानी जायगी, जिसका इसे स्वरूपबोध तो नहीं है, किन्तु तत्प्रचार का माध्यम परम्परया यह आज भी बना ही हुआ है।

६५–धूलिधूसराङ्ग–सर्वतः अवमानित–राष्ट्रीय ब्राह्मण के द्वारा राष्ट्र के सांस्कृतिक प्रतीकों के संरक्षण के प्रति सर्वस्व समर्पण, एवं प्रतिदान में ब्राह्मण के प्रति राष्ट्रीय-वर्गविशेष की जघन्या कृतघ्नता—

आस्था–श्रद्धा–शीला प्रजा को ब्राह्मण की आलोचना के पक्ष से कदापि अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी नहीं बनाना चाहिए। अपितु प्रजा को तो कृतज्ञता ही अभिव्यक्त करनी चाहिए बहिर्भावुक, किन्तु परम्परया अन्तर्निष्ठ इस ब्राह्मण के प्रति, जो शताब्दियों से आक्रान्ता–आततायियों के द्वारा उत्पीड़ित–भर्त्सित–अवमानित–उपेक्षित बना रहता हुआ भी गिरता–पड़ता भी इन सांस्कृतिक–परिचायक चिन्हों को आजतक येन–केनरूपेण आस्तिक प्रजा के मानस क्षेत्र में प्रतिष्ठित तो किए हुए है, जब कि ब्राह्मणेतर सभी वर्ग-"सबकुछ ढोंग है–सब पोंगापन्थीपन है–विज्ञानविरुद्ध है"–आदि आदि अनर्गल प्रलापों के द्वारा अपनी संस्कृति के चिह्नों से सर्वथा ही पराङ्मुख बन गए हैं। और यह निर्ल्लज्ज, हाँ सर्वथा निर्ल्लज्ज–स्वार्थी–पिटभर–दीन–हीन भी-अकिञ्चन भी राष्ट्रीय ब्राह्मण सामाजिक उत्पीड़नों–अपमानपरम्पराओं से अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बन कर भी-पिटता–कुटता हुआ भी एकमात्र जगदीश्वर की ओर से प्राप्त किसी अज्ञात प्रेरणा से ही धूलिधूसराङ्ग बनता हुआ भी घर–घर जाकर राष्ट्रप्रजा को इन सांस्कृतिक–परिचयचिन्हों से अवगत कराते रहना हीं अपना नैष्ठिक कर्त्तव्य मानता आरहा है, मानता रहेगा यावच्चन्द्रदिवाकरौ। और इसी निर्ल्लज्ज रूढ़िवादी दीन-हीन-अकिञ्चन ब्राह्मण के अनुग्रह से लज्जा ?-शील ? समन्वित सुसभ्य ? सुशिक्षित ? भारतीयों की-'भारतीयता' का अक्षरार्थ सुरक्षित रहेगा, रहता आया है आजतक। शत शत–सहस्र सहस्र–लक्ष लक्ष–कोटि कोटि–प्रणामाञ्जलियाँ अत्यन्त ही प्रणतभाव से समर्पित कर रहे हैं राष्ट्र के इस धूलिधूसराङ्ग-संस्कृतिरक्षक, तद्द्वारा राष्ट्रसंरक्षक ब्राह्मणचरणद्वय के प्रति हम बारम्बार। **अपातालात्–आ च लोकालोकात्–ये ब्राह्मणा देवास्तेभ्यो नमो नमः।**

६६–आस्था–श्रद्धाशीला राष्ट्रीय–प्रजा की सनातन–आचार–मर्य्यादा, एवं तद्द्वारा राष्ट्रीय–संस्कृति का अद्यावधि संरक्षण—

नैष्ठिक ब्राह्मण के द्वारा येनकेनरूपेण सुरक्षित, एवं श्रद्धाशीला प्रजा के द्वारा अनुष्ठित इन प्रतीक-चिन्हों से भी अवश्य ही कभी न कभी राष्ट्रमानव की तथ्य पर भी दृष्टि चली ही जायगी। यदि प्रावाहिक-

हेत्वाभासात्मक कुतर्कवाद में पड़ कर हमनें इन परिचयचिन्हों को भी भुला दिया, तो तथ्य भी हमारे मानस के लिए सदा के लिए अविज्ञेय ही बना रह जायगा। अवश्य ही आस्तिक प्रजा की इस परिचयचिह्नात्मिका श्रद्धा का भी हम अभिनन्दन ही करेंगे। विकृतिरूप में ही सही, रक्षाबन्धनकर्म्म तो किया जारहा है। इसी आधार पर तो आज–'यह क्या है ?, क्यों किया जाता है ?, क्या फल है ?,' इत्यादि जिज्ञासाएँ व्यक्त होतीं रहतीं हैं। एवं इन जिज्ञासाओं के समाधान के लिए ही तो राष्ट्रीय प्रज्ञाओं को इन के तात्त्विक–चिन्तन की ओर प्रवृत्त होना पड़ता है। अवश्य ही प्रवृद्धा जिज्ञासा जिज्ञासु को कभी न कभी तत्त्व की ओर ले ही आती है। आस्तिक प्रजा की सब से बड़ी यही विशेषता रही है कि–इसने कभी शुष्क–बुद्धिवादात्मक–श्रद्धाशून्य–कुतर्कों में न पड़ कर समझे–बिना–समझे–उल्टा–सीधा–कुछ न कुछ करते रहना हीं अपना धर्म्म समझा है। इसी सनातन–आचारमर्य्यादा के अनुग्रह से सत्तातन्त्रों के निरपेक्ष बने रहने पर भी, विद्वेषी बने रहने पर भी एकमात्र प्रजा की श्रद्धा के बल पर ही भारतीय पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह–रूप सांस्कृतिक–आयोजन–येनकेनरूपेण धारावाहिकरूप से राष्ट्र को परोक्षरूप से संस्कृति की शिक्षा देते ही रहे हैं, देते ही रहेंगे।

पश्चिम के अन्धानुकरण से आत्मविस्मृत बन जाने वाले वर्त्तमान शिक्षित–सभ्यों की भाँति यदि यहाँ की श्रद्धालु प्रजा भी कल्पित बुद्धिवाद के व्यामोहन में आकर–"इन में क्या रक्खा है, यह सब तो निरा ढोंग ही है, दकियानूसीयन ही है, असभ्यता ही है, अशिक्षा के ही दुष्परिणाम हैं" इस तर्कजाल के अनुग्रह से इन परिचयचिन्हों का परित्याग कर देती, तो निश्चित मानिए–हमारा भारतीय–सांस्कृतिक–जीवन कभी का स्मृतिगर्भ में विलीन होगया होता। ब्राह्मणनिष्ठाओं के साथ साथ ही हम प्रणतभाव से नमन कर रहे हैं राष्ट्र की उस श्रद्धालु–सांस्कृतिक–प्रजा के प्रति भी, जिसने युगधर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले झञ्झावातों का सर्वथा तिरस्कार करते हुए इन भारतीय सांस्कृतिक–परिचय–चिन्हों को, इनके बाह्य–स्वरूपों को आज पर्य्यन्त सुरक्षित बनाए रक्खा, जिसके बल पर ही आज इन पर तत्त्वमीमांसा प्रवृत्त हो रही है।

६७–रक्षापोटलिकात्मक रक्षासूत्र में मन्त्रशक्ति के द्वारा अतिशयाधान—

रक्षापोटलिकात्मक रक्षासूत्र स्वानुगत द्रव्यशक्तियों से स्वयं अपने आप में हीं विशेषता रख रहा है, यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया। अब उस महाशक्ति का समन्वय कीजिए, जो शास्त्रपरिभाषा में–'**मन्त्रशक्ति**' कहलाई है। शब्दप्रपञ्च **लौकिक–वैदिक–**भेद से दो विवर्त्तों में विभक्त माना गया है। मानवीया मानस–कल्पना से सम्बन्ध रखने वाली लोकव्यवहारभाषा–'**लौकिकशब्दभाषा**' है, एवं ईश्वरीया-आत्मसम्मता-बुद्धिकामना से अनुप्राणिता * शास्त्रीयव्यवहारभाषा–'**अलौकिकशब्दभाषा**' है। लौकिकभाषा लौकिकशब्द-मयी मनःप्रधाना भाषा है, वैदिकभाषा अलौकिकशब्दमयी बुद्धिप्रधाना भाषा है। लोकभाषात्मक छन्द '**श्लोक**' कहलाए हैं, एवं वेदभाषात्मक छन्द '**मन्त्र**' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

६८–ऋषिप्राणशक्तिमय मन्त्रों का मन्त्रत्त्व, एवं इन का अचिन्त्य-प्रभावत्त्व—

प्राकृतिक–सुसूक्ष्म शक्तियों की वैदिक–संज्ञा है–'प्राण', जिसे–'**प्राणा वा ऋषयः**' इत्यादि रूप से 'ऋषि' भी कहा गया है। शक्तिभेद से प्राणरूप ऋषि, किंवा ऋषिरूप प्राण भी अनन्त हैं, विविध रूपों में परिणत

---

*–'**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**' (वैशेषिकसूत्र)

रहते हुए–'**विरूपासः**' ÷ हैं। प्रकृतिमण्डल में इन ऋषिप्राणशक्तियों का उच्चावचभाव से यथास्थान यथा-कर्म्म सन्निवेश हो रहा है। प्राणों के इन उच्चावच–भावों का नाम हीं उदात्त–अनुदात्तादि स्वर हैं। मन्त्रवाक् एक प्रकार का वाक्परिमाणात्मक वह छन्द है, साँचा है, वयोनाध है, जिसमें प्राणशक्ति अपने स्वरूप की अनुरूपता से स्वतः एव समाविष्ट हो जाती है, किंवा सहैव समाविष्ट रहती है। प्राणवीची (लहर) का जैसा स्वरूप होता है, जैसा प्राकृतिक छन्द होता है, मन्त्ररूपा छन्दोवाक् में, किंवा मन्त्ररूप छन्द में उदात्तादि स्वरों की प्राणछन्द के अनुरूप ही व्यवस्था हुई है। इसी समसम्बन्ध के कारण सजातीयाकर्षण के द्वारा मन्त्र प्राणशक्ति का आकर्षण करनें में सर्वात्मना समर्थ हो जाता है। मन्त्र के साथ तादात्म्यसम्बन्ध से, औत्पत्तिक–सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहने वाली प्राणशक्ति का ही नाम–'देवता' है। यही मन्त्र का मन्त्रत्व है, यही मन्त्र का देवतात्त्व है। अतएव '**मन्त्राधीनाश्च देवताः**' सिद्धान्त जागरूक बना है। '**मन्त्रजपात्–सिद्धिः**' का भी यही बीज है। मन्त्र स्वयं प्राणशक्ति है शब्द और अर्थ (शक्ति) के तादात्म्यसम्बन्ध के कारण। किंवा शब्दशक्तिमयी प्राणदेवशक्ति ही स्वयं शब्दमन्त्ररूप में अभिव्यक्त हुई है। मन्त्र के इस मन्त्रत्व का समन्वय प्राणस्वरूप से अपरिचित केवल भूतविज्ञानवादी की दृष्टि से कदापि समन्वित नहीं हो सकता।

६९- रक्षाबन्धनसूत्रानुगत वैदिक–मन्त्र, एवं लौकिक मन्त्रात्मक श्लोक, तथा तदक्षरार्थ-मात्रसमन्वय—

इत्थंभूत–सशक्त वेदमन्त्रों का जिन अनुरूप भूतद्रव्यों से मन्त्रप्रयोक्ता–मन्त्रवित् ब्राह्मण के द्वारा सम्बन्ध हो जाता है, वे द्रव्यविशेष भी अवश्य ही मन्त्रमयी प्राणशक्ति से समन्वित हो जाते हैं। जिसे 'श्लोक' कहा जासकता है, उन का भी जब अपने स्थान में महत्त्व है ध्यानादि के द्वारा, तो फिर मन्त्रशक्ति के सम्बन्ध में तो ऊहापोह करना हीं व्यर्थ है। श्लोक की बात जाने दीजिए। प्राकृतभाषामय वाक्य भी भावों में जागरूकता उत्पन्न करते देखे गए हैं। प्रतिद्वन्द्वी दो मल्लों के लिए दर्शक–समाज के मुख से निकले हुए–'शाबास, वह मारा, अब क्या है, चारों खाने चित्त है' इत्यादि प्राकृतवाक्य बलप्रद–उत्साहवर्द्धक बन जाया करते हैं। इसी लोकभाषा के द्वारा शल्यने कर्ण को थोड़ी देर के लिए तो निस्तेज ही बना दिया था। अतएव मानना पड़ेगा कि, शब्दमात्र अवश्य ही शक्तिभावों से समन्वित हैं। इसी आधार पर तन्त्रशास्त्र का '**अमन्त्रमक्षरं नास्ति**' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। उस रक्षासूत्र की सशक्तता के सम्बन्ध में तो विचार ही व्यर्थ है, जिसमें वैदिक–लौकिक–दोनों शब्दों की शक्तियाँ ब्राह्मण के द्वारा समाविष्ट करा दीं जातीं हैं। वैदिकशब्दरूप देवशक्तिघन जिस वेदमन्त्र से, तथा लौकिकशब्दरूप देवशक्तिभावनात्मक जिस श्लोल से रक्षा-सूत्र में उभयविध–शक्तियों का समावेश कराया जाता है, वे वचन आस्तिक प्रजा में सुप्रसिद्ध हैं, जो प्रकरण-सङ्गति के लिए यहाँ भी उद्धृत कर दिए जाते हैं।

÷–**विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीर वेपसः।**
तेऽङ्गिरसः सूनवस्तेऽग्नेः परिजज्ञिरे ॥
—**ऋक्संहिता**

रक्षाबन्धनात्मक वैदिक रक्षासूक्त-यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ॥
तन्मे बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥१॥
नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमं ह्येतत् ॥
यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥२॥
अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्य्याणि ॥
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम् ॥३॥
समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं सम्वत्सररूपं पयसा पिपर्मि ॥
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनुमन्यन्तामहृणीयमानाः ॥४।
—अथर्वसंहिता १।३५।

——**——

रक्षाबन्धनात्मक प्रचलित मन्त्र-यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ॥
तन्म आबध्नामि शतशारदाय आयुष्मान् जरदष्टिर्यथासम् ॥

——**——

रक्षाबन्धनात्मक श्लोक———येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः ॥
तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे ! मा चल मा चल ॥

——**——

सूक्तार्थ स्पष्ट है । 'शतानीकं सात्राजितं-अभिषिषेच' (ऐतरेयब्रा० ८।१।) के अनुसार सत्राजीत के पुत्र सुप्रसिद्ध भारतीय नृपति शतानीक को महर्षि दक्ष के वंशजोंनें, अतएव दाक्षायण नाम से प्रसिद्ध पुरो–हितब्राह्मणोंनें अत्यन्त प्रसन्न मन से–प्रसादमुद्रा से रक्षासूत्र से समन्वित किया था । प्रथम मन्त्र का पूर्वार्द्ध उसी ऐतिह्य घटना का स्मरण कराता हुआ कह रहा है कि, शोभन–प्रसादगुणयुक्त–शुभचिन्तनशील–मनों से युक्त दक्षमहर्षि के वंशजोंनें सात्राजित शतानीक महाराज के जो रक्षासूत्र बाँधा था, हे यजमान ! आज उसी पारम्परिक रक्षासूत्र को मैं (तुम्हारे दक्षिण हस्त में) आयु के लिए, वर्च के लिए, बल के लिए, दीर्घजीवन के लिए, तथा सौ शरदृतुओं पर्य्यन्त स्वस्ति–शान्ति–पूर्वक जीवन यापन करने के लिए बाँध रहा हूँ ॥१॥

'यदाबध्नन् दाक्षायणा' का 'दाक्षायणाः' पद दक्ष के वंशजों का संग्राहक है । इन्होंनें हीं रक्षासूत्र में विशेषगुण–प्रभावयुक्त यक्षुनद के सुवर्ण का रक्षासूत्र में सर्वप्रथम उपयोग किया होगा । अतएव वह विशेष सुवर्ण भी आगे चल कर इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हो गया, जैसा कि–'यो बिभर्त्ति दाक्षायणम्'

इत्यादि उत्तरमन्त्र से स्पष्ट प्रतिध्वनित है। "**आयुषे–वर्चसे–बलाय–दीर्घायुत्त्वाय–शतशारदाय**' इन शब्दों के रहस्यार्थ का समन्वय कीजिए, जिनका रक्षाकर्म्म में विनियोग हुआ है। रक्षासूत्र में प्रधानता है दाक्षिणायन सुवर्ण की। सुवर्ण है सौरप्राण का प्राणवान् प्रतीक। **ज्योतिः–गौः–आयुः**–सूर्य्य के ये तीन मनोता मानें गए हैं, जो क्रमशः ३३–१०००–३६००० इन संख्याओं से समन्वित हैं। शारीरिक भूतों का आधार सौर गौतत्त्व है, जिससे '**गोष्टोम**' नामक यज्ञ का वितान हो रहा है। शारीरिक इन्द्रियप्राणों का आधार सौर ज्योतिः–तत्त्व है, जिससे '**ज्योतिष्टोम**' का वितान हो रहा है। एवं शारीरिक भूतात्मा का आधार सौर आयुः–तत्त्व है, जिससे '**आयुष्टोम**' का वितान हो रहा है। ज्योतिर्म्मय ३३ देवता, गोमय एकसहस्र भौतिकप्राण, एवं आयुर्म्मय ३६००० प्राणात्मक आत्मभाव (जीवनसूत्र) ये तीन तत्त्व सूर्य्य से ही सम्बद्ध हैं। '**नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः**'–'**प्राणः–प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः**'–'**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**'–इत्यादि रूप से सूर्य्य के इसी भूत–प्राण–आत्म–भावों का स्पष्टीकरण हुआ है। सर्वान्त के 'आयुः' नामक मनोता के ग्रहण से ज्योतिः–गौः–आयुः–तीनों का ग्रहण हो जाता है। मानव की शरीरत्रयी की रक्षा ही रक्षाकर्म्म से अभीष्ट है। तीनों शरीरों के स्थूलप्रतिनिधि भौतिक शरीर को सौरमण्डल से ३६००० आयुः–सूत्र मिलते हैं। यही इसका आयुर्भोगकाल है। यही इसकी पूर्णायु है–'**शतायुर्वै पुरुषः**'। यही रक्षाकर्म्म की प्रथम आधारभूमि है। '**आयुषे**' इस पद से इसी आधारभूमि के रक्षण की कामना सवप्रथम अभिव्यक्त हुई है।

१०० वर्ष जीवित रह जाना हीं मानव का कोई महान् पौरुष नहीं माना जा सकता। यथाजात प्राकृत–मानव भी आहारादि के कौशल से जीवित तो रह ही सकते हैं। जीवित रहना उसका जीवित रहना है, जो वर्च्च, और बल, दोनों का समन्वय प्राप्त करता हुआ जीवित रहता है। भूतात्मा का तेज '**वर्च्च**' है, एवं शरीरत्रयी का भ्राज्–द्युम्न–सुम्न–नामक तेज-'**बल**' है। आत्मबल 'वर्च्च' है, शरीरबल 'बल' है। आत्मा, और शरीरत्रयात्मक (बुद्धि–मनः–शरीरात्मक) शरीर, दोनों की स्वस्थता–प्रकृतिस्थता ही मानव-जीवन का महान् पौरुष माना गया है। यदि दोनों समन्वयरूप से मानव में अभिव्यक्त–व्यवस्थित नहीं हैं, तो उस आयु का कोई उपयोग नही माना जा सकता। इसी पौरुषरक्षा के लिए–'**वर्चसे**' (**आत्मतेजोरक्षणाय**), '**बलाय**'–(**शरीरतेजोरक्षणाय**) शब्द उपात्त हुए हैं। दोनों मानव में कबतक हैं ?, एक लम्बी अवधि पर्य्यन्त–'**दीर्घायुत्त्वाय**'। क्या मापदण्ड है इस लम्बी अवधि का–'**शतशारदाय**'। तदित्थं एक ही वेदमन्त्र के द्वारा–'**आयुषे-वर्च्चसे-बलाय-दीर्घायुत्त्वाय-शतशारदाय**–रूपेण रक्षा के सभी पर्व संगृहीत हो रहे हैं। यही तो मन्त्रभाषा का महान् कौशल है। इन सभी रक्षाकर्म्मों का मूलाधार ज्योतिर्गौरा–युरूप सूर्य्य ही है। सुवर्ण तत्प्रतीक है। वही रक्षासूत्र में प्रधान है। अतएव अवश्य ही तन्माध्यम से रक्षासूत्र के द्वारा सौरशक्ति का समावेश गतार्थ बन जाता है। सुवर्ण के इसी प्रातिनिध्य का उत्तरमन्त्र में स्पष्टीकरण हुआ है ॥१॥

रक्षासूत्रानुगत दाक्षायण सुवर्ण साक्षात् सूर्य्य का प्रतिमान है। अतएव जैसे सूर्य्य–(सौर '**मघवा**' नामक इन्द्रप्राण) असुरराक्षस–पिशाचादि मलीमस भावों का अपहन्ता है, ठीक वही शक्ति इस सुवर्ण में विद्यमान है। सचमुच यह सुवर्ण सौर प्राणदेवों का प्राथमिक ओज (तेज) है। सौर आयुःप्राण से अभिन्न है यह दाक्षायण सुवर्ण का देवप्राण। अवश्य ही इसके धारण से मानव का आयुःसूत्र सुरक्षित बना रहता है। द्वितीय मन्त्र यही स्पष्ट कर रहा है ॥२॥

पारमेष्ठ्य आपोमय मण्डल के गर्भ में हीं हिरण्मयाण्डरूपेण सूर्य्यनारायण का आविर्भाव हुआ है। पारमेष्ट्य आप: के भृगुगर्भित अङ्गिरातेज से ही सूर्य्य का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। अतएव सूर्य्य को अवश्य ही–'**अपांतेजः**' कहा जा सकता है। वही तो स्वरूप तत्प्रतीकरूप सुवर्ण का है। वही सौर तेज, वही ऐन्द्र ओज, वही गो–भागानुगत भूतबल, वही पारमेय्ठ्य वनस्पति (सोम) का सौम्य–वीर्य्य, तदित्थं इस दाक्षायणसुवर्ण में वे सम्पूर्ण अतिशय विद्यमान हैं, जो सौरमण्डल में हैं, यही मन्त्रनिष्कर्ष है ॥३॥

वसन्तादि षडृतुओं की, चैत्रादि द्वादश मासों की समष्टिरूप सौर–सम्वत्सर में सम्वत्सर का जीवनीय रसरूप पय सौर हिरण्यप्राणात्मक इन्द्र ही माना गया है। सुवर्ण जहाँ अपने प्रत्यक्षदृष्ट भूतस्वरूप से पार्थिव अग्नि का प्रतीक है, वहाँ सौरसम्वत्सर के पयोरूप इन्द्रप्राण से यह इन्द्र का भी प्रतीक बना हुआ है। '**यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी**' के अनुसार सौर द्युलोक के अधिपति इन्द्र हैं, पार्थिव विश्व के अधिपति अग्नि हैं। यों इन्द्राग्नी हीं त्रैलोक्यविभूतियों के, सौर–पार्थिव–समस्त–प्राणदेवों के संग्राहक बने हुए हैं। दोनों सुवर्ण में प्राण, और भूतरूप से सुमन्वित हैं। चतुर्थ मन्त्र के द्वारा इसी रहस्य का स्पष्टीकरण हुआ है ॥४॥

७०–दक्षिणहस्तानुगत रक्षाबन्धनसूत्र—

वेदवित् ब्राह्मण के द्वारा पूर्वोक्त मन्त्रों से सशक्त बना हुआ, एवं स्वयं अपने ओषधिद्रव्यादि की शक्तियों से भी शक्तिमान् बना हुआ रक्षासूत्र अवश्यमेव रक्षाकर्म्म के लिए अन्यतम साधन माना जा सकता है, माना गया है। तन्तुसूत्रात्मक रक्षासूत्र (राखी) में ऐसी वह कौनसी विशेषता है, जिसके बाँधने से मानव की रक्षा हो जाती है ?, इस प्रमथ–प्रासङ्गिक अवान्तर–प्रश्न का यही संक्षिप्त समन्वय है। दक्षिण–हस्त कर्म्म का प्रतीक माना गया है। कर्म्मनिष्ठा ही रक्षाकर्म्म का प्रधान फल है। रक्षाकर्म्म से मानव कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा का ही अनुगामी बनता है। अतएव कर्म्मप्रतीकभूत दक्षिणहस्त में हीं रक्षासूत्र का बन्धन अनुरूप बनता है।

७१–वेदवित् ब्राह्मण के महान् उत्तरदायित्त्व से समन्वित रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म—

ब्राह्मण के हाथ से ही यजमानवर्ग को रक्षासूत्र बँधवाना चाहिए। क्योंकि पञ्चविध विपत्तियों से ब्राह्मण हीं पञ्चविध रक्षाकर्म्मों के द्वारा समाज का संरक्षण करने की क्षमता रखता है। रक्षक ही तो रक्षा कर सकता है। अतएव शास्त्रने रक्षाबन्धनाधिकार (उत्तरदायित्त्व) ब्राह्मण को ही दिया है। और इस अधिकारसमर्पण का रहस्य है–**ब्राह्मण का प्राकृतिक जन्मातिशय, एवं इसका वेदस्वाध्यायात्मक कर्म्म**। पहिले जन्मदृष्टि से ही रक्षाधिकार का समन्वय कीजिए। ब्राह्मण जन्मत: '**सान्तपनाग्नि**' नामक स्वायम्भुव–प्राणाग्निविशेष को अपनी प्रकृति में प्रतिष्ठित रख रहा है, जो कि सान्तपनाग्नि–'**दिव्याग्नि**' माना गया है। जन्मजात ब्राह्मण के वीर्य्य में (ब्राह्मणमातपिता से उत्पन्न ब्राह्मण में) यह 'अग्निवीर्य्य' निश्चयेन प्रतिष्ठित रहता है। अग्नि हीं भूतप्रपञ्च के रक्षक मानें गए हैं। प्रत्यक्ष में भी जबतक शरीर में वैश्वानराग्नि प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक भौतिक शरीर स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। अग्निदेव के अन्तर्म्मुख होते ही सबकुछ उपशान्त ही तो हो जाता है। कारणशरीरात्मिका बुद्धि सौरसावित्राग्निप्रधाना है, स्थूलशरीरात्मक शरीर पार्थिव गायत्राग्निप्रधान है। मध्यस्थ अग्नीषोमात्मक–सोमप्रधान–सूक्ष्मशरीरात्मक मन भी अन्ना–

दाग्नियों से (द्यावापृथिव्यग्नियों से) उभयतः परिगृहीत रहता हुआ अग्निस्वरूप में हीं अन्तर्भूत है। यों तीनों हीं शरीर अग्निप्रधान ही बने हुए हैं। अवश्य ही अग्निप्रधाना शरीरत्रयी की रक्षा का प्रधान उत्तर–दायित्त्व अग्निप्रधान ब्राह्मण से ही तो अनुप्राणित माना जायगा।

७२–सर्वविद्याप्रतिष्ठात्मिका अपौरुषेया वेदविद्या, एवं तद्विज्ञ ब्राह्मण से ब्रह्मविद्या के द्वारा राष्ट्र–संरक्षण—

'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च' इत्यादि वसिष्ठवचन के अनुसार प्रकृति (जन्म)-वत् संस्कार (कर्म्म) भी वर्ण का स्वरूपसम्पादक बना हुआ है। केवल कर्म्म से भी वर्णभाव का उदय असम्भव है, केवल जन्म से भी वर्ण की अभिव्यक्ति असम्भव है। सहजभाषानुसार–जिस प्रकार बिना जन्मभाव के कर्म्म सर्वथा निरर्थक है, एवमेव बिना कर्म्म के जन्मानुगत ब्राह्मणत्त्व का विकास भी असम्भव है। ब्राह्मणत्त्व का अभिव्यञ्जक–व्यवस्थापक–संरक्षक–वह कर्म्म है–**'वेदस्वाध्याय'**, जिसके बिना जन्मना ब्राह्मण रहता हुआ भी ब्राह्मण कर्म्मणा शूद्रवत् ही प्रमाणित हो जाता है। न केवल स्वयं हीं। अपितु वेदस्वाध्याय–परम्परा के विच्छेदक इस ब्राह्मण को तो कालान्तर में अपने वंशसहित ही शूद्रवत् बन जाना पड़ता है *। वेदशास्त्रसिद्ध ज्ञानविज्ञान का सञ्चय ही ब्राह्मण का वह अनन्य कर्म्म है, जिसके बल पर यह मानवसमाज के संरक्षण में समर्थ बना करता है। कारणशरीरानुगत **दर्शनशास्त्र**, सूक्ष्मशरीरानुगत **धर्म्म–शास्त्र**, स्थूलशरीरानुगत **आयुर्वेदशास्त्र**, समाजव्यवस्थानुगत **राजनीतिशास्त्र, धनुर्विद्या, शस्त्रास्त्रविद्या, शिल्पकलाविद्या, वाणिज्यव्यवसायविद्या**, आदि आदि यच्चयावत् दैविक–भौतिक–आत्मिक–विद्याओं का मूलभूत तात्त्विक कोष **'वेदशास्त्र'** ही माना गया है, जैसाकि–**'सर्वं वेदात्–प्रसिद्ध्यति'** से स्पष्ट है। **धार्म्मिक-नैतिक-सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक**–आदि आदि भेदभिन्न समस्त रक्षासाधन तत्तद्विद्याओं के आधार पर ही तो प्रतिष्ठित रहा करते हैं। इन समस्त–अवान्तर–खण्ड–खण्ड–विद्याओं की मूलप्रतिष्ठा सर्वविद्यात्मिका वह **'ब्रह्मविद्या'** ही तो मानी गयी है, जिसे–**'वेदविद्या'** कहा गया है, एवं जिसके अनुगमन से ब्रह्मविद्यावित् वेदज्ञ ब्राह्मण श्रुति के-**'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः'** (शत०) इस उद्घोष को सर्वात्मना चरितार्थ कर सकता है। सर्वविद्यात्मिका वेदविद्या ही ब्राह्मण के **'रक्षक'** पद को सुरक्षित रख सकती है। सहजभाषानुसार यों कहलीजिए कि, मूर्खता ही मानवसमाज के सर्वनाश का कारण बनती है, एवं विद्या ही इसके सर्वसंरक्षण का प्रधान निमित्त बनती है।

७३–सरस्वती नदी के पञ्चनदीय सारस्वत–ब्राह्मणों का पारम्परिक पतन—

वर्णव्यवस्थासूत्रों के अनुसार वैश्य यदि प्रधानरूप से महालक्ष्मी का, क्षत्रिय प्रधानरूप से महाकाली का उपासक है, तो ब्राह्मण विद्यात्मिका महासरस्वती की उपासना को ही प्रधानता दे रहा है, जो सरस्वती

---

*—**योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।**
स जीवन्नेव शूद्रत्त्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

—मनुः

स्वायम्भुव–आपोमय–पारमेष्ठ्य–मण्डल–की मूलप्रतिष्ठा बनती हुई महाकाली–महालक्ष्मी–दोनों–शक्तियोंमें समन्वय स्थापित किए रहती है। जो ब्राह्मण माता शारदा की उपासना से वञ्चित रह जाता है, वह समाज की तो क्या, स्वयं अपनी भी रक्षा नहीं कर सकता। राष्ट्ररक्षा का मूलबीज इस 'सारस्वतक्षेत्र' में हीं अन्तर्निहित है। भारतवर्ष की सरस्वतीनदी के क्षेत्र में निवास करने वाले जिन ब्राह्मणोंनें अनन्यनिष्ठा से सारस्वतक्षेत्र की आराधाना की थी, वे ही भाग्यशाली भूदेव–'**सारस्वतब्राह्मण**' जैसी विमला उपाधि से समलङ्कृत किए गए थे, जो पञ्चनदीय सारस्वतब्राह्मण आगे चलकर यवनाक्रमणों के निग्रह से इस उपासना से एकान्ततः वञ्चित होते हुए नाममात्र के जात्युपजीवी 'सारस्वत' ही बने रह गए।

७४–सांस्कृतिक–सारस्वत (वेदविद्या) क्षेत्र की छिन्न–भिन्नता से ही भारतराष्ट्र का पारतन्त्र्य, एवं तन्मूला दासानुदासता—

जिस राष्ट्र को परतन्त्र बना देने की कामना हो, उसके सारस्वतक्षेत्र को छिन्न–भिन्न कर दीजिए। एवं जिस राष्ट्र को स्वतन्त्र देखना हो, उसके इस क्षेत्र को जागरूक कर दीजिए। जिस दिन से ज्ञात–अज्ञात–कारणपरम्पराओं के द्वारा भारतराष्ट्र का यह सारस्वतक्षेत्र (वेदविद्यानुगत ज्ञानविज्ञानमय स्वाध्याय) अन्तर्मुख बना है, उसी दिन से राष्ट्र का क्षत्रबल सर्वथा उच्छृंखल बन गया, विह्वल बन गया उन्मत्त, एवं शूद्रबल हो गया प्रमत्त–अमर्य्यादित। यों विद्याबल की अन्तर्मुखता से राष्ट्र के सम्पूर्ण–रक्षासाधन उत्तरोत्तर अभिभूत–विनष्ट ही होते गए। जब मूलरक्षक (विद्याबल) ही न रहा, तो राष्ट्र सुरक्षित रहता भी कैसे ?, किस बलपर ?। ब्रह्म–क्षत्ररूप रक्षकों की क्रमशः अन्तर्मुखता, एवं सुषुप्ति, साथ ही रक्षितों की उच्छृङ्खलता–उन्मत्तता–अमर्य्यादा–नें हीं आज भारतराष्ट्र को जिस अरक्षित–विकम्पित–स्थिति पर ला खड़ा किया है, उसके स्मरणमात्र से भी राष्ट्र का मूलहृदय अवश्यमेव विकम्पित हो रहा होगा।

७५–रक्षासूत्रात्मिका राष्ट्रीया वेदविद्या—

स्पष्ट है कि समाज के महान्, तथा अन्यतम रक्षक जन्मना ब्राह्मण के 'वेदविद्यासंस्काररूप' कर्म्म पर ही समाज का सर्वाङ्गीण संरक्षण सम्भव है। अतएव वेदविद्या को ही प्रधानरूप से 'रक्षासूत्र' कहना न्यायसिद्ध प्रमाणित हो रहा है। कदापि इस रक्षासूत्र–बन्धन के लिए कोई नियत तिथि नहीं है। अपितु ब्राह्मण सदा ही जागरूक बना रहता हुआ अपने इस वेदस्वाध्यायात्मक रक्षासूत्र से संस्कृति–धर्म्म–के द्वारा समाज का रक्षण किया करता है। और यों ब्राह्मण अपने इस जीवनव्रतरूप रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म से सदा ही '**रक्षाबन्धनपर्व**' मनाता रहता है, जोकि सचमुच इसी का प्रातिस्विक पर्व है। एवं सति–श्रावणशुक्ल–पूर्णिमा–तिथि से सम्बद्ध 'रक्षाबन्धनकर्म्म' का क्या समन्वय ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित हो पड़ता है ?। दो शब्दों में लोकानुबन्धी इस प्रश्न का भी समन्वय कर दिया जाता है।

७६–श्रावणी–पूर्णिमातिथि से सम्बद्ध रक्षाबन्धनपर्व के सम्बन्ध में प्रश्नात्मिका जिज्ञासा—

श्रावणशुक्लपूर्णिमा–तिथि को सामान्यरूप से–'रक्षाबन्धनपर्व' का लौकिक स्वरूप सम्पन्न किया जाता है आस्थाश्रद्धाशीला आर्षप्रजा (ऋषिपरम्परा को मानने वाली प्रजा) के द्वारा। ऐसा क्यों ?। क्यों यह

तिथि इस पर्व के लिए नियत बन गई राष्ट्र में, जब कि पूर्वकथनानुसार रक्षाबन्धनकर्म्म तो सदा ही, सभी तिथियों में वेदवित्–ब्राह्मण के द्वारा प्रवृत्त रहता है ? ।

७७–श्रावणीकर्म्मात्मक उपाकर्म्म का स्वरूपदिग्दर्शन—

श्रावणीपूर्णिमा–तिथि का प्रधानकर्म्म कदापि–'**रक्षाबन्धन**' नहीं है । यह तो केवल ऋत्वर्थरूप–लौकिक भावुकतासंरक्षक–मान्यतासंरक्षक–(किन्तु अनिवार्य्य) अङ्गकर्म्म ही है । प्रधानकर्म्म है इस तिथि का–'**उपाकर्म्म**' नामक वह कर्म्म, जो लोकभाषा में '**ऋषितर्पण**' नाम से भी प्रसिद्ध हो रहा है । 'उपाकर्म्म' का मौलिक स्वरूप क्या ?, उत्तर है–'**वेदस्वाध्यायव्रतग्रहणपूर्वक वेदस्वाध्यायारम्भ**' । विश्वस्वरूप–निर्म्माता, विश्वस्वरूपाधिष्ठाता–मौलिकतत्त्वात्मक–स्वायम्भुव–अपौरुषेय–वेद का मौलिक स्वरूप है–'प्राण', जोकि स्वायम्भुव प्राण अपने काम–तपः–श्रम–रूप सृष्टि के सामान्य अनुबन्ध–धर्म्मों से सृष्टि के लिए गति–शील बनता हुआ–'**इदमिच्छन्तः श्रमेण-तपसा-अरिषन्**' इस निर्वचन से–'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध हुआ है * ।

७८–प्राणात्मिका मन्त्रवाक्, एवं तदभिन्न मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र—

प्राणात्मक ऋषितत्त्व मौलिक–स्वायम्भुव–तत्त्ववेद से अभिन्न पदार्थ है । जिस तपस्वी ब्राह्मनें जिस ऋषिप्राण का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया, वह उस 'ऋषिप्राण' के नाम से ही प्रसिद्ध होगया । वसिष्ठ–भरद्वाज–अङ्गिरा–आदि ऋषिनाम वस्तुतः प्राणों के ही नाम हैं, जो आगे चलकर तत्प्राणाविष्कारक मानव–विशेषों में रूढ हो गए । ऋषिप्राणद्रष्टा, किंवा ऋषिप्राणात्मक वेदतत्त्व के द्रष्टा मानव–महर्षियों नें हीं अपनी योगजदृष्टि से ऋषिप्राणात्मक मौलिक–अपौरुषेय वेदतत्त्व का साक्षात्कार कर उसे सत्यावाक् के रूप से संगृहीत किया, जो वाक्–अलौकिकी–'मन्त्रवाक्' कहलाई है । मन्त्रवाङ्मय वही शास्त्र '**मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र**' कहलाया है ।

७९–वेद–वेदाङ्गानुगता स्वाध्यायव्यवस्था का समन्वय—

वेद–वेदाङ्ग-स्वाध्यायशील ब्राह्मण की स्वाध्यायनिष्ठा को सम्वत्सरचक्र के माध्यम से नियमित–व्यवस्थित करते हुए राजर्षि मनुने कहा है कि–'श्रावणशुक्लपूर्णिमा–तिथि को, अथवा तो भाद्रपदशुक्ल–पूर्णिमा को, अथवा तो भाद्रपदशुक्ल–पञ्चमी (ऋषिपञ्चमी) को–यथागृह्य–विधि से किसी भी नियत तिथि में (स्वगृह्यसूत्र की मर्य्यादानुसार) ब्राह्मण को वेदस्वाध्यायव्रतग्रहण करना चाहिए । यहाँ से आरम्भ कर ४॥ साढ़ेचार मास पर्य्यन्त (अर्थात् श्रावणी–पूर्णिमा पक्ष में पौषकृष्ण–अमावास्या पर्य्यन्त, एवं भाद्रपदपूर्णिमा–पक्ष में माघकृष्ण अमावास्यापर्य्यन्त) तो धारावाहिकरूपेण केवल मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का की स्वाध्याय करते रहना चाहिए । तदनन्तर ७॥ मास की शेष साम्वत्सरिक–अवधि में शुक्लपक्षों में तो वेद का स्वाध्याय प्रक्रान्त

---

*–**असद्वा इदमग्र आसीत् । तदाहुः–किं तदसदासीदिति ?, ऋषयो वाव तदग्रेऽस-दासीत् । तदाहुः–के ते ऋषय इति ? । प्राणा वा ऋषयः । ते यत् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः-श्रमेण तपसा-अरिषन् , तस्मात्–ऋषयः** । (शत० ब्रा० ६।१।१।१) ।

रखना चाहिए, एवं कृष्णपक्षों में वेदाङ्गों (शिक्षा–कल्प–छन्द–व्याकरण–निरुक्त–ज्योतिष–शास्त्रों) का अध्ययन प्रक्रान्त रखना चाहिए। यही साम्वत्सरिक–वेदवेदाङ्ग–स्वाध्याय की व्यवस्थिति है।

८०-वेदाधिकारप्राप्त्यनुगत ऋषिप्राणाधान का स्वरूप-दिग्दर्शन—

वेदस्वाध्याय आरम्भ करने से पूर्व वेदतत्त्वात्मक ऋषिप्राण का भूतात्मा में आधान कर लेना आवश्यक बन जाता है। इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए वेदस्वाध्यायारम्भ से पूर्व ऋषितर्पण अपेक्षित है। यह ऋषितर्पणकर्म्म हीं–'उपाकर्म्म' कहलाया है, जिसके द्वारा ऋषिप्राण अतिथिरूप से ब्राह्मण के अध्यात्म में उसी प्रकार प्रतिष्ठित हो जाते हैं, जैसे कि यज्ञारम्भ में यजमान उपवसथकर्म्म के द्वारा, किंवा दीक्षणीयेष्टिकर्म्म के द्वारा अपने मानस क्षेत्र में साक्षीरूपेण यज्ञिय देवताओं का आधान कर लेता है। आगमशास्त्र ने भी इसी आधार पर दीक्षाकर्म्म को अत्यन्त ही आवश्यक कर्म्म माना है, जिसके बिना अदीक्षित व्यक्ति के लिए आगमीय–रहस्यात्मक विषय नितान्त गोपनीय ही बनें रहते हैं।

जबतक (४॥ मासपर्य्यन्त) यह धारावाहिक–वेदस्वाध्याय प्रक्रान्त रहेगा, तबतक आरम्भ के दिन में समागत ऋषिप्राण अतिथि बनें रहते हैं ब्राह्मण के अन्तर्जगत् में। वेदस्वाध्याय के इस एक मुख्य–प्राथमिक काल की समाप्ति के अनन्तर सदैव इन अतिथियों को ससम्मान परावर्त्तित कर देना (बिदा कर देना) भी आवश्यक बन जाता है। वही विसर्जनकर्म्म–'**उत्सर्गकर्म्म**' कहलाया है। उपाकर्म्म उत्सर्गकर्म्म–सापेक्ष है। उपाकर्म्म का एकमात्र तात्पर्य्य है–"**हे महर्षिगण ! हम आपकी साक्षी में ४॥ मास पर्य्यन्त धारावाहिकरूपेण वेदस्वाध्याय की आज से प्रतिज्ञा करते हैं।**" तत्सापेक्ष उत्सर्गकर्म्म का एकमात्र तात्पर्य्य है— "**हे महर्षिगण ! हम पूर्वसंकल्पित–प्रक्रान्त वेदस्वाध्याय का एक प्रक्रम आज प्रतिज्ञानुसार पूर्ण कर रहे हैं, समाप्त कर रहे हैं।**"

८१-आचारनिष्ठाशून्य प्रतीकव्यामोहनमात्रानुगत उपाकर्म्म की निरर्थकता—

सिद्ध है कि, यदि उपाकर्म्मदिन से प्रतिज्ञात वेदस्वाध्याय का आरम्भ कर यथासमय उत्सर्ग न किया गया, तो उपाकर्म्म न केवल यातयाम (व्यर्थ) ही बन जाता है, अपितु यह प्रत्यवायजनक भी बन जाता है। जबकि उपाकर्म्म का अर्थ ही ऋषिसाक्षी में वेदस्वाध्याय की प्रतिज्ञा करना है तो, उस दशा में वेदस्वाध्याय की कल्पना से भी वञ्चित रहने वाले ब्राह्मणों के द्वारा विघटित होते रहने वाले आडम्बरपूर्ण–निष्प्राण–प्रतीकमात्र उपाकर्म्मों का क्या अर्थ शेष रह जाता है ?, प्रश्न का समाधान उपाकर्म्मप्रेमियों से ही पूँछना चाहिए। **ध्यान रहे–सांस्कृतिक आयोजनों में तो गतानुगतिकता अमुक अंश में क्षम्य मानली गई है। किन्तु शास्त्रीय सांस्कृतिक–आचारों में कदापि गतानुगतिका क्षम्य नहीं मानी जा सकती।**

८२-उपाकर्म्म, एवं तत्सापेक्ष उत्सर्गकर्म्म का स्वरूपसमन्वय—

जब वेदस्वाध्याय ही स्मृतिपथ से पराङ्मुख हो गया, तो उत्सर्ग का स्मरण होता भी किस आधार पर। ऋषिप्राण की साक्षी में वेदस्वाध्याय की प्रतिज्ञा कर फिर वेद के ग्रन्थमात्र के भी संस्पर्शमात्र से भी अपने आपको आलोमभ्यः–आनखाग्रेभ्यः–असंस्पृष्ट बनाए रखने के परम पौरुष में निष्णात ब्राह्मणमहाभागों का प्रतीकात्मक उपाकर्म्म उपाकर्म्म का अभिनय नहीं, तो और क्या है ?। क्या परिणाम, किंवा दुष्परिणाम हुआ

करता है ऐसे प्रतीकाभिनयों का ?, यह आज प्रतीकभक्त ब्राह्मणों के सम्मुख विद्यमान है। इसीलिए तो पुनः पुनः हमें आक्रोपूर्वक यह निवेदन करते ही रहना पड़ता है कि,—"प्रतीकों के इन व्यामोहनात्मक–प्रदर्शनात्मक–अभिनयोंनें हीं तो ब्राह्मण को वेदस्वाध्यायनिष्ठा से विमुख किया है। इसीलिए तो राजर्षि को–'**यथोक्तान्य पे-कर्म्माणि परिहाय द्विजोत्तमः-वेदाभ्यासे च यत्नवान्-(भवेत्** ') यह कहने की आवश्यकता हुई है। आस्तां तावत्। प्रकृत में निवेदन यही करना है कि, श्रावणीतिथि को ऋषितर्पणात्मक वह उपाकर्म्म ही विहित है, जो ब्राह्मण के वेदस्वाध्याय का उपक्रम बनता हुआ महान् हीं पर्वदिवस है ब्राह्मण के लिए। इसी पर्व का, एवं तत्सापेक्ष उत्सर्ग का स्वरूप–व्यक्त करते हुए राजर्षि ने कहा है—

श्रावण्यां प्रोष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि ॥
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्द्धपञ्चमान् ॥१॥
पुष्ये तु छन्दसां कुर्य्याद् बहिरुत्सर्जनं द्विजः ॥
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥२॥
यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ॥
विरमेत् पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥३॥
अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ॥
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत् ॥४॥

—मनुः ४।९५-९८।

८३-विपत्तिपञ्चकसंरक्षक–उपाकर्म्मोत्सर्गनिष्ठ–सान्तपनाग्निमूर्त्ति–वेदवित् ब्राह्मण के रक्षाबन्धनसूत्र से राष्ट्रप्रजा का संरक्षण—

सान्तपतनाग्निमूर्त्ति, अतएव जन्मनैव रक्षणवृत्ति से समन्वित संरक्षक ब्राह्मण का वेदस्वाध्यायव्रतग्रहणा-रम्भानुगत-स्वाध्यायात्मक उपाकर्म्म वह कर्म्म है, जिससे अपने अन्तर्जगत् में सृष्टिस्वरूपसंरक्षक–प्रवर्त्तक–स्वायम्भुव-ऋषिप्राण का आधान-सन्तर्पण करता हुआ ब्राह्मण सचमुच महान् बल सञ्चित कर लेता है। ऋषिप्राणो-पक्रान्त वेदस्वाध्याय ही तो ब्राह्मण का 'स्वयम्भुब्रह्म' मूलक अपना बल है। इसी बल से तो यह मानवसमाज की रक्षा करने में समर्थ बनता है। अतएव श्रावणीपूर्णिमा, अथवा तो भाद्रपद की पूर्णिमा-तिथि में ब्राह्मण के द्वारा किया जाने वाला उपाकर्म्म अवश्य ही स्वयं ब्राह्मण के लिए भी, एवं परम्परया समाज के लिए भी '**रक्षाकर्म्म**' कहला सकता है। एवं उपाकर्म्मात्मक इस रक्षाकर्म्म के सम्बन्ध से यह दिवस भी अवश्य ही–'**रक्षादिवस**' माना जा सकता है। उपाकर्म्म से ऋषिप्राणात्मक वेदतत्त्वाधान के द्वारा ब्राह्मण के अन्तर्जगत् में रक्षाबीज प्रतिष्ठित हो जाता है। रक्षाबीज से सुरक्षित, ऋषिप्राणाधान से सशक्त बना हुआ ब्राह्मण उपा-कर्म्म के अनन्तर रक्षापोटलिकात्मक रक्षासूत्र से अपने यजमानबन्धुओं को भी रक्षाबल से समन्वित कर देता है। एकमात्र इसी आधार पर उपाकर्म्मतिथि–'**रक्षातिथि**' मानली गई है। एवं एकमात्र इसी आधार पर इसी दिन लोकानुबन्धी रक्षासूत्रबन्धनात्मक–रक्षाबन्धन–पर्व आवश्यक मान लिया गया है। उपाकर्म्मात्मक रक्षाकर्म्म प्रधान कर्म्म है इस तिथि का, रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म गौण कर्म्म है इस तिथि का। इसीलिए इसे उपा-

कर्म्म का अङ्गकर्म्म ही माना गया है, जैसाकि—'**उपाकर्म्मदिने प्रोक्तमृषीणाश्चैव तर्पणम् । ततोऽपराह्न-समये रक्षापोटलिकां शुभाम्**' इत्यादिरूप से पूर्व में महतासमारम्भेण स्पष्ट किया जा चुका है । क्योंकि रक्षा-बन्धन उपाकर्म्म का अङ्ग है, एवं उपाकर्म्म गृह्याचारभेद से (स्व स्व गृह्यसूत्रों की पद्धति के भेद से) विभिन्न तिथियों से सम्बन्ध रखता है । अतएव उ.ी अनुपात से लोकानुबन्धी—अङ्गभूत रक्षाबन्धनकर्म्म भी भिन्न-भिन्न वर्गों (पुरोहितों—दाधिमथों आदि) में विभिन्न तिथियों में प्रचलित हो पड़ा है । सदा ही अपने विद्याबल से, सांस्कृतिक बल से, तदभिन्न धर्म्मबल से स्वयं सुरक्षित रहने वाला ब्राह्मण इसी बल से सदा ही समाज को धर्म्म-सूत्रात्मक रक्षासूत्र से आबद्ध—नियमित—मर्य्यादित-नियतकर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठ बनाता हुआ सुरक्षित रखता है, इसी धर्म्मसूत्रबल से समाज की यह विपत्तिपञ्चक से सदा ही रक्षा किया करता है । तो ऐसी स्थिति में एक दिन यह रक्षापर्व राष्ट्र में क्यों व्यवस्थित कर दिया इस ब्राह्मणप्रज्ञा नें ?, इस प्रासङ्गिक प्रश्न का एकमात्र समाधान तथोक्त 'उपाकर्म्म' ही है, यही प्रक्रान्त सन्दर्भ का निष्कर्ष है ।

८४-भारतीय सनातन-संस्कृति के विविध पर्वात्मक विविध रक्षात्मक महान् माङ्गलिक दृष्टिकोण—

प्रसङ्ग रक्षा का प्रक्रान्त है । अतएव तत्सम्बन्ध में प्रसङ्गोपात्त इसी रक्षाकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले एक महत्त्वपूर्ण—रक्षात्मक-दृष्टिकोण का भी समन्वय कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा । पूर्ण सम्वत्सर (पूरा वर्ष) शान्ति—सुख—समृद्धि से व्यतीत होता रहे, यही मानवजीवन के साम्वत्सरिक जीवन की महती सफलता है, एवं यही मानवसमाज का महत्सौभाग्य है । सम्पूर्ण संवत्सर में क्रान्तिपातकाल आपत्तियों के आक्र-मण के मुख्य काल माने गए हैं । वे दोनों प्रमुख काल ही क्रमशः **वसन्तसम्पातकाल, शरत्सम्पातकाल** कहलाए हैं । सम्भवतः क्षत्रियानुगत—महान् पर्व '**विजयदशमीपर्व**' की रूपरेखा में इनका विशेष स्पष्टीकरण सम्भव हो सकेगा । अभी इनके सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि—वसन्तारम्भ में, तथा शरद्—आरम्भ में द्यावापृथिवी की क्रान्ति (दूरी) के पतन से मानवीय-जीवनशक्ति पर एक विशेष आघात होता है । इसी आघात से मानवसंस्था पर विपत्तियों के आक्रमण की आशङ्का सम्भावित बन जाती है । अतएव दोनों हीं सम्पातकालों में मानव की रक्षा अभीष्ट है । इन दो सम्पातकालों के अतिरिक्त सम्पूर्ण वर्षाऋतु भी त्रिदोषव्याकृति से आपत्ति—रोगप्रवर्त्तिका बनी रहती है, जैसाकि-'**वर्षासु दोषा कुप्यन्ति तेऽम्बुलम्बाम्बुदे-ऽम्बरे**' (अष्टाङ्गहृदय) इत्यादि आयुर्वेदसिद्धान्त से भी प्रमाणित है । वर्षा में आप्य—वारुण—प्राण की प्रधा-नता रहती है, जो आप्य—वारुणप्राण वैदिकपरिभाषा में 'असुर' कहलाया है । आषाढशुक्ल एकादशी से यह असुराक्रमण आरम्भ होता है, एवं कार्तिकशुक्ल एकादशी में यह उपशान्त होता है । चातुर्म्मास्यानुबन्धी आसुर—आप्य—वारुणप्राण सौर—पार्थिव ऐन्द्राग्नप्राणरूप देवप्राण के सहज विकास को अभिभूत कर देता है । तभी तो मानव का जाठराग्नि मन्द हो जाता है वर्षाऋतु में । अतएव यह काल '**देवसुषुप्तिकाल**' माना गया है, जिसमें देवप्राणानुबन्धी समस्त धार्मिक कर्त्तव्य निषिद्ध मान लिए गए हैं । स्पष्ट ही वर्ष में वर्षाऋतु के ये चार मास विपत्ति-रोगों की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखने वाले बन रहे हैं । इस भय से त्राण प्राप्त करने के लिए ही वर्षाऋतु में अनेक रक्षाविधियाँ विहित हुई हैं । जिनमें श्रावणी नामक उपाकर्म्म भी एक रक्षाविधि ही है । सम्पूर्ण श्रावणमास (जो कि वर्षाऋतु का उद्ग्रामकाल है) मृत्युञ्जय—भगवान् साम्बसदाशिव की उपासना का लक्ष्य माना गया है । चैत्रनवरात्रों में जगन्माता की उपासना से प्राप्त शक्तिबल से ब्राह्मण मानवसमाज की

रक्षा करता है, श्रावण में जगत्पिता शङ्कर की आराधना से रक्षाबल अर्जित किया, उपाकर्म्म के द्वारा विद्या-बलप्राप्ति से रक्षाबन्धन किया, पुनः आश्विन-नवरात्रों में शक्ति समन्वयद्वारा रक्षासूत्र को दृढ़ बनाया। यों ब्राह्मण के द्वारा मानवसमाज के अभ्युदय निःश्रेयस् के लिए रक्षा के साधन आगे से आगे उपस्थित होते ही गए, होते ही रहते हैं आज भी। अब समाज निष्ठापूर्वक इनसे रक्षा करले, अथवा तो भावुकतावश इनकी उपेक्षा-निन्दा कर इनका परित्याग करता हुआ अपना सर्वनाश कराले, यह समाज की सांस्कृतिक-प्रज्ञा पर ही निर्भर है। ब्राह्मण को ऐसी क्या आवश्यकता आपड़ी थी कि, उसने यों मानवसमाज के लिए रक्षापरम्पराएँ व्यवस्थित कर डालीं ?, क्या स्वार्थ था ब्राह्मण का ऐसा करने और कराने में ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर निष्ठाभावापन्न **'स्वार्थ'** शब्देतिहास के गर्भ में हीं सुरक्षित है, जिस शब्देतिहास का विस्मरण कर आज सचमुच रक्षक ब्राह्मण भी अरक्षित ही बन गया है, एवं जिस स्वार्थ की उपेक्षा कर समाज भी इन रक्षा-साधनों से वञ्चित ही हो गया है।

८५-भारतीय 'स्वार्थ' शब्द की मौलिक व्याख्या, एवं स्वार्थनिष्ठ राष्ट्रसंरक्षक राष्ट्रीय ब्राह्मण—

'स्वःपदास्पदम्' के अनुसार-'स्व' का अर्थ है पुरुषात्मा। वह आत्मा, जिस की सीमा में बुद्धि-मन-शरीर-सब कुछ प्रतिष्ठित है। तत्परम्परया सम्पूर्ण विश्व प्रतिष्ठित है। एवं इसी 'स्व' व्याप्ति के आधार पर-**'आत्मवत्-सर्वभूतेषु'** यह कहा सुना भी जारहा है। सभी इस 'स्व' की सीमा में अन्तर्भुक्त हैं। नितान्त दुर्भाग्य है यह आज के मानव का कि, उसने-'स्व' का अर्थ शरीर को, अथवा तो अधिक से अधिक शरीरानुगत मन को ही मान लिया है। अवश्य ही मन और शरीर नामक दोनों प्राकृतिक-भौतिक पर्व प्रत्येक भूत-प्राणी-मानव के सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं। अतएव इस 'स्वार्थ' का अर्थ केवल अपना-अपना शरीर, अपना-अपना मन हीं बन रहा है। यही 'स्वार्थ' वह जघन्य स्वार्थ है, जो मानव मानव में पार्थक्य का बीजाधान कर देता है, कर रहा है आज। भारतीय-'स्वार्थ' का अर्थ है-'आत्मार्थ', जिस का अर्थ है **"सर्वत्र समदर्शन-आत्मदर्शन-पूर्वक-स्वस्वरूपसंरक्षण-पूर्वक परस्वरूपसंरक्षण के लिए सर्व-स्वार्पण'**। यही यहाँ की-**'सर्वभूतहितरति'** का मूलबीज माना गया है। राष्ट्र का ब्राह्मण ऐसे 'स्वार्थ' को ही अपना स्वार्थ मान रहा है (मानता था)। जिस दिन से इसने भी भूतवादियों के सङ्गदोष से 'शरीर' को ही 'स्व' मान लिया, उसी दिन से इसकी आत्ममूला-विश्वानुबन्धिनी-स्वार्थनिष्ठा का पतन होगया। बड़ा ही रहस्य पूर्ण है-स्वार्थ शब्द का चिरन्तनेतिवृत्त, जिसके विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है।

८६-राष्ट्रीय ब्राह्मण का विश्वमानवतानुबन्धी मैत्रभाव—

ब्राह्मण क्यों, किस लिए राष्ट्र-समाज के लिए ऐसा करता है ?, इस प्रश्न का उत्तर यही रहस्यपूर्ण 'स्वार्थ' शब्द है, जिसमें किसी भी अन्य कारणता का प्रवेश भी निषिद्ध है। तभी तो इस महान् स्वार्थी ब्राह्मण को राजर्षि मनुने 'मित्र' उपाधि प्रदान की है। मनुने कहा कि, **"यह ब्राह्मण समाज के लिए भले ही और कोई विशेष हित-साधन न करे। किन्तु यह मित्र अवश्य बना रहे सब का" तभी इसे-'मैत्रब्राह्मण' कहा जायगा'**। *। ब्राह्मण कभी किसी को अमित्र मान हीं नहीं सकता। क्योंकि

***-जप्येनैव तु संसिद्ध्येत्- ब्राह्मणो नात्र संशयः।**
कुर्य्यादन्यन्न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥ (मनुः २।८७)।

सर्वभूतहितरतिमूलक–'स्व' लक्षण आत्मा का अर्थ (स्वार्थ) ही इसका अपना अर्थ है, जिस स्वार्थ की सीमा से कोई भी बाहिर नहीं है । **'सर्वे भवन्तु सुखिनः–मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्–सर्वे सन्तु निरामयाः'** तो ब्राह्मण का स्व–स्वरूप ही है। वह कभी प्रमाद से भी किसी के भी अनिष्ट की कल्पना भी नहीं कर सकता। यदि करता है, तो कदापि वह भारतीय ब्राह्मण तो नहीं है । फिर तो अवश्य ही वह कोई हूण **ब्राह्मण** होगा, अथवा तो आसुरी मायाशक्ति **'दाह्मा'** का उपासक **शकब्राह्मण** होगा। अन्य कुछ कर सकने में असमर्थ भी ब्राह्मण कल्पना–चिन्तन–मानसभावों से तो सब का हित चिन्तन ही करेगा । अतएव ब्राह्मण की उपाधि–**'शुभेच्छुः–शुभचिन्तकः'** भी बन गई है लोकव्यवहार में। स्वयं श्रुति ने भी विस्पष्ट शब्दों में ब्राह्मण के इस मैत्रभाव का ही समर्थन किया है—

अथ यत्रैतत्–प्रतितरामिव तिरश्चीनार्चिः संशाम्यतो भवति, तर्हि–हैष भवति मित्रः । यमाहुः–"सर्वस्य वाऽअयं ब्राह्मणो मित्रम् । न वाऽअयं कञ्चन हिनस्ति"–इति । (शत० ब्रा० २।३।२।१ ।) ।

८७–मित्रब्राह्मण की विश्वमैत्री, एवं मैत्रीपूर्ण पुरुषार्थ—

मैत्रावरुणग्रहश्रुति ने भी ब्राह्मण के इसी ऐन्द्र–मित्रात्मक–आत्मभाव का समर्थन किया है । ब्राह्मण के अन्तरात्मा में 'क्रतु' नामक 'मित्र' प्राण ही अन्तर्य्यामसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है । मित्रप्राण क्योंकि इसकी प्रकृति–**'स्व–भाव'** रूप **'स्वभाव'** बना हुआ है। अतएव मानवमात्र ही क्या, प्राणिमात्र के लिए मङ्गलकामना करते रहना तो इसका स्वाभाविक धर्म्मात्मक–'स्वधर्म्म' ही है। बिना किसी प्रत्यर्पण–प्रत्युपकार की भावना–कुभावना के–**'सर्वे सन्तु निरामयाः'** इस सहजसिद्ध मित्रवृत्ति के आकर्षण से सतत सब की रक्षा में प्रवृत्त रहना हीं तो ब्राह्मण का परमपुरुषार्थ है । अपनी इस स्वाभाविक–मित्रप्राणवृत्ति से ब्राह्मण मानवसमाज की रक्षा में प्रवृत्त रहता है, जिस में क्यों ? का प्रवेश सर्वथा ही निषिद्ध है। इसी प्रवृत्ति को मूलाधार बना कर ब्राह्मण रक्षासाधनात्मक उपाकर्म्म–वेदस्वाध्य–नवरात्रोपासन–साम्बसदाशिवाराधन–आदि आदि रक्षाकर्म्मों में निष्कारणभाव से ही प्रवृत्त रहता है।

८८–मैत्रीपूर्ण उत्तरदायित्व से पराङ्मुख जात्युपजीवी ब्राह्मण की 'जीवितमृत्यु'—

यदि इन रक्षासाधनों का आधार 'शरीरस्वार्थ' बन जाता है, तो तत्काल ये रक्षासाधन अन्तर्लीन हो जाते हैं। फिर तो ब्राह्मण इन में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। इन की अप्रवृत्ति से स्वयं ब्राह्मण ही 'जीवन्मृत' बन जाता है। यदि वञ्चकता के लिए इन उपायों को माध्यम बनाता भी है, तो कदापि ये साधन इसे इस दिशा में भी सफल नहीं होनें देते। रक्षात्मिका विधाएँ यदि व्यवसाय के साधन हैं, तो यही ब्राह्मण की मृत्यु है। इसी कारणता ने ब्राह्मण को वेद–वेदाङ्ग–स्वाध्याय से विमुख कर इसे उन शब्दाडम्बरों की ओर ही प्रवृत्त कर डाला, जिन से इसे उदरपूर्त्ति के साधन उपलब्ध हो जाने की सम्भावनामात्र हो पड़ी थी। क्या उपयोग वेदशास्त्र का दैनिक जीवन की उपयोगिता में ?, इसी शरीरमूलक प्रश्न ने ब्राह्मण को इस विधि के सम्पर्कमात्र से भी पराङ्मुख बना दिया। उपयोगिता के समर्थक इस मनःशरीरधर्म्मामात्र ब्राह्मणनें जिस दिन से वेदस्वाध्याय का परित्याग कर लोक–वित्तैषणापूरक अन्यान्य लोकसाहित्यों के प्रति आत्मसमर्पण करना

आरम्भ कर दिया, बेदसिद्धा–आचारसंस्कृतियों की उपेक्षा कर दी, परावलम्बनता के निग्रह में आकर उत्तर-दायित्व के विघातक आलस्य को अतिथि बना लिया, रसनेन्द्रियमूलिका-अन्नलिप्सा को ही अपना महान् पौरुष मान लिया, तभी से इसका जीवित–मरण उपक्रान्त बन गया। और यों इसी अभ्यास का पुनः–पुनः आम्रेडन करते जाने वाले इस भावुक ने अपना भी सर्वनाश करा लिया, और अपने साथ साथ समाज को भी अरक्षित बना डाला। कारणतावादी–उपयोगितावादी शरीरधर्म्मा ब्राह्मण नें विस्मृत कर दिया अपना **'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'** यह महान् उद्बोधनसूत्र, एवं इसने कण्ठस्थ कर लिया मनु का (आचारणरूपेण) यह सूत्र कि—

अनभ्यासेन वेदानां, आचारस्य च वर्ज्जनात् ।
आलस्यात्, अन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥

—मनुः ४।४।

८९–महामाया 'आद्या' शक्ति के द्वारा देवनिकाय का संरक्षण—

रक्षाबन्धनमहोत्सव से सम्बन्ध रखने वाला अब पूर्वोपात्त यह प्रश्न उपस्थित हो पड़ा कि, यदि रक्षा-कर्म्म एकमात्र ब्राह्मण का ही कर्त्तव्य है, तो स्त्रीवर्ग किस आधार पर भ्राता–पिता–आदि के रक्षासूत्र बाँधने लग पड़ा ?, प्रश्न का उत्तर रहस्यशास्त्र के रहस्यबोध पर ही अवलम्बित है। रहस्यशास्त्र (दुर्गासप्तशती) नें हमें बतलाया है कि–जब देवतागण असुरगणों को परास्त करने में असमर्थ हो गए, तो उन्होंनें अपनी अपनी सीमित शक्तियों को एक केन्द्रबिन्दु पर सञ्चित करना आरम्भ कर दिया। इस आरम्भण से देवशक्तिसमूहात्मक वही शक्तिपुञ्ज सहस्रभानुसम प्रदीप्त–प्रचण्ड हो पड़ा। यही महामाया महिषासुरमर्दिनी का आविर्भाव माना गया। इसी स्वरूपने अट्टाट्टहास-पूर्वक समस्त दैत्य–असुरों को परास्त कर शक्त्युपासक देवताओं का विजयश्री के साथ वरण करा दिया। तात्पर्य्य इस रहस्याख्यान का स्पष्ट है। शक्ति ही मानव के भूतस्वरूप की, ब्रह्मस्वरूप की रक्षा किया करती है। शक्ति के साम्राज्य में हीं अग्नि–वायु–इन्द्र–नामक त्रैलोक्याधिष्ठाता देवताओं का विजय हो रहा है, जो शक्ति इन्हें ब्रह्मद्वारा उपलब्ध होती रहती है। सांसारिक–विपत्तियों के आक्रमण से संरक्षण, रक्षापूर्वक सांसारिक (शारीरिक) अभ्युदयों की प्राप्ति, तथा पारलौकिक (आत्मिक) निःश्रेयस् भावों की उपलब्धि शक्तिपुञ्जरूपिणी महामाया जगदम्बा के सहज अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। इस शक्ति के अनुग्रह से ही मानव शक्तिमान् बनता हुआ विपत्तियों को परास्त कर देता है। सैषा स्थितिः प्राकृतिकी।

९०–अव्ययेश्वरपुरुष, और उस की सर्वशक्तिरूपा प्रकृति—

बात सुनने सुनाने में जितनी सरल है, समझने समझाने में उसी अनुपात से थोड़ी कठिन। सम्पूर्ण भूत–भौतिक विश्व ही विश्वात्मा का शरीर है, जो स्वयं विश्वात्मा के द्वारा सुरक्षित है। विश्वात्मा किस के माध्यम से इस विश्व का आविर्भाव करते हैं, एवं किस के माध्यम से इस आविर्भूत विश्व का संरक्षण करते हैं ?, प्रश्न का उत्तर है–**'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'**। अर्थात् चिदात्मा विश्वेश्वर की सच्चिदानन्दघना चिच्छक्तिरूपिणी चेतनालक्षणा (अक्षरलक्षणा) प्रकृति ही वह महाशक्ति है, जिसके द्वारा

ही तो विश्वेश्वर (अव्ययपुरुष) विश्व के आविर्भाव में समर्थ होते हैं, एवं जिसके द्वारा ही विश्व का संरक्षण हुआ करता है । इत्थंभूता विश्वजननी विश्वस्थिति–संहार–कारिणी–महामाया आद्या भगवती प्रकृति-शक्ति ही वह परा पराणां परमा शक्ति है, जो विश्व की सर्वस्वभूता सनातनी अधिष्ठात्री बनी हुई है ।

६१–महाशक्ति का विश्वानुबन्ध से चतुर्द्धा विकास, एवं स्वयम्भुपरमेष्ठिनौ–परमेष्ठि-सूर्य्यौ–सूर्य्याचन्द्रमसौ, सोमः पूषा च चेततुः मूलक ब्रह्माविष्णू–इन्द्राविष्णू–इन्द्रा-सोमौ–अग्नीषोमौ–लक्षणा विवर्त्तचतुष्टयी—

मूलाधिष्ठात्री यही प्रकृतिशक्ति अपनी अवान्तर पाँच कलाओं से क्रमशः **ब्रह्मशक्ति–(स्वायम्भुवी)**, **विष्णुशक्ति (पारमेष्ठिनी)**, **इन्द्रशक्ति (सौरी)**, **सोमशक्ति (चान्द्री)**, **एवं अग्निशक्ति (पार्थिवी)**-भेद से पञ्चपर्वा विश्व में पाँच विभूतिभावों में परिणत हो रही है । **स्वयम्भू-पारमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा-पृथिवी**–विश्व के इन पाँच पर्वों के अन्तरान्तरीभावासम्बन्ध से चार प्रधान विवर्त्त हो रहे हैं, जिनका प्रकारान्तर से पूर्व परिच्छेदों में समन्वय किया जाचुका है । **स्वयम्भू–परमेष्ठी**, दोनों का एक युग्म है, यही **ब्रह्मा–विष्णुरूप** प्रथम शक्तिविभाग है । **परमेष्ठी–सूर्य्य**, दोनों का एक युग्म है, यही **विष्णु–इन्द्ररूप** द्वितीय शक्तिविभाग है । **सूर्य्य–चन्द्रमा**, दोनों का एक युग्म है, यही **इन्द्र-सोमरूप** तृतीय शक्तिविभाग हैं । एवं **चन्द्रमा, पृथिवी**, दोनों का एक युग्म है, यही **सोम–अग्निरूप** चतुर्थ शक्तिविभाग है । द्वन्द्वदेवता-विज्ञान की दृष्टि से **ब्रह्माविष्णू, इन्द्राविष्णू, इन्द्रासोमौ, अग्नीषोमौ**, ये चार तन्त्र निगमपरिभाषा में सुप्रसिद्ध हैं, जो क्रमशः–**स्वयम्भुपरमेष्ठिनौ, परमेष्ठिसूर्य्यौ, सूर्य्याचन्द्रमसौ, सोमःपूषा च चेततुः**–रूप से भी प्रसिद्ध हैं । यों पाँच अवान्तर विवर्त्तों के चार ही अवान्तर-शक्तिविवर्त्त–रह जाते हैं, जो निगममूलक (वेदमूलक) आगमशास्त्र (तन्त्रशास्त्र) में क्रमशः **ब्रह्ममाया, विष्णुमाया, शिवमाया, भूतमाया**-इन नामों से उपस्तुत-उपवर्णित हैं । ब्रह्ममाया **ब्रह्मा–विष्णुमयी** है, विष्णुमाया **विष्णु–इन्द्रमयी** है, शिवम.या **इन्द्र–सोममयी** है, एवं भूतमाया **सोमाग्निमयी** है । चारों में पूर्व–पूर्व मायाएँ उत्तर–उत्तर–मायाओं की आधारभूमियाँ बनीं हुईं है–प्रतिसृष्टिप्रक्रिया में । अतएव मानवबुद्धि यह निर्णय करने में असमर्थ है कि, इन में कौन आधार है ?, एवं कौन आधेय है ? । इसी आधार पर इस शक्तितत्त्व की इन्हीं शब्दों में प्रणतभाव से स्तुति हुई है कि—

> **यच्च किञ्चिद्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ।**
> **तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा किं स्तूयसे तदा ॥**
>
> —सप्तशती

६२–स्वायम्भुवी-सौरी–चान्द्री–पार्थिवी–शक्तियाँ, एवं मानव का स्वरूप–समन्वय—

उक्त चारों, किंवा पाँचों प्रकृतिशक्तिविवर्त्तों में स्वायम्भुवी ब्रह्ममाया ही मूलमाया है, जिसे पञ्चपर्वा विश्व की **'आदिमाया'** कहा जासकता है, कहा गया है । इसी का एक पारिभाषिक नाम है–**'आत्मशक्ति'** जो चतुष्पर्वा मानव के सर्वादिभूत के **'आत्मपर्व'** की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है । इस स्वायम्भुवी–विश्वादि-भूता ब्राह्मी–आत्ममाया–आत्मशक्ति से ही परमेष्ठ्यादि उत्तर विश्व पर्वों का वितान हुआ है । विष्णु–इन्द्र–

सोम–अग्नि–आदि सम्पूर्ण देवता इसी के आधार पर स्व–स्व विश्वपर्वों में व्यवस्थित बने हुए हैं *। विष्णुगर्भिता, अतएव आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु के सम्बन्ध से ही **'अम्बिका'** (आपोमयी, निगमभाषानुसार **आम्भृणीमयी सरस्वती)** नाम से प्रसिद्धा स्वायम्भुवी आत्ममाया के आधार पर वितता इन्द्रगर्भिता विष्णुमाया ही **'महच्छक्ति'** कहलाई है, जिसे केनोपनिषत् नें–**'हैमवती उमा'** कहा है। यही महच्छक्ति विश्वविज्ञान की मूलप्रतिष्ठा है, जिसका मानव में विज्ञानात्मलक्षणा–**'बुद्धि'** के रूप में आविर्भाव हुआ है। इस बुद्धिरूपा महच्छक्ति के आधार पर वितता सोमगर्भिता इन्द्रमाया ही **'प्रज्ञानशक्ति'** की प्रवर्त्तिका बनती है, जिसका मानव में प्रज्ञानात्मलक्षण **'मन'** के रूप में आविर्भाव हुआ है। मनोरूपा इस प्रज्ञानशक्ति के आधार पर वितता अग्निगर्भिता सोममाया, किंवा सोमगर्भिता अग्निमाया ही **'भूतशक्ति'** की प्रवर्त्तिका बनती है, जिसका मानव में भूतलक्षण **'शरीर'** के रूप में आविर्भाव हुआ है। यों पञ्चपर्वा विश्व की अधिष्ठात्री महाशक्ति–प्रकृति के तथोक्त चारों युग्मशक्तिपर्वों से ही क्रमशः मानव के **आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर**–चारों पर्व समन्वित हो रहे हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

१–स्वयम्भूः—ब्रह्मा
२–परमेष्ठी—विष्णुः
} —**ब्रह्माविष्णू**—अव्यक्तमाया (ब्रह्ममाया) } —आद्या——**'आत्मा'**–पर्वप्रतिष्ठा

१–परमेष्ठी—विष्णुः
२–सूर्य्यः—इन्द्रः
} —**इन्द्राविष्णू**—महन्माया (विष्णुमाया) } —हैमवतीउमा–**'बुद्धिः'**–पर्वप्रतिष्ठा

१–सूर्य्यः—इन्द्रः
२–चन्द्रमाः—सोमः
} —**इन्द्रासोमौ**—प्रज्ञानमाया (शिवमाया) } —जगदीश्वरी–**'मनः'**—पर्वप्रतिष्ठा

१–चन्द्रमाः—सोमः
२–पृथिवी—अग्निः
} —**अग्नीषोमौ**—व्यक्तमाया (भूतमाया) } —त्रिपुरसुन्दरी–**'शरीर'**–पर्वप्रतिष्ठा

१–आत्मशक्तिर्म्मानवस्य——स्वायम्भुवी
२–बुद्धिशक्तिर्म्मानवस्य——सौरी
३–मनःशक्तिर्म्मानवस्य——चान्द्री
४–शरीरशक्तिर्म्मानवस्य——पार्थिवी
} —**शक्तिचतुष्टयसमष्टिरेव मानवः**
'शक्तिपात एव मानवस्य पुरुषार्थः'

---

*–देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या ।
तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां, भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः ॥
—सप्तशती

६३–सर्वज्ञानुगता ज्ञानशक्ति, हिरण्यगर्भानुगता क्रियाशक्ति, विराट्पुरुषानुगता--अर्थ-शक्ति, एवं शक्तित्रयमूर्त्ति वैश्वानर--तैजस--प्राज्ञमूर्त्ति मानवीय प्राकृत--जीवभाव—

जिसप्रकार पञ्चपर्वा विश्व के पाँच शक्तिविवर्त्त पूर्वतालिकानुसार चार ही विवर्त्तभावों में शेष रह जाते हैं, एवमेव आगे चल कर चार के तीन हीं विवर्त्त प्रधान मान लिए जाते हैं–**'त्रिःसत्या वै देवाः'** इस निगमसिद्धान्त के सामान्य–अनुबन्ध से। समन्वय कर लीजिए इस त्रित्ववाद का भी दो शब्दों में। **ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र**–तीनों की समष्टि का प्रथम विभाग माना जायगा, इसे ही–**'ज्ञानशक्ति'** कहा जायगा। **विष्णु–इन्द्र–सोम**–तीनों की समष्टिका द्वितीय विभाग माना जायगा, इसे ही–**'क्रियाशक्ति'** कहा जायगा। एवं–**इन्द्र–सोम–अग्नि**–तीनों की समष्टि का तृतीय विभाग माना जायगा, इसे ही–**'अर्थशक्ति'** कहा जायगा। यों **ज्ञान–क्रिया–अर्थ**–तीनों शक्तियों में समस्त अवान्तर शक्तियों का अन्तर्भाव मान लिया जायगा, जिन इन तीनों शक्तियों के संग्राहक–साधक–माध्यम–क्रमशः दिव्य आदित्य–आन्तरिक्ष्य वायु–पार्थिव अग्नि देवता मानें गए हैं, जिनका विकास अधिदैवत में **सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्**-रूप से, एवं अध्यात्म में (मानव में) **प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानर**--रूप से हुआ है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए इस त्रिःशक्ति-समन्वय को। क्योंकि इसी के माध्यम से रक्षाबन्धन के सम्बन्ध में हमें कुछ विशेष निवेदन करना है।

१–स्वयम्भूः--ब्रह्मा २–परमेष्ठी---विष्णुः ३–सूर्य्यः---इन्द्रः	—(१) ज्ञानशक्तिः (आत्मबुद्धिप्रधाना)	अत्रैतत्समर्पितम्
१-परमेष्ठी--विष्णुः २-सूर्य्यः---इन्द्रः ३–चन्द्रमाः—सोमः	—(२) क्रियाशक्तिः (बुद्धि-मनःप्रधाना)	
१–सूर्य्यः---इन्द्रः २–चन्द्रमाः—सोमः ३–पृथिवीः—अग्निः	—(३) अर्थशक्तिः (मनःशरीरप्रधाना)	

६४--ज्ञान-क्रिया--अर्थ--शक्तिविवर्त्त, एवं तत्प्रतीकरूप ब्राह्मण, नारी, तथा गोवंश----

सम्पूर्ण विश्वशक्तियाँ पूर्वोक्त तीन शक्तियों में अन्तर्भूत हैं, यह अबतक के निवेदन से स्पष्ट हो जाता है। वैसे तो विश्व के बड़े से बड़े, एवं छोटे से छोटे–पदार्थ में सब में तारतम्य से तीनों हीं शक्तियाँ प्रतिष्ठित रहतीं हैं। किन्तु इन तीनों शक्तियों के तीन प्रधान प्रतिनिधि माने हैं तत्त्वद्रष्टा महर्षियोंनें, जिस इस ऋषिदृष्टि के अनुग्रह का महद्भाग्य सम्पूर्ण विश्व में एकमात्र भारतीय–सांस्कृतिक–प्रजा को ही प्राप्त हुआ है। आत्मबुद्धिसमन्वयलक्षणा ज्ञानशक्ति का महान् प्रतीक माना गया है वेदवेदाङ्गतत्त्वनिष्ठ–**भारतीय ब्राह्मण**। बुद्धिःमनःसमन्वयलक्षणा क्रियाशक्ति का महान् प्रतीक माना गया है–**भारतीय नारीवर्ग**, एवं मनःशरीरशरीरलक्षणा अर्थशक्ति का महान् प्रतीक माना गया है–**गोवंश**। **ब्राह्मण, नारी, गौ,** ये तीन हीं मुख्य केन्द्रबिन्दु हैं विश्व की **ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तियों** के, जिस इस प्राकृतिक–प्राणात्मक रहस्य का केवल जड़भूतदृष्टि से कदापि समन्वय नहीं किया जा सकता।

६५--भारतीय संस्कृति के मुख्य तीन स्तम्भ, तत्रापि सर्वप्रधाना मातृशक्ति का मुख्य--स्तम्भत्व, तथा तत्सम्बन्ध में जगन्मिथ्यात्ववादियों की महती भ्रान्ति—

भारतीय संस्कृति के तीन हीं मुख्य स्तम्भ हैं, जिनके सहयोग–अनुग्रह के बिना भारतवर्ष का कोई सा भी सांस्कृतिक आयोजन, कोई सा भी धार्मिक–लौकिक अनुष्ठान कदापि सुसम्पन्न नहीं बन सकता। राष्ट्र की ज्ञानविज्ञानात्मिका केन्द्रबिन्दु का आधार ज्ञानविज्ञानात्मक वेदशास्त्र का परपारदर्शी ब्राह्मण हीं माना गया है। जिस राष्ट्र का ब्राह्मणवर्ग स्वस्वरूप से अन्तर्मुख हो जाता है, उस राष्ट्र की ज्ञानशक्ति भी सर्वथैव अन्तर्मुख ही बन जाया करती है। राष्ट्र की वैय्यक्तिकी–पारिवारिकी–सामाजिकी–आदि आदि यच्चयावत् क्रियाशक्तियों का केन्द्रबिन्दु बुद्धिगर्भित–मनःप्रधान–सुसंस्कृत–नारीवर्ग ही है। जिस राष्ट्र का यह वर्ग अपने स्वरूप से उत्पीड़ित–अमर्य्यादित–उच्छृंखल–पथभ्रष्ट बना दिया जाता है मानव की मूर्खता के द्वारा, निश्चयेन उस राष्ट्र के बाह्यजीवन का सम्पूर्ण कर्म्मकौशल सर्वथा ही उच्छिन्न हो जाता है। सांस्कृतिक–कर्त्तव्य-कर्म्मों का एकमात्र आधार नारी ही है। सांस्कृतिक–परम्पराओं को आज तक अक्षुण्ण बनाए रखने का एकमात्र श्रेय इस प्रातःस्मरणीय–पूज्य नारीवर्ग को ही प्राप्त है।

मानव की आत्मबुद्धिनिष्ठा, आचारनिष्ठा, धर्म्मनिष्ठा, लोकनिष्ठा, प्रजावैभव, लोकैश्वर्य्य, पारलौकिक–सद्गति, आदि आदि सभी कुछ एकमात्र भारतीय नारी के अनुग्रह पर ही तो अवलम्बित हैं। सर्वाश्रमों में ज्येष्ठ–श्रेष्ठ–गृहस्थाश्रम हीं मानव का वह रक्षादुर्ग है, जिससे सुरक्षित रह कर ही मानव अपनी मानसिक–शारीरिक भावुकताओं का मर्य्यादापूर्वक संरक्षण करता हुआ आत्मबुद्धिनिष्ठापथ–साधन में समर्थ बना करता है। वे सर्वथा भ्रान्त हैं, जो नारी को आत्मबोधनिष्ठा में प्रतिबन्धक मानने–मनवाने का पाप करते रहते हैं। सचमुच उस वैराग्यकल्पना को क्रव्यादाग्नि में ही आहुत कर ही देना चाहिए, जिसने भावुकतावश–**'नारी किमेकं 'नरकस्य द्वारम्'** जैसी पापवासना का आविर्भाव कर डाला है। जिस महामाया प्रकृति से विश्वेश्वर विश्वेश्वर हैं, उसी की सगुणप्रतिमारूपा जगन्माता इस जगदम्बा (नारी) के अभिशाप ने हीं तो तथाविध वैराग्यवादियों को शून्य-शून्य ही बना दिया है। यह उचित ही तो दण्डविधान था उन शक्तिशून्य शवशरीरों के लिए।

९६–ज्ञानदात्री सावित्रीमाता, जन्मप्रदात्री प्रसवित्रीमाता, एवं जीवनीयरसप्रदात्री गौमाता–के भेद से राष्ट्र की मातृशक्तित्रयी, एवं तदुपेक्षा से राष्ट्र की ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तियों का उत्तरोत्तर अभिभव—

राष्ट्र की भूतशक्तिरूपा अर्थशक्ति का मूलाधिष्ठान कौन ?, अब यह प्रश्न उपस्थित हुआ हमारे सम्मुख । उत्तर स्पष्ट है आर्षप्रज्ञा के लिए तो । * रुद्रमाता, वसुकन्या, आदित्यभगिनी–सर्वदेवमयी–सोमामृतरसमयी–जीवनीयरसप्रदात्री–माता के स्वरूप से कौन श्रद्धालु परिचित न होगा । भारतीय द्विजातिमानव ने अपने सांस्कृतिक–जीवन में तीन मातृशक्तियों का स्तन्यपान करके ही आजतक अपने सांस्कृतिक–जीवन को सुरक्षित बनाए रक्खा है । **जन्मदात्री प्रसवित्री माता, ज्ञानप्रदात्री सावत्री माता,** एवं **अर्थशक्तिप्रदात्री गौमाता,** ये तीन हीं माताएँ स्तन्यपान के द्वारा हमारा संरक्षण–परिवर्द्धन करतीं रहतीं हैं । तीनों माताएँ एक ही मातृशक्ति के **ज्ञान–क्रिया–अर्थ**–रूप तीन विभूतिभाव हैं । ज्ञानविभूतिमयी सावित्रीमाता का अनुग्रह प्राप्त होता है हमें भारतीय यज्ञसूत्रधारी गायत्र्युपासक ब्राह्मण के द्वारा । क्रियाविभूतिमयी जन्मदात्री माता का अनुग्रह प्राप्त होता है हमें सापिण्ड्यतन्तुवितानकर्त्ता पितरों के अनुग्रह से, एवं अर्थविभूतिमयी जीवनरसप्रदात्री गौमाता का अनुग्रह प्राप्त होता है हमें श्रद्धा के द्वारा । तीनों हीं माताएँ समानरूप से आराध्या हैं, उपास्या हैं, भारतीय संस्कृति–सभ्यता–जीवन–धर्म्म-लोक–परलोक–दैवत–आत्मिक–भौतिक आदि आदि यच्चयावत् विवर्त्तों के मूलस्तम्भ हैं । तीनों में से एक की भी उपेक्षा करना अपने सर्वनाश का ही आमन्त्रण करना है ।

९७–भारतीय सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षिता, एवं तद्‌दुष्परिणामस्वरूप राष्ट्रीय-ज्ञान–क्रिया–अर्थ–बलों का उत्तरोत्तर ह्रास—

कहते हैं–भगवान् गौ, और ब्राह्मण के उद्धार के लिए ही अवतार लिया करते हैं । क्या तात्पर्य्य है इस मान्यता का ? । समन्वय कीजिए । गौमाता राष्ट्र की अर्थशक्ति है । गौवंश के उत्पीड़न से राष्ट्र की अर्थशक्ति निश्चयेन विकम्पित हो पड़ती है, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण दुर्भाग्यवश आज वह भारतराष्ट्र ही बना हुआ है धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र के निग्रहात्मक–अनुग्रह से, जिस भारतराष्ट्र ने हीं सर्वप्रथम गौमाता के इस प्राणात्मक दिव्य स्वरूप का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया था । जिस देश के अवतारपुरुषोंनें स्वयं गोचारण करके इस महतीशक्ति की प्राणप्रतिष्ठा से अपने अवतारस्वरूप को धन्य बनाया था, रामकृष्ण के उसी पावन भारतराष्ट्र में आज गोवंश किस सीमापर्य्यन्त अरक्षित–उत्पीड़ित है ?, यह देख-सुन कर हम प्राण नहीं छोड़ रहे, यही हमारे लिए लज्जा की बात है । प्राण हैं कहाँ आज हमारे में ? । हम तो शवशरीरमात्र हैं । यदि प्राण का अंश भी विद्यमान होता हमारे भूतपिण्डों में, तो इस वंश की इसप्रकार की अवहेलना करने का कौन साहस कर सकता था ? । अब तो हम निष्प्राण-शवशरीरों के अशरण–शरण वे विश्वम्भर ही

---

*–माता रुद्राणां, दुहिता वसूनां, स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥
—ऋक्संहिता

हैं, जो अवश्यमेव गोब्राह्मणहिताय समय–समय पर अवतार धारण करते रहना अपना नैष्ठिक कर्त्तव्य ही मानते आए हैं। गो–द्विजहितकारी–असुरारी के अतिरिक्त अब अन्य कोई भी इन निधियों का संरक्षक वर्त्तमान भारतराष्ट्र के धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र में तो हमें उपलब्ध नहीं होरहा।

९८–शक्तित्रयसमन्वयमूलक-रक्षासूत्रबन्धनात्मक--प्रासङ्गिक--प्रश्नसमाधान की चेष्टा —

हाँ, तो ब्राह्मण का अर्थ है–ज्ञानशक्ति, एवं तदभिन्ना क्रियाशक्ति। यों ब्राह्मण के द्वारा ही ब्राह्मण की ज्ञानाधिष्ठात्री **सावित्रीमाता**, एवं कर्म्माधिष्ठात्री **जन्मदात्री माता**, दोनों मातृशक्तियाँ हीं संगृहीत हैं। तीसरी गौमाता अर्थ का प्रतीक है। यों **'गोब्राह्मण-हिताय च'** से तीनों मातृशक्तियों की ओर ही परोक्ष–भाषा में सङ्केत हुआ है। **ब्राह्मण-नारी-गौ**–(अर्थात् सावित्रीमाता, जन्मदात्रीमाता–गौमाता) इन तीनों के साथ क्रमशः **ज्ञान–क्रिया–अर्थ**–नाम की राष्ट्र की तीनों शक्तियाँ समन्वित हो रहीं हैं। इस शक्तित्रयी को लक्ष्यारूढ बना कर ही अब हमें रक्षाबन्धनानुगत प्रासङ्गिक प्रश्न के समाधान का अन्वेषण करना है।

९९-मातृशक्तित्रयी का मूल उक्थ, एवं इट्--उर्क्--गौरूप--भृग्वङ्गिरोमय परमेष्ठी —

ठहरिए। अभी इन तीनों माताओं के बाह्यस्वरूप का दर्शन और कर लीजिए, जिस स्वरूप का प्रकृति के अत्यन्त ही गुहानिहित–रहस्यात्मक तत्त्व से सम्बन्ध माना है ऋषिप्रज्ञाने। सावित्रीमाता का ही दूसरा नाम **है—वेदमाता**, यही है **ज्ञानरसप्रदात्रीमाता**। दूसरी माता है–**जन्मदात्री**, जिसे लोकभाषा में–**'जननी'** कहा गया है। और तीसरी–माता है–**गौमाता**, जो **जीवनीयरसप्रदात्री** मानी गई है। इन तीनों माताओं का मूल–उक्थस्थान माना गया है—वह परमेष्ठीमण्डल, जो पञ्चपर्वा विश्व में स्वयम्भू के अनन्तर अपनी स्थिति रखता है। स्वयम्भूब्रह्म वेदतत्त्वमय है। इस वेदतत्त्व के यजुर्म्मय वाग्भाग से अभिव्यक्त आपोमय मण्डल ही परमेष्ठी–मण्डल है। इसे व्यक्त कर अव्यक्त स्वयम्भूवेदब्रह्म इसके गर्भ में समाविष्ट हो रहा है, जैसा कि—**'सोऽनया त्रय्या विद्यया सह अपः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत'** (शत० ६।१।१।१०) इत्यादि से प्रमाणित है। पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय अथर्वा–सोम हीं इस वेदत्रयी को अपने गर्भ में धारण किए हुए हैं। अतएव इस सौम्या शक्ति को अवश्य ही–**'वेदमाता'** कहा जा सकता है, जिसका सौरमण्डल में सावित्रीरूप से, एवं पार्थिवमण्डल में गायत्रीरूप से विकास माना गया है। यों पारमेष्ठिनी सौम्याशक्ति ही वेद-माता बन रही है, जिसे हमनें **ज्ञानप्रदात्री सावित्रीमाता** कहा है। इसी पारमेष्ठ्यमण्डल के **इट्–ऊर्क्–गौः**' ये तीन मनोता माने गए हैं।

१००--ब्राह्मण, वेदमातासावित्री, जन्मदात्रीजननी, रसप्रदात्रीगौमाता--भेदभिन्न चारों महिमाभावों का पारमेष्ठ्य सोममयत्त्व—

'या ते धामान्युष्मसि गमिध्यै-यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः' (यजुःसंहिता ६।३।) इत्यादि के अनुसार अङ्गिरागर्भित–भार्गवसोममय पारमेष्ठ्य–सौम्यप्राण ही 'गौ' तत्त्व है, जिसकी गौपशु में प्रधानता रहा करती है। परमेष्ठी के देवता विष्णु हैं। अतएव विष्णु भी सोमवंशी कहलाए हैं, गौतत्त्व भी सौम्य ही बना हुआ है। सौम्या–जीवनीयरसप्रदात्री गौमाता का यही स्वरूपपरिचय है। पुरुष जहाँ अग्निप्रधान है, वहाँ नारी सोमप्रधाना मानी गई है। अतएव नारी को–सुमङ्गला–सौम्या–वामा कहा गया है। यों जन्मदात्री माता

भी सौम्या ही बनी हुई है । वेदमाता का सन्देशवाहक ब्राह्मण भी सौम्य ही माना गया है । सोम हीं ब्राह्मण-वर्ण का देवता (प्रतिष्ठा) माना गया है, जैसाकि-'**सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा**' इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित है । यों **ब्राह्मण**, तदभिन्ना ज्ञानरसप्रदात्री वेदमाता **सावित्री**, जन्मदात्री **जननी**, जीवनीयरसप्रदात्री **गौमाता**, चारों का हीं पारमेष्ठ्य-सोमप्रधानत्त्व प्रमाणित हो रहा है । गौमाता का सौम्यभाव जीवनीय गोरस (दुग्ध) से प्रमाणित है, जननी का सौम्यभाव * स्तन्यदुग्ध से प्रमाणित है, ब्राह्मण का सौम्यभाव वाङ्मयी स-रसवती-सरस्वतीधारा से प्रमाणित है । तीनों का बाह्यस्वरूप सौम्य है, मृदु है, कोमल है, सात्त्विक है । अतएव तीनों हीं प्रज्ञाहीन-सत्त्वगुणहीन-तमोगुणान्वित-असुरबुद्धियों के द्वारा उत्पीड़ित होते रहते हैं । किंवदन्ती है कि, **"गाय, और कन्या की तो एक स्थिति है । जिसके साथ करदी जाती है, चुपचाप उसे चले जाना पड़ता है"** । यही स्थिति ब्राह्मण की भी समझिए । जो इससे थोड़ा भी मीठा बोल लेता है, तत्काल यह उसी की ओर अभिमुख हो जाता है ।

१०१-ब्राह्मणस्पत्यसोममूर्त्ति मृदुलग्रीव ब्राह्मण, चित्सोममयी वेदमाता, चान्द्रसोम-प्रधाना जननी, एवं पारमेष्ठ्यसोमप्रधाना गौमाता के सहजसिद्ध सौम्यभावों का सत्तातन्त्र की निरंकुशता-निरपेक्षिता-उपेक्षा से आततायीवर्ग के द्वारा उत्पीड़न--

सम्भवतः इसी आधार पर-'**मृदुलग्रीवा वयं ब्राह्मणाः**' सूक्ति प्रचलित हो पड़ी है, जिसका अर्थ है-'ब्राह्मण की ग्रीवा (गला) अत्यन्त कोमल है, (अतएव सरलता से काटी जासकती है)' । यत्-किञ्चित् से सांस्कृतिक-प्रलोभन से ही ब्राह्मण ने अपने गले कटवा लिए है कुनैष्ठिकों के द्वारा । इसी मृदुलता से इसे-'**मैत्रब्राह्मण**' कहा गया है । यही अवस्था सौम्या गौमाता की है, और यही अनपराधिनी माता (नारी) की है । इन भार्गव सौम्यस्वरूपों के अन्तस्तल में प्रचण्डरूप से धोधूयमाना जो अङ्गिराज्वाला धगद् धगद्-रूपेण जाज्वल्यमान है, यदि उसके प्रत्यंश का भी मानवों को बोध हो जाता, तो कभी यह राष्ट्र के इन मूलस्तम्भों को यों उत्पीड़ित करने का सङ्कल्प भी नहीं कर सकते थे । जब जब राष्ट्र में विप्लव-युद्ध हुए हैं, तब तब अवश्य ही इन तीनों में से किसी न किसी का स्वरूप तो अवश्य ही साक्षात्-अथवा तो परम्परया कारण बना है । ब्राह्मण के ज्ञान का उत्पीडन, मूर्खता का साम्राज्य, यही विप्लव का कारण । नारी का उत्पीड़न-अपमान, यही महाभारतयुद्ध की उपक्रमबिन्दु । गौमाता का उत्पीड़न, और यही यवन-साम्राज्य के पतन की उपक्रम-बिन्दु । क्या हमारा राष्ट्र, और राष्ट्र का धर्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र इन ऐतिह्य घटनाओं से शिक्षा ग्रहण कर सकेगा ? ।

१०२--राष्ट्रीय विद्याबल, पुरंधियोंषाबल, एवं तद्द्वारा राष्ट्रमानव का स्वरूपसंरक्षण—

उक्त प्रासङ्गिक सन्दर्भ से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, शक्तिसम्बन्ध से ही मानव शक्तिमान् बनता है, एवं शक्तिमान् मानव हीं शक्ति के अनुग्रह से विपत्तियों से आत्मत्राण कर सकने में समर्थ बनता है । '**स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु**' के अनुसार सम्पूर्ण स्त्रियाँ उसी पूर्वोक्ता आदिशक्ति

---

* **सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्तततिसुन्दरी ।**
परा पराणां परमा त्वमेव परमेश्वरि ॥

महामाया के विभिन्न विभूतिभाव हैं। विद्या–पौरुष–शिल्प–कला–वाणिज्य–आदि आदि यच्चयावत् दैविक–भौतिक–आत्मिक पदार्थ शक्ति के ही प्रवर्ग्यरूप हैं। इन सब अवान्तर–खण्ड–खण्डात्मक शक्तिविवर्त्तों का मूलस्रोत यही महामाया है, जैसाकि—'**शब्दात्मिका सुविलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्। देवी त्रयी भगवती**' इत्यादि रहस्यवचन से स्पष्ट है। तदित्थं–रक्षासाधनभूता समस्त विद्याएँ, तथा शक्तिसगुणप्रतिमानरूपा समस्त स्त्रियाँ, इसी शक्ति के मुख्य विवर्त्त हैं, जैसा कि—'**विद्याः समस्तास्तव देवि! भेदाः, स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु**' इत्यादि वचन से प्रमाणित हैं। ब्राह्मण जिस त्रयीविद्याबल से मानवसमाज की रक्षा करता है, निश्चयेन नारीवर्ग भी अपने सहजसिद्ध शक्तिस्वरूप से समाजस्वरूप का संरक्षक बन रहा है। जिस राष्ट्र का विद्याबल, तथा स्त्रीबल, दोनों अरक्षित बन जाते हैं, कदापि वह राष्ट्र सुरक्षित नहीं रह सकता, नहीं रह सकता।

१०३–'यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते' मूलक शक्तिपूजनरहस्य—

जबतक भारतराष्ट्र के प्रज्ञात्मक कोश में विद्याबल सुरक्षित था, जबतक यह राष्ट्र मातृपूजन का अनुगामी था, जबतक इसका–'**यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते**' यह व्यवहारात्मक आदर्श सुरक्षित था, तबतक सर्वात्मना सुरक्षित बना रहता हुआ यह सभी क्षेत्रों में पूर्ण समृद्ध था। किन्तु सङ्गदोष में आकर जिस दिन से इसने अपने विद्याबल की उपेक्षा करदी, नारी को **सहधर्म्मचारिणी** के आसन से च्युत कर **सहकामचारिणी** बना लिया, उसी दिन से इसके ऐश्वर्य्य का पतन आरम्भ हो गया। '**स्त्रीतत्त्व शक्तिरूप है**' यह दृष्टि ही विलुप्त होगई इस भूतवादी की। स्त्री की प्रसन्नता, इसका आशीर्वाद, अनुग्रहदृष्टि, चरणनखच्छददर्शन, आदि आदि पावनकर्म्म मानव का कैसा अभ्युदय कर दिया करते हैं?, मातृत्त्व की इस उपासना से मानव किस पराशान्ति का अनुगामी बना रहता है?, यह कदापि वाणी का विषय नहीं है। प्रत्येक स्त्री के **नारी** और **माता** ये दो–दो स्वरूप रहते हैं। अपने बाह्य भौतिक–स्वरूप से जहाँ प्रत्येक स्त्री नारी है, वहाँ अपने आभ्यन्तर आङ्गिरसस्वरूप से प्रत्येक नारी माता ही है, जिसका अभिप्राय यही है कि–प्रत्येक स्त्री का अन्तरात्मा महामाया जगदम्बा के अंश से समन्वित है। इसी आधार पर तो शक्तिपूजक महाभाग्यशाली बङ्गप्रान्त जननी की भाँति कन्या को भी उसकी अविवाहितावस्था में ही उसे–'माता' शब्द से सम्बोधित करता आया है।

१०४–मातृशक्ति से समन्वित रक्षाबन्धनसूत्र का महान् शक्तिशालित्व—

सचमुच ब्राह्मण के रक्षासूत्र से भी कहीं अधिक ही महत्त्व माना जायगा इस मातृशक्ति के द्वारा सहजरूप से ही प्राप्त होते रहने वाले संरक्षणसूत्र का। रक्षाबन्धनदिवस पर बहिनों–कन्याओं के पावन–वरद-करकमलों से माङ्गलिक कुंकुम-केसर का तिलक लगाता हुआ, अक्षतभाव से समन्वित होता हुआ मानव जब अपने हाथ में रक्षासूत्र बँधवाता है, तो क्या इसे तत्क्षण ही अपने अन्तर्जगत् में यह अनुभव नहीं हो जाता कि,–'**वह मानो इस सूत्रबन्धन से जगन्माता का साक्षात्रूप से ही आशीर्वाद प्राप्त कर रहा है**'। मातृजगत् के द्वारा प्राप्त होने वाले इसी रक्षाबल से मानव मातृजगत् के बाह्य–भौतिक नारीस्वरूप के रक्षण में सफल बना करता है।

१०५–इन्द्राणी के द्वारा इन्द्र के दक्षिणहस्त में रक्षासूत्रबन्धन, एवं तत्प्रभाव से असुरों का इन्द्र के द्वारा पराभव—

ब्राह्मण रक्षासूत्र के द्वारा यजमानों में आभ्यन्तर–प्राणबल का आधान करता है, यजमान इस प्राणबल से सशक्त बन कर ब्राह्मण की संस्कृति को आततायियों के बाह्य आक्रमण से बचाते हैं, ब्राह्मण के बाह्य

लोक–जीवन की प्रणतभाव से रक्षा करते रहते हैं। एवमेव स्त्रियाँ रक्षासूत्र के द्वारा अपने पारिवारिक जनों में सौम्या–सत्त्वशक्ति का आधान करतीं हैं, इस रक्षा से रक्षित पारिवारिक बन्धुगण मातृशक्ति के बाह्य-भौतिक स्वरूप का संरक्षण करते रहते हैं। अतएव रक्षाबन्धनात्मक यह कर्म्म पारस्परिक रक्षाभावक का संग्राहक बना हुआ है। निष्कर्ष यही है कि, नारी में प्रतिष्ठिता अचिन्त्या मातृशक्ति से रक्षालाभ के लिए ही इनके वरद हस्तों से भी रक्षासूत्र बँधवाना लोकपद्धति में समाविष्ट हो गया है। इसी आधार पर पुराण में एक कथा प्रसिद्ध है कि—

"देवताओं, और असुरों में एकबार भयङ्कर संग्राम छिड़ गया। निरन्तर १२ वर्ष पर्य्यन्त यह युद्ध चलता रहा। किन्तु देवराज इन्द्र असुरों का पराभव न कर सके। जब इन्द्राणी को ये समाचार मिले, तो उसने तत्काल व्रतोपवासादि के अनुष्ठान से अपना शक्तिबल सञ्चित किया, उसे स्वाभिमन्त्रित रक्षासूत्र से समन्वित किया, एवं अपने हाथ से इन्द्र के दक्षिण हाथ में रक्षासूत्र बाँध दिया। फलस्वरूप इस रक्षाबल से रक्षित इन्द्र ने शीघ्र ही असुरों को परास्त कर विजयश्री का संवरण कर लिया" * (भविष्यपुराण)।

१०६–रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म के प्रति नारीमात्र की आधिकारिकता का समन्वय—

कथानक प्रमाणित कर रहा है कि, मातृशक्ति की प्राप्ति के लिए ही स्त्रियों के द्वारा भी रक्षाबन्धन-कर्म्म का सम्पादन अनिवार्य्य है। इसी कथानक से यह भी प्रमाणित होजाता है कि, इस रक्षासूत्र का सम्बन्ध पुरुषमात्र से है, फिर वह भाई हो, पिता हो, अथवा पति ही क्यों न हो। कारण स्पष्ट है। मातृभाव सभी स्त्रियों में सहजरूप से विद्यमान है। इसीलिए तो पति के लिए भी जाया (धर्म्मपत्नी) पूज्या मानी गई है धर्म्मशास्त्र में। इस मातृत्वशक्ति के बोध से अपरिचित मानव कालान्तर में अपनी इस सांस्कृतिक-निष्ठा से पराङ्मुख बन गया होगा। इस प्राकृत दशा में आजाने वाले मानव के लिए पत्नी केवल भोग्या ही बन गई होगी। और इसी सांस्कृतिक पतन के कारण नारी (पत्नी) के हाथ से रक्षासूत्र बँधवाना विलुप्त होगया होगा। किन्तु है यह तथ्य से विपरीत। कुछ ही समय पूर्व रूपनगर की राजकुमारी ने ब्राह्मण के द्वारा मेवाड़ के राणा के रक्षासूत्र बँधवाया था, जिसके संस्पर्शमात्र से उनकी क्षात्रशक्ति जागरूक हो पड़ी थी, एवं परिणामस्वरूप राजकुमारी के साथ राणा का परिणय सम्बन्ध हुआ था। ऐसी स्थिति में रक्षासूत्र का सम्बन्ध केवल भ्राता–पिता–आदि के साथ ही मानना लोकरूढ़िमात्र ही माना जायगा।

१०७-शकुन-ब्राह्मण-स्त्री–भेद से त्रितन्त्रात्मक रक्षाबन्धनकर्म्म—

अब इस पर्व से सम्बन्ध रखने वाला केवल एक प्रश्न और शेष रह जाता है, जिसका समाधान प्राप्त किए बिना पर्व का सर्वाङ्गीण समन्वय सम्भव नहीं बन सकता। अतएव दो शब्दों में उसका भी स्वरूप-विश्लेषण कर दिया जाता है। विषयारम्भ करते हुए यह निवेदन किया गया है कि, सांसारिक–विपत्तियाँ क्रमशः अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत-भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। यद्यपि पूर्वपरिच्छेदों में ब्राह्मण को इन तीनों विपत्तियों से मानवसमाज का त्राण करने वाला बतलाया गया है। तथापि अत्र एक विभिन्न दृष्टि-कोण से इन तीनों तापों का समन्वय अपेक्षित बन रहा है। **शकुन–ब्राह्मण–स्त्री**-इन तीन भावों को आधार मान कर इस नवीन दृष्टिकोण से समन्वय कीजिए त्रिविध तापों का, एवं तापनिवृत्त्युपायों का।

१०८--मानव का वैय्यक्तिक आधिदैविकताप, एवं शकुन--ब्राह्मण--स्त्री--भावों के आधारत्त्व--समन्वय का उपक्रम—

पञ्चपर्वा प्राकृतिक विश्व ही-'**आधिदैविकजगत्**' की मूल परिभाषा है। प्रकृति का विपरीत बन कर अतिवृष्टि–अनावृष्टि–महामारी–आदि विपत्तियों का सर्ज्जन करना हीं–'**आधिदैविकताप**' है। यह आधिदैविक ताप व्यष्टि–समष्टि रूप से दो भागों में विभक्त माना गया है। व्यक्तिगत पापाचरणों से व्यक्तित्वानुबन्धी प्रातिस्विक (वैय्यक्तिक) प्राकृतिक पर्व के विकम्पित हो जाने से जो आधिदैविक आपत्ति होती है, उसका केवल व्यक्ति से ही सम्बन्ध माना गया है, जिसका न समाज उत्तरदायी है, न सत्तातन्त्र। अतएव इस विपत्ति से त्राण प्राप्त करने के लिए स्वयं अपराधी मानव को ही प्रायश्चित्तरूपेण–शान्ति–स्वस्ति–कर्म्मों को अपनाना पड़ता है। सत्तातन्त्र की उपेक्षा से, अधर्म्माचरण से जब समाज में व्यापकरूप से अनाचार व्याप्त हो जाता है, तो इस दशा में प्रकृति का राष्ट्रानुबन्धी महान् पर्व विकम्पित हो पड़ता है। इस विकम्पन का कुफल सब को समूहरूप से भोगना पड़ता है। यही समष्ट्यात्मक आधिदैविक ताप माना गया है, जिसके प्रति प्रधानरूप से सत्तातन्त्र ही उत्तरदायी बना करता है, माना गया है। अतएव इसका प्रायश्चित्त भी सामूहिकरूप से सत्तातन्त्र ही को करना–कराना पड़ता है। इन दोनों श्रेणियों के आधिदैविक तापों में से प्रकृत में अभी हमें समझने मात्र के लिए वैय्यक्तिक–ताप को आधार मान कर ही शकुन–ब्राह्मण–स्त्री–इन तीन आधारों–निमित्तों का समन्वय करना है।

१०९–प्रतिकूलाकाशमण्डलानुबन्धिनी अपशकुनपरम्परा—

जिस व्यक्तिमानव के लिए इसके '**स्वस्वस्तिक**' से सम्बन्ध रखने वाला आकाशात्मक प्रकृतिमण्डल (आधिदैविकजगत्) विकम्पित–क्षुब्ध–रुष्ट हो जाता है, उस मानव के सम्मुख '**अपशकुनपरम्परा**' प्रादुर्भूत हो पड़ती है। पुरुष का वामाङ्गस्फुरण, स्त्री का दक्षिणाङ्गस्फुरण, यात्रा के समय रिक्तघट का साम्मुख्य, छिक्का, छाणादर्शन, आदि आदि अनेक अपशकुन आया करते हैं। स्वयं वेद में ऐसे अनेक अपशकुनों का विस्तार से स्वरूप–विश्लेषण हुआ है, जैसा कि भगवान् ऐतरेयने अपने आरण्यकग्रन्थ में कहा है कि–"सूर्य्य बिम्ब में छिद्र की प्रतीति, अपनी छाया में छिद्रदर्शन, दर्पण में भग्न आकृति की प्रतीति, आकाश का लाल दिखलाई देना, शरीर से दुर्गन्ध का निकलने लग जाना, आदि आदि महान् अपशकुन हैं मानव के लिए, जो मृत्युसदृश कष्ट की सूचना देनें वाले हैं"। (देखिए–ऐतरेयआरण्यक ३।२।४।)।

११०-अनुकूलाकाशानुबन्धिनी शुभशकुनपरम्परा—

ठीक इसके विपरीत पुरुष का दक्षिणाङ्ग-संस्फुरण, स्त्री का वामाङ्ग–संस्फुरण, जलपूर्ण घट का साम्मुख्य, आकाश की निर्मलता, वातावरण में शान्ति–स्वस्ति की अनुभूति, यात्राकाले गर्दभ की दक्षिण भाग में उपलब्धि, आदि आदि शुभशकुन उस माङ्गलिक मानव के सम्मुख आया करते हैं, जिसका आधिदैविक आकाशात्मक स्वस्वस्तिक सुशान्त बना रहता है इसके माङ्गलिक कर्म्मों से। इसप्रकार शुभ–अशुभ–शकुन–सूचनाओं के माध्यम से ही मानव को अपने वैय्यक्तिक आधिदैविकजगत् के शान्त–अशान्त–स्वरूपों की सूचना मिलती रहती है। अतएव इस 'शकुन' तत्त्व का अवश्य ही आधिदैविकजगत् से ही प्रधान सम्बन्ध माना जासकता है, माना गया है।

१११–आधिभौतिकजगत्–अनुबन्धिनी बहुत्वलक्षणा भूति, एवं तत्प्रतीकभूता नारी—

विद्याबलाधिष्ठाता ब्राह्मण से मानवसमाज को ज्ञानसम्पत्ति मिला करती है। इस ज्ञानबल से ही मानव का भूतात्मा अविद्यात्मक तामसिक आवरण को हटाने में समर्थ बना करता है। अतएव विद्याबलप्रदाता ब्राह्मण का अवश्य ही–'**आध्यात्मिकजगत्**' से सम्बन्ध माना जासकता है। पुत्र–कन्या–गृह–भाण्ड–वित्त–आदि आदि लोकैश्वर्य्य ही मानव का–'**आधिभौतिकजगत्**' माना गया है, जिसे * स्मृतिशास्त्र ने 'भूति' (बहुत्वरूपा भूतसम्पत्ति) नाम से व्यवहृत किया है। इन सब पारिवारिकी भूतियों-विभूतियों का मूलाधार दाम्पत्यभावप्रवर्त्तिका सहधर्म्मचारिणी जाया ही मानी गई है। यही 'बहुत्व' लक्षण भूमाभाव की जननी–संरक्षिका–परिवर्द्धिका है। इस 'बहुत्व' के कारण ही तो हमारे सांस्कृतिक–राजपत्तनप्रान्त में कुलनारी को–'**बहूजी**' (बहुत्वभावसम्पादिका) उपाधि से सम्मानित किया है। अतएव च भूतिप्रवर्त्तिका विभूतिमयी स्त्री का अवश्य ही मानव के 'आधिभौतिकजगत्' से सम्बन्ध माना जासकता है।

११२–दैविक–भौतिक–आत्मिक–तापत्रयप्रवर्त्तक एवं मङ्गलनिवर्त्तक–अपशकुन, तिरस्कृता नारी, मूर्ख ब्राह्मण, त्रिविध ताप–निवर्त्तक–मङ्गलप्रवर्त्तक–शुभशकुन–सत्कृता नारी–ज्ञानविज्ञाननिष्ठ–वेदवित् ब्राह्मण—

तदित्थं दैविक–आत्मिक–भौतिक–इन तीनों मानवीय तन्त्रों के साथ क्रमशः शकुन–ब्राह्मण–स्त्री–इन तीन वर्गों का सम्बन्ध–समन्वय अनुरूप बन जाता हैं। **अशुभशकुन, मूर्खब्राह्मण, तिरस्कृता स्त्री,** तीनों वर्ग जहाँ मानव के लिए त्रिविध–तापों के प्रवर्त्तक–सर्जक बने रहते हैं, वहाँ **शुभशकुन–विद्वान्ब्राह्मण-सम्मानिता कुलीना स्त्री**, तीनों मानव के लिए त्रिविध तापों के निवर्त्तक बने रहते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१ तापत्रयप्रवृत्तिरेतेभ्यः

१–अपशकुनानि—–आधिदैविकतापप्रवर्त्तकानि—सूचकानिच–ततः-सर्वसमृद्धिहानिः
२–मूर्खब्राह्मणाः——आध्यात्मिकतापप्रवर्त्तकाः—सूचकाश्च—ततः-क्षोभचिन्ताप्रवृत्तिः
३–असत्कृता नार्य्यः—आधिभौतिकतापप्रवर्त्तिकाः–सूचिकाश्च—ततः-गृहकलहप्रवृत्तिः

विनाशसाधनानि त्रीणि

——————*

२ तापत्रयनिवृत्तिरेतेभ्यः

१-शुभशकुनानि——दैविकतापनिवर्त्तकानि—सूचकानिच—ततः-सर्वसमृद्धेरागमनम्
२–विद्वांसो ब्राह्मणाः—आत्मिकतापनिवर्त्तकाः—सूचकाश्च—ततः-क्षोभचिन्तानिवृत्तिः
३–सत्कृता नार्य्यः——भौतिकतापनिवर्त्तिकाः——सूचिकाश्च—ततः-भूतकामसमृद्धिः

रक्षासाधनानि त्रीणि

---

*–तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
'भूति' कामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥
—मनुः ३।५९।

११३–शास्त्रीय आचारात्मक-शकुनपूजनकर्म्म, एवं मान्यतानुबन्धी–'सोणजीमण' रूप लोकाचार—

उपाकर्म्माङ्गभूत रक्षाबन्धनपर्व से मानवसमाज की दैविक–आत्मिक–भौतिक–इन तीनों विपत्तियों से रक्षा अभीष्ट है। यह तभी सम्भव है, जब कि इन तीनों से सम्बद्ध **शुभशकुन-विद्वान्ब्राह्मण-सत्कृता-नारी**,–तीनों से अनुप्राणित रक्षाकर्म्म को माध्यम बना लिया जाय। अतएव आध्यात्मिक–आधिभौतिक–तापों से संरक्षण प्राप्त करने के लिए जहाँ ब्राह्मणों से, तथा पारिवारिकी-स्त्रियों से रक्षासूत्र बँधवाना लोकसम्मत, अतएव आवश्यक है, एवमेव आधिदैविक उपद्रवों की शान्ति के लिए 'शुभशकुन' का पूजन भी इस रक्षाविधि में अनिवार्य्य ही अङ्ग बना हुआ है। क्या 'शकुन' भी कोई देवता है, जिसका पूजन किया जाय ?, इस प्रश्न की मीमांसा का यहाँ अवसर नहीं है। सांस्कृतिक–मानवने–**'देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनु-पूर्वशः'** के पूर्ण वैज्ञानिक परीक्षण के अनन्तर ही अभिमानी देवता की स्थापना की है। प्रत्येक भूत को देवभावदृष्टि से देखना तो यहाँ का सहज–जीवन है, जिसके संस्पर्श का भी उन केवल जड़वादियों को अधिकार नही मिल सकता, जो भारतीय प्राणात्मिका–देवविद्या से सर्वथा ही अपरिचित हैं। इस देवभाव के समसमन्वय के लिए तो अनन्यनिष्ठा से प्राणविद्यास्वरूपविश्लेषक वेदशास्त्र का चिरन्तन स्वाध्याय ही अपेक्षित है।

निवेदन प्रकृत में यही करना है कि, 'शकुनपूजन' भी रक्षाबन्धनकर्म्म का एक प्रमुख अङ्ग बन रहा है। अपने माङ्गलिक प्रासादों–आवासगृहों [घरों] के विभिन्न कोष्ठप्रकोष्ठों–तोरणद्वारों–पर महा-माङ्गलिक स्वस्तिक [साथिया]–माङ्गलिक फल-पुष्प–वृक्ष–देवनामादि अङ्कित कर इन अङ्कनचित्रों को ही–'शकुन' नाम प्रदान करती हुई भारतवर्ष की सांस्कृतिक–प्रजा इनका पूजन–सत्कार करना आवश्यक मानती आरही है। जो इत्थंभूत 'शकुनपूजन' ही हमारी प्रान्तीय-भाषा में-**'सोणजीमण'** नाम से प्रसिद्ध है, जिस कर्म्म का तात्पर्य्य है–जलप्रोक्षण, कुंकुमकेसरतिलकार्चन–अक्षत-आदि से इनका पूजन कर नैवेद्य-आचमन-के द्वारा इन्हें तृप्त करना।

११४–नवशिक्षादीक्षित–सुसभ्य–मानवों की विहङ्गमदृष्टि, और भारतीय आचार–

अवश्य ही वर्त्तमानयुग के नवशिक्षा-दीक्षित–सुसभ्य–मानव की दृष्टि में अन्यान्य भारतीय तत्त्वों की भाँति यह-'शकुन' भी एक जटिल–पहेली ही बन रहा होगा। निश्चयेन युगधर्म्म के महान् रहस्यवेत्ता ? अत्यन्त कर्म्मठ ?, अतएव अपने जीवन के प्रतिक्षण का मूल्याङ्कन कर उसे उपयोगी ? विज्ञानसिद्ध ? कार्य्यों में हीं व्यतीत करते रहने के महान् कौशल-प्रदर्शन में अभ्यस्त आज के सुसभ्यतम महाभागों की वैज्ञानिकी विशाला विहङ्गमा दृष्टि से तो यह उपाकर्म्म, यह डोरा बाँधना–बँधवाना, बालचपलतामात्र से अनुप्राणित यह शकुन–जिमाना–आदि आदि सभी कुछ तो इस देश की अन्धश्रद्धालु-अनपढ़-गँवार– प्रजा के अन्ध-विश्वासमात्र के ही तो दुष्परिणाममात्र ही हैं।

११५–पुराणशास्त्रविरोधी अर्वाचीन वेदनाममात्रभक्तों का भ्रान्त बुद्धिवाद–

तथाकथित सुसभ्य–मानव–महाभागों की ही भाँति इनकी सीमा का भी अतिक्रमण करने में महान् कुशल भारतवर्ष में हीं एक वर्ग दुर्भाग्य से ऐसा भी आविर्भूत हो पड़ा है, जो अपने आपको आलोमभ्यः–

आनखाग्रेभ्यः [आपादमस्तक] वेदभक्त मानता हुआ, मनवाने के लिए सदा ही आकुल-व्याकुल-क्षुब्ध-त्रस्त-संत्रस्त रहता हुआ आस्तिक प्रजा के इन वैज्ञानिक-पर्वोत्सवादि सांस्कृतिक-आयोजनों को **पौराणिक-गप्प**' कहता हुआ इतस्ततः दंद्रम्यमाण है। शिक्षित-सभ्य-गण पर्वोत्सवादि को निस्सार-निस्तत्त्व-मानकर इनके प्रति निरपेक्ष हैं, तो यह वेदभक्तसमाज इन्हें अवैदिक-पोंगापन्थी कह कर इनके उपहास में विभोर है। इन उभयविध भ्रान्त-पथिकों के उद्बोधन के लिए ही तो दो शब्दों में अनिच्छन्नपि 'शकुन' शब्द के चिरन्तन इतिहास का दिग्दर्शन करा देना प्रासङ्गिक बन रहा है।

११६--आधिदैविक--अखण्ड आकाश के वैय्यक्तिक भावानुबन्धी खण्डखण्डाकाश--

यह निवेदन किया जा चुका है कि,-'शकुन' का प्रधानरूप से प्राकृतिक-आधिदैविकजगत् से ही सम्बन्ध है। यों तो अपने प्रातिस्विक [निजी] स्वरूप से आकाश सर्वथा अखण्ड, अतएव एक ही है। किन्तु जैसे हृदय-शरीर-सौरजगत्-घट-पट-मठ-आदि आदि उपाधिभेदों के सम्बन्ध से [भाति की अपेक्षा से] अखण्ड भी आकाश के दहराकाश-हृदयाकाश-शरीराकाश--सौराकाश-परमाकाश--आदि रूपेण खण्ड-खण्डात्मक अनेक विवर्त बने हुए हैं, तथैव प्रत्येक मानव के '**खस्वस्तिक**' से सम्बन्ध रखने वाला एक भी अखण्ड भी परमाकाश मानवसंख्याओं के अनुपात से अनन्त-असंख्य-खण्डविवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है।

११७--मानवीय व्यानप्राणग्रन्थिसमन्वित खस्वस्तिक, और आकाश—

द्युलोक से उपलक्षित **पिता सूर्य्य**, एवं भूलोक से उपलक्षिता **माता पृथिवी**, इन दोनों के सुप्रसिद्ध **सावित्र**, तथा **गायत्र**-प्राणों के समसमन्वय से, दूसरे शब्दों में द्यावापृथिव्य इन्द्राग्निप्राणरसों के समन्वय से ही 'मानवशरीर' का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। अतएव-'**द्यौष्पितः पृथिविमातः**' इत्यादि रूपेण द्यावापृथिवी को जन्मदाता मातृपितृयुग्म की संज्ञा दे दी गई है। हृदयबिन्दु से आरम्भ कर प्रपदस्थानात्मक पाद-पर्य्यन्त व्याप्त मानव का आधा अधःशरीरप्रदेश पार्थिव गायत्र-आग्नेयरस की प्रधानता रख रहा है, एवं हृदय से आरम्भ कर शिखान्तस्थानोपलक्षित-'**नान्दनद्वाः**'-'**विद्दतिः**' आदि नामों से प्रसिद्ध, अष्टा-कपालात्मक शिरः--कपाल के उर्ध्वभाग में अवस्थित, सुषुम्णापथव्यवस्थापक ब्रह्मरन्ध्र-पर्य्यन्त व्याप्त मानव का आधा ऊर्ध्व-शरीरप्रदेश सौर-सावित्र--ऐन्द्ररस की प्रधानता रख रहा है। सौर--ऊर्ध्व भाग ही उत्तमाङ्ग कहलाया है, पार्थिव अधोभाग ही अधमाङ्ग कहलाया है, स्वयं हृदयस्थान वामनात्मक व्यानप्राणावच्छिन्न सर्वप्रतिष्ठारूप मध्यमाङ्ग माना गया है। पार्थिव अधःशरीर भूकेन्द्र से निरन्तर आकर्षित है, तो सौर ऊर्ध्व अधःशरीर सूर्य्यकेन्द्र से निरन्तर आकर्षित है। दोनों ओर के दोनों केन्द्रों से आकर्षित बना रहता हुआ मानव अपने मध्यमाङ्गरूप हृदयस्थ व्यानप्राण के समानाकर्षण से दोनों ओर के आकर्षणों से लाभ उठाता हुआ, इसी लाभ से प्राणात्-अपानत् (आदान-विसर्ग) कर्म्म का संग्राहक बनता हुआ दोनों के प्रवर्ग्यरसों को अपना जीवनीय 'ब्रह्मौदन' बनाता रहता है, एवं यही मानव की प्राणापानव्यानात्मिका जीवनधारा का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

११८-खस्वस्तिकरूप सौर आकाश, एवं अधःस्वस्तिकरूप पार्थिवाकाश—

स्पष्ट है कि, द्यावापृथिवी के मध्यान्तरित्त में अमूलरूप से विचरण करने वाले मानव का शरीर द्यावा-पृथिवीरस से विनिर्मित होता हुआ दोनों के केन्द्र से समानरूपेण आकर्षित हो रहा है। प्रत्येक मानव के ये दोनों केन्द्र ही विज्ञानभाषा में क्रमशः **खस्वस्तिक-अधःस्वस्तिक**-कहलाए हैं। मानव की स्वरूपरक्षा, इसके स्वस्ति-शान्ति-ऋद्धि-तुष्टि-पुष्टि-भाव तभी सम्भव हैं, जब कि दोनों केन्द्र स्वस्वरूप से अविचाली बने रहते हुए स्वस्ति-शान्ति-भाव में परिणत रहते हैं। दोनों के 'स्वस्तिभाव' से ही क्योंकि मानव की 'स्वस्ति' है, अतएव इन दोनों के लिए-'**स्वस्तिक**' शब्द नियत होगया है। इन दोनों की 'स्वस्ति' लक्षणा 'स्वस्तिकता' का यही तात्पर्य्य है कि, मानव के हृदयस्थ व्यान से सम्बद्ध सबके अपने प्रातिस्विक सौर-पार्थिव-जगत् उनके लिए अनुकूल बनें रहें।

११९-'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः' इत्यादि स्वस्तिक-भावस्वरूपसमर्पक यजुर्म्मन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय—

भुवनकोशात्मक भूगोल, तथा ज्योतिष्चक्रात्मक खगोल, दोनों प्राकृतिक गोल मानव के लिए अनुकूल बने रहते हुए ही इसके शान्ति-स्वस्त्ययन-पथों के कारण बना करते हैं। दोनों गोलों से इसी स्वस्तिकामना के लिए प्रकृतिरहस्य-परम्परानुप्राणिता आर्षप्रजा नें निदानविधि के माध्यम से **सौरस्वस्तिक, तथा पार्थिव-स्वस्तिक**, दो प्रकार के स्वस्तिक चिन्हों की कल्पना कर रक्खी है। लोक में दोनों हीं प्रकार के अधः-ऊर्ध्व भेद से विभिन्न भावापन्न-प्रतिरूपशिल्पात्मक स्वस्तिक प्रचलित हैं। 'स्वस्तिक' (साथिया) भारतीय संस्कृति की मङ्गलपरायणता का ही महान् प्रतीक है, जिसे आगे चल कर उन मतवादों नें भी ग्रहण कर लिया है, जो इन स्वस्तिकों की मूलसंस्कृति के स्वरूपबोध से अद्यावधि भी वञ्चित ही बने हुए हैं। यही तो भारतीय संस्कृति की वह सार्वभौमता है, जिसे न-न करते भी प्रकारान्तर से मान सभी रहे हैं अपने अपने मतवादों की कल्पित छाप लगा कर। सभी को प्रश्रय प्राप्त है इस महान् सांस्कृतिक अव्ययाश्वत्थवृत्त की वरदा अभया शीतल छाया में।

प्रश्न किया जासकता है कि, पृथिवी, तथा-सूर्य्य-गोलकों से अनुप्राणित अधः-स्व-भावानुगत स्वस्ति-भावों, किंवा स्वस्तिकभावों के साथ रेखाङ्कनविशेषात्मक 卐 इत्याकारक लोकचिन्ह का क्या सादृश्य?। स्वस्तिभाव तो आत्मशरीरानुगत शान्ति-स्वस्तिभाव का सूचकभावात्मक तत्त्व है। फिर उसके आधार पर अमुक आकारविशेषात्मिका रूपकल्पना कैसे, क्यों, और किस आधार पर करली गई?। प्रश्न का उत्तर है मानव का '**मूर्त्तमन**'। किसी आकारविशेष को आधार बनाए बिना मानवीय मन किसी भी तत्त्वविशेष के साथ समन्वित हो ही नहीं सकता। जिसप्रकार अचिन्त्य-अप्रमेय-निर्गुण, किन्तु गुणात्मक भी ब्रह्म की उपासना के लिए, मूर्त्तमन को उस अमूर्त्त ब्रह्म के प्रति आकर्षित करने के लिए उपासक की सात्त्विक-राजस-तामस-प्रकृति के अनुसार निदानभावों के आधार पर उपास्य की मूर्त्तिकल्पना-आकारकल्पना करली जाती है *, जिसप्रकार लोकशिक्षणपद्धति में भूगोल-खगोलों के स्वरूपबोध कराने के लिए कल्पित वृत्त बना लिए जाते हैं, ठीक इसी प्रकार मूर्त्त आकार की सीमा से बहिर्भूत भी पार्थिव-सौर-भावों से सम्बन्ध रखने वाले स्वस्तिभावों की मूर्त्त मन की स्थिरता के लिए आकारकल्पना करली जाती है। तदपि यह प्रश्न शेष रह ही जाता है कि, 卐 इसप्रकार

---

*-अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

के आकार की कल्पना ही क्यों की गई ? । प्रश्न यद्यपि तर्कदृष्ट्या महत्त्वशून्य है । तदपि भारतीय प्रज्ञा किसी भी प्रश्नकर्त्ता को असन्तुष्ट करना मानवधर्म्म के विरुद्ध मानती आई है । अतएव इस तथ्यहीन प्रश्न का भी एक तथ्यपूर्ण समाधान कर प्रश्नकर्त्ताओं का परितोष कर दिया जाता है । स्वयं वेदमर्षि के वचन के आधार पर ही इस प्रश्न का भी हमें तथ्यपूर्ण समाधान उपलब्ध हो रहा है । मन्त्र का अविकल स्वरूप यह है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
—**यजुःसंहिता २५।१६।**

मन्त्र का अक्षरार्थ तो स्पष्टतम है । दो शब्दों में मन्त्रार्थ से सम्बन्ध रखने वाली खगोलीया स्थिति का समन्वय भी कर लेना चाहिए । 'भचक्र' नाम से प्रसिद्ध खगोल में अश्विनी–भरणी–कृत्तिकादि २८ नक्षत्र मानें गए हैं । ३६० अंशात्मक खगोल में ये २८ सों नक्षत्र मेष–वृष–मिथुनादि राशियों के अनुपात से जिन खगोलीय महामार्गों में प्रतिष्ठित-व्यवस्थित हैं, वे तीनों मार्ग क्रमशः **ऐरावतमार्ग, जरद्गवमार्ग, वैश्वानरमार्ग,** इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं । प्रत्येक महामार्ग (राजपथ–सड़क) में तीन तीन वीथियाँ (गलियाँ) हैं, जो **'नाड़ीमार्ग'** नाम से प्रसिद्ध हैं । नवनाड्यात्मक–त्रिमहामार्गात्मक–खगोल में द्वादश राशियों के अनुपात से २८ नक्षत्र प्रतिष्ठित हैं, यहीं ग्रहदेवता भी यथास्थान प्रतिष्ठित रहते हुए अपने अपने वृत्तों पर परिभ्रममाण है, एवं यही समस्त खगोलवृत्त का एक सामान्य रेखाचित्र है ।

३६० अंशात्मक प्रत्येक वर्त्तुलवृत्त चतुर्भुज माना गया है । अतएव खगोलीय–वृत्त के भी ९०[1]–९०[2]–९०[3]–९०[4]–क्रम से चार विभाग उपकल्पित हैं, जिनसे सभी प्रज्ञाशील सुपरिचित हैं । इन चार चतुर्भुज बिन्दुओं के चार नक्षत्र आधार मान लिए गए हैं । आधारस्तम्भरूप उन चारों सुप्रसिद्ध **चित्रानक्षत्र, रेवतीनक्षत्र, श्रवणनक्षत्र, बृहस्पतिनक्षत्र,** * इन नक्षत्रों से खगोलीय चारों भुजाएँ व्यवस्थित बनीं हुईं हैं । **'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः'** इत्यादि मन्त्र इसी चतुर्भुजभाव का स्वरूपविश्लेषण कर रहा है । चित्रानक्षत्र के स्वामी **'इन्द्र'** मानें गए हैं, जो चित्राप्रमुख नक्षत्रमण्डल के श्रोत्राकाराकारित होने से–**'वृद्धश्रवाः'** (बड़े कान वाले) उपाधि से समन्वित हो पड़ते हैं । वृद्धश्रवा नामक इन्द्र से उपलक्षित चित्रानक्षत्र ही खगोल का प्रथम **पूर्वोपक्रम-बिन्दु** है । 'पूषा' नाम से प्रसिद्ध रेवतीनक्षत्र पूर्वस्थित चित्रानक्षत्र से ठीक षड्भान्तर पर, अर्थात् १८० वें अंश पर स्थित है । यही खगोल का दूसरा **पश्चिमोपसंहारबिन्दु** है । इसप्रकार चित्रानक्षत्र से आरम्भ कर रेवती-नक्षत्र पर्य्यन्त पूर्व, तथा पश्चिम–रूप से आकाशवृत्त में दो भुजाएँ सुप्रतिष्ठित हैं ।

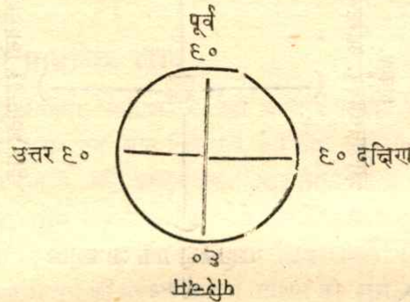
१२०–चतुर्भुजात्मक आकाशीय वृत्त का स्वरूप-समन्वय—

तार्क्ष्य नाम से प्रसिद्ध **'श्रवणनक्षत्र'** (जो कि वैदिक परिभाषा में–**'अधस्ताच्छ्रोणायाः'** रूप से–'श्रोणा' नाम से व्यवहृत हुआ है) खगोल का प्रथम **उत्तरोपक्रमबिन्दु** है । 'लुब्धकबन्धु' नाम से प्रसिद्ध

---

* बृहस्पति नामक ग्रह, लुब्धकबन्धु नामक बृहस्पति नक्षत्र, एवं पारमेष्ठ्य वाक्पतिर्बृहस्पति, रूप से तीन बृहस्पति हैं । प्रकृतमन्त्र में 'लुब्धकबन्धु' नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति ही गृहीत है ।

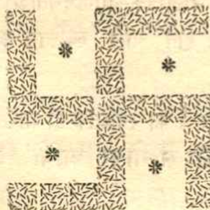
'**बृहस्पतिनक्षत्र**' इस श्रवणनक्षत्र से ठीक षड्भान्तर पर प्रतिष्ठित माना गया है। यही खगोल का द्वितीय **दक्षिणोपसंहारबिन्दु** है। इसप्रकार श्रवणनक्षत्र से आरम्भ कर बृहस्पतिनक्षत्र पर्य्यन्त उत्तर–दक्षिण–रूप से आकाशवृत्त में दो भुजाएँ प्रतिष्ठित हैं। यदि इन चारों वृत्तभुजाओं को समन्वित कर दिया जाता है, तो खगोलीय 'स्वस्तिक' का स्वरूप उत्पन्न हो जाता है। वर्त्तुलवृत्त बना लीजिए रेखाचित्र के रूप से। पूर्व से पश्चिम एक सीधी रेखा खैंच दीजिए, उत्तर से दक्षिण एक सीधी रेखा लेजाइए। दोनों रेखाओं से चार बिन्दु स्थापित हो जायँगे। यही चतुर्भुज वृत्त का स्वरूप माना जायगा—



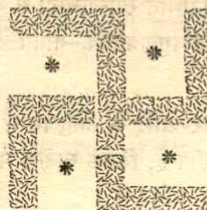
१२१–लोकाचारानुबन्धी द्विविध–स्वस्तिक–चिन्हों का नैदानिक प्रतिमात्त्व–समन्वय—

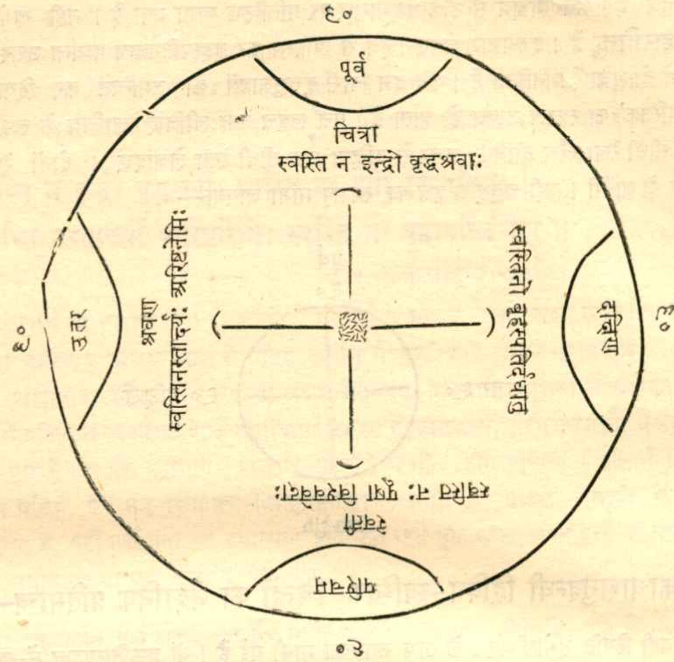
ठीक यही स्थिति भूगोलीयवृत्त के साथ समन्वित मानी गई है। यों प्रकृतिमण्डल में–खगोल–भूगोल–रूप से चतुर्भुजवृत्तात्मक दो स्वस्तिक सम्पन्न हो रहे हैं। दोनों का एक दूसरे के प्रति समसाम्मुख्य है–दक्षिणोत्तर रूप से। अतएव दो प्रकार के स्वस्तिक बन जाते हैं, जिसका अर्थ है दोनों का समसाम्मुख्य। इसी प्राकृत स्थिति के आधार पर चतुर्भुजभाव के द्वारा स्वस्तिकरूप माङ्गलिक चिन्ह बनाया गया है, जिस के L ꩜ ˥ इस रूप के कोण समसाम्मुख्य के ही सूचक बने हुए हैं। स्वस्तिक में रेखाएँ क्यों मोड़ दीं जातीं हैं ?, प्रश्न का यही समाधान है। यों यह भारतीय स्वस्तिक चिन्ह अपने प्रचलित–कल्पित भी आकार से प्राकृतिक–आकाशीय, तथा भौम–दोनों स्वस्तिकों की **नैदानिकी–प्रतिमा** बना हुआ है।

पार्थिवस्वस्तिमण्डलम्



सौरस्वस्तिमण्डलम्





प्राकृतिक 'स्वस्ति', किंवा 'स्वस्तिक' भाव के स्वरूपविश्लेषण के साथ साथ उक्त मन्त्र में स्वस्तिकामुक मानव की स्वस्ति के लिए स्वस्तिभावाधिष्ठाता इन्द्रादि चारों नाक्षत्रिक-प्राणदेवताओं से सम्बन्ध रखने वाले इस माङ्गलिक स्तुतिभाव का भी समावेश हो रहा है कि-"ये चारों प्राकृतिक नाक्षत्रिक देवता मानव के 'स्वस्तिक' रूप प्रातिस्विक आकाशात्मक आधिदैविकजगत् को सुशान्त बनाने का अनुग्रह करें, उसे सदा स्वस्ति-भाव में हीं प्रतिष्ठित रखने की कृपा करें"।

१२२-शुभशकुन का महान् प्रतीक भारतीय-सांस्कृतिक-स्वस्तिकभाव (साथिया)—

जिन त्रिविध-मातृभावों का पूर्व में यशोगान हुआ है, उनमें जीवनीयरसप्रदात्री तीसरी गौमाता के बिना भी रक्षाकर्म्म अपूर्ण ही रह जाता हैं। ब्राह्मण की मन्त्रविधि से जहाँ ज्ञानप्रदात्री सावित्रीमाता का संरक्षण समाविष्ट है, तद्द्वारा विनिर्म्मित स्वस्तिचिन्हों से जहाँ प्राकृतिक नाक्षत्रिक-प्राणदेवताओं का संरक्षण समाविष्ट है, वहाँ महामाङ्गलिक-सत्त्वगुणप्रवर्त्तक-गोमय के द्वारा निष्पन्न होने वाले स्वस्तिक * से जीवनीयरसप्रदात्री

* कुंकुम-केसर-आदि के समतुलन में गोमय (गोबर) का स्वस्तिक ही भारतीय-सांस्कृतिक परम्परा में विशेषरूपेण समादरणीय है, जिसके सम्बन्ध में-'**गाय गवाला से गोबर आयो**' इत्यादिरूपेण माङ्गलिक लोकगीतात्मक महासङ्गीत प्रसिद्ध है।

गौमाता के द्वारा प्राप्त होते रहने वाला रक्षाकर्म्म भी समाविष्ट है। तदित्थं–प्राकृतिक–आधिदैविक-पार्थिव, एवं सौर–आकाशात्मक 'स्वस्तिकवृत्त' के स्वस्ति-शान्ति–भाव में परिणत रहने पर ही मानव की वैय्यक्तिक–स्वस्ति-शान्ति सुरक्षित रहा करती है। अतएव भारतीय–शास्त्रीय, लौकिक–यच्चयावत् श्रौत–स्मार्त्त–लोकाचारात्मक माङ्गलिक कर्म्मों में '**स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः**' इत्यादिरूप से सर्वप्रथम शान्ति–स्वस्ति–वाचन होता है कर्म्मसम्पादक ब्राह्मण के द्वारा। जिसका प्राकृतिक आकाशात्मक–स्वस्ति स्वस्तिभाव में परिणत रहता है, वही शुभ–शकुनों का द्रष्टा बना करता है। अतएव इस स्वस्तिकचिह्न को भी आगे चल कर 'शुभशकुन' का महान् प्रतीक मान लिया गया है।

१२३–शुभसुचक कतिपय माङ्गलिक पदार्थ—

स्वस्तिभाव का सूचक जहाँ गोमय 'स्वस्तिक' है, वहाँ अन्यान्य कतिपय भूत–भौतिक–द्रव्य, प्राणीविशेष भी इसी स्वस्तिसूचना के कारण 'शुभशकुन' मान लिए गए हैं। ठीक इसके विपरीत जिन पदार्थों–प्राणियों–भावों से अशुभभाव प्रतिध्वनित होते हैं, उन्हें 'अशुभशकुन' मान लिया गया है। सुप्रसिद्ध–'**शकुनवसन्तराज**' आदि शकुनग्रन्थों में इन सब शुभाशुभ शकुनों का विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, और यों '**शकुनशास्त्र**' एक स्वतन्त्र शास्त्र ही बन गया है। उदाहरण के लिए '**छिक्काशकुन**' (छींक का सोण) को ही लक्ष्य बनाइए। दिग्विभाग के अनुपात से पूर्व की छिक्का अशुभ, पश्चिम की शुभ, उत्तर की कलहजननी, दक्षिण की कार्य्यविरोधिका, ईशानकोण की माङ्गलिक, अग्निकोण की अमाङ्गलिक, नैऋतकोण की श्रेय, वायव्यकोण की श्रेष्ठ, ऊर्ध्वादिक् की स्वस्ति, अधोदिक् की अस्वस्ति मानी गई है। भोजन–शयन–पान–आसन–स्थितियों की स्वछिक्का (अपनी छींक) शुभ मानी गई है *। शेष सभी स्वच्छिकाएँ भी अशुभ मानीं गईं हैं। यात्रावसर पर **गौ–ब्राह्मण–हस्ति–फल-अन्न–दुग्ध–दधि–श्वेतवस्तु, सर्षप, कमल, पुष्प, छत्र, कन्या, रत्न, उष्णीष (पगड़ी), श्वेतवृषभ, मद्य, सपुत्रा माता, दक्षिणावर्त्त प्रज्ज्वलित–अग्निदेव, दर्पण, अञ्जन, धौतवस्त्र, मत्स्य, घृत, सिंहासन, शव (मुर्दा), मधु, बकरी, गोरोचन, भारद्वाज ÷ (सोनचिड़ी), शिबिका [पालकी], वेदध्वनि, माङ्गलिक लोकगीतध्वनि, विष्ठापरिपूर्ण पात्र, देव-प्रतिमा, राजा, वरवधु, पूर्णघट, वामभागस्था चील,** आदि आदि का सामुख्य माङ्गलिक माना गया है।

१२४–अशुभसूचक कतिपय अमाङ्गलिक पदार्थ—

ठीक इसके विपरीत–**बन्ध्या [बाँझ] स्त्री, विधवा, चमड़ा, भूसा, हड्डी, सर्प, नमक, अङ्गार, नपुंसक [हींजड़ा], मार्गपतिता विष्ठा, तैल, पागल, चर्बी, औषधि [सम्पन्न दवा], शत्रु, मुण्डी सन्यासी, जटी, तृण, रुग्ण, नग्नमानव–मानवी, तैलाभ्यक्त–मनुष्य, क्षीणाङ्ग, हीनाङ्ग, अधिकाङ्ग, भिक्षुक, रजस्वला, कृकलास [किरकाँट], गैरिकवस्त्र [भँगवाँ कपड़ा], गुड़, तक्र [छाछ] पङ्क [कीचड़], कलहनिमग्न–कुटुम्बी, वस्त्र फाड़ता हुआ मनुष्य [बजाज], छाणा, मार्ज्जार [बिलाव-**

---

* छींकत खाइए, छींकत पीइए, छींकत रहिए सोय।
छींकत पर घर मत जाइए, चाहे–सरब सोना का होय॥

÷ खर ढाभा, विष जीमणा, साह्मी रूपाबेल।

बिल्ली], रिक्तघट, शवोपकरण [खप्पन-काठी], आदि आदि का साम्मुख्य अनुपात से अमाङ्गलिक माना गया है ।

१२५-वृष्टिविद्यानुगत शकुन, और घाघ-भड्डरी—

इन्हीं शुभाशुभशकुनों के आधार पर भारतीया 'कादम्बिनीविद्या' (वृष्टिविद्या) का लोकपक्ष व्यवस्थित हुआ है, जिस महत्त्वपूर्ण वृष्टिविद्या का अंशतः शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत-**आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म** में स्वरूपविश्लेषण हुआ है । राजस्थान के सुप्रसिद्ध जोधपुरप्रान्त में उत्पन्न लोकशकुनशास्त्र के महान् ज्ञाता कृषकराज घाघ भड्डुल, एवं आपकी पत्नी भड्डली—ने पारस्परिक आलाप-प्रसङ्गों में हीं वृष्टिविद्या-के सम्बन्ध में जो शुभाशुभ लोकशकुनसूत्र व्यवस्थित किए हैं, उनकी सार्थकता से आज के बड़े से बड़े भूतविज्ञान-वादी को भी आश्चर्य्य से स्तब्ध रह जाना पड़ेगा ×। अवश्य ही किसी राजस्थानभक्त को इस दिशा में स्वतन्त्र प्रयास—द्वारा उन सूक्तियों का सङ्कलन करना ही चाहिए ।

१२६-माङ्गलिक भावानुबन्धिनी स्वस्तिपरम्पराएँ, एवं श्रद्धाशीला आर्षप्रजा—

किस प्राकृतिक अमङ्गल—मङ्गल का किस प्राणी-द्रव्य-शब्द--भाव से कैसा--क्या सम्बन्ध है ?, सचमुच अस्मदादि प्राकृतिक मानवों के लिए तो यह दुरधिगम्य ही प्रश्न है । हम तो अपनी पारम्परिक आस्था-श्रद्धा के अनुग्रह से इस सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त मान रहे हैं कि, शुभाशुभशकुन अवश्य ही मानव के अधःस्वस्तिक-खस्वस्तिक-भावात्मक-आधिदैविक जगत् के शुभाशुभ--भावों के परिचायक बने हुए हैं । रक्षाबन्धनपर्व की तिथि-में-वर्ष में एक बार आर्षप्रजा शकुनों के अभिमानी शकुनदेवता का आराधन करना भी अपना महान् स्वस्त्ययनकर्म्म मानती आरही है ।

१२७-आस्था-श्रद्धा-विघातक तत्त्ववादविजृम्भण, एवं तदनुगामी आचारशून्य-प्राकृत-मानवों का शुष्क बुद्धिवाद—

वेद में क्या है ?, क्या नहीं है ?, इत्यादि शुष्कतत्त्ववादात्मक वागविजृम्भणों से इस आचार--शीला आस्तिक--प्रजा का कदापि कोई भी सम्पर्क नहीं रहा । नहीं ही रहना चाहिए । वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, जिन्होंनें अपने बुद्धि--मनः--शरीर--तन्त्रों को भावुकतावश अपनी आचारनिष्ठाओं से पराङ् मुख कर लिया है, अतएव जो आस्था-श्रद्धापूर्वक इन आचारधर्म्मों के संस्मरण में भी असमर्थ हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश भारतवर्ष में हीं भारतीय-आचारनिष्ठ--धार्म्मिक--समाज में हीं जन्मान्तरीय सुकृतों के अनुग्रह से जो उत्पन्न हो पड़े हैं, अतएव एकमात्र इसी सामाजिक अनुबन्ध से लोकलज्जावश जिन्हें इन आचारधर्म्मों को कर्णाकर्णिपरम्परया सुनने सुनाने का अवसर तो मिलता है, किन्तु जो इनके अनुगमन में अपने आपको सर्वथा असमर्थ प्रमाणित

× **सुक्करवारी बादली रही सनीचर छाय ।**
कह भड्डल सुण भड्डली बिन बरसें नहिं जाय ॥
तीतर पंखी बादली, विधवा काजल रेख ।
वा बरसे, वा घर करे, ईंमें मीन न मेख ॥

कर चुके है, ऐसे महारथी ही अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए 'तत्त्वजिज्ञासा' रूप महाभूत खड़ा करते रहते हैं। ऐसे महानुभाव ही–'**हम तो समझ लेगें, तब मानेंगे, करेंगे**' यह तर्काभास उपस्थित किया करते हैं। ऐसे ही व्यक्ति इस छल का आश्रय लेते रहने में भी लज्जित नहीं होते कि–"**वेदों में तो है नहीं ऐसा। यह तो रूढ़िवादी पुराणपन्थिओं की कल्पनामात्र है**। अतएव इन का मानना व्यर्थ है"।

१२८-श्रद्धाशून्य बौद्धिक विजृम्भण की आचारधर्म्मपराङ्मुखता—

कदापि ऐसे श्रद्धाशून्य तर्कवादी मानव इस आचारनिष्ठा के पात्र नहीं बन सकते। 'समझलेने पर ये करने लग पड़ेंगे' यह भी भ्रान्ति ही भ्रान्ति है। क्योंकि समझ लेना दूसरा पक्ष है, करना अन्य पक्ष है। बुद्धि का अंश–प्रत्यंश समझा तो देता है, किन्तु श्रद्धाशून्य मन ऐसे बुद्धिवादियों को आचारनिष्ट तो इस 'समझने के' अनन्तर भी करने के लिए कदापि सन्नद्ध नहीं होता। जानते हैं हम वैसे शुष्कबुद्धिवादियों को भी, जो मान तो गए हैं, किन्तु करने के लिए अब भी वे सन्नद्ध नही हैं। क्योंकि ऐसा करने लग पड़ने में उन शुष्क-बुद्धिवादियों को व्यक्तित्वविमोहनात्मक अपने काल्पनिक व्यक्तित्व के उच्छिन्न होजाने का भय सन्त्रस्त करता रहता है।

१२९-सर्वोपायेन संरक्षणीय श्रद्धातत्त्व, एवं तन्मूलक धर्म्माचरण—

क्यों? । इसलिए कि आचार का मूलप्रतिष्ठारूप श्रद्धारस कभी का सूख गया है इनका। स्मरण रखिए–संसार की सभी विभूतियाँ जाकर पुनः आजाया करतीं हैं। किन्तु दुर्बुद्धिवश यदि श्रद्धा का उत्क्रमण हो जाता है, तो उसका पुनरावर्त्तन असम्भव नहीं, तो असम्भवप्राय तो अवश्य ही बन जाता है। '**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**'-'**श्रद्धामयोऽयं पुरुषः**'-'**श्रद्धयार्चितमेव वा**'-'**श्रद्धा विश्वमिदं जगत्**'-'**श्रद्धा च नो मा व्यगमत्**' इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त वचन एकमात्र श्रद्धा को ही आचार का केन्द्रबिन्दु मान रहे हैं, जिसके समतुलन में शुष्क तत्त्ववाद का यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है। अतएव विधि-आचार–(करते रहना) ही यहाँ के धर्म्म की परिभाषा है।

१३०-तत्त्ववादव्यामोहन की निरर्थकता, एवं विध्यात्मक आचारधर्म्म की सार्थकता—

और इसीलिए विधिनिष्ठा–आचारधर्म्मपरायणा–भारतीया–श्रद्धाशीला–आर्षप्रजा की दृष्टि में '**वेद में क्या है, क्या नहीं है**' इन तात्विक–विजृम्भणों का कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व है इसकी दृष्टि में एकमात्र उस चिरन्तन परम्परा का, जो सदा से करती चली आरही है इन आचारों का श्रद्धापूर्वक अनुगमन। '**इति शुश्रूम धीराणां–येनस्तद्व्याचचक्षिरे**'–ही इसकी श्रद्धा का मूल बनता आरहा है। और इसीलिए हमें भी इस सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना है कि,–रक्षाबन्धनपर्वतिथि में क्योंकि शकुनपूजन परम्परया प्रक्रान्त है, अतएव इनकी वैदिकता–अवैदिकता के व्यामोहन से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हम तो यही मान कर इनका पूजन करते ही रहेंगे कि, अवश्य ही ये वेद से ही अनुप्राणित हैं। कहाँ है ?, यह ढूँढना हमारा काम नहीं है। करना हीं, करते जाना हीं हमारा धर्म्म है। जिन आप्त चिरन्तन पुरुषोंनें हमें ऐसा करने का, करते रहने का आदेश दिया है, हमारी निष्ठा है कि, उन्होंनें वेदसिद्ध तत्त्व के आधार पर ही आचारपद्धतियाँ–व्यवस्थित कीं हैं। सचमुच वे सुसूक्ष्म तत्त्व तो वैसे दुरधिगम्य हीं होंगे, जिन्हें सुन कर भी हम

क्या समझलेंगे ?, यह उन बुद्धिवादियों से ही पूँछना चाहिए, जो वेदभक्ति के काल्पनिक प्रदर्शन-व्यामोहनों से सनातनप्रजा की सनातन-आचारनिष्ठा पर आक्रमण करने जैसा महान् पाप-सञ्चित कर रहे हैं। आलम्यालम्।

१३१–शकुनपरम्परा के समर्थक कतिपय वेदमन्त्र—

हाँ--श्रद्धालु प्रजा के अन्तःकरण में इस संगदोष से इन आचारपरम्पराओं के सम्बन्ध में जो आंशिक स्खलन उत्पन्न हो पड़ा है, उसे अवश्य ही आचारधर्म्मों का पालन करते हुए ही समन्वय-चेष्टा में प्रवृत्त होजाना चाहिए, जिससे इसे कोई भी बुद्धिवादी दिग्भ्रान्त न कर सके। इसी दृष्टि से उसकी श्रद्धा के सम्मुख प्रकृत में भी कुछ एक वे मन्त्र उद्धृत कर दिए जाते हैं, जो शकुनपरम्परा की वैदिकता सर्वात्मना प्रमाणित कर रहे हैं। श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

(१)-कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्।
सुमङ्गलश्च शकुने! भवासि मा त्वा काचिदभिभा विश्व्या विदत्॥
(२)-मा त्वा श्येन उद्वधीन्मा सुपर्णो मा त्वा विददिषुमान्वीरो अस्ता।
पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत्सुमङ्गलो भद्रवादी वदेह॥
(३)-अव क्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमङ्गलो भद्रवादी शकुन्ते।
मानः स्तेन ईशत माघशंसो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥
(४)-प्रदक्षिणिदभि गृणन्ति कारवो वयो वदन्त ऋतुथा शकुन्तयः।
उभे वाचो वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानु राजति।
(५)-उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि।
वृषेव वाजी शिशुमतीरपीत्या सर्वतो नः शकुने भद्रमावद-
विश्वतो नः शकुने पुण्यमावद॥
(६)-आवदंस्त्वं शकुने भद्रमावद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः।
यदुत्पतन्वदसि कर्करिर्यथा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥

—ऋक्संहिता २ मण्डल, ४२–४३ वाँ सूक्त

१३२–'सुपर्णविद्या' मूलक 'शकुन' शब्द, एवं तद्द्वारा शकुनसमन्वय—

'शकुन' शब्द का अर्थ है–'पक्षी'। पक्षी--वाचक 'शकुन' शब्द का लोकानुबन्धी शकुनों के साथ कैसे सम्बन्ध हो पड़ा ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए तो सुप्रसिद्धा 'सुपर्णविद्या' का ही स्वाध्याय अनिवार्य्य माना जायगा। कदापि इस लोकमान्यतात्मक--भावुकतासंरक्षक--निबन्ध में उस विद्या की तत्त्वतालिका भी उद्धृत नहीं की जासकती। एतावन्मात्र जान कर ही हमें सन्तोष कर लेना पड़ेगा इस दिशा में कि, लोकव्यवहार में शकुन शब्द माङ्गलिक--सूचना का भी संग्राहक बन रहा है। दोनों शब्दों में अन्तर यही है कि, पक्षी--वाचक 'शकुन' शब्द पुंल्लिङ्गान्त (शकुनः) है, एवं शुभसूचनात्मक शकुनशब्द नपुंसकलिङ्गान्त

(शकुनम्) है * । जिसके पक्ष सशक्त हैं, वही शकुन है । तात्पर्य्य–पक्षियों की शक्ति का आधार पक्ष ही बने रहते हैं । पक्षविहीन पक्षी स्वस्वरूप ही खोदेता है । अतएव पक्ष ही इस प्राणी की शक्ति मानें गए हैं । अतएव इसे 'शकुन' (सशक्त पक्षयुक्त) कहा गया है । उक्त ऋक्संहितामन्त्रों में 'शकुन' शब्द पक्षिविशेष शकुन के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, जो शब्द आगे चल कर शुभाशुभसूचक अमुक पदार्थों के साथ भी समन्वित हो गया है । मङ्गलनिमित्तों का प्रधान–प्रथम–सूचक वेदमहर्षि की दृष्टि में पक्षिविशेष (शकुनचिड़ी–सोनचिड़ी–आदि नामों से लोक में प्रसिद्ध विशेष प्रकार का पक्षी–चिड़िया) ही है । अतएव वेद में उसी के ग्रहण से सम्पूर्ण शकुन संग्रहीत हो गए हैं ।

१३३–सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति, एवं उस की सुपर्ण–शकुन–(पक्षी)–रूपता—

वस्तुस्थिति यह है कि, मानवसंस्था का माङ्गलिक स्वरूप जिस भूतात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित है, जिसकी सत्ता से मानव शतायु बनता है, जीवनपर्य्यन्त–भद्र–भावों का अनुगामी बना रहता है÷, उस भूतात्मा से अधिक इस शरीरी मानव के लिए और अधिक माङ्गलिक–भाव क्या होगा ? । यह भूतात्मा चितिविज्ञान के अनुसार **'सप्तपुरुषपुरुषात्मकप्रजापति'** माना गया है, जिसमें चार आत्मा, दो पक्ष, एक पुच्छ-प्रतिष्ठा-ये सप्त प्राण समन्वित रहते है, जैसा कि-**'सप्तपुरुषोह्ययं पुरुषः–यच्चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा'** (शतपथ ६।१।१।७।) इत्यादि से प्रमाणित है । यही वह सुपर्ण (शोभन पक्ष वाला) **पक्षी** है, जो द्यावापृथिवीरूप आकाश में–(अर्णवसमुद्र में)–विचरण करता रहता है । यही उपनिषदों में–**'भोक्तासुपर्ण'** कहलाया है, जो **'साक्षीसुपर्ण'** से नियन्त्रित रहता है । ईश्वरात्मलक्षण साक्षीसुपर्ण, एवं जीवात्मरूप भोक्तासुपर्ण, दोनों सह–सखा हैं । उसी मानवीय हृदयाकाश में दोनों सयुक्सखा प्रतिष्ठित हैं ×। पार्थिव गायत्र तेज ही इसका बाह्य भौतिक स्वरूप है । अतएव गायत्री को भी सुपर्णपक्षी ही मान लिया गया है, जिसका कि–**'एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते'** मूलक धिष्ण्याब्राह्मण में विस्तार से निरूपण हुआ है ।

१३४–भारतीय माङ्गलिक गृहद्वार, एवं तदनुगत तोरणद्वारानुबन्धी सुपर्णपक्षी—

वक्तव्यनिष्कर्ष यही है कि, मानवीय भूतात्मा का बाह्य भौतिक–चिन्त्य स्वरूप 'सुपर्णपक्षी' रूपात्मक ही है । तभी तो लोकभाषा में इसके लिए–**'हँसा उड़ गया पिंजरा रह गया'** यह प्रसिद्ध है । यही जीवनीय तत्त्व

---

*–शकुन्तस्तु पुमान् पक्षिमात्र–पक्षिविशेषयोः ।
शुभशंसिनिमित्ते तु शकुनं स्यान्नपुंसकम् ॥
—मेदिनी

÷–जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्

×–द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
—ऋक्संहिता १।१६४।२०।

है, यही मानव का महान् मङ्गलभाव है । अतएव भारतीय मङ्गलाचारों में 'सुपर्णपक्षी' को महान् माङ्गलिक प्रतीक मान लिया गया है, जिसे गृहस्थद्वार में ऋद्धिसिद्धिप्रदाता भववान् गणपति के साथ ही समन्वित कर दिया जाता है विवाहादि अवसरों पर । तोरणद्वार (गृहमुख्यद्वार) में यह सुपर्णपक्षी ही प्रधान बना रहता है, जिसका अर्थ है—इस परिवार में सभी भाव जीवनीय–माङ्गलिक भावों से नित्य समन्वित हैं । सर्वप्रथम इसी का पूजन होता है, जो-'द्वारपूजन' नाम से लोकाचार में प्रसिद्ध है । **'तोरण सोवे रूड़ी चिड़कली'** यह लोक-सङ्गीत सुपर्णानुगता इसी वैदिक–मङ्गलपरम्परा का स्मरण कराता रहता है । वहाँ कराता रहता है, जहाँ भारतीय आचारपद्धतियाँ आज भी सुरक्षित हैं । यों भूतात्मरूप सुपर्ण की माङ्गलिकता का सम्बन्ध हुआ सर्वप्रथम पक्षि-विशेष शकुन के साथ । तदनन्तर शकुनपद्यनुगत यही मङ्गलभाव शुभसूचनात्मक अन्य पदार्थों के साथ समन्वित हो गया । पूर्वनिर्दिष्ट ऋग्वेदीय दोनों सूक्तों से शकुनपक्षीविशेष के द्वारा ही शुभशकुन की मङ्गल-कामना अभिव्यक्त हुई है, जैसाकि अक्षरार्थ से स्पष्ट है ।

१३५–शकुनतत्त्वविश्लेषक मन्त्रों का अक्षरार्थमात्रसमन्वय—

[१]—बार बार माङ्गलिक शब्द करता हुआ, भविष्य में घटित होने वाली शुभाशुभ घटनाओं को बतलाता हुआ कपिञ्जल–पक्षी कर्णधार की भाँति (नौका के खेवय्या सफल नाविक की भाँति) हमारी वाङ्-मयी–जीवनमयी–नौका को [संसारसमुद्र में सावधानी से] ले जारहा है । हे कपिञ्जल नामक शकुनपक्षिराज ! आप हमारे लिए मङ्गलसूचक [शुभशकुनसूचक] बनिए ! सम्पूर्ण दिशाओं में-स्वच्छन्दरूप से उड़ते हुए आप पर कोई आततायी आक्रमण न करे ॥

[२]—हे शकुने ! [आकाश में विचरण करते समय] आप पर हिंस्रक श्येन [बाज] आक्रमण न कर बैठे । अर्थात् आप से प्रबल बाजपक्षी आपकी हिंसा न कर डाले । लोक में–'सुपर्ण' नाम से प्रसिद्ध हो पड़ने वाला गरुड़पक्षी आपको न मार डाले, धनुर्द्धारी व्याध [शिकारी] आपको कभी प्राप्त न कर सके । इस प्रकार सम्पूर्ण आपत्तियों से आत्मत्राण करते हुए आप 'पितृदिशा' नाम से प्रसिद्ध दक्षिणदिशा में स्वच्छन्द विचरण करते हुए, बार बार मङ्गलवाणी-बोलते हुए हमारे लिए मङ्गलसूचक ही बनते रहें । [इसका दक्षिणा-वर्त्तरूपेण बोलना हीं तो शुभ माना गया है] ॥

[३]—हे शकुन्ते ! मङ्गलसूचक [शुभशकुनसूचक] बने रहते हुए आप हमारे आवास–निवास–गृहों [घरों] के दक्षिणदिक्भाग की ओर से ही मङ्गलशब्दों का उच्चारण करते रहें । [आपकी इस मङ्गलभावना के बल पर ही] तस्कर–दुष्ट–हिंस्रक–आततायी–वर्ग हमारा कोई भी किसी भी प्रकार का अनिष्ट न करें । इस प्रकार निर्विघ्न बन कर हम इस लोकसमाजजीवन में सर्वसमर्थ–सशक्त ही बने रहें ॥

[४]—हे शकुन्त ! समय समय पर अपनी मङ्गलमयी वाणी से सामगानकर्त्ता–उद्गाताओं की भाँति अन्नसम्पत्ति की सूचना देते हुए आप हमारे प्रदक्षिण ही बोलते रहें । [सचमुच] ये शकुन्तपक्षी भूपृष्ठ से अन्तरिक्ष में उड़ते हुए पार्थिव गायत्रसाम, तथा आन्तरिक्ष्य त्रैष्टुभसाम–स्थानीय दोनों लोकों की वाग्विभूति [भूतसम्पत्ति] ही हमारे लिए बोलते रहते हैं ॥

[५]—हे शकुने ! आप उद्गाता की भाँति हमारे लिए सामगान [मधु की वृष्टि] करते रहें । ब्राह्मणा-च्छंसी नामक ऋत्विक् की भाँति आप हमारे प्रातः–मध्याह्न–सायङ्कालीन–कर्त्तव्यकर्म्मों में ऋग्लक्षणा शस्त्र-

सम्पत्ति [उक्थरूप प्रतिष्ठाबल] का समावेश करते रहें। जिसप्रकार पुत्रवती बड़बा के समीप जाकर अश्व हर्षमय हिङ्कार करता है [हिनहिनाता है], तथैव आप भी हमारे समीप आकर मङ्गलमय निनाद करते रहें। हे शकुने ! आप सब ओर से [दसों दिशाओं से] हमारे लिए सदा ही—भद्रं ते ! भद्रं ते !! यह भद्रवाणी ही बोलते रहने का अनुग्रह करते रहें। सब ओर से हमारे लिए पुण्यं ते ! पुण्यं ते !! का ही उच्चारण करते रहें ॥

[६]—हे शकुने ! बोलते हुए आप हमारे लिए मङ्गलशब्द ही बोलिए ! बैठे हुए आप हमारी बुद्धि में प्रेरणाबल प्रदान कीजिए ! उड़ते हुए आप उसप्रकार से बोलिए, जैसे कर्करि बोलता रहता है। जिससे कि हम आपकी इस मङ्गलमयी वाणी से [मङ्गलमय बनते हुए] समाज में सर्वसमर्थ बने रहें ॥

१३६—रक्षाबन्धनपर्वस्वरूपेतिवृत्तविराम—

यह है—'**रक्षाबन्धनपर्व**' से सम्बन्ध रखने वाले भारतीय—सांस्कृतिक-आयोजन की संक्षिप्ता रूपरेखा, जिसे आज की भाषा में—'झलक'—किंवा—'झलकी' भी कहा जा सकता है। इस आयोजन को **उपाकर्म्मपर्व—रक्षाबन्धनपर्व—शकुनपूजनपर्व**—आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया जा सकता है, किया गया है। 'उपाकर्म्म' नामक कर्म्म **आत्मानुबन्धी** है। ब्राह्मणानुबन्धी रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म **बुद्ध्यनुबन्धी** है। नारीवर्ग के द्वारा सम्पादित शकुनपूजन, तथा रक्षाबन्धनकर्म्म **मनोऽनुबन्धी** है। एवं विविध व्यञ्जनायोजन—नारीवर्ग के द्वारा आयोजित—शिष्टाचारसम्मत-लोक—गीत—वाद्य—आदि आदि परिशिष्टकर्म्म '**शरीराऽनुबन्धी**' कर्म्म हैं। यों यह पर्वात्मक आयोजन भी आत्मा—बुद्धिः—मनः—शरीरानुबन्धी—चारों भावों का संग्राहक बनता हुआ अपने मुख्य नाम—'पर्व' के साथ साथ उत्सव-सम्मेलन—समारोह—इन तीनों नामों से भी अङ्गतः—अंशतः समन्वित हो रहा है।

१—ब्राह्मणानुगतं—उपाकर्म्म — आत्मानुगतं—रक्षाबन्धनपर्व—

२—ब्राह्मणकृतं— रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म —बुद्ध्यनुगतः—रक्षाबन्धनोत्सवः

३—नार्य्यनुगतं—शकुनपूजनं, रक्षाबन्धनश्च—मनोऽनुगतं—रक्षाबन्धनसम्मेलनम्

४—नारिबालानुगतं-लोकगीतादिभोजनादि—कर्म्माणि—शरीरानुगतः—रक्षाबन्धनसमारोहः

१३७—भारतीय—'सांस्कृतिक—आयोजनों' के माध्यम से सांस्कृतिक वैभव का माङ्गलिक संस्मरण—

भारतराष्ट्र के—पर्व, उत्सव, सम्मेलन, समारोह-नामक सभी सांस्कृतिक-आयोजन प्रकृतिसिद्ध नित्यज्ञानानुगत नित्यविज्ञानधरातल पर ही सुप्रतिष्ठित हैं, जिनके स्वरूप को विस्मृत कर भारतराष्ट्रने सचमुच ही अपना सम्पूर्ण सांस्कृतिक-वैभव भुला दिया है। प्रतीच्य शिक्षा-भूतसभ्यता के अन्धानुकरण के निग्रह से अपने सांस्कृतिक-स्वरूप को विस्मृत कर देने में निपुण महानुभावोंनें अपने राष्ट्र की महान्-मङ्गलमयी **आत्मशान्ति-बुद्धितृप्ति-मनस्तुष्टि-शरीरपुष्टि**--प्रवर्त्तिका आयोजनपद्धतियों की उपेक्षा कर सम्पूर्ण राष्ट्र को ही आज समृद्धिविहीन बना डाला है, अथवा तो कल्पित आयोजनों से बना देने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं, इससे अधिक राष्ट्र की सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-निष्ठा का और क्या अधिक पतन होगा ? । रक्षाबन्धनकर्म्म के अभिमानी देवता से हमारी यही कामना है प्रणतभाव-

पूर्वक कि, वे अनुग्रह कर हमें सद्बुद्धि प्रदान करें, जिसके बल पर हम अपने राष्ट्र के मूलभूत-सांस्कृतिक-हृदय के संस्पर्श से अपने विलुप्त सांस्कृतिक-राष्ट्रवैभव को पुनः प्राप्त करने में सर्वात्मना समर्थ बन सकें। रक्षा-देवता के सहचारी देवताओं से पुनः सर्यान्त में हम यही कामना अभिव्यक्त कर देते हैं चिरन्तनसूक्तियों के माध्यम से, जो सनातनजगत् में-'रक्षासूक्ति' नाम से ही प्रसिद्ध है।

१३८-आर्य्यसर्वस्वशास्त्रानुगत (पुराणानुगत) रक्षाबन्धनपर्वात्मक रक्षाकवच—

'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः ॥
तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे मा चल चल ॥१॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्चान्यैश्च मानवैः ॥
कर्त्तव्यो रक्षणाचारो विप्रान् सम्पूज्य भक्तितः ॥२॥
अनेन विधिना यस्तु रक्षिकाबन्धमाचरेत् ॥
स सर्वदोषरहितः सुखं सम्वत्सरं वसेत् ॥३॥
कृत्यानां प्रतिघातार्थं तथा रक्षोभयस्य च ॥
रक्षाकर्म्म करिष्यामि ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥४॥
नागाः पिशाचा गन्धर्वाः पितरो यक्षराक्षसाः ॥
अभिद्रवन्ति ये वै त्वां ब्रह्माद्या घ्नन्तु तान् सदा ॥५॥
पृथिव्यामन्तरिक्षे च ये चरन्ति निशाचराः ॥
दिक्षु वास्तुनिवासाश्च पान्तु त्वान्ते नमस्कृताः ॥६॥
पान्तु त्वां मुनयो ब्राह्मया दिव्या राजर्षयस्तथा ॥
पर्वताश्चैव नद्यश्च सर्व्वाः, सर्वेऽपि सागराः ॥७॥
अग्नी रक्षतु ते जिह्वां, प्राणान् वायुस्तथैव च ॥
सोमो व्यानमपानन्ते पर्जन्यः परिक्षतु ॥८॥
उदानं विद्युतः पान्तु, समानं स्तनयित्नवः ॥
बलमिन्द्रो बलपतिर्मनुर्मन्ये मतिं तथा ॥९॥
कामांस्ते पातु गन्धर्वाः, सत्त्वमिन्द्रोऽभिरक्षतु ॥
प्रज्ञां ते वरुणो राजा, समुद्रो नाभिमण्डलम् ॥१०॥
चक्षुः सूर्य्यो, दिशः श्रोत्रे, चन्द्रमा पातु ते मनः ॥
नक्षत्राणि सदा रूपं, छायां पातु निशास्तव ॥११॥

रेतस्त्वाप्यायन्त्वापो, रोमाण्योषधयस्तथा ॥
आकाशं खानि ते पातु, देहं तव वसुन्धरा ॥१२॥

वैश्वानरः शिरः पातु, विष्णुस्तव पराक्रमम् ॥
पौरुषं पुरुषश्रेष्ठो, ब्रह्मात्मानं, ध्रुवो भ्रुवौ ॥१३॥

एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः ॥
एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥१४॥

स्वस्ति ते भगवान् ब्रह्म, स्वस्ति देवाश्च कुर्वताम् ॥
स्वस्ति ते चन्द्रसूर्य्यौ च स्वस्ति नारद-पर्वतौ ॥१५॥

स्वस्त्यग्निश्च वायुश्च स्वस्ति देवाः सहेन्द्रगाः ॥
पितामहकृता रक्षा स्वस्त्यायुर्वर्द्धतां तव ॥
"ईतयस्ते प्रशाम्यन्तु सदा भव गतव्यथः" ॥१६॥

उपरता चेयं-ब्राह्मणानुगता

रक्षाबन्धनपर्वस्वरूपमीमांसा प्रथमा

१

—✻✻—

श्रीः

तृतीय प्रकरणान्तर्गत—

आत्मनिष्ठ–राष्ट्रसंरक्षक–ब्राह्मणानुगत
राष्ट्रीय–'रक्षाबन्धनपर्व'
उपरत



श्रीः

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व

विजयदशमी

(बुद्धिनिष्ठ–राष्ट्ररक्षक–क्षत्रियानुगत पर्व)

२

तत्रैते विषया–निरूपिता द्रष्टव्याः–

१–'निगमागम' शब्दों का चिरन्तन इतिहास

२–'विद्या' शब्द का चिरन्तन इतिहास

३–'दशमहाविद्या' शब्द का चिरन्तन इतिहास

४–'विजयदशमी'–पर्व का संक्षिप्त इतिवृत्त



श्रीः

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक–राष्ट्रीय–पर्व
विजयदशमी

२

तत्र–(१)–'निगमागम' शब्दों का चिरन्तन इतिहास
नामक–प्रथम विषय

१–निगमागमशास्त्रमूलकं–किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्—

ब्रह्मबलानुगता सर्वविधा आभ्यन्तराक्रमणरक्षाओं से अनुप्राणित '**रक्षाबन्धनपर्व**' जहाँ ब्राह्मणवर्ण-प्रधान है, वहाँ पौरुषबलानुगता लोकविधा बाह्याक्रमणरक्षाओं से अनुप्राणित '**विजयदशमीपर्व**' क्षत्रियवर्ण-प्रधान माना गया है, जैसाकि आयोजनोपक्रम–स्थलों में यत्र–तत्र स्पष्ट किया जाचुका है। आभ्यन्तररक्षाकर्म्म का अधिष्ठाता **वर्चतेजोमय** ब्राह्मण माना गया है, एवं बाह्यरक्षाकर्म्म का अधिष्ठाता **भ्राजतेजोमय** क्षत्रिय (किंवा तत्-प्रतीकभूत सत्तातन्त्र) माना गया है। ब्राह्मतेज ही वर्च है, क्षात्रतेज ही भ्राज है। वर्च से ब्राह्मण **वर्चस्वी** बना रहता है, भ्राज से क्षत्रिय **विभ्राट्** बना रहता है। वर्चस्वी ब्राह्मण के आभ्यन्तर रक्षाकर्म्म का मूलाधार-शास्त्र जहाँ–'**निगमशास्त्र**' कहलाया है, वहाँ विभ्राट् क्षत्रिय के बाह्य रक्षाकर्म्म का मूलाधारशास्त्र '**आगमशास्त्र**' माना गाया है। भारतीय आस्तिकप्रजा में इतिहास (वाल्मीकिरामायण–महाभारतादि), एवं पुराण की भाँति निगम–आगमशास्त्र भी सुप्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण शास्त्रों की मूलप्रवर्त्तिका क्योंकि 'ऋषिप्रज्ञा' ही है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण रक्षाकर्म्मों का साक्षात्रूप से, तथा परम्परया ऋषिकल्प ब्राह्मणों से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। और इस दृष्टि से तो आगमशास्त्र को मूलाधार बनाने वाले विभ्राट्तेजोमय क्षत्रिय का बहिरङ्गरक्षात्मक कर्म्म भी परम्परया ब्राह्मणानुगत रक्षाकर्म्म ही माना जाना चाहिए, माना गया है, जैसाकि–'**तत् क्षत्रे एव यशो दधाति**' इत्यादि रूप से पूर्व के 'रक्षाबन्धनकर्म्म' में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। जिसका विस्पष्टतम तात्पर्य्य यही है कि, निगमशास्त्रवत् आगमशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली रहस्यपूर्ण 'रक्षाविधि' का भी सम्पादन आगमीय–पर्वात्मक '**नवरात्र**' पर्वावसरों पर नैष्ठिक ब्राह्मण ही करते रहते हैं। इनके द्वारा सम्पादित–अर्जित–पुञ्जीभूत शक्तिबल से सशक्त बन कर ही राष्ट्रीय सत्तातन्त्र असुरबुद्धि–आक्रान्ता–आततायीवर्ग का समूल विनाश करनें में समर्थ बनता हुआ तदुपलक्ष में '**विजयमहोत्सव**' मनाया करता है। इति नु निगमागमशास्त्रमूलकं किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्।

२–विजयदशमीपर्वसम्बन्धी विजिज्ञास्य निगमागमभाव—

'विजयदशमीपर्व' से सम्बन्ध रखने वाले तथाकथित प्रास्ताविक में **निगम–आगम**, इन दो नवीन शब्दों का उल्लेख हुआ है। क्योंकि बिना इन दोनों शब्दों के चिरन्तन–इतिहास–समन्वय के क्षत्रियानुगत विजयदशमीपर्व के मूलाधारभूत आगमशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली 'शक्ति' का स्वरूपबोधाभास भी असम्भव है। अतः सर्वप्रथम इन दोनों नवीन–शब्दों के न्यूनतम अक्षरार्थमात्र की ओर तो आयोजनप्रेमियों का ध्यान आकर्षित कर देना आवश्यक ही बन रहा है।

३-गुरुमुखानुगता-रहस्यबोधानुप्राणिता-निष्ठापद्धति—

'न्यूनतम अक्षरार्थमात्र की ओर' वाक्य हमनें यहाँ एक विशेष दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिए उद्धृत किया है। वस्तुस्थिति कुछ ऐसी है कि, अपनी रूक्षा--कर्कशा--वेदाभ्यासजड़मति के निग्रहात्मक अनुग्रह से मातृवात्सल्यरसाप्लुता--अत्यन्त रसपरिपूर्णा-शक्तितत्त्वानुगता-आगमशास्त्रानुगता-रहस्यपूर्णा-सुसूक्ष्मा--पारम्परिक-सुगुप्त-पद्धतियों के ज्ञानलव से भी यह अज्ञजन सर्वथा ही अपरिचित है। आम्नायाचार्य्यों के द्वारा इस सम्बन्ध में परम्परया यही सुना जारहा है कि, यह **'रहस्यात्मक-बोधानुग्रह'** तो आम्नायपरम्परा में शास्त्रविधि से दीक्षित आम्नायनिष्ठ महाभाग्यशाली को ही प्राप्त हुआ करता है। कदापि वैखरी वाणी के द्वारा इस आगमीय--रहस्य का अंशतः दिग्दर्शन भी तो सम्भव नहीं है मादृश आम्नायपथासंस्पृष्ट अज्ञजन के द्वारा। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, इस सम्बन्ध में तो 'अक्षरार्थमात्र' की घोषणा कर बैठना भी हमारी युगधर्म्मानुगता महती धृष्टता ही मानी जायगी। इस आगमीय रहस्य के सम्बन्ध में तो आगमाचार्य्यों का–**'तद्गुरुमुखादेवावगन्तव्यम्'** लक्षण पथ ही एकमात्र सुनिश्चित पथ है। नान्यः पन्था विद्यते--अयनाय।

४-आगमाचार्य्यों से क्षमायाञ्चा—

सांस्कृतिक--अभिभवात्मक--आपत्तिकाल के निग्रह से ही अपनी अज्ञता से सम्बन्ध रखने वाली भावुकता का क्योंकि–**'आपत्तिकाले मर्य्यादा नास्ति'** रूपेण संवरण नहीं हो रहा है। अतएव गच्छतः--स्खलनरूप से, साथ ही आगमनिष्ठ--महामहिम--वैराग्यपदाधिरूढ आगमाचार्य्यों से इस धृष्टता के लिए क्षमायाञ्चा करते हुए ही निगम--आगम--शब्दों के अक्षरार्थमात्र का दुस्साहस कर लिया जारहा है। अत्यन्त ही अवधानपूर्वक-परिपूर्ण-आस्था-श्रद्धा के साथ ही अक्षरार्थ को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह करना चाहिए शक्तिप्रेमियों को। क्योंकि आस्थासमन्विता श्रद्धा ही आगमशास्त्र की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। अनन्यनिष्ठया श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

५-ऋषिदृष्ट निगमशब्दब्रह्म, एवं आगमब्रह्मशब्द का उपक्रम—

आत्मानुगता, सत्त्वबुद्धिसमन्विता संविद्भावानुगता निष्ठानुगता, अतएव निश्चित--निर्णीत--निर्भ्रान्त-विवेक से अनुप्राणिता विचारकक्षा के परपारगामी, ज्ञानसहकृत-विज्ञानपाथोधि के अन्तस्तल पर पहुँचे हुए विदितवेदितव्य, अधिगतयाथातथ्य महामहिमशाली आप्त महर्षियोंनें भारतीय शब्दब्रह्म का **निगमशब्दब्रह्म, आगमशब्दब्रह्म,** रूप से दो विवर्त्तभावों-महिमाभावों में साक्षात्कार किया है। 'शब्द' शब्द से आज का भूतविज्ञानसंस्कारसमन्वित भारतीय मानव जिस श्रोत्रग्राह्य ध्वनिविशेष का ग्रहण कर रहा है, तत्त्वदृष्टि से प्रकृत में कदापि वह ऐन्द्रियक-श्रोत्रग्राह्य 'शब्द' अभिप्रेत नहीं है। अपितु सांख्यशास्त्र में जिस सुसूक्ष्म-अपञ्चीकृत-सर्वादिभूत-गुणभूत को-**'शब्दतन्मात्रा'** कहा गया है, जिस शब्दतन्मात्रारूप पहिले गुणभूत से ही पाँचों भूतों के आदिभूत प्रथम **'आकाशभूत'** का व्यक्तीभाव हुआ है, वह प्राणात्मक नित्यशब्द ही यहाँ **'शब्दब्रह्म'** नाम से व्यवहृत हुआ है, जिससे सम्पूर्ण भूत-**भौतिक**-मर्त्य-क्षरप्रधान-विश्व का प्रादुर्भाव हुआ है।

६–निगमागमशब्दब्रह्म की विस्मृति, और हमारा सांस्कृतिक अधःपतन—

राजर्षि मनुने जिस 'वेदशब्द' से नामरूपकर्म्ममयी विश्वसंस्थाओं का आविर्भाव बतलाया है *, वह वेदशब्द कोई–'क-च-ट–त-पा' दिरूपात्मक–श्रोत्रग्राह्य वेदशब्द नहीं है । अपितु इन शब्दग्राह्य मन्त्रशब्दात्मक वेदों के द्वारा सङ्केतित सुसूक्ष्म तत्त्वात्मक जो गुणभूतप्रवर्त्तक नित्यकूटस्थ वेदशब्दब्रह्म है, जिसे 'अपौरुषेय' कहा गया है, जो पञ्चतन्मात्राओं का भी सर्जक ÷ है, वह नित्यशब्दब्रह्म ही यहाँ निगमागमशब्दब्रह्म से परिगृहीत है, जिस इस रहस्यात्मक चिरन्तन–सांस्कृतिक तथ्य को विगत तीन सहस्रवर्षों से केवल प्रतीकधर्म्मों में हीं अभिनिविष्ट बनी रहने वाली भारतीय–आस्तिक प्रज्ञा ने सर्वात्मना विस्मृत कर अपना ज्ञानविज्ञानात्मक सभी सांस्कृतिक–गौरव विस्मृत कर लिया है ।

७–स्मृति के–'वेदशब्देभ्य एवादौ' का वाङ्मय समन्वय—

श्रोत्रग्राह्य–वैखरीवाणीरूप–'शपं ददाति' लक्षण लोकप्रसिद्ध शब्दरूप कार्य्य का जो कारणात्मक सुसूक्ष्म 'शब्द' है, वही सङ्केतभाषा में–'वाक्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । वागरूप शब्द ही शब्दब्रह्मात्मक कारणब्रह्म है, जिससे संयोग–विभाग, तथा शब्द से उत्पन्न त्रिविध कार्य्यरूप शब्दों का आविर्भाव हुआ है । कार्य्य क्योंकि कारण की सत्ता से अभिन्न है । एकमात्र इसी अभिन्नतादृष्टि से राजर्षि मनुने **'वेदवाग्भ्यः'** के स्थान में–**'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्म्ममे'** यह कह दिया है । कारणात्मक वेदशब्द वस्तुगत्या मनःप्राणगर्भिता वह नित्या स्वायम्भुवी अनादिनिधना वाग्देवी ही है, जिसके आधार पर ही सम्पूर्ण विश्व, विश्वगर्भीभूत देव–गन्धर्व–पशु–मनुष्य–आदि आदि प्रजासर्ग उपजीवित हैं । इसी नित्या स्वायम्भुवी वेदवाक् का यशोगान करते हुए महर्षिने कहा है—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

—तै० ब्रा० ।

८–वाग्ब्रह्म के द्वारा शब्दब्रह्म का आविर्भाव, एवं त्रिविध शब्द—

मनःप्राणगर्भिता सत्या वाक् वैसा शान्त समुद्र है, जिसमें प्रतिष्ठित विविध बलभावों के आविर्भाव–तिरोभावात्मक अभिक्रम–प्रक्रम–व्यूहनों से वीचियाँ (तरङ्गें) प्रवाहित होतीं रहतीं हैं । इन वाग्वीचियों के साथ सम्बद्ध वायव्य प्राण से ही त्रिविध श्रोत्रग्राह्य शब्दों का आविर्भाव होता रहता है, जैसा कि–**'वायुः खान,**

---

*–सर्वेषां तु स नामानि, कर्म्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥ (मनुः १।२१।)

÷–शब्दः-स्पर्शश्च–रूपं च–रसो–गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः ॥ (मनुः १२।६८।) ।

शब्दस्तत्' इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। 'संयोग-विभाग-शब्द', इन तीन माध्यमों के द्वारा वायुसहयोग से वाक्समुद्र में तरङ्गों का व्यक्तीभाव होता है। वे तरङ्गें हीं सहज प्रवाह के कारण प्राणी की कर्णशष्कुलियों पर आतीं हुईं तत्र स्थित प्रज्ञानमन से परिगृहीत होतीं हुईं शपात्मक-आक्रोशात्मक-आघात के द्वारा शब्दरूप में परिणत हो जातीं हैं, जैसाकि अणुदर्शन के-**'संयोग-विभाग-शब्देभ्यः-शब्दोत्पत्तिः'** (वैशेषिकदर्शन) इत्यादि सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। धरातल पर पदाघात-हस्ताघातादि से जो शब्द उत्पन्न होगा, उसे **'संयोगजशब्द'** कहा जायगा। कागज फटनें से, लकड़ी चीरने से जो शब्द होगा, वह **'विभागजशब्द'** कहा जायगा। एवं किसी के शब्दोच्चारण से उत्पन्न वीचि से परम्परया कर्णशष्कुली पर समागत वीचिरूप शब्द से उत्पन्न शब्द-**'शब्दजशब्द'** कहलाएगा। और शब्दोत्पत्ति के वायुसहयोगी ये तीन प्रकार ही मुख्य मानें जायँगे, मानें गए हैं। जिस इस शब्दोत्पत्तिविज्ञान की विशद व्याख्या उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-द्वितीय, तृतीय-खण्डों में ही द्रष्टव्या है। प्रकृत में तो इस सम्बन्ध में हमें केवल यही निवेदन कर देना है कि, निगमशब्दब्रह्म से तात्पर्य्य है-**निगमवागब्रह्म**, एवं आगमशब्दब्रह्म से तात्पर्य्य है-**आगमवागब्रह्म**।

९-निगमानुगमानुगत वागब्रह्म का तात्पर्य्यार्थसमन्वय—

क्या तात्पर्य्य हुआ निगमानुगमानुगत 'वागब्रह्म' का ?, प्रश्न जहाँ सहज है, वहाँ तत्समाधान उस तत्त्वात्मक वेद के मौलिक स्वरूप पर ही अवलम्बित है, जिसके लिए हमें १५०० पृष्ठात्मक स्वतन्त्र ही निबन्ध प्रकाशित करना पड़ा है। अतएव तत्सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा रखने वाले सांस्कृतिक-आयोजनों के प्रेमियों से हम साग्रह आवेदन करेंगे कि, शताब्दियों से ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियों से, न्यूनतम तीन सहस्राब्दियों से तो अवश्य ही विलुप्तप्राय वेद के मौलिक-स्वरूप के समन्वय के लिए एकबार अवश्य ही तन्निबन्ध पर अधिक नहीं, तो दृष्टिपात का अनुग्रह तो अवश्य ही कर लेना चाहिए। क्योंकि इस विषयान्तरानुगामी प्रस्तुत निबन्ध में वेदतत्त्वानुगत नित्य वागब्रह्म का सामान्य दिग्दर्शन भी सम्भव नहीं है। साम्प्रतं तो इस सम्बन्ध में इससे अधिक और कुछ भी तो निवेदन नहीं किया जासकता कि—

१०-स्वायम्भुव-अपौरुषेयवेदात्मक निगमवागब्रह्म का स्वरूपदिग्दर्शन—

मूर्त्तिलक्षण पिण्डभाव-सम्पादक ऋक्तत्त्व, गतिभावात्मक यजुः-तत्त्व, पिण्डानुगत-महिमामण्डलभावात्मक सामतत्त्व, दूसरे शब्दों में छन्दोभावात्मक ऋक्तत्त्व, रसभावात्मक यजुः-तत्त्व, वितानभावात्मक सामतत्त्व, प्रकारान्तरेण महदुक्थरूप ऋक्तत्त्व, पुरुषरूप यजुः-तत्त्व, महाव्रतरूप सामतत्त्व, लोकभाषादृष्ट्या विष्कम्भरूप ऋक्तत्त्व, हृदयरूप यजुः-तत्त्व, परिणाहात्मक सामतत्त्व, इन तीनों मौलिक ऋक्-यजुः-साम-तत्त्वों की समष्टिरूप त्रयीलक्षण-स्वायम्भुव-ब्रह्मनिःश्वसितरूप-मनःप्राणगर्भित-नित्य-वाक्तत्त्व का नाम है-निगमवागब्रह्म, जिसे लोकविश्वविद्या की अपेक्षा **'स्वायम्भुव-अपौरुषेयवेद'** कहा गया है।

११-स्वयं निर्गतभावापन्न निगम का नामनिर्वचनसमन्वय—

'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे'-'वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः' इत्यादि मानवीय वचन इसी स्वायम्भुव निगमवेद की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। किसी से उत्पन्न नहीं है

यह मनःप्राणगर्भित वाङ्मय वेद। क्योंकि–'स वा एष आत्मा वाङ्मयः–प्राणमयो–मनोमयः' इत्यादि बृहदारण्यकश्रुति के अनुसार मनःप्राणवाङ्मय आत्मब्रह्म ही सृष्टिकामना से (भिसृक्षाबलप्रेरणया) मनःप्राणगर्भित वाङ्मय त्रयीवेदब्रह्मस्वरूप में परिणत हो रहा है। तभी तो ब्रह्म को वेदमय माना है ऋषिप्रज्ञा ने। इसीलिए तो यह तत्त्ववेद ब्रह्म के 'निःश्वास' कहलाए हैं। इसीलिए तो यह स्वायम्भुव अपौरुषेय तत्त्ववेद–'**ब्रह्मनिःश्वसित**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका कदापि कोई भी कर्त्ता नहीं है। अपितु यह तो स्वायम्भुव हैं, '**स्वयमेवोद्‌बभौ**' (मनुः) रूप से अपनी प्राणमहिमा से स्वयं ही प्रकट है, विनिर्गत है। स्वयं विनिर्गत–(व्यक्त–अभिव्यक्त–प्रकट) होने से ही तो यह–'**स्वयं निर्गतः**' निर्वचन से मप्रत्यम के माध्यम से–'**निगम**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

१२–स्वतःप्रमाणभूत निगमब्रह्म की निर्भ्रान्ता निरपेक्षा प्रामाणिकता—

ब्रह्म–वेद–निगम–आदि शब्दों के निर्वचनात्मक चिरन्तन–इतिहास के द्वारा ही इस वाङमय वेदतत्त्व की 'निगमता' (स्वयं निर्गतता) स्पष्ट रूप से, अपने रूप से ही प्रमाणित है। यही तो वेद की वेदता, एवं स्वतःप्रामाण्यता है। वेद सब का प्रमाण है, किन्तु स्वयं वेद अपने प्रमाणन के लिए किसी भी अन्य प्रमाण की कोई अपेक्षा नहीं रख रहा। सूर्य्य सब को आलोक प्रदान से व्यक्तरूप में प्रमाणित कर रहा है। किन्तु सूर्य्य स्वयं तो अपने विभ्राट्‌ज्योतिर्म्मय स्वरूप से स्वतः ही प्रमाणित है। यही स्थिति स्वतःप्रमाणरूप निगमब्रह्म के साथ समन्वित है।

१३–ब्रह्मनिःश्वसित नामक–प्रतिष्ठाब्रह्मलक्षण–निगम का श्रौतसमन्वय–

अब आगमब्रह्म के साक्षात्कार का अनुग्रह प्राप्त कीजिए। आनन्दघन–विज्ञानगर्भित–मनोमय–सप्तप्राणात्मक–सप्तपुरुषपुरुषात्मक–सृष्टिसाक्षी स्वयम्भू प्रजापति ने अपने वाङ्मय श्रम से, प्राणमय तप से, एवं मनोमयी कामना से सर्वप्रथम अपने आपको जिस विश्वप्रतिष्ठारूप में परिणत किया, वह प्रतिष्ठात्मक–ऋक्–यजुः–सामात्मक–त्रयीरूप ही ब्रह्मनिःश्वसित नामक वह 'प्रतिष्ठाब्रह्म' कहलाया है, जिस पर सुप्रतिष्ठित होकर जिसके द्वारा ही जिससे ही स्वयम्भूप्रजापति व्यक्त विश्व का निर्म्माण करने वाले हैं। शतपथब्राह्मण के षष्ठकाण्ड के प्रथमारम्भ ब्राह्मण की आरम्भ की १ से ८ पर्य्यन्त की ८ कण्डिकाओं में इसी तथ्य का रहस्यभाषा में स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जैसाकि तत्प्रकरण के निम्न लिखित वाक्यसन्दर्भ से प्रमाणित है।

"श्रमेण तपसा अरिषन्–तस्माद् ऋषयः। त इद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त। सप्त पुरुषो ह्ययं पुरुषः (प्रजापतिः)। स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो 'ब्रह्म' एव प्रथममसृजत–त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्। तस्मादाहुः–'ब्रह्म (त्रयीविद्या) ऽस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' इति। प्रतिष्ठा ह्येषा, यद्ब्रह्म (त्रयीविद्या, सैव निगमविद्या)।

—शत० ब्रा० ६।१।१। १ से ८ पर्य्यन्त

१४–श्रौतसमन्वयानुगत–स्मार्त्तसमन्वय—

स्मृतिशास्त्र के प्रेमी विद्वान् जानते हैं कि, राजर्षि मनु की सर्वस्मृतिमूर्द्धन्या, वेदवत् ही निर्भ्रान्त-प्रमाणात्मिका मनुस्मृति के उपक्रम में हीं उक्त श्रौत–रहस्य का ही इन शब्दों में स्पष्टीकरण होगया है कि—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ॥
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१॥
ततः स्वयम्भूर्भगवान्-अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ॥
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥२॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ॥
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥३॥
—मनुः १।५ से ७ पर्य्यन्त

१५-वेदपुरुष की सुवेदप्रकृतिसापेक्षिता—

स्वयंविनिर्गत, अतएव स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध, 'निगम' उपाधि से समन्वित वेदमूर्त्ति-वेदस्रष्टा-स्वयम्भूब्रह्म (ब्रह्मा) ही अब आगे की सृष्टियों के प्रवर्त्तक बनने वाले हैं। किन्तु स्वयं त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू ब्रह्मा अभी तो केवल 'पुरुष' स्वरूप ही हैं। बिना दाम्पत्यभाव के प्रजनन असम्भव है, एवं बिना 'प्रकृति' के दाम्पत्यभाव असम्भव है। प्रजापति का पुरुषभाव तो त्रयीब्रह्म (निगम) रूप से अभिव्यक्त होगया। किन्तु जबतक तपश्चर्य्या के द्वारा ये त्रयीब्रह्मरूप पुरुष प्रकृतिभाव को अपने आप में से अभिव्यक्त नहीं कर लेते, तबतक दाम्पत्य असम्भव है, एवं बिना दाम्पत्य के विश्वप्रजनन असम्भव है। इस स्थिति को आधार बना कर ही अब पुनः उसी शातपथी श्रुति के अग्रिम प्रकरण को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए!

१६-त्रयीतत्त्वानुगत यजुःपुरुष का तात्त्विक स्वरूपसमन्वय—

इस अनुग्रह से पूर्व दो शब्दों में त्रयीवेद के मध्यस्थ 'यजुः' रूप 'पुरुष' * को लक्ष्य बनाइए। विष्कम्भरूपा ऋक्, परिणाहरूप साम, दोनों हीं तत्त्व केवल वयोनाधमात्र हैं, सीमाभावमात्र हैं, जिन से सीमित वयोरूप (वस्तुतत्त्वरूप) यजुःपुरुष ही विश्वसर्ग का आरम्भण (उपादान) बनने की क्षमता रख रहा है। अतएव कहा, और माना जासकता है कि, ऋक्सामरूप वयोनाध में अपीत यजुरूप 'वय' ही स्वयम्भूप्रजापति के द्वारा सर्गारम्भक-सर्गोपादान बनता है। क्या स्वरूप है इस ऋक्सामापीत यजुः का ?, प्रश्न का समाधान भी अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है। शब्द है वास्तव में-'यज्जूः'। स्थितितत्त्व का नाम है-'जू', जिसे भारतीय पञ्चमहाभूतविज्ञान की भाषा में 'आकाश' कहा जासकता है। गतितत्त्व का ही नाम है-'यत्', जिसे भूतभाषा में-'वायु' कहा जासकता है। 'स्थिति से समन्वित गतितत्त्व' ही 'यज्जूः' की स्वरूपव्याख्या है। हम समझते हैं-केवल यज्जूरूप इस यजुः की इत्थंभूता स्वरूपव्याख्या ही उन वर्त्तमान भारतीय विद्वानों को यह उद्बोधन प्रदान करने में पूर्णतया सक्षम है, जो विद्वान् इस तत्त्ववेद को विस्मृत कर केवल शब्दात्मक वेदग्रन्थ को ही अपनी प्रमाणभक्ति का अवलम्ब मान बैठे हैं। स्वरूपव्याख्या कोई हमारी कल्पना नहीं हैं। अपितु यह

---

*-अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः। तानि यजूंषि। स यजुषां लोकः।
—शत० १०।५।२।१।

व्याख्या तो स्वयं श्रुति ने विस्पष्ट शब्दों में हमारे सम्मुख रख देने का महान् अनुग्रह कर दिया है। श्रूयताम् !

अयं वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वमिदं जनयति,- एतं यन्तमिदमनु प्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः-यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनु जवते। तदेतत्-यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षञ्च, यच्च जूश्च (यज्जूः)। तदेतत्-यजुः-ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्। ऋक्सामे वहतः। (शत० ब्रा० १०।३।५।१।)।

१७-यत्--जू, वायु--आकाश, गति--स्थिति, प्राण--वाक्,--द्वन्द्वों की आंशिक अभिन्नार्थकता, एवं प्राण--वाग्द्वन्द्व के द्वारा सर्गोपक्रम—

स्थितितत्त्वरूप 'जू' ही आकाश है, यही 'वाक्' तत्त्व है, जैसाकि–'**ब्रह्मैव वाचः–परमं व्योम**' (तै० ब्रा० ३।६।५।५) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। गतितत्त्वरूप 'यत्' ही वायु है, यही '**प्राणतत्त्व** है। **यत्–जू,- वायु–आकाश,–गति–स्थिति,-प्राण-वाक्**' चारों हीं द्वन्द्व अमुक सीमापर्य्यन्त यों अभिन्नार्थक बनें हुए हैं, जिन में से चयनविज्ञानश्रुतिने यजुः के 'प्राण–वाक्' रूप अन्तिम द्वन्द्व को आधार मान कर सर्गक्रम का उपक्रम किया है। तात्पर्य्य इस उपक्रम का यही है कि, ऋक्सामायतनों में प्रतिष्ठित यजु के गतिप्रकृतिक प्राणभाग के व्यापार से प्रजापतिपुरुषने यजु के ही स्थितिप्रकृतिक वाग्भाग को उपादान बना कर इस से सर्वप्रथम '**अप्तत्त्व**' ही उत्पन्न किया। स्वयं वाग्भाग ही महिमाभाव से अब्रूप में परिणत होगया, और यही त्रयीवेदपुरुष का वह प्रकृतिभाव कहलाया, जिस के साथ होने वाले दाम्पत्यभाव से ही मैथुनीसृष्टि का उदय होने वाला है। तत्पूर्वा यह अप्सृष्टि तो भावसृष्टिमूला '**गुणसृष्टि**' ही कहलाई है, जबकि स्वयं त्रयीवेदाभिर्भावरूपा सृष्टि केवल '**भावसृष्टि**' ही मानी गई है। यों सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति सर्वप्रथम ऋक्–साम–यजुर्लक्षण त्रयीमय भावसर्गरूप में परिणत हुआ। यही प्रजापति की प्रतिष्ठा बना।

१८–त्रयीप्रतिष्ठात्मक वाग्ब्रह्म के द्वारा 'आपःसृष्टि' का प्रादुर्भाव, एवं तदनुगत श्रुति–स्मृति–वचनों का समन्वय—

इस प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित प्रजापतिने पुनः तप किया। इस से इसके यजु के 'जू' रूप 'वाक्' भाग से 'अप्' तत्त्व उत्पन्न हुआ, यही इसकी 'गुणसृष्टि' कहलाई। अब इस भावसृष्टिरूप त्रयीब्रह्म से, तथा गुणसृष्टि-रूप आपः से जो मिथुनात्मक सर्ग होगा, वही 'मैथुनीसृष्टि' कहलाएगी, जिसे 'विकारसृष्टि' भी कहा गया है। इन सभी सर्गों के सम्बन्ध में सर्गसामान्यानुबन्धी इस नियम को समन्वित समझना चाहिए कि, पुरुषप्रजापति से उत्पन्न उत्तर उत्तर के सर्ग में पूर्व पूर्व के सभी प्रजापतिविशिष्ट सर्ग समाविष्ट–प्रविष्ट रहते हैं, जैसाकि–'**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। तात्पर्य्य–त्रयीसर्ग का आविर्भाव कर पुरुषप्रजापति तत्प्रविष्ट होकर तद्रूप में परिणत हो जाते हैं। आपः को उत्पन्न कर त्रयीमय प्रजापति तत्प्रविष्ट होकर तद्रूप बन जाते हैं। इसी आधार पर–'**प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं–यदिदं–किञ्च**'–'**सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः**' इत्यादि निगम व्यवस्थित हुए हैं। प्रकृत में यही निवेदनीय है इस सन्दर्भ से कि, त्रयीब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित तद्रूप पुरुषप्रजापति के यजुर्भाग के वाग्भाग से सर्वप्रथम प्रकृतिरूप–गुणसर्गात्मक अप्तत्त्व ही प्रादुर्भूत

हुआ। अष्टमकण्डिका से अग्रिम प्रकरण ने इसी अप्सर्ग का दिग्दर्शन कराया है, जिसके कतिपय अंश ही उद्धृत कर देना पर्य्याप्त होगा। साथ ही इन उद्धरणों से उस मानवीय वचन का भी समतुलन करना प्रासङ्गिक ही बन जायगा, जो श्रुतिपथ का ही अक्षरशः अनुगमन कर रहा है—

तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य साऽसृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्-यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्-तस्मादापः। यद्वृणोत्-तस्माद् वाः।

—शतपथ ब्रा० ६।१।१।८,६,।

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥ —मनुः १।८।

१६–'आपो नाराः', 'नारी', और राजस्थान का 'नारा' शब्द—

यजुर्वाक् ही आपोरूप में परिणत हुई, जिसका प्रधान धर्म्म माना गया है **'प्रजननकर्म्म'**। इसी प्रजनन के कारण आपः को–**'जाया'** कहा गया है। सर्वव्याप्ति के कारण ही इसे **'आपः'** माना गया है, एवं भूत-भौतिक सम्पूर्ण विश्व के मूलारम्भक होने से इसे ही **'धारा'** कहा गया है। आपः–जाया–धाराः–तीनों इसी प्रकृतिरूप अप्तत्त्व के स्वरूपधर्म्म माने गए हैं। तभी तो प्रकृति की निधिरूपा नारी–'जाया' कहलाई है, जिस नारी का तात्त्विकरूप–**'आपो नारा इति प्रोक्ताः'** से 'नारा' कहलाया है। राजस्थान में तो आक्रोशावस्थाओं में नारी को–**'अरे ओ नारा'** रूपेण यदा कदा–'नारा' भी कह दिया जाता है। यही तो हमारी वेदसंस्कृति का–'लोके–वेदे मूलक' समसमन्वय है, जो अज्ञातरूप से हमारे लोकजीवन में भी समाविष्ट हो रहा है।

२०–वेदात्मक ब्रह्म, एवं सुवेदात्मक सुब्रह्मतत्त्व, तथा तन्मूलक दाम्पत्यभाव—

उक्त स्थिति का गोपथब्राह्मण में एक अन्य दृष्टि से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, जिसका निष्कर्ष यही कि, त्रयीमूर्त्ति ब्रह्म ने तप किया। इस से प्रथम इन के ललाट पर स्वेद उत्पन्न होगए। यही स्वेद **'सुवेद'** कहलाया। यही ब्रह्मापेक्षया 'सुब्रह्म' कहलाया। ब्रह्म यजुरग्नि था, सुब्रह्म आपः सोम बना। जाया–धारा–आपः–तीनों सुब्रह्म के स्वरूपधर्म्म बनें। यों त्रयीब्रह्म ही ब्रह्मरूप **अग्निवेद**, तथा सुब्रह्मरूप **सोमवेद**, रूप में परिणत होगए। यही पहिला दम्पती कहलाया, जो कि आगे की वैकारिकी सृष्टियों का मूल बना (देखिए गोपथब्राह्मण पूर्वभाग १ प्रपाठक, १–२–३–ब्राह्मण)।

२१–तेजोगुणक अङ्गिरा, एवं स्नेहगुणक भृगु की अप्रूपता—

क्या स्वरूप है इस 'आपः' का ?, उत्तर है–**'तेजोयुक्त स्नेहगुणकतत्त्व'**। तेजोभाव **'अङ्गिरा'** कहलाया है, स्नेहभाव **'भृगु'** कहलाया है। यजु के गतिप्रकृतिक यत्–भाव का विकास ही तेजोमय अङ्गिरा है, एवं यजु के स्थितिप्रकृतिक 'जू' भाव का विकास ही स्नेहमय भृगु है। भृग्वङ्गिरोरूप स्नेहतेजोभावों की समन्वितावस्था का नाम ही–'आपः' रूप सुब्रह्म है, जैसाकि गोपथवचन से स्पष्ट है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ॥ (गोपथब्राह्मण)।

२२-वेदत्रयीरूप पुरुष, एवं अथर्वरूपा प्रकृति का दाम्पत्यभाव—

ऋक्-यजुः-साममय त्रयीब्रह्मरूप ब्रह्म ही '**पुरुष**' है, भृग्वङ्गिरोरूप अथर्वब्रह्मात्मक सुब्रह्म ही '**प्रकृति**' है। वेदत्रयी, तथा चतुर्थ **अथर्ववेद** ही इस पुरुषप्रकृतिरूप दाम्पत्यभाव का समस्त इतिवृत्त है, जिसके यथावत् समन्वय के लिए तो संस्कृतिनिष्ठों को निष्ठापूर्वक संस्कृति के स्वाध्याय की ही शरण में जाना चाहिए। प्रकृत में तो निगम-आगम-शब्दों के अक्षरार्थमात्र समन्वय के लिए ही हमें अपौरुषेय वेदशास्त्र के इस पारिभाषिक, अतएव परिभाषाविलुप्तियुगात्मिका वर्त्तमान प्रज्ञा के लिए अत्यन्त ही दुर्बोध्य वेदसृष्टिप्रकरण को अगत्या लक्ष्य बना लेना पड़ा है।

२३ महान् विश्व के महान् प्रथम सर्जक निगमागमरूप पुरुषप्रकृतिभाव—

आपोमय अथर्वतत्त्व ही '**आगमवाग्ब्रह्म**' है। क्योंकि इसका आगमन ऋग्यजुःसाममय त्रयीब्रह्मरूप तथाकथित 'निगमवाग्ब्रह्म' से ही हुआ है। अतएव-'**निगमादागतः**' निर्वचन से इस आपोरूप अथर्वब्रह्म को अवश्य ही '**आगमब्रह्म**' कहा जा सकता है, कहा गया है। यों एक ही निगमतत्त्व (वेदतत्त्व) **त्रयीब्रह्म**, **अथर्वब्रह्म**, भेद से दो विवर्त्तभावों में परिणत होकर **निगमब्रह्म-आगमब्रह्म**-इन दो अभिधाओं से तत्त्वजगत् में प्रसिद्ध हो गए हैं। दोनों हीं नित्यकूटस्थ हैं, अपौरुषेय हैं, शाश्वत हैं। विश्वापेक्षया निगम को **स्वयम्भू** कहा गया है, आगम को **परमेष्ठी** कहा गया है।

२४-प्रथम दाम्पत्य से प्रथम आविर्भूत प्रथमज विराट्पुत्र—

स्वयम्भू-ब्रह्मरूप निगमात्मक **निगमपुरुष** के, एवं परमेष्ठी-सुब्रह्मरूपा आगमात्मिका **आगमप्रकृति** के दाम्पत्य से जो सर्वप्रथम सर्ग आविर्भूत होता है, उसी का-'**तासु बीजमवासृजत्**' रूप से मनु ने सङ्केत किया है। वह बीज और कोई नहीं, वही साक्षात् सूर्य्यदेव हैं, जो अण्डवृत्तरूप में परिणत होते हुए अपने सम्वत्सर से आलोकित हो रहे हैं, जिनका यह अण्डवृत्त हिरण्यरेता आङ्गिरस अग्नि के कारण 'हिरण्मयाण्ड' कहलाया है। यों निगमागमरूप दाम्पत्य से (त्रयीवेद-अथर्ववेद से) हिरण्मयाण्डरूप दशावयव, दशकल, अतएव 'विराट्' नाम से प्रसिद्ध 'विभ्राट्' तेजोमय सूर्य्यनारायण हीं प्रादुर्भूत हुए हैं। **ऋक्**[1], **साम**[2], **यत्**[3]-**जू**[4]-, ये चार कलाएँ त्रयीब्रह्म की, एवं **आपः**[1]-**वायुः**[2]-**सोमः**[3]-रूपा भृगुत्रयी, **अग्निः**[1]-**यमः**[2]-**आदित्य**[3]-रूपा अङ्गिरात्रयी, ६ ओं की समन्वितावस्थारूप भृग्वङ्गिरोमय आपः-रूप सुब्रह्म की ६ कलाएँ, दोनों की सम्भूय १० कलाएँ हो जातीं हैं। इनके दाम्पत्य से ही क्योंकि बीजरूप सूर्य्याण्डवृत्त का आविर्भाव हुआ है। अतएव (दशावयवत्वेनैव) इसे 'विराट्' कहना अन्वर्थ बन जाता है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए निम्न लिखित श्रुति-स्मृति-वचनों को, एवं अपनी स्वाध्यायप्रज्ञा के द्वारा स्वयं ही समन्वय कीजिए इस निगमागमशब्देतिहास का-

सोऽकामयत-"आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेय" इति। सोऽनया-त्रय्या विद्यया सह-अपः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत। अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्-सोऽग्निरसृज्यत। अग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्। —शत० ६।१।१।१०-१५ पर्य्यन्त।

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ —मनुः १।६।

२५–निगमादागतः लक्षण पारमेष्ठ्य आगमब्रह्म, और 'आगमशब्द'—

"स्वयं निर्गतः-निगमः, निगमादागतः-आगमः" इस निर्वचनार्थ से समन्वित निगम, और आगम–शब्दों के स्वायम्भुव-त्रयीवेदात्मक, एवं पारमेष्ठ्य-अथर्ववेदात्मक चिरन्तन–इतिवृत्त के संस्मरणमात्र का दुस्साहस किया गया। यही उस लोकप्रसिद्ध निगमाशमशास्त्रद्वयी का क्योंकि मूलाधार था। अतएव तत्संस्मरण अनिवार्य्य मान लिया गया। पुरुषब्रह्म त्रयीवेद है, प्रकृतिब्रह्म अथर्ववेद है। त्रयीवेद स्वायम्भुव है। स्वयं निर्गत होने से 'निगमब्रह्म' है, एवं अथर्ववेद पारमेष्ठ्य है, स्वयम्भुब्रह्म के यजुर्भाग से आगत–उत्पन्न–होने के कारण 'आगमब्रह्म' है।

२६–निगमागमशब्दों की चिरन्तनेतिहासात्मिका रूपरेखा का समन्वय—

और यही **निगमवाग्ब्रह्म** (त्रयीवाग्ब्रह्म), तथा **आगमवाग्ब्रह्म** (अथर्ववाग्ब्रह्म) रूप पुरुष–प्रकृतिलक्षण–निगम–आगम–तत्त्वों के संग्राहक निगम–आगम–शब्दों की चिरन्तनेतिहास की रूपरेखा है। स्मरण रहे, अथर्वब्रह्म का आगमत्त्व केवल त्रयीब्रह्मसापेक्ष ही है। वैकारिकसर्गापेक्षया तो त्रयीब्रह्मवत् पारमेष्ठ्य अथर्वब्रह्मरूप आगमब्रह्म भी निगमब्रह्म ही है। तभी तो पूर्व में हमनें एक ही निगमब्रह्म के 'ब्रह्म' नामक निगमभाव, एवं 'सुब्रह्म' नामक आगमभाव, रूप से दो विवर्त्त बतलाए हैं। लोक में–**'आगमशास्त्र'** नाम से प्रसिद्ध मणि–मन्त्र–ओषधि–निधि–आदि लक्षण आगमीय आचारपद्धतियों का मूलाधार **'घोराङ्गिरा'** नामक अथर्वभाग ही है, यह सभी विद्वानों को सम्भवतः विदित है ही। यह लोकप्रसिद्धि भी यही सङ्केत कर रही है कि, लोकप्रसिद्ध आगमशास्त्र का मूलभूत 'अथर्ववेद' नामक चतुर्थ वेद ही आगमभावों का प्रवर्त्तक बनता हुआ निगम बनता हुआ भी अपने आगमत्त्व को सूचित कर रहा है। और यही निगम–आगम–शब्दों का वह सुगुप्त चिरन्तन–इतिवृत्त है, जिसे सहस्राब्दियों से विस्मृत कर भारतीय प्रजा निगमागमीय अपना सम्पूर्ण सांस्कृतिक वैभव विस्मृत कर चुकी है।

२७–तत्त्वात्मक निगमागमों पर प्रतिष्ठित शब्दात्मक निगमागम—

अब हम उन निगम, और आगम–शब्दों की ओर आयोजनप्रेमियों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं, जिनके आधार पर शब्दात्मक **निगमशास्त्र**, एवं शब्दात्मक **आगमशास्त्र** प्रतिष्ठित है, एवं जिन इन दोनों शास्त्रों के उपबृंहक शास्त्र ही **इतिहास–पुराणशास्त्र**–नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। **'स्वयमुद्बभौ'** रूप से स्वयं विनिर्गत स्वायम्भुव त्रयीब्रह्मरूप निगमपुरुष के, तथा स्वयम्भू से आगता पारमेष्ठ्य–अथर्वसुब्रह्मरूपा आगम-प्रकृति के दाम्पत्य से भृग्वङ्गिरोमय सूर्य्यनारायण का आविर्भाव हुआ, यह पूर्व में निवेदन किया जाचुका है। एवं तत्रैव यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, ब्रह्मपुरुष की चार कलाओं, तथा सुब्रह्मप्रकृति की ६ कलाओं के समन्वय से उत्पन्न दशकलमूर्त्ति हिरण्मयाण्डमध्यमवर्त्ती सूर्य्य **'विराट्'** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इस सौर-विराट् के सम्बन्ध से ही विश्वविद्या दशावयवा बनती हुई **'विराट्–विद्या'** नाम से प्रसिद्ध हुई है निगमशास्त्र में, जिसके आधार पर ही निगममूलक आगमशास्त्र में रहस्यभाषा में प्रतिपादिता सृष्टिविद्या **'दशमहाविद्या'**

नाम से प्रसिद्ध है, जिसे मूलाधार बना कर ही हमें '**विजयदशमीपर्व**' का समन्वय ढूँढ निकाल लेना है। स्वयम्भू से आरम्भ कर सूर्य्य-पर्य्यन्त के उक्त सृष्टिधाराक्रम को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कर लीजिए, तदनन्तर ही लोकप्रसिद्ध निगम–आगम–शब्दों के द्वितीय प्रक्रम-स्थानीय द्वितीय चिरन्तन–इतिहास को लक्ष्य बनाइए।

२८–अपौरुषेय-निगमागमदाम्पत्य से पौरुषेय निगमरूप विराट् पुत्र की प्रसूति—

जैसाकि पूर्व में निवेदन किया गया है, शब्दराशि का ऋषिप्रज्ञा ने निगमशब्द, आगमशब्द–रूप से दो महिमाभावों में साक्षात्कार किया है, जिन दोनों शब्दब्रह्मों का स्वायम्भुव–शब्दब्रह्मरूप **त्रयीवाग्ब्रह्म**, एवं पारमेष्ठ्य-शब्दब्रह्मरूप **अथर्ववाग्ब्रह्म**, रूप से निगम-आगम-भावानुबन्धत्त्वेन दिग्दर्शन कराया जाचुका है। यह शब्दब्रह्म वस्तुतः मनःप्राणगर्भित–वाग्ब्रह्म ही है, जिसके स्वयम्भू–परमेष्ठी–के भेद से दो विवर्त्त सुप्रसिद्ध हैं। इन दोनों निगमागमवाग्ब्रह्मरूप शब्दब्रह्मों के दाम्पत्यभाव से ही निगमागमस्वरूप–दशावयव–विराट्मूर्त्ति–हिरण्मयाण्डमध्यवर्त्ती सूर्य्यनारायण का आविर्भाव हुआ है। अत्र इस सूर्य्यविराट् से सम्बद्ध शब्दब्रह्म के आधार पर ही हमें लोकप्रसिद्ध निगम–आगम–शब्दों के इतिहास का अन्वेषण करना है। एवं इस अन्वेषण–कर्म्म से पूर्व इस सम्बन्ध में शब्दात्मक वाग्ब्रह्म से सम्बन्ध रखनें वालीं कुछ एक परिभाषाओं का समन्वय कर लेना है।

२९–वाग्ब्रह्म, और उसके ऐन्द्र, तथा आग्नेय नामक दो विवर्त्त—

'**अथो वागेवेदं सर्वम्**' (ऐ० आ० ३।१।६)–'**वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता**' (तै० ब्रा० २।८।८।४–५) इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार वाक्तत्त्व से प्रादुर्भूत होने वाले आकाशात्मक शब्द-प्रपञ्च से कोई भी स्थान रिक्त नहीं है, जैसाकि–'**न ह्यशब्दमिवास्ति**'–'**सर्वं शब्देन भासते**' * इत्यादि आप्तवचनों से भी स्पष्ट है। यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी परस्पर सर्वथा विभिन्न विश्वपर्वों के साथ सम्बन्ध रखने वाला वाक्त्त्वेन अभिन्न भी शब्दब्रह्म विश्वपर्वानुगत विभिन्न नामरूपगुणभावों में परिणत होकर के ही अपने इन विभिन्न वाग्भावों के द्वारा ही विभिन्न सर्गों का अधिष्ठान बना हुआ है। यों वाक्त्त्वेन सम्पूर्ण विश्व में वाग्ब्रह्म एकरूप बना रहता हुआ भी–'**अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्**' इत्यादि के अनुसार विविधरूपों से विश्व की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है। उन असंख्य वाग्विवर्त्तों में से प्रकृत में हमें '**रोदसीत्रिलोकी**' नाम से सुप्रसिद्धा सौरी त्रिलोकी में प्रधान बनीं हुईं **ऐन्द्रीवाक्**, **आग्नेयीवाक्**, इन दो वाग्देवियों की ही आराधना करनी है, जिनके साथ निरूपणीय निगम–आगम–भावों का प्रधान सम्बन्ध माना है ऋषिप्रज्ञाने।

३०–ऐन्द्री, तथा आग्नेयी-वाक् के द्वारा सौर-रोदसी त्रैलोक्य का वितान, एवं सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि का त्रैलोक्य–प्रतिष्ठात्त्व—

स्तम्बरूप (धातूपधातु–ओषधि–वनस्पति–लता–गुल्मादि असंज्ञ, तथा अन्तःसंज्ञवर्गरूप) **तमोविशालसर्ग**, कृमि–कीट–पक्षी–पशु-मनुष्य-भेदभिन्न पञ्चविध **रजोविशालसर्ग**, एवं यक्ष-राक्षस-पिशाच-गन्धर्व-

---

* **न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।**
अनुविद्धमिव ज्ञानं–सर्वं शब्देन भासते ॥ (वाक्यपदी)

पैत्र्य–ऐन्द्र–प्राजापत्य–ब्राह्म–भेदभिन्न अष्टविध **सत्त्वविशालसर्ग**, नामों से प्रसिद्ध १४ चौदह प्रकार के भौम–(तमोविशाल)–पार्थिव (रजोविशाल)–चान्द्र (सत्त्वविशाल)–सर्गों के साथ प्रधानरूप से **आग्नेयी**, तथा **ऐन्द्रीवाक्** का ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है । **'यथाग्निगर्भा–पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'** (शत० १४।६।७।२०।) इत्यादि श्रुति के अनुसार पृथिवी **अग्निगर्भा** है, एवं द्युलोक से उपलक्षित सूर्य्य **इन्द्रगर्भा** है । तात्पर्य्य–भूपिण्ड के गर्भ में आग्नेयतत्त्व की प्रधानता है, एवं सूर्य्य के गर्भ में इन्द्रतत्त्व की प्रधानता है । उस ओर इन्द्रप्रधान सूर्य्य से अनुप्राणित द्युलोक है, तो इस ओर अग्निप्रधान भूपिण्ड से अनुप्राणित पृथिवीलोक है । दोनों के अन्तः (मध्ये) प्रतिष्ठित, अतएव **'अन्तः–ईक्षते'** निर्वचन से 'अन्तरीक्ष' नाम से प्रसिद्ध मध्यलोक है, जिसे मध्यस्थ–सोममय–चन्द्रमा के सम्बन्ध से चान्द्रलोक, किंवा चन्द्रलोक कहा गया है । भूःरूप पृथिवीलोक, भुवःरूप अन्तरिक्षलोक, स्वःरूप द्युलोक, इन तीन लोकों की समन्वितावस्था का नाम हीं **'रोदसीत्रैलोक्य'** नामक सौरत्रैलोक्य है, जिसके **सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि** ये प्रतिष्ठा–केन्द्र बनें हुए हैं ।

३१ - रोदसी–भावानुगता देव–पितृ–मनुष्य–लोकात्मिका प्रतिष्ठालोकत्रयी का समन्वय––

भूः नाम की व्याहृति से अनुप्राणित पृथिवीलोक में अग्निदेव का साम्राज्य है । इन्हीं से **मानवप्रजा** का मुख्य सम्बन्ध है । अतएव पृथिवी को–**'मनुष्यलोक'** कहा गया है । भुवः नाम की व्याहृति से अनुप्राणित अन्तरिक्षलोक में चन्द्रदेव का साम्राज्य है । इन्हीं से **पितरप्रजा** * का मुख्य सम्बन्ध है । अतएव चान्द्र–अन्तरिक्ष को 'पितृलोक' कहा गया है । इसी आधार पर–**'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति'** (सिद्धान्तशिरोमणि) यह प्रसिद्ध है । 'स्वः' नाम की व्याकृति से अनुप्राणित द्युलोक में इन्द्रप्राण का साम्राज्य है । इन्हीं से देवप्रजा का मुख्य सम्बन्ध है । अतएव द्युलोकात्मक सूर्य्यलोक को **'देवलोक'** कहा गया है । इसी आधार पर–**'चित्रं-देवानामुदगात्'** (यजुःसं०) इत्यादि प्रसिद्ध है । यों तीन लोक क्रमशः प्रधानरूपेण **अग्नि–सोम–इन्द्र–**प्रधान बनते हुए **मनुष्य–पितर–देव**–लोक प्रमाणित हो रहे हैं, जैसाकि–**'एता वै-(भूर्भुवः स्वरिति) व्याहृतय इमे (पृथिव्यादयः) लोकाः'** (तै० ब्रा० २।२।४।३।)–**"त्रयो वात्र लोकाः-मनुष्यलोकः–पितृलोकः, देवलोकः'** (शत० ब्रा० १४।४।३।२४।)–**"उत्तर उत्तर एषां लोकानां ज्यायान्'** (ताण्ड्यमहाब्रा० १६।१०।३।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है ।

३२–अग्निप्रधान पृथिवीलोक, एवं इन्द्रप्रधान-सूर्य्यलोक––

अग्नि-सोम–इन्द्र–प्रधान पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यु–नामक तीनों हीं लोक वाङ्मय हैं, इसमें तो कोई सन्देह नहीं, जैसाकि––**'वागिति पृथिवी'** (जै० उ० ब्रा० ४।२१।११।)–**'वाग्घ चन्द्रमा भूत्वोपरिष्टात्तस्थौ'** (शत० ब्रा० ८।१।२।७।)–**'सा या सा वाक्, असौ स आदित्यः'** (शत० ब्रा० १०।५।१।४।) इत्यादि श्रुतिवचनों से स्पष्ट प्रमाणित है । तथापि तीनों में प्रधानता पार्थिवी, एवं सौरी वाक् ही मानी गई है शास्त्र

---

*-चन्द्रलोकानुगत पितर चान्द्री श्रद्धानाड़ी के द्वारा सपिण्डों से अनुगत रहते हैं, जिस इस श्राद्धात्मक पितृकर्म्म की उपेक्षा कर वेदभक्तोंनें राष्ट्र में वैसी अश्रद्धा का ही प्रसार कर दिया है, जो अश्रद्धा मानव की मानवता को सर्वथा ही अभिभूत कर लिया करती है । देखिए–खण्डचतुष्टयात्मक–**श्राद्धविज्ञानग्रन्थ** ।

में। कारण इस प्रधानता का यही है कि, पार्थिव अग्नि इन्द्रगर्भित अग्नि है, तो सौर इन्द्र अग्निगर्भित इन्द्र है। यों दोनों हीं '**ऐन्द्राग्न**' बने हुए हैं। पृथिवी में इन्द्र गौण है, अग्नि प्रधान है, तो सूर्य्य में अग्नि गौण है, इन्द्र प्रधान है।

३३-पार्थिव गायत्राग्नि, एवं सौर सावित्राग्नि का अन्नादभाव, तथा तद्गर्भीभूत आन्तरीक्ष्य चान्द्र सोमान्न का भी अन्नादत्व--

पार्थिव इन्द्र **वासवेन्द्र** कहलाया है, पार्थिवाग्नि **गायत्राग्नि** कहलाया है। तो सौर अग्नि **सावित्राग्नि** कहलाया है, एवं सौर इन्द्र **मघवेन्द्र** कहलाए हैं। "**एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यच्चन्द्रमाः**' के अनुसार चान्द्रसोम पार्थिव प्राणदेवताओं का भी अन्न है, एवं सौर प्राणदेवताओं का भी अन्न (भोग्य) है। अग्नि भी सोम को अपना भोग्य बना लेते हैं, एवं इन्द्र भी सोम को अपना भोग्य बनाए रहते हैं। इस ओर सोमान्न के भक्षणकर्त्ता पार्थिव इन्द्राग्नी हैं, तो उस ओर भी इसके भक्षणकर्त्ता सौर इन्द्राग्नी हैं। यों मध्यस्थ आन्तरीक्ष्य चान्द्र-सोमान्न इन दोनों ओर के ऐन्द्राग्नरूप अन्नादों के गर्भ में अन्तर्भुक्त हो रहा है। यह प्राकृतिक सिद्धान्त है कि, जब अन्न अन्नाद की गर्भसीमा में अन्तर्भुक्त हो जाता है, तो उस दशा में 'अन्न' का अन्नत्व सर्वथैव उत्क्रान्त हो जाता है। उदराग्नि से बहिःस्थित अन्न ही अन्न है। उदराग्नि (जाठराग्नि नाम से प्रसिद्ध वैश्वानराग्नि) से परिगृहीत अन्न तो अन्नादरूप में हीं परिणत हो जाता है। और उस अवस्था में 'अन्न' भी अत्ता (अन्नाद) ही बन जाता है। इसी तथ्य का दिग्दर्शन कराते हुए श्रुति ने कहा है—

द्वयं वा इदं-न तृतीयमस्ति-अत्ता चैव, आद्यश्च। तत्-यदा-उभयं समागच्छति, अत्तैव-आख्यायते, नाद्यः। स वै यः सः-अत्ता, अग्निरेव सः। [शत०ब्रा०१०।६।३।१-२]

३४-'द्यावापृथिवी' नाम-स्वरूपसमन्वय--

यही कारण है कि, अग्निप्रधान पृथिवी, चन्द्रप्रधान [सोमान्नप्रधान] अन्तरिक्ष, एवं इन्द्रप्रधान द्युलोक, इन तीन लोकों की समष्टि के ग्रहणावसर पर मध्यस्थ चान्द्र-अन्तरिक्षलोक उभय ओर के अन्नादों से परिगृहीत बने रहने के कारण स्वतन्त्ररूप से व्यवहृत नहीं होता। अपितु उस समष्ट्यवस्था में तो त्रैलोक्य को '**द्यावापृथिवी**' [द्यु और पृथिवी] नाम से ही व्यवहृत कर दिया जाता है।

३५-सुब्रह्मण्यावाक्, और चन्द्रमा--

तदित्थं-त्रैलोक्य-प्रसङ्ग में प्रधानता **पृथिवीलोक, सूर्य्यलोक,** इन दो लोकों की ही प्रमाणित हो जाती है। दोनों हीं अग्निमय हैं, अतएव अन्नादमूर्त्ति हैं। वासवेन्द्र से समन्वित पार्थिव गायत्राग्नि, तथा मघवेन्द्र से समन्वित सौर सावित्राग्नि, दोनों अग्नियों से अवश्य ही दोनों लोक अन्नादमूर्त्ति प्रमाणित हैं। उधर-'**तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्** [शत० १०।५।१।१।] के अनुसार अग्नि का प्रतिष्ठात्मक मौलिक स्वरूप 'वाक्' ही माना गया है। तन्मध्यपतित चान्द्रसोम भी इसी अनुबन्ध से अग्निमय बनता हुआ [अत्तारूप में आता हुआ] 'वाक' ही बना हुआ है, जिस चान्द्री सौम्यावाक् को-'**सुब्रह्मण्यावाक्**' कहा गया है। '**ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु**'-[यजुःसंहिता] '**चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः**' [शत०] इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मणश्रुतियों के

अनुसार चन्द्रमा आधिदैविक–नित्य–प्राकृतिक यज्ञ के ब्रह्मा हैं। तत्सम्बन्ध से ही चान्द्रीवाक् 'सुब्रह्मण्या' कहलाई है।

३६–अनुष्टुप्, और बृहतीवाक्, तथा स्फोट–स्वर–वर्ण–भावों के महिमात्मक विवर्त—

सुब्रह्मण्यावाक् का यहाँ विशेष प्रसङ्ग नहीं है। प्रकृत में तो केवल पार्थिवी अग्निप्रधाना वाक्, तथा सौरी इन्द्रप्रधाना वाक् की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित करना है। पार्थिवी अग्निप्रधाना गायत्रीवाक् 'शब्दब्रह्मविज्ञान' की परिभाषा में जहाँ **'अनुष्टुप्'** कहलाई है, वहाँ सौरी इन्द्रप्रधाना सावित्रीवाक् **'बृहती'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। पार्थिवी अनुष्टुप्वाक् से ही क–च–ट–त–पा–दिरूपा **व्यञ्जनवाक्** का आविर्भाव हुआ है, एवं सौरी बृहतीवाक् से ही अ–इ–उ–ऋ–लृ–रूपा स्वरवाक् का आविर्भाव हुआ है। व्यञ्जनात्मिका वर्णवाक् 'अनुष्टुप्' है, व्यञ्जनवर्णाधारात्मिका स्वरवाक् 'बृहती' है। **'स्वरद्दैवाः सूर्य्यः'** [शतपथब्राह्मण] इत्यादि वचन सूर्य्य के इसी स्वरवाङ्मयत्त्व की ओर सङ्केत कर रहा है। अतएव सूर्य्य–**'स्वर्लोक'** कहलाया है, जिसका अर्थ है–**'स्वरलोक'**। सूर्य्य को स्वगर्भ में बीजवत् (तासु-बीजमवासृजत्), किंवा पुराणपरिभाषानुसार बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित रखने वाले स्वयम्भू-त्रयीब्रह्मात्मक परमेष्ठी-सुब्रह्म ही वह स्वराधारभूत (सूर्य्याधारभूत) तीसरा अखण्ड 'वाग्ब्रह्म' है, जिसे विज्ञानभाषा में–**'स्फोट'** कहा गया है। यों स्फोटवाक् के आधार पर प्रतिष्ठित सौरी स्वरवाक् ही पार्थिवी व्यञ्जनवर्णवाक् की अधिष्ठात्री बनी हुई है। शब्दब्रह्मपरिभाषा का **'स्फोट'** ही परब्रह्मपरिभाषा का **'अव्यय'** है। **'स्वर'** ही **'अक्षर'** है, एवं–वर्णात्मक व्यञ्जन, किंवा व्यञ्जनात्मक वर्ण ही **'क्षर'** है। परब्रह्म के **अव्यय–अक्षर–क्षर**-ही शब्दब्रह्म के **स्फोट–स्वर–वर्ण**–हैं। यही तो शब्दार्थ के औत्पत्तिक–नित्य–सम्बन्ध का मौलिक–रहस्य है, जो अन्य निबन्धों में प्रतिपादित है।

> **"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्।**
> **शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः-परं ब्रह्माधिगच्छति" ॥** —मैत्र्युपनिषत्।

३७–परब्रह्म, और शब्दब्रह्म का समतुलन—

औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्मात्मक अर्थब्रह्म की समानधारा में प्रवाहित होने वाले शब्दब्रह्म में भी क्षररूप वर्णों की प्रतिष्ठा (आधार) अक्षररूप स्वर ही बनता है। अर्थब्रह्मविवर्त्त में जिसप्रकार अक्षररूपा सूर्य्यसत्ता के बिना क्षररूपा पृथिवी (भूपिण्ड) स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकती, एवमेव सूर्य्यस्वरवाङ्मूलक स्वरतत्त्व को आधार बनाए बिना पृथिवीमूलिका व्यञ्जनात्मिका वर्णराशि भी स्वस्वरूप से कदापि प्रतिष्ठित-व्यक्त नहीं हो सकती। स्पष्ट है कि, स्वर को आधार बनाए बिना व्यञ्जन का उच्चारण ही सम्भव नहीं है। बृहती–रूपा ऐन्द्रीवाक् ही अनुष्टुप् रूपा आग्नेयीवाक् की मूलप्रतिष्ठा है। अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण, साथ ही दुरधिगम्य बृहती–अनुष्टुप्–वाक् के इसी समन्वय–तथ्य को लक्ष्य बनाते हुए महर्षिने कहा है—

> **बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।**
> **अनुष्टुभमनु चर्चूर्य्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा ॥**
> —ऋक्संहिता १०।१ ४।६।

३८-द्यावापृथिवीमूला वाङ्मयी परिभाषा—

गायत्राग्निलक्षणा-पार्थिवी आग्नेयी (अग्निप्रधाना) अनुष्टुप्वाक्, एवं सावित्राग्निलक्षणा सौरी ऐन्द्री (इन्द्रप्रधाना) बृहतीवाक्, इन दोनों वाग्विवर्त्तों से कृतरूप 'द्यावापृथिवी'-लक्षण सौरत्रैलोक्य से सम्बन्ध रखनें वालीं तथाकथिता कुछ एक वाक्परिभाषाओं को आधार बना कर ही अब हमें निरूपणीय निगमागमभावों की ओर प्रवृत्त होना है, जिनका सौरत्रैलोक्य से ही सम्बन्ध है। इस प्रवृत्ति का मूलाधारमन्त्र है निम्न लिखित—

> **द्यौष्पितः पृथिविमातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडता नः।**
> **विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त॥**
> —ऋक्संहिता ६।५१।५।

३६-गायत्रीमात्रिकवेदतत्त्वात्मक द्युपितर, और प्रथमज-पौरुषेय--निगमब्रह्म—

मन्त्र नें 'द्यौः' को 'पिता' कहा है, एवं पृथिवी को 'माता' कहा है, एवं यह पितृ-मातृभाव ही निमगागमभावों के मूलप्रवर्त्तक बने हुए हैं। दोनों में से पहिले द्यौःरूप पितृभाव को ही लक्ष्य बनाइए। सौर-हिरण्मयमण्डल ही 'द्यौः' है, इसी को श्रुतिने 'पिता' कहा है। क्या स्वरूप है इस 'द्युपितर' का ?, प्रश्न का उत्तर उस '**गायत्रीमात्रिकवेदतत्त्व**' पर ही अवलम्बित है, जिससे सूर्य्य का स्वरूप व्यवस्थित प्रतिष्ठित है। ध्यान रहे, यह वेदतत्त्व उस स्वायम्भुव-ब्रह्मनिःश्वसित-अपौरुषेय-वेदतत्त्व से सर्वथा विभिन्न वस्तुतत्त्व है, जिसके साथ पारमेष्ठ्य अथर्वरूप सुब्रह्म का दाम्पत्यसम्बन्ध बतलाया गया है। उस दाम्पत्य से ही तो इस गायत्रीमात्रिकवेदमूर्त्ति सूर्य्य का आविर्भाव हुआ है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। यह सौरवेदतत्त्व स्वयम्भूपुरुषवेद, एवं परमेष्ठी प्रकृतिवेद, इन दोनों के दाम्पत्यभाव से आविर्भूत है। अतएव अवश्य ही इस सौरवेद को-'**पौरुषेयवेद**' कहा जासकता है, कहा है महर्षिने। स्वायम्भुव ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय वेदतत्त्व प्रतिष्ठाब्रह्म था, तो इस पुरुषप्रतिष्ठाब्रह्म से सर्वप्रथम आविर्भूत गायत्रीमात्रिक सौर-पुरुष वेदतत्त्व का नाम है-'**प्रथमजब्रह्म**'। दोनों सर्वथा विभिन्न वस्तुतत्त्व हैं। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए निम्न लिखिता शातपथी श्रुति को, एवं अपनी ज्ञानविज्ञानसमन्विता, किन्तु आस्थाश्रद्धान्विता सत्त्वप्रज्ञा से समन्वय कीजिए तद्वचन की रहस्यभाषा का—

सोऽकामयत-आभ्यः-अद्भ्यः-अधि-प्रजायेय-इति। सो ऽनया त्रय्या विद्यया (अपौरुषेय-प्रतिष्ठाब्रह्मात्मक-ब्रह्मनिःश्वसितवेदविद्यया) सह--अपः (पारमेष्ठ्ये आपोमये सुब्रह्मभावे) प्राविशत्। तत आण्डं (हिरण्मयाण्डं) समवर्त्तत। तत्-अभ्यमृशत्-'अस्तु' इति। ततो ब्रह्मैव (वेदमेव) प्रथमममृज्यत-त्रयीमेव विद्याम् (गायत्रीमात्रिकलक्षणं-सौर-पौरुषेयवेदमेव)। तस्मादाहुः ब्रह्म (गा० त्रयीवेदः) अस्य सर्वस्य प्रथमजम्-इति। अपि हि-तस्मात् पुरुषात् (पारमेष्ठ्यप्रकृतिरूप-अब्भावसमन्वितात्-त्रयीरूपस्वयम्भु-पुरुषात्) ब्रह्मैव (सौरवेदमेव) पूर्वमसृज्यत। तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत। मुखं ह्येतत्-अग्नेः--यद्ब्रह्म (सौरवेदः--इति यावत्)।

—शत० ब्रा० ६।१।१।१०।

४०-पुरुषवेदात्मक निगमभाव, और तत्प्रतिपादक श्रौतसन्दर्भ—

प्रकृतिं (पारमेष्ठ्य अथर्व), एवं पुरुष (स्वायम्भुव त्रयीवेद) के दाम्पत्यभावात्मक जिस पुरुष (स्वयम्भूप्रजापति–विश्वकर्म्मा–वाचस्पति) से गायत्राग्निरूप (पृथिव्यपेक्षया गायत्राग्निरूप, किन्तु स्वमण्डलापेक्षया-सावित्राग्निरूप) सौरवेद का आविर्भाव हुआ, वह पौरुषेय अवश्य है। किन्तु कदापि अभीतक इसमें मर्त्य-भाव का समावेश नहीं हो पाया है। अतएव अपने प्रातिस्विक स्वरूप से है यह भी नित्य ही। अनित्यभावात्मक-प्लवभाव का आविर्भाव तो बहुत आगे जाकर पार्थिव–भूत–भौतिक–मर्त्य–क्षर–भावों से सम्बन्ध रखने वाले उस पार्थिव–'**यज्ञमात्रिकवेद**' में हीं होगा, जिसके सम्बन्ध में–'**प्लवा एते अदृढा यज्ञरूपाः**'–'**क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके वसन्ति**' इत्यादि-श्रौती स्मार्त्ती उपनिषदों से स्पष्ट है। उत्पत्ति का प्रधान व्यक्तीभाव तो क्षरजगत् से ही सम्बन्ध रखता है। सौरलोक स्वयं अपने रूप से तो स्वरप्रधान बनता हुआ अक्षररूप अमृतलोक ही है। तभी तो अक्षर को-'**अमृतस्यैष सेतुः**' माना गया है। अपने अक्षरात्मक इसी 'अमृतम्' धर्म्म से यह सौर पौरुषेय वेदतत्त्व स्वयम्भू से उत्पन्न होता हुआ भी मर्त्यभावों से क्योंकि असंसृष्ट है अपने प्रातिस्विक स्वर-वाग्भाव से। अतएव इसे भी–'**स्वयमुद्‌बभौ**' कोटि में हीं प्रतिष्ठित मान लिया है ऋषि ने। अतएव इस सौरवेद को भी अमृतभावसूचिका- '**निगम**' उपाधि का सम्मान प्राप्त होगया है। सौरगायत्राग्निवेद किसी से उत्पन्न नहीं है। अपितु स्वयं ही विनिर्गत है–पारमेष्ठ्य मण्डल में स्वयम्भूपुरुष की कामना से। अतएव स्वयम्भूपुरुष से उत्पन्न होता हुआ भी यह तत्त्वतः क्षरमूला संस्कृतिरूपा सृष्टिलक्षणा उत्पत्ति से असंसृष्ट रहने से अनुत्पन्न–स्वतः एव आविर्भूत ही मान लिया गया है। द्यौः–लोकरूप पिता सूर्य्य गायत्रीमात्रिकवेदमूर्त्ति है। यही निगम का द्वितीयावतार है। द्वितीयावताररूप यह सौरवेदात्मक निगमब्रह्म ही बृहतीवाङ्मय बनता हुआ–'**बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः**'–इत्यादिरूपेण बृहत्सामरूप से त्रैलोक्य का आधार प्रमाणित हो रहा है। पितृ-भावात्मक इसी सौर '**निगमपुरुष**' के गायत्रीमात्रिक–त्रयीवेद का स्वरूप दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कह रहे हैं—

यदेतन्मण्डलं तपति–तन्महदुक्थं, ता ऋचः, स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चि-र्दीप्यते–तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः–सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रयी–एव विद्या तपति। वाग्घैव तत् पश्यन्ती वदति। —शत० ब्रा० १०।५।२।१–२।

४१–उक्थवैराजिकविद्यात्मिका–सौरी–त्रयीविद्या—

"सूर्य्यबिम्ब ऋग्वेद है, सूर्य्यमण्डल (रश्मिमण्डलात्मक हिरण्मयाण्डवृत्त) सामवेद है, सौरकेन्द्रा-वच्छिन्न प्राणाग्नि यजुर्वेद है। सूर्य्य क्या तप कर रहा है, ये तो तीनों वेद ही तप रहे हैं। 'परावाक्' रूपा स्वयम्भूवाक् से अभिन्ना सौरी वेदमयी '**पश्यन्ती**' नाम की 'वाक्' (स्वरक्षरात्मिका बृहतीवाक्) ही मानों स्वयं ही अपना वेदस्वरूप व्यक्त कर रही है", उक्त वचन का यही अक्षरार्थनिष्कर्ष है, जिसके तत्त्वार्थसमन्वय के लिए तो महदुक्थविद्यामूला-'**उक्थवैराजिकविद्या**' के स्वाध्याय में हीं प्रवृत्त होना चाहिए, एवं अपनी तत्-प्रवृत्ति की सफलता के लिए सर्वप्रथम श्रद्धापूर्वक चाक्षुषपुरुष नामक दक्षिणाक्षिपुरुष की उपासना का ही अनुगामी बनना चाहिए। **नान्यः–पन्था विद्यते-अयनाय।**

४२ सौरी-त्रयीविद्या, एवं तच्छरीररूप शब्दात्मक वेदशास्त्र—

'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः' इत्यादिरूपेण लोक में भी सूर्य्यनारायण का वेदत्रयीमयत्त्व सुप्रसिद्ध है। 'तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत' के अनुसार स्वयम्भूपुरुष के मुख से अभिव्यक्त-मुखरूप अग्निलक्षण यह सौर त्रयीवेद अवश्य ही नित्यवेद है। अतएव अवश्य ही यह भी स्वयम्भू-वेदब्रह्मवत्-'स्वयं निर्गतः' निर्वचन से-'निगम' ही माना जायगा। यही वह 'नित्यनिगमशास्त्र' है, जिसके आधार पर समस्त प्राकृतिक धर्म्म प्रतिष्ठित हैं व्यवस्थित हैं, जैसाकि-'वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ' इत्यादि मनुवचन से प्रमाणित है। मानवधर्म्म का आधारभूत वेदशास्त्र यही सौर नित्यवेदशास्त्र है, जिस की प्रतिकृति पर ही शब्दात्मक वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा, जिस इस रहस्यात्मक समन्वय का यहाँ अवसर नहीं है।

४३-निगमात्मक सूर्य्य, तथा आगमात्मक चन्द्रमा का दाम्पत्यभाव, एवं निगमागम-ब्रह्म का द्वितीय-पौरुषेयावतार--

'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वकल्पयत्' में धाता प्रजापति विश्वकर्म्मा स्वयम्भूनिगमपुरुष, एवं विश्वोपादनभूत परमेष्ठी आगमप्रकृति, दोनों का दाम्पत्यरूप है। सूर्य्य उस स्वयम्भूपुरुष का प्रवर्ग्यभाग है, तो चन्द्रमा आपोमयी पारमेष्ठिनी प्रकृति का प्रवर्ग्यभाग है। सूर्य्य त्रयीरूप निगम है, तो चन्द्रमा अथर्वरूप आगम है। और यही निगमागमतत्त्व का दूसरा प्रक्रम है, जो धाता-प्रजापति के द्वारा यथापूर्व उपकल्पित-व्यवस्थित है। यों निगमागम के दो विवर्त्त हो जाते हैं। पहिला विवर्त्त अपौरुषेय है, दूसरा विवर्त्त पुरुष स्वयम्भू से आविर्भूत होने के कारण पौरुषेय है। अपौरुषेय निगमागम शाश्वत-अप्राकृत-आत्मधर्म्म के साक्षी बनते हैं, एवं पौरुषेय निगगमागम शाश्वतधर्म्म से अभिन्न प्राकृत-विश्वधर्म्म की प्रतिष्ठा बनते हैं।

१-ब्रह्मनिःश्वसितवेदः	(ब्रह्म--स्वयम्भूः)-निगमवेदः	(स्वयम्भूः)-त्रयीवेदः		—अपौरुषेयः
२-ब्रह्मस्वेदवेदः	(सुब्रह्म-परमेष्ठी)-आगमवेदः	(परमेष्ठी)-अथर्ववेदः		
१-गायत्रीमात्रिकवेदः	(ब्रह्म--अग्निः)-निगमवेदः	(सूर्य्यः)-त्रयीवेदः		--पौरुषेयः
२-सुब्रह्मण्यवेदः	(सुब्रह्म-सोमः)-आगमवेदः	(चन्द्रमाः)-अथर्ववेदः		

१-अपौरुषेयनिगमवेद एव--आत्मधर्म्मस्य--स्वरूपव्याख्या (अप्राकृतोऽयं धर्म्मः)।

२-पौरुषेयनिगमवेद एव--विश्वधर्म्मस्य-स्वरूपव्याख्या (प्राकृतोऽयं धर्म्मः)।

——**——

४४-उपग्रहविद्यात्मिका आगमविद्या, एवं तद्रूपा पृथिवीविद्या—

पितासूर्य्य से अनुप्राणित्त गायत्रीमात्रिक-निगमवेदात्मिका वेदविद्या जिस आगमविद्या की जननी बनती है, दो शब्दों में उसका भी समन्वय कर लीजिए। **'उपग्रहविद्या'** का नाम हीं आगमविद्या है, जिसे **'मातृविद्या'** भी कहा गया है। 'पृथिवी' किसी नियतभाव का नाम नहीं है। अपितु पिण्डमात्र का सहज नाम है— 'पृथिवी'। इस सामान्यपरिभाषा के अनुसार सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र-ग्रह-उपग्रह आदि आदि यच्चयावत् पिण्ड-'पृथिवी' नाम की सीमा में अन्तर्भुक्त हैं।

४५-पृथिवीविवर्त्तानुगत 'भूः', और 'मण्डल' शब्दों का स्वरूपदिग्दर्शन—

प्रत्येक **वस्तुपिण्ड** 'भू' है, प्रत्येक वस्तुपिण्ड का महिमारूप **'मण्डल'** उस पिण्ड का 'स्वः' है, मध्यस्थ तत्त्व 'भुवः' है। यों प्रत्येक पदार्थ भूः-भुवः-स्वः-रूप से त्रिलोकात्मक बना हुआ है, जिस इस लोकविद्या का वेदशास्त्र की सुप्रसिद्धा-**'साहस्रीविद्या'** में स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अभी उन सब पिण्डों में से परमेष्ठी के उपग्रह सूर्य्यपिण्ड को हम छोड़ रहे हैं। एवं इस सूर्य्य को एक स्वतन्त्र महाग्रह मानते हुए इसके प्रवर्ग्यभागात्मक उपग्रहों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। देवसेनाग्रह, शनैश्चर, मङ्गल, बृहस्पति, बुध, शुक्र, भूपिण्ड, आदि इसी सूर्य्य के उपग्रह हैं, जो एक स्वतन्त्र स्वतन्त्र पृथिवी लोक है। इन सब में से भी मानवप्रजाधारत्वेन केवल सुप्रसिद्ध भूपिण्डात्मक पृथिवीलोक को ही प्रधानरूपेण लक्ष्य बना लेते हैं। भूपिण्ड सूर्य्य का ही उपग्रह है। सौरप्रवर्ग्यभाग ही 'भूः' है, जिसके **आपः-फेन-मृत-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्य**-ये आठ अवयव माने गए हैं (देखिए-शत० ६।१।१।१० से १५ वीं कण्डिका-पर्य्यन्त)।

४६-आपोमय पारमेष्ठ्य आगमतत्त्व, एवं तदभिन्ना आगममयी अप्प्रधाना पृथिवी —

जिसप्रकार सौरवेद गायत्रीमात्रिकवेदमूर्ति है, तथैव तत्प्रवर्ग्यरूपा अष्टावयया पृथिवी भी-**'अष्टाक्षरा वै गायत्री'** रूपेण गायत्री ही है, जैसाकि—**'या वै सा गायत्री-आसीत्, इयं वै सा पृथिवी'** (शतपथब्रा०) इत्यादि से प्रमाणित है। यह गायत्रीपृथिवी निगमात्मक गायत्रसूर्य्य से ही प्रवर्ग्यरूपेण क्योंकि आगता है, समुत्पन्ना है। अतएव अवश्य ही **'निगमात् सूर्य्यात्-आगता'** निर्वचन से पृथिवी को आगमात्मिका माना जा सकता है, माना गया है। पारमेष्ठ्य आगमतत्त्व को-**'आपः'** कहा गया है पूर्व में। इधर-**'अद्भ्यः पृथिवी'** इत्यादि तैत्तिरीय-श्रुति के अनुसार अप्तत्त्व से ही वायु-अग्नि-सौरतेजः-संयोगादि की संसृष्टि से-आपः-फेनादिरूपा अष्टावयवा पृथिवी का (भूपिण्ड का) स्वरूप सम्पन्न हुआ है। अतएव इस पारमेष्ठ्य-आगमीय-अप्तत्त्व की पारम्परिक उपादानता से भी मातापृथिवी का 'आगमत्त्व' भलीभाँति प्रमाणित हो रहा है।

४७-यज्ञमात्रिकवेदमयी माता पृथिवी, और उसका आगमत्त्व—

निष्कर्षतः निगमसूर्य्य के ही प्रवर्ग्यभाग (पृथक् होजाने वाले भाग) शनि-बृहस्पति-शुक्रादि रूप में परिणत होते हुए स्व-स्व-नियत-कक्षावृत्तों पर **'आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्'** रूपेण विश्वकेन्द्ररूप बृहती-छन्द (विष्वद्वृत्त) के केन्द्र में प्रतिष्ठित स्वाधारभूत सूर्य्य के चारों ओर अलातचक्रवत् यथास्वरूपानुगत

वेगानुपात से परिभ्रममाण हैं । भूपिण्डात्मिका पृथिवी भी इसी परिभ्रमण के द्वारा पार्थिवसम्वत्सर की स्वरूपाधिष्ठात्री बनती हुई यज्ञमात्रिक नामक–क्षरप्रधान–'भूतवेद' का सर्ज्जन कर रही है । यही आगमरूपा पृथिवियों का सहज अवस्थान–क्रम है, जिसकी स्वरूपव्याख्या के लिए ही सर्वत्सरविद्यात्मिका–सम्वत्सररूपा–'क्रान्ति विद्या' का आविर्भाव हुआ है, जिसका आंशिक स्वरूप–दिग्दर्शन–श्वेत्क्रान्ति नामक तृतीयखण्डारम्भ में हुआ है । **यों निगमात्मिका सूर्य्यविद्या ही आगमविद्यात्मिका पृथिवीविद्या की मूलाधिष्ठात्री बनी हुई है, यही वक्तव्य निष्कर्ष है ।**

४८–मातापृथिवी, तथा पितासूर्य्य का आगम–निगमत्त्व, एवं तदनुबन्धी शिवशक्तिभाव–

पृथिवी माता है, द्युलोकोपलक्षित सूर्य्य पिता है, जैसाकि-**द्यौष्पितः०** इत्यादि पूर्वमन्त्र से स्पष्ट किया जा चुका है । अतएव अत्र यह कहा जा सकता है कि—**निगमात्मिका सूर्य्यविद्या 'पितृविद्या' है, आगमात्मिका पृथिवीविद्या मातृविद्या है । पिता पुरुष है, अतएव सूर्य्यविद्या 'पुरुषविद्या' है । माता प्रकृति है, अतएव पृथिवीविद्या 'प्रकृतिविद्या' है । पुरुष 'शिव' है, अतएव पुरुषविद्या 'शिवविद्या'** है । **प्रकृति 'शक्ति' है, अतएव प्रकृतिविद्या 'शक्तिविद्या है,** जैसाकि प्रकारान्तर से अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है ।

४९--निगम, और आगम–मन्त्रों का स्वरूप--विभेद—

जैसाकि पूर्व में कहा गया है–पार्थिवी आग्नेयी वाक् व्यञ्जनवर्णभावप्रधाना बनती हुई 'अनुष्टुप्वाक्' है, जो कि अपने परिवर्त्तनात्मक–मर्त्यभाव से क्षरात्मिका है । पार्थिव–विद्यात्मिका आगमविद्या में क्योंकि इस मर्त्याक्षरवाक् का ही प्राधान्य है । अतएव आगमीय मन्त्रों में उदात्त–अनुदात्तादि–स्वरभावों का विशेष नियन्त्रण नहीं रहता, जबकि निगमविद्यात्मिका सूर्य्यविद्या में तदनुगता स्वराक्षरानुगति के कारण स्वरभाव सर्वात्मना प्रमुख बना रहता है । स्वर का, एवं स्वरानुगत वर्ण का यत्किञ्चित् भी स्खलन स्वरभावप्रधान निगममन्त्र (वेदमन्त्र) को इष्ट के स्थान में अनिष्ट का जनक बना देता है * ।

५०--सूर्य्यनिगममूला विराड्विद्या, तथा पृथिवी-आगममूला दशमहाविद्या, एवं दोनों निगमागमविद्याओं का ओतप्रोतभावसम्बन्ध—

सूर्य्यविद्या 'निगमविद्या' है, इसका कदापि यह तात्पर्य्य नहीं है कि, निगम में केवल सौरतत्त्वों का ही निरूपण हुआ है, किंवा आगमविद्यात्मिका पार्थिवविद्या में केवल पार्थिवतत्त्वों का ही निरूपण हुआ है । अपितु दोनों में दोनों हीं विद्याओं का स्वरूपविश्लेषण हुआ है । लक्ष्यभेदात्मक दृष्टिकोणमात्र में विभेद है । निगमशास्त्र जहाँ सूर्य्य को आधार बना कर विश्वात्मिका **विराड्विद्या** का निरूपण करता है, वहाँ आगमशास्त्र पृथिवी को आधार बना कर विश्वविद्यात्मिका **'दशमहाविद्या'** का निरूपण कर रहा है । स्थितिमूला सृष्टिविद्या ही सूर्य्यात्मिका निगमविद्या है, एवं दृष्टिमूला सृष्टिविद्या ही पृथिव्यात्मिका आगमविद्या है । निगम में भी

*** दुष्टः शब्दः--स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।**
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ।।

आगम प्रतिष्ठित है, एवं आगम में भी निगम प्रतिष्ठित है । कैसे ?, प्रश्न के समाधान के लिए निगमशास्त्र के रुद्रतत्त्व को ही लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए ।

५१–क्षत्ररुद्रात्मक सूर्य्य, और उसके विट्–रुद्रात्मक असंख्य महिमाभाव—

× ताम्र अरुण–बभ्रु–सुमङ्गल–निगमवेदात्मक पिता सूर्य्यनारायण साक्षात् 'रुद्र' हैं अपने विशुद्ध मघवेन्द्रात्मक सावित्राग्निरूप भ्राजतेज÷ से । एवं प्रचण्डरूप से विश्व में प्रदीप्त हैं अपने रुद्धद्रवणधर्म्म का सर्वत्र प्रसार करते हुए । ये ही सूर्य्य **क्षत्ररुद्र** नाम से उपस्तुत हैं निगमशास्त्र में । सहस्रधा–महिमानः–सहस्ररूप से अच्छिद्र–पवित्ररूप से त्रैलोक्य में अच्छिद्र–आलोक–पटलरूप से व्याप्त रश्मिभावानुगत असंख्य–रश्म्यवच्छिन्न सौरप्राण ही **'विट्रुद्र'** [प्रजारुद्र] हैं । क्षत्रात्मक-उक्थरूप–मूलकन्दलात्मक-रुद्र को लक्ष्य बना कर जहाँ रुद्रतत्त्ववेत्ता महर्षि—**'एको रुद्रः-न द्वितीयायतस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः'** [श्वेता० उप० ३।२।] यह कह रहे हैं, वहाँ वे ही वैज्ञानिक-**'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्राः-ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः'** [यजुःसंहिता] यह कहते हुए उसके अर्चि–रश्मि–अर्क–रूप- विड्भावात्मक–असंख्य रुद्रभावों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं ।

५२–रुद्रदेवता के घोरशरीर, एवं शिवशरीर, तथा दोनों के अध्यात्म में प्रत्यक्ष दर्शन–

अनन्त रश्मिरुद्रों से नित्यसमन्वित क्षत्ररुद्रात्मक सौराग्निरुद्रदेवता के–**'अग्निर्वा रुद्रः । तस्यैते द्वौ तन्वे, घोरान्या च, शिवान्या च'** के अनुसार **घोरशरीर, शिवशरीर,** भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं । अपने अध्यात्मजगत् में [मानवस्वरूप में] दोनों स्वरूपों का साक्षात्कार कीजिए । पूर्व में अग्नि को **'अन्नाद'** [अन्न खानेवाला] बतलाया गया है । अन्नाहुति–ग्रहण करते रहना अन्नादाग्नि का स्वाभाविक धर्म्म है । प्रज्ज्वलित वस्वग्नि [भूताग्नि] में जबतक काष्ठान्न [ईंधन] की आहुति होती रहती है, तबतक यह भूताग्निस्वरूप से प्रज्ज्वलित होता रहता है । अग्नि का इन्धन [प्रज्ज्वलन] काष्ठान्नाहुति पर ही अवलम्बित है । इसीलिए तो [प्रज्ज्वलनात्मक इन्धनकर्म्मसाधक होने से ही तो] काष्ठ को 'इन्धन' [ईंधन–लकड़ी] कहा गया है । ठीक यही अवस्था चतुर्विध–अन्नपरिपाककर्त्ता आध्यात्मिक [शारीरिक] वैश्वानराग्नि की है । लोम-केश, तथा नखों के अग्रभाग को छोड़ कर सर्वाङ्गशरीर में वैश्वानराग्नि अन्न-कामना करता हुआ प्रज्ज्वलित है । जहाँ जहाँ स्पर्श करते हैं, वहाँ वहाँ ही ऊष्मा [ताप] की अनुभूति होती है । यही इस वैश्वानर अग्नि के प्रत्यक्ष दर्शन हैं । नाक-कान-मुखादि विवरों को अवरुद्ध कर लेने पर जो एकप्रकार की नादात्मात्मिका ध्वनि सुनाई पड़ती है, वही इसका श्रवणप्रत्यक्ष है ।

५३–उग्र--प्रचण्ड--प्रेत--कर्म्मा भगवान् घोररुद्र —

इत्थंभूत वैश्वानरलक्षण शारीरिक अन्नादाग्नि की स्वरूपसत्ता के लिए ही–**'तस्मात् सायंप्रातरेवाशी-स्यात्'** रूपेण मर्य्यादित सच्छन्दस्क मानवश्रेष्ठ अहोरात्र में सायं–प्रातः-दो बार ही हित–मित–स्वल्प–प्रकृति–सिद्ध भोजनकर्म्म का अनुगमन करते रहते हैं । स्पष्ट है कि, जबतक यह प्रातः–सायंकालीन–अन्नाहुतिरूप

× **असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः** (यजुःसंहिता)

÷ **विभ्राट् बृहत् पिबतु सौम्यम्** (यजुःसंहिता)

दैनंदिनीय अग्निहोत्रकर्म्म यथाविधि प्रक्रान्त रहता है, तभीतक अन्नादाग्नि स्वस्वरूपेण प्रकृतिस्थ–जागरूक बने रहते हुए अध्यात्मसंस्था का रक्षण करते रहते हैं। जब भी यह अन्नाहुतिक्रम अवरुद्ध कर दिया जाता है प्रज्ञापराधद्वारा, अथवा तो प्राप्तवयस्कता में [शतायुर्वर्षपरिसमाप्ति पर] उपरत हो जाता है प्रकृत्या, तो अन्नाहुति के उपशान्त होते ही शरीररुद्राग्नि एकबार शारीरिक अस्थि–मांसादि क्रव्यादान्नों को खाकर तो अत्यन्त ही उग्रकर्म्मा–प्रचण्डकर्म्मा–प्रेतकर्म्मा–बन जाते हैं। अन्ततोगत्वा सबकुछ भस्मायशेष में परिणत कर पर–ज्योति में विलीन हो जाते हैं।

५४--शान्तरुद्रियभावानुगत--शतरुद्रियभाव, एवं--शान्तरुद्र—

संसिद्ध है कि, रुद्राग्नि का शिवत्त्व अन्नाहुति पर ही अवलम्बित है। अन्नसम्बन्ध में वे ही रुद्र शिवशरीरी बन कर विश्व का संरक्षण करते रहते हैं, तो–अन्नाभावमें अपने प्रातिस्विक रुद्रभाव में आकर घोरशरीरी बन कर वे ही विश्वसंहार के निमित्त बन जाते हैं। प्रतिदिन सायं–प्रातः खाए जाने वाले अन्न से उग्र रुद्रदेवता शिवात्मक शान्तभाव में हीं परिणत होते रहते हैं। अतएव वैज्ञानिकों नें इस रुद्रान्न का सांस्कृतिक नाम रक्खा है–**'शान्तरुद्रिय–अन्न'**, (किंवा **'शान्तदेवत्यान्न'**)। परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'शान्तरुद्रिय' शब्द ही–**'शतरुद्रिय'** नाम से लोक में प्रसिद्ध हो रहा है। इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करता हुआ निगमशास्त्र कहता है—

अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः। स एषोऽत्र रुद्रो देवता। स दीप्यमानोऽतिष्ठत्--अन्नमिच्छमानः। तस्माद्देवाः--अबिभयुः--'यद्वै नोऽयं न हिंस्यात्' इति। तस्मै एतदन्नं समभरन् शान्तदेवत्यम्। तेनै--मेनमशमयन्। शान्तदेवत्यं -(शान्तरुद्रियं) ह वै 'शतरुद्रियम्' इत्याचक्षे-परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः। —शत० ९।१।१।१।

५५--अग्निचिति-सञ्चिति-मूर्त्ति रुद्रदेवता, एवं इन की शिवभाव में परिणति—

पृथिवीरूपा प्रकृतिभूता–आपो–जाया–धारा–वलादिसमन्विता जननी मातृःश्री के परमपवित्र गर्भाशय में नव (९) मासपर्य्यन्त मातृभुक्तरसान्न से स्वाग्निचिति के द्वारा चित-संचित होकर अन्त में जब यह चित्याग्निरूप गर्भशिशु पूर्णरूप में परिणत हो जाता है, तो सर्वात्मना सुसंस्कृत–परिपूर्ण रुद्राग्नि के आघात से 'एवयामरुत्' नामक प्राणवायुविशेष की क्रिया से स्थानच्युत होकर यथासमय माता धरित्री के पावन क्रोड़ में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसके भूमिष्ठ होते हुए ही तदनुगत सम्पूर्ण इन्द्रियदेवता भयत्रस्त बन जाते हैं (बालक रोपड़ता है)। तत्काल इसके लिए लेह्यान्न की आहुति व्यवस्थित होती है। अन्नाहुति से अविलम्ब ही रुद्राग्निताप से रुदन करता हुआ शिशु शिवभाव में परिणत हो जाता है (रोता हुआ बालक मधु–गुड़ादि रसान्न का ग्रहण करते ही चुप हो जाता है)। यही अन्नाहुतियुक्त रुद्रदेवता के सर्वसंरक्षक शिवस्वरूप का दिग्दर्शन है।

५६- सौर अग्नि के विध्वंसक, एवं सर्ज्जक रुद्र, तथा शिवभाव—

अब सूर्य्यरुद्र को लक्ष्य बनाइए। सूर्य्य साक्षात् क्षत्ररुद्र हैं, प्राणियों को स्व प्रातिस्विक प्रचण्ड ताप से संक्षुब्ध करने वाले सान्तपनाग्निरूप भीषण देवता हैं अपनी **'रुद्रद्रवणा'** प्राणशक्ति से। किन्तु पार्थिव

ओषधि–वनस्पति–प्राणि–अमृत–रसादि अन्नों की आहुति से, चान्द्रसोमरसाकर्षण से, सर्वोपरि पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति नामक पवित्र- गाङ्गेय सोम की अजस्र आहुति से सौराग्नि सुशान्त बनते हुए त्रैलोक्य के जीवनप्रदाता शिवस्वरूप ही प्रमाणित हो रहे हैं। जिस दिन (ब्राह्म अहःकालावसान पर) यह अग्निहोत्रकर्म्म अवरुद्ध हो जायगा, सौराग्नि सम्पूर्ण त्रैलोक्य को भस्मावशेष में परिणत कर अपने उक्थ पारमेष्ठ्य अङ्गिरारसरूप में विलीन हो जायँगे।

५७--महच्छक्ति--हैमवतीउमा--माया--नारायणी--चिच्छक्ति--राधा, आदि तत्त्वों की अभिन्नता, एवं चान्द्रसोमगर्भिता पार्थिवी सौम्याशक्ति का मातृशक्तित्व—

चन्द्रमा भूपिण्ड का ही उपग्रह है। अतएव चान्द्रसोम, तथा पार्थिव ओषध्यादि रस, सब का पृथिवी में हीं अन्तर्भाव है। पार्थिव प्रजा की अपेक्षा से तो इस चान्द्रसोमगर्भिता पार्थिवी सौम्याशक्ति से ही सूर्य्यरुद्र शिवभाव में परिणत हो रहे हैं। रसशक्तिरूपा सोमाहुति ने भी सूर्य्यरुद्र को शिवभाव प्रदान कर रक्खा है। हिरण्मयाण्डवृत्तमध्यवर्त्ती सूर्य्यक्षत्रात्मक सौर सावित्राग्नि हिरण्यरेता हैं, हुतभुक् हैं, दहनधर्म्मा हैं, हव्यवाट् हैं। निश्चयेन इन का अग्नीषोमात्मक यह शिवभाव सोमशक्ति (अन्नाहुति) पर ही अवलम्बित है। इस सौर हिरण्मय मण्डल की सीमा में प्रतिष्ठिता पार्थिव–चान्द्र–सोममयी–महद्भावानुगता चिच्छक्ति ही वेदशास्त्र की–'**हैमवतीउमा**' है। यही अद्वैतवादियों को विकम्पित–त्रस्त–संत्रस्त करती रहने वाली '**माया**' है। यही शुद्धाद्वैतवादी वाल्लभों की भगवदभिन्ना '**चिच्छक्ति**' है। यही विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजियों की '**नारायणी**' है। एवं यही भागवतसम्प्रदायानुगत भक्तों की '**राधा**' है।

५८--सोमानुगत 'उमा' भाव, और हैमवतीउमा—

'**मम योनिर्म्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्**' (गीता) के अनुसार पारमेष्ठ्य–महत्सोम ही चिदात्मपुरुष [अव्ययपुरुष] की गर्भभूमि है। वह महत्सोम सौरमण्डल में आकर 'हैमवती चिच्छक्ति' से समन्वित हो जाता है। अतएव-'उमासहितो भावः' के अनुसार पारमेष्ठतत्त्व-'**सोम**' कहलाया है। चिद्ग्राहक–सोम से समन्विता यही 'उमा' ब्राह्मणग्रन्थों में विषयभेदनिबन्धन–दृष्टिकोणभेद से यत्र–तत्र अम्बिका, अम्बा, माता, जनि, जाया, धारा, आपः, अजा, माया, आम्भृणी, सरस्वती, लक्ष्मी, आदि आदि नामों से उपवर्णित है। सौर इन्द्र शिव हैं, पार्थिव–प्राज्ञ–सोमरूपा हैमवती–उमा ही इस शिव की शक्ति है।

५९--सौर अग्नि, तथा चान्द्र सोम की कृष्णवर्णता—

जिसप्रकार दाहकधर्म्मा सौर अग्नि-'**आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः**' [यजुः संहिता] रूप से कृष्ण है, एवमेव–'**चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः**' [शतपथ] रूप से दाह्यधर्म्मा चान्द्रसोम भी कृष्ण ही है। सौरकृष्ण–दाहकाग्नि से समन्वित होकर कृष्ण–दाह्य–सोम उसी प्रकार प्रज्ज्वलित हो पड़ता है, जैसे कि सोमस्थानीय घृत अग्निज्वाला में हुत होकर आलोकरूप से परिणत हो जाता है। आप सौर सम्वत्सर में आतप-रूप जो आलोक [प्रकाश] देख रहे हैं, व न सौराग्नि का धर्म्म है, न सोम का। अपितु दाहकाग्नि–दाह्यसोम- दोनों के यज्ञात्मक अन्तर्य्यामसम्बन्ध से तात्कालिकरूपेण उदीयमान धर्म्म का ही प्रभाव है। सोम ही आहुत होकर

ज्योति का प्रवर्त्तक बन रहा है, जैसाकि–'त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ' (ऋक्संहिता १।६।१।२२) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है।

६०--पार्थिव देवतात्रयी का पराशक्ति उमा के द्वारा उद्बोधन--

'त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षम्' [ऋक्सं० १।६।१।२२] के अनुसार ऋतधर्मा ऋतसोम त्रैलोक्याकाशरूप उरु [महान् विशाल] अन्तरिक्ष में व्याप्त है। आन्तरिक्ष्य आकाश में सर्वत्र व्याप्त सोम चिच्छक्तिरूपा हिरण्यवर्णा सौरी हैमवती उमाशक्ति से अभिन्न है। सचमुच यह सोममयी चिच्छक्ति उस चिद्घन अव्ययपुरुष की ही प्रकृतिरूपा महाशक्ति है। अतएव जिसप्रकार अव्ययपुरुष **'परपुरुष'** कहलाया है, एवमेव तच्छक्तिरूपा यह प्रकृतिदेवी पराव्यय से अभिन्न रहती हुई–**'पराप्रकृति'–'पराशक्ति'** कहलाई है, जैसाकि–**'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'** इत्यादि औपनिषद–वचन से स्पष्ट है। पार्थिव त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–नामक तीनों स्तोमलोकों के अतिष्ठावा [अधिष्ठाता] **अग्नि–वायु–इन्द्र**–नामक अर्थ–**क्रिया–ज्ञान**–शक्तिमय त्रैलोक्य–देवताओं को स्वमूलभूत अव्ययब्रह्म का अनुग्रह मध्यस्था उर्वन्तरिक्ष में प्रतिष्ठिता--चन्द्र कक्षा--पराप्रकृतिरूपा--हैमवती उमा के अनुग्रह से ही प्राप्त हो रहा है। **सचमुच बिना शक्त्युपासना के ब्रह्मात्मबोध सर्वथा ही असम्भव है,** जैसाकि निम्नलिखित निगमवचन से ही सर्वात्मना निर्भ्रान्तरूपेण संसिद्ध है—

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम--बहुशोभमानां--उमां--हैमवतीम्। तां होवाच--'किमेतत्--यक्षमिति ?'। सा 'ब्रह्मेति' होवाच। ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वम्--इति। ततो हैव विदाञ्चकार-ब्रह्मेति। —केनोपनिषत् ३।१२।१।४।

६१–आगमशास्त्रोपवर्णिता महामाया पराशक्ति का निगमशास्त्र के द्वारा महिमात्मक यशोवर्णन—

'मही मित्रस्य वरुणस्य माया' [ऋक्सं० ३।६१।७।]–**'माया वां मित्रा वरुणा दिवि श्रिता'** [ऋक्सं० ५।६३।४।]–**'अस्य मायां महीं देवस्य'** [ऋक्सं० ५।८५।६]–**'अम्ब निष्पर समरीर्विदाम्'** [यजुः सं० ६।३६।]–**'योषा वा अम्बा'** [शत० ३।६।४।२१।]–'शतं वो अम्ब ! धामानि सहस्रमुत रुहः' [यजुः सं० १२।७६।]–**'अम्बे ! अम्बिके ! अम्बालिके ! न मा नयति कश्चन'** [यजुः सं० २३।१८।]–**'एष ते रुद्रभागः सहस्वस्राम्बिकया तं जुषस्व'** [यजुः सं० ३।५७।]–**'अम्बिका ह वै नामास्य–रुद्रस्य स्वसा। तस्यैष स्त्रिया सह भागः। तस्मात्–त्र्यम्बक नाम'** [शत० २।६।२।६।]–**'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्–मायिनं तु महेश्वरम्'** [श्वेता० उप० ४।१०।]–**'भोक्ता पुरुषः, भोज्या प्रकृतिः'** [मैत्र्युपनिषत् ६।१०।]–**'अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्'** [श्वेता० उप० ४।६।] इत्यादि **मन्त्र–ब्राह्मण–उपनिषत्**–वचन विस्पष्टरूपेण महामाया परा भगवती अम्बा के ही विविध महिमाभावों का यशोगान कर रहे हैं, जिन यशोगानों के आधार पर ही आगमशास्त्ररूप शक्तिशास्त्र का विस्तार हुआ है। और यही तो माता-पृथिवीमूलक आगमशास्त्र का निगममूलकत्त्व है। तभी तो आगमशब्द का-**'निगमादागतः'** रूप निर्वचनार्थ समन्वित हो रहा है।

६२–भृग्वङ्गिरोमयी पारमेष्ठिनी पराशक्ति, एवं तदनुगता ब्रह्म की स्वेदधाराएँ—

हैमवती सौरी चिच्छक्तिरूपा उमा माहेश्वरी का मूल उक्थरूप ही मूलसंहिता में (ऋक्संहिता में) '**आम्भृणी**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो '**सरस्वती**' से नित्य समन्वित माना गया है। पाठकों को स्मरण होगा कि, स्वयम्भूरूप ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय निगमवेद के 'यज्जू' रूप 'यजुः' के 'जू' भाग से यत् के व्यापार से जिस आपोमय मण्डल का आविर्भाव हुआ है, वही 'परमेष्ठी' सुब्रह्म कहलाया है, एवं यही उस मूल त्रयीनिगम से आगत–उत्पन्न वह मूल आगमभाव है, जिसमें स्नेहगुणमयी सोमप्रधाना **भृगुधारा**, तथा तेजोगुणमयी अग्निप्रधाना **अङ्गिराधारा**, ये दो स्वेदधाराएँ पृथक् पृथक् रूपेण निर्धारित हैं, जैसाकि–'**स भूयोऽश्राम्यत्–[स्वयम्भू–ब्रह्म], भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य-तप्तस्य–सन्तप्तस्य-सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक्-स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्-आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि, सर्वं जनयिष्यामि, सर्वं–आप्स्यामि–इति।**' (गोपथब्राह्मण-पूर्वभाग १।१–२ब्रा०) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। '**आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्**' (गोपथ) से उपवर्णित भृग्विङ्गिरोरूप पारमेष्ठ्य-आपः ही वह 'जाया'–शक्ति है, जिसका सौरत्रैलोक्य में हैमवती उमारूप से व्यक्तीभाव हुआ है, एवं यही आपोमयी पारमेष्ठ्या शक्ति-'**अद्भ्यः पृथिवी**' रूपेण अष्टावयवा माता-पृथिवीरूप में परिणत होती हुई मानवीय प्रजा की आराध्या आगमनिष्ठा की अधिष्ठात्री बनी हुई है, जैसाकि पूर्व में भी निवेदन किया जा चुका है।

६३–भृगुगर्भिता अङ्गिराधारात्मिका महासरस्वती, एवं अङ्गिरागर्भिता भृगुधारात्मिका महालक्ष्मी, तथा महालक्ष्मी का नैगमिक 'आम्भृणी' रूप—

अङ्गिराधारा ही रसात्मिका स–रसवती–'**सरस्वती**' वाक् है, जो सौरब्रह्माण्ड में व्याप्त शब्दब्रह्म की मूलप्रवर्त्तिका बनती है। एवं आपोमयी अङ्गिरागर्भिता वह भृगुधारा ही '**आम्भृणी**' वाक् है, जो सौरत्रैलोक्य के अर्थब्रह्म की मूलाधिष्ठात्री बनती है। सम्पूर्ण लोक आपोमय हैं, प्रजा आपोमयी है, जैसाकि–'**इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः-पुरुषवचसो भवन्ति**' इत्यादि छान्दोग्यवचन से भी प्रमाणित है *। शब्दब्रह्मप्रवर्त्तिका–नादध्वनिलक्षणा सरस्वतीवाक् से अभिन्ना अर्थब्रह्मप्रवर्त्तिका भूत–भौतिक–प्रजा–लोकादि की उपादानकारणभूता–सौरब्रह्माण्डाधिष्ठात्री–'**त्रय्या-विद्यया सहापः प्राविशत्**' रूपेण अपने महद्रूप से स्वयम्भूब्रह्मा-परमेष्ठी-विष्णु–सौरमहादेवादि की भी अधिष्ठात्री–सर्वाधिष्ठात्री इसी आम्भृणी महामाया पराभगवती आम्भृणीदेवी का ऋग्वेदीय-आम्भृणीसूक्त में विस्तार से जैसा रहस्यात्मक विश्लेषण हुआ है, उसके यथावत् समन्वय में तो मादृशी यथाजाता प्रज्ञा सर्वथा ही कुण्ठित है। तद्रहस्य के आधार पर आगमाचार्य्योंनें जिस रहस्यशास्त्र (सप्तशती) का साक्षात्कार किया है, उसके शब्दात्मक संस्मरण की योग्यता भी यदि हमें उपलब्ध हो जायगी, तो अपना प्राकृत–जन्म हम सफल कर लेंगे। '**तस्य सर्वस्य या शक्तिः–सा त्वं किं स्तूयसे तदा**' ही एकमात्र विश्रामभूमि है अस्मदादि यथाजात जड़जीवों की। पवित्र कर लेते हैं हम भी माता आम्भृणी के रहस्यात्मक वर्णन से सम्बन्ध रखने वाले वर्णन के एक दो सूक्तिवचनों का उच्चारणमात्र कर अपने पशुभाव को।

***–अप्सु तं मुञ्च, भद्रं ते, लोकाह्यप्सु प्रतिष्ठिताः**
आपोमयाः–सर्वरसाः, सर्वमापोमयं जगत्॥ —महाभारत

६४--महालक्ष्मीस्वरूपिणी सर्वाधिष्ठात्री पराशक्ति माता आम्भृणी का वेदमहर्षि के द्वारा यशोवर्णन—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि, अहमादित्यैरुत विश्वेदेवैः ॥
अहं मित्रा वरुणोभा बिभर्मि, अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ॥
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥२॥
अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ॥
तां मा देव्याव्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोति ॥
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधिश्रुत श्रद्धिवंते वदामि ॥४॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ॥
यं कामये-तं तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं, तमृषिं, तं सुमेधाम् ॥५॥
अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ॥
अहं जनाय समदं कृणोमि, अहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥६॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्, मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ॥
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ॥७॥
अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ॥
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सम्बभूव ॥८॥

—ऋक्संहिता-आम्भृणीसूक्त-१० मण्डल । १२५ वाँ सूक्त

भृग्वङ्गिरोमय-आपः से कृतरूपा, अतएव आम्भृणी (आपोमयी-भृग्वङ्गिरोमयी) पारमेष्ठिनी वाग्-देवी कह रही हैं कि—मैं सौरत्रिलोकी के अन्तरिक्ष-स्थानीय एकादश रुद्रप्राणदेवताओं के साथ, द्युलोक-स्थानीय द्वादश आदित्यप्राणदेवताओं के साथ, पृथिवीलोकस्थानीय अष्ट वसुप्राणदेवताओं के साथ, किम्बहुना इन सभी त्रैलोक्य देवताओं के साथ (इनकी मूलप्रतिष्ठा बनती हुई) विचरण कर रही हूँ । मैं पूर्वकपाला-वच्छिन्न अहरधिष्ठाता इन्द्रप्राणात्मक मित्रदेवता के, तथा पश्चिमकपालावच्छिन्न रात्र्यधिष्ठाता वरुणदेवता के स्वरूपों को स्वस्वरूप से धारण किए हुए हूँ । भूगर्भस्थ अग्निदेवता, तथा द्युलोकस्थ (सूर्य्यस्थ) इन्द्रदेवता को भी मैंने हीं धारण कर रक्खा है । पार्थिव वसुओं की, आन्तरिक्ष्य-रुद्रों की प्रथमा सन्धि में, तथा रुद्रों एवं दिव्य आदित्यों कीं द्वितीया सन्धि में प्रतिष्ठित सांयौगिक-नासत्य, दस्र, नामक दोनों सान्ध्य अश्विनीप्राणदेवों को भी मैंने हीं धारण कर रक्खा है (यों सौरत्रैलोक्य में प्रतिष्ठित समष्टि-व्यष्टि-रूप सभी प्राणदेवताओं की मैं हीं प्रतिष्ठा बनीं हुई हूँ) ॥ १ ॥

(यज्ञस्वरूपसम्पादन करने के कारण) प्रतिद्वन्द्वी–आततायी–असुर–राक्षसों को सर्वात्मना विनष्ट करने में सक्षम सोम (ब्रह्मणस्पति नामक पारमेष्ठ्यसोम, एवं सौरत्रैलोक्यानुगत आन्तरिक्ष्य चान्द्र-सोम) को मैं हीं धारण किए हुए हूँ [अर्थात्–मैं सोममयी हूँ] । मैं हीं [अपने आपोमय वाक्परिणामात्मक–छन्दोभावों सीमात्मक–आकारभावों से द्वादश आदित्यप्राणों में से आकाररूपप्रवर्त्तक] 'त्वष्टा' नामक आदित्यविशेष को स्वस्वरूप से सुरक्षित रख रही हूँ । अर्थात् सम्पूर्ण आकारभाव आपोमयी छन्दस्या वाक् के ही विवर्त्त हैं । अतएव छन्द का–'**वाक्परिणामं छन्दः**' यह लक्षण किया गया है । पार्थिव भूतभावानुगत–पुष्टिप्रवर्त्तक आदित्यविशेष ही 'पूषा' कहलाया है । चान्द्र-यशः-ऐश्वर्य्य-प्रवर्त्तक आदित्यविशेष ही 'भग' कहलाया है । इन पूषा, तथा भग–प्राणों को भी इसी सौम्या वाक् ने प्रतिष्ठित कर रक्खा है । बिना आम्भृणी के दोनों का कुछ भी स्वरूप नहीं है । जो यज्ञकर्त्ता यजमान प्रकृतिसिद्ध सोमयज्ञवत् सोम का अभिषव कर यज्ञसम्पादन करता है, वैसे हविष्मान् यज्ञिय यजमान को मैं प्रभूत सम्पत्ति से समन्वित कर दिया करती हूँ । अर्थात् प्रकृतिसिद्ध नित्य यज्ञ के आधार पर विहित यज्ञकर्म्म से द्विजाति की सम्पूर्ण कामनाएँ आम्भृणी भगवती के द्वारा सम्पन्न होतीं रहतीं हैं ॥ २ ॥

विभ्राट् प्रज्ज्वलित–प्रचण्ड तेज ही राष्ट्र का राष्ट्रत्त्व है । यह तेजोभाव पारमेष्ठ्य सोमाहुति पर ही अवलम्बित है, जो कि सोम आम्भृणीमय है । अतएव तत्त्वतः आम्भृणी ही वास्तव में–'राष्ट्री' है । [जिस राष्ट्र से आम्भृणीवाग्देवी पृथक् हो जाती है, वह राष्ट्र कदापि राष्ट्र नहीं रह सकता, जैसाकि विभ्राट्तेज से वञ्चित वर्त्तमान भारत इस राष्ट्री–महाशक्ति के अनुग्रह से सर्वात्मना वञ्चित हो रहा है । मैं हीं अपने 'राजते' लक्षण विभ्राट्तेज से राष्ट्र को विभिन्न वसुसम्पत्तियों से समन्वित कराती हूँ । मैं हीं राष्ट्र को चिकितुषीप्रज्ञा [सदसद्विवेकबुद्धि] प्रदान करती हूँ । मैं सम्पूर्ण यज्ञ–[कर्म्म] साधनों में प्रथमा हूँ । अर्थात् मुझे मूलप्रतिष्ठात्मिका प्रथमा प्रतिष्ठा बनाए बिना किसी भी कर्म्म की संसिद्धि सम्भव ही नहीं है । एवंविधा सर्वगुणशक्तिसामर्थ्यपौरुषबलवीर्य्यपराक्रमादि विशिष्टा मुझ आम्भृणी को ही सम्पूर्ण देवता सर्वत्र प्रतिष्ठित करते रहते हैं । सम्पूर्ण आध्यात्मिक-दैविक–भौतिक–कर्त्तव्यकर्म्म मुझे आधार बना कर ही प्रवृत्त हो रहे हैं ॥ ३ ॥

जो प्राणी अन्नाहुति ग्रहण कर रहे हैं, वे मुझे आधार बना कर ही अपना यह अहरहर्यज्ञ सम्पन्न कर रहे हैं । अर्थात् मैं ही भोक्त्री हूँ, मैं हीं दृष्टि हूँ, मैं हीं श्वासप्रश्वास हूँ, मैं हीं श्रुति हूँ, सम्पूर्ण ऐन्द्रियकभाव मुझ पर ही प्रतिष्ठित हैं । जो यथाजात–मूढ–अज्ञजन मेरे इस शक्तिस्वरूप की उपेक्षा कर अपने बल पर ही सफलता–सिद्धि के लिए आतुर हो पड़ते हैं, शक्तिशून्य वैसे अश्रद्धालु मानवाधम अन्ततोगत्त्वा सर्वथा विनष्ट ही हो जाते हैं । सावधान मानव ! एकमात्र श्रद्धा ही मेरे अनुग्रह की प्राप्ति का प्रमुख राजपथ है—[**श्रद्धा–मयोऽयं पुरुषः-श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्** ॥ ४ ॥

देवता, तथा मानवों की जो भी सात्त्विकी समृद्धिकरी–मङ्गलमयी वाणी सुनी जा रही है, वह स्वयं मैं हीं तो बोल रही हूँ । मुझे आधार बनाए रखने वाले श्रद्धालु ही तो मङ्गलमयी वाणी बोल सकते हैं । मैं जिसे चाहती हूँ–उग्र बना डालती हूँ । मैं ब्रह्मा बना देती हूँ, ऋषिपद प्रदान कर देती हूँ, विशिष्ट प्रज्ञापद प्रदान कर देती हूँ ॥ ५ ॥

जो नराधम आत्मस्वरूपबोध से वञ्चित होते हुए आत्मप्रतिनिधिरूप राष्ट्रीय महान् मित्र ब्राह्मण से द्वेष करने लग पड़ते हैं, उनके आमूलचूड़ विनाश के लिए मैं रुद्र के हाथों में प्रचण्ड–धनुष दे दिया करतीं हूँ ।

मैं स्वयं आततायीवर्ग के वध के लिए संग्राम में प्रवृत्त हो जाती हूँ–[अपनी विभूतिमयी शक्तियों से]। मैं हीं द्यावापृथिवीरूप सम्पूर्ण सौरत्रैलोक्य में व्याप्त हूँ ॥ ६ ॥

द्युलोकोपलक्षित सूर्य्यपिता के मस्तक–स्थानीय पारमेष्ठ्य आपोमय–सरस्वान्–नामक महासमुद्र के गर्भ में हीं तो मेरी [भृग्वङ्गिरोरूपेण] योनि [मूलबीज] प्रतिष्ठित है। इसी महाव्याप्ति के कारण हीं तो मैं सम्पूर्ण लोकों में प्रविष्ट होती हुई महामहिमान्विता भी द्यु का मैं अपने महत्प्रकृतिरूप गुणत्रयात्मक कारण से स्पर्श कर रही हूँ ॥ ७ ॥

जिसप्रकार प्राणात्मक वायुदेवता सर्वत्र स्वच्छन्दरूप से विचरण करते रहते हैं, एवमेव (पूर्वोक्त–गुणशक्तिसमन्विता) मैं आम्भृणी ही सम्पूर्ण विश्वों–लोकों-प्रजाओं का आरम्भणकारण [उपादानकारण] बनी हुई हूँ। इस पृथिवी से भी परे, द्युलोक से भी परे, और सौरत्रैलोक्यब्रह्माण्ड से भी अवारपारीणा महामहिमा से समन्विता महद्भावानुगता--त्रिगुणात्मिकापि त्रिगुणातीता मुझ आरम्भृणी का यही महिमात्मक स्वरूप है, जिसके रहस्यार्थसमन्वय में तो एकमात्र ऋषिप्रज्ञा ही समर्थ है ॥८॥

६५–उपनिषत् में उपवर्णिता अग्नीषोमात्मिका शिवशक्तिरूपिणी पराशक्ति का नैगमिक विस्तार—

अलमतिपल्लवितेन। इस सम्बन्ध में तो अणुमात्र भी सन्देह करना अपनी तमोबहुला--श्रद्धाशून्या–काल्पनिकी--शुष्का--जड़बुद्धि का ही नग्न परिचय प्रदान करना है। कदापि आगमशास्त्र निगमशास्त्र से अंशतः भी पृथक् नहीं है। एक ही शास्त्र के सूर्य्य, एवं पृथिवीमूलक दो विभिन्न विवर्त्त हैं, जो क्रमशः **निगम–आगम** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। शिवशक्तिशमन्वित शास्त्र ही निगमागमशास्त्र है। निगम जिसे विराट्मूला **अग्नीषोमविद्या** कहता है, आगम उसे ही दशमहाविद्यामूला **शिवशक्तिविद्या** कह रहा है। आगमीय शिवशक्तिविद्या के इस नैगमिक रहस्य को न जानने वाले भ्रान्त वेदभक्तों से हम निवेदन करेंगे कि, वे अनुग्रह कर एकबार **बृहज्जाबाल–उपनिषत्** की आराधना का कष्ट अवश्य करलें, जिसमें शिव–शक्तिरूप से ही नैगमिकी–अग्नीषोमविद्या का स्वरूपोपबृंहण हुआ है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए उन औपनिषद कतिपय वचनों को भी—

> **"अग्नीषोमात्मकं विश्वमित्यग्निराचते ॥**
> **रौद्री–घोरा--या तैजसी तनूः ॥**
> **सोमः शक्त्यमृतमयः शक्तिकरी तनूः ॥"**
> **अमृतं–यत् प्रतिष्ठा सा तेजोविद्या कला स्वयम् ॥**
> **स्थूल–सूक्ष्मेषु भूतेषु स एव रस–तेजसि ॥१॥**
> **द्विविधा तेजसो वृत्तिः, सूर्य्यात्मा--चानिलात्मिका ॥**
> **तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा--चानिलात्मिका ॥२॥**

वैद्युदादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः ॥
तेजो -रस--विभेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम् ॥३॥
अग्नेरमृतनिष्पत्ति, रमृतेनाग्निरेधते ॥
अतएव हविःक्लृप्तं--'अग्नीषोमात्मकं' जगत् ॥४॥
ऊर्ध्वशक्तिमयं सोमः, अधःशक्तिमयोऽनलः ॥
ताभ्यां सम्पुटितं तस्मात्--शश्वद्विश्वमिदं जगत् ॥
अग्नेरुर्ध्वं भवत्येषा यावत्सौम्यं परामृतम् ॥
यावदग्न्यात्मकं सौम्यममृतं विसृजन्यधः ॥६॥
अतएव हि कालाग्निरधस्ताच्छक्तिरूर्ध्वगा ॥
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात् पावनं भवेत् ॥७॥
आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ॥
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्तिपदास्पदः ॥८॥
शिवश्चोर्ध्वमयः शक्ति, रूर्ध्वशक्तिमयः शिवः ॥
तदित्थं शिव-शक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन ॥९॥

—बृहज्जाबालोपनिषत् २ ब्राह्मण

६६-पुराणशास्त्रोपवर्णिता पराशक्ति—

निगमागमशास्त्र का चान्द्री-मानस भाषा में [उपलालनधिया] उपबृंहण करने वाला पुराणशास्त्र क्या कह रहा है इस सम्बन्ध में ?, यह भी निम्न लिखित कतिपय वचनों से जान लेने का अनुग्रह कर लीजिए !

त्वं परा प्रकृतिः साक्षात् ब्रह्मणः परमात्मनः ॥
महत्तत्त्वादि-भूतान्तं त्वया सृष्टमिदं जगत् ॥१॥
निमित्तमात्रं तद्ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ॥
तस्येच्छामात्रमालम्ब्य त्वं महायोगिनी परा ॥२॥
अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः ॥
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना ॥३॥

६७–पराशक्ति पीताम्बरा भगवती के उपासक भगवान् कृष्ण के द्वारा अर्जुन की पराशक्त्युपासना में प्रवृत्ति, एवं विजयलाभ —

श्रीनन्दनन्दन कृष्णभक्तिपरायण परमभागवत मान्य वैष्णवाचार्य्यों के लिए यह ऐतिहासिक तथ्य भी अविदित न होगा कि, भगवान् कृष्ण केनोपनिषत् में प्रतिपादिता चिच्छक्तिमयी–बुद्धियोगाधिष्ठात्री–हिरण्मयी–हैमवती–उमा भगवती के ही अनन्य उपासक थे। इस औपासनिक–आगमीय तन्त्र के अनुबन्ध से ही निगमशास्त्र की हैमवती उमा, तथा आगमशास्त्र की **पीताम्बरा** भगवती के ही प्रसादगुणप्राप्ति के लिए वे **'पीताम्बरवस्त्र'** के ही अनुगामी बने रहते थे, जैसाकि–**'पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षात्-मन्मथमन्थः'** [श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध–रासपञ्चाध्यायी] इत्यादि से प्रमाणित है। प्रस्थानत्रयी के व्याख्याता सभी वैष्णवाचार्य्य यह भी भलीभाँति जानते ही होंगे कि,–प्रस्थानत्रयी में सुप्रसिद्ध श्रीमद्भगवद्गीता सुप्रसिद्ध ऐतिह्यग्रन्थ महाभारत का ही एक अंश है। जिस अध्याय से भगवद्गीता महाभारत में आरम्भ होती है, ठीक उस से पूर्व के अध्याय में भगवान् कृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुन को युद्ध में विजय प्राप्त कराने की कामना से–**'दुर्गास्तोत्रमुदीरय'** इत्यादिरूपेण अपनी आराध्या पीताम्बरा भगवती की ही रहस्यपूर्ण दीक्षा प्रदान करते हैं। एवं इसी दीक्षाबल के आधार पर अर्जुन बुद्धियोगनिष्ठ बनते हुए महाभारतसमर में विजयलाभ करते हैं। **'तत्र-श्रीः-विजयो-भूतिः'** का गुप्त बीज यही हैमवती उमा है, जिसे निष्ठावञ्चित, अतएव निगमागमाचारवञ्चित मतवादात्मक अभिनिवेशनें विस्मृत कराते हुए भारतराष्ट्र को सर्वथा ही अशक्त ही प्रमाणित कर दिया है। निगमागमाचारों की विलुप्ति, एवं तत्स्थान में भावुकतापूर्ण मान्यताओं का मानसिक विजृम्भण ही भारतीय–संस्कृति, सांस्कृतिक–आचार, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों की अभिभूति का दुःखपूर्ण इतिवृत्त है।

६८–शिवभावानुगता पुरुषसृष्टि, एवं शक्तिभावानुगता स्त्रीसृष्टि, तथा निगमागम-शब्दों के चिरन्तनेतिवृत्त की विश्रामानुगति—

भारतीय निगमतत्त्व से अंशतः भी परिचित महानुभाव यह जानते ही होंगे कि, वृषा–योषा से ही नर–नारी–सर्ग का उद्गम हुआ है, हो रहा है, होता रहेगा। वृषा अग्नि है, योषा सोम है। सौरप्राणाग्निरूप वृषा की प्रधानता से **'पुरुषसृष्टि'** हुई है, एवं चान्द्रसोमगर्भित पार्थिवप्राणरूप योषा की प्रधानता से–**'स्त्रीसृष्टि'** हुई है। सम्पूर्ण पुरुष अग्निप्रधान बनते हुए पूर्व की बृहज्जाबालश्रुति के अनुसार यदि **शिवस्वरूप** हैं, तो सम्पूर्ण स्त्रियाँ सोमप्रधाना बनतीं हुईं शक्तिस्वरूपा हैं, जैसाकि–**'विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु'** इत्यादिरूपेण पूर्व के रक्षाबन्धनपर्व–प्रसङ्ग में भी दिग्दर्शन कराया जाचुका है। उक्त सम्पूर्ण शिव–शक्ति–सन्दर्भ से प्रकृत में हमें निवेदन यही करना है कि, **द्युलोकोपलक्षित पिता सूर्य्य से अनुप्राणिता नित्या विराड्विद्या ही निगमविद्या है, एवं पृथिवीमाता से अनुप्राणिता नित्या दशमहविद्या ही आगमविद्या है। सौरी विराड्विद्या निर्गतभाव से निगम है, तो पार्थिवी दशमहाविद्या सूर्य्यनिगम से आगता बनती हुई आगम है, और यही निगमागमशब्दों के चिरन्तन इतिवृत्त की संक्षिप्ततमा स्वरूपदिशा है।**

निगमागमशब्दों का चिरन्तनेतिवृत्त उपरत

—१—

२–'विद्या' शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त

६९–या देवी सर्वभूतेषु 'विद्या' रूपेण संस्थिता—

निगम, और आगम–शब्देतिहासप्रसङ्ग में निगमविद्या, आगमविद्या–रूपेण यह 'विद्या' शब्द प्रसङ्गतः और उपस्थित हो पड़ा। दो शब्दों में इसका भी समन्वय–प्रयास कर लीजिए। आगमशास्त्र का आगमन क्योंकि निगमशास्त्र से हुआ है। अतएव आगमशास्त्र के यच्चयावत् सिद्धान्त साक्षात्रूपेण, एवं परम्परया निगमशास्त्र–सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित हैं। जिसप्रकार निगम के लिए निगमाचार्य्योंनें–**'सैवा त्रयी विद्या'-'सोऽनया त्रय्या विद्यया'** इत्यादिरूप से 'विद्या' शब्द का प्रयोग किया है, एवमेव आगमाचार्य्योंनें भी–**'या देवी सर्वभूतेषु 'विद्या' रूपेण संस्थिता'–'विद्यासि सा भगवती परमा हि देवी'** इत्यादिरूप से 'विद्या' शब्द का ही प्रयोग किया है। कैसा अद्भुत साम्य हैं दोनों शास्त्रों में।

७०–विद्या-वेद-ब्रह्म-शब्दों की अभिन्नार्थकता—

'विद्या' शब्द के चिरन्तनेतिवृत्त के सम्बन्ध में भी कतिपय परिभाषाएँ विशेषरूपेण ज्ञातव्य बन रहीं हैं। **'विद्या'** शब्द के अपेक्षाभाव को **वेद,** और **'ब्रह्म'** शब्द पूर्ण कह रहे हैं। क्योंकि निगमशास्त्र में–**'त्रयी-विद्या'-'त्रयो वेदाः'-'त्रयं ब्रह्म'** ये तीन विभिन्न परस्पर सापेक्ष व्यवहार उपश्रुत हैं। आत्मज्ञानदृष्टि से तीनों व्यवहार जहाँ अभिन्नार्थक हैं, वहाँ विश्वविज्ञानवर्त्तन की अपेक्षा से **विद्या–वेद–ब्रह्म**–तीनों हीं शब्द परस्पर सर्वथा विभिन्नार्थक ही बने हुए हैं। आगमशास्त्र का शक्तितत्त्व **'विद्या'**, किंवा **'महाविद्या'** नाम से क्यों प्रसिद्ध हुआ ?, प्रश्न का समाधान इन तीनों शब्दों के विभिन्नार्थ–समन्वय पर ही अवलम्बित है। उसी की ओर शब्देतिहासप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

७१–अक्षरात्परतः पर अवस्थित अप्राण–अमन प्राणमनोघन अव्ययब्रह्मस्वरूपदिगदर्शन–

अनन्तानन्दरसैकघन-विज्ञानमय-**ज्ञानघन, क्रियाघन, अर्थघन** तत्त्वविशेष का नाम हीं–**'अक्षरब्रह्म'** है। यह सर्वज्ञानमय है, सर्वक्रियामय है, एवं सर्वार्थमय है। दूसरे शब्दों में यह अक्षरब्रह्म आनन्दघन-विज्ञानमय–**मनःप्राणवाङ्मय** है। जैसे क्षरपुरुष का आलम्बन अक्षरपुरुष है, एवमेव इन दोनों का सर्वालम्बन तत्त्व 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध–'अव्ययपुरुष' है। अव्ययपुरुष स्वयं मनःप्राणवाग्रूप बनता हुआ मनःप्राणवाग्रूप है। अव्यय की ज्ञानशक्ति का उक्थ (प्रभवस्थान) मन है, क्रियाशक्ति का उक्थ प्राण है, एवं अर्थशक्ति का उक्थ वाक् है। इन तीन कलाओं के अतिरिक्त आनन्द–विज्ञान–नाम की दो कलाएँ और हैं। इन पाँचों कलाओं में से पाँचवीं वाक्कला ही तैत्तिरियादि उपनिषदों में **'अन्नब्रह्म'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। तै० उपनिषत् के आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण–अन्न–इन पाँच कोशब्रह्मों का तत्रैव भाष्ये विस्तार से निरूपण द्रष्टव्य है। सुप्रसिद्ध ये पञ्चकोश ही अव्ययपुरुष की पाँच कलाएँ हैं। दूसरे शब्दों में–अव्ययपुरुष पञ्चकल हैं। पञ्चकलात्मक यह अव्ययपुरुष स्वयं शक्तिरूप है। **'सामान्ये सामान्याभावः'** के अनुसार आनन्द में आनन्द नहीं, विज्ञान में विज्ञान नहीं, मन में मन नहीं, प्राण में प्राण नहीं, एवं वाक् में वाक् नहीं। अतएव अक्षरब्रह्म नामक मध्यमपुरुष से भी पर रहने वाले इस अव्ययपुरुष को अमन–अप्राण–अमूर्त्त ही मान लिया गया है, जिसका अर्थ है-आनन्द–विज्ञान-मनः–प्राण-वाग्रूपः–वाग्घनो वा। इसी तथ्य को परोक्षभाषा में व्यक्त करते हुए ऋषिने कहा है—

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥ (मुण्डकोपनिषत् २।१।२।)।

७२-कार्य्यकारणातीत परब्रह्म—

अप्राण, एवं अमन में क्रिया नहीं । अतएव अव्ययपुरुष कर्तृत्त्व-कारणादि-धर्म्मों से सर्वथा असंस्पृष्ट प्रमाणित होता हुआ सृष्टिविद्या से बहिर्भूत ही मान लिया गया है । सचमुच न तो यह करता ही है, न विलिप्त ही होता । इसी भाव का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ —श्वेता० उप० ६।८।

७३-निर्धर्म्मक अव्ययपुरुष की सर्गसंस्पृष्टता—

इहीं सब तथ्यों के आधार पर हम अव्ययपुरुष को सृष्टि की अपेक्षा से सर्वथा निर्धर्म्मक ही मान लेते हैं । अव्यय 'पुरुष' है, पुरुष चिदात्मा (चेतना नहीं) है, ज्ञानमूर्त्ति है, अतएव वृक्षवत् स्तब्ध है, स्थाणु है, कम्पनरहित है, क्रिया से असंस्पृष्ट है । अतएव च क्रियासापेक्ष सक्रिय-विश्व की निर्म्माणप्रक्रिया से सर्वथा ही असंस्पृष्ट है ।

७४-योषावृषात्मक संसृष्टिभाव, संसृष्टि-लक्षणा सृष्टि का क्रियाभाव, तत्प्रवर्त्तक पराप्रकृतिरूप अक्षरभाव, एवं अव्ययपुरुष-अक्षरप्रकृति-समन्वयात्मक विश्वनिर्म्माणकर्म्म--

सृष्टि संसृष्टिलक्षणा है । **योषा-वृषा**-नाम से प्रसिद्ध **रयि-प्राण**-नाम के दो विजातीय तत्त्वों के रासायनिक-अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक-सम्मिश्रणात्मक यागभाव का ही नाम 'संसृष्टि' है । संसृष्टिरूप अन्तर्य्यामसंसर्ग 'व्यापार' है, व्यापार क्रिया है । उधर अव्ययपुरुष निष्क्रिय है, निर्व्यापार है, अतएव अकर्त्ता है । यद्यपि पञ्चकलात्मक अव्ययपुरुष प्राणकलारूप होने से क्रियाशून्य तो नहीं कहा जासकता । किन्तु केवल क्रिया ही तो सृष्टि के लिए पर्य्याप्त नहीं है । क्रिया क्रियावान् ही तो कर सकता है । अव्यय क्रियारूप बना रहता हुआ भी क्रियावान् नहीं है । क्रियावान् है वही पूर्वोपात्त मनःप्राणवाङ्मय अक्षरपुरुष, जो कि **परमब्रह्म, अव्यक्त, अमृत, सेतु, विधर्त्ता, अन्तर्य्यामी, कूटस्थ, पराप्रकृति,** आदि आदि नामों से उपवर्णित है यत्र तत्र मनःप्राणवाग्रूप अव्ययपुरुष अपने पराप्रकृतिरूप मनःप्राणवाङ्मय अक्षरपुरुष से समन्वित हो रहा है एवं-**'तत्तु समन्वयात्'** (वेदान्तसूत्र) सिद्धान्तानुसार प्रकृति-पुरुष के इस समन्वय से ही विश्वनिर्म्माण कर्म्म सम्पन्न होता है ।

७५-सच्चिदानन्दघन अव्ययपुरुष से समन्विता सच्चिदानन्दमयी अक्षरप्रकृति की व्यापकता का समन्वय—

उक्त समन्वय के कारण ही अव्ययपुरुष की अर्करूपा शक्तियाँ प्रकृतिरूप अक्षर में संक्रमण कर जातीं हैं । उस की शक्तियों से अक्षर यों शक्तिमान् बन जाता है । अतएव अक्षर को हम आनन्दवान्-विज्ञानवान्-

मनस्वी–क्रियावान्–अर्थवान् कह सकते हैं। अक्षर शक्तिमान् है, सक्रिय है। एक प्रासङ्गिक निवेदन और-इसी सम्बन्ध में। अव्यय की पाँचों कलाओं में **'आनन्द'** सुप्रसिद्ध है। दूसरी विज्ञानकला का ही साङ्केतिक नाम **है–'चित्'**। एवं शेष मनः–प्राण–वाक्–नाम की तीनों कलाओं की समन्वितावस्था का ही साङ्केतिक नाम है–**'सत्'**। यों पाँच कलाओं की **'आनन्द–चित्–सत्'** ये तीन हीं कलाएँ रह जातीं हैं। **सत्–चित्–आनन्द**–की समष्टि की–**'सच्चिदानन्द'** ब्रह्म है। अक्षर इन तीनों से युक्त (मय) है। अतएव अक्षर को अवश्य ही आनन्दवान्–विज्ञानवान्–सन्मय–कह सकते हैं।

७६–मुक्तिसाक्षी आनन्दविज्ञानमनोघन अव्यय से अभिन्न सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाग्घन अव्यय से समन्वित पराप्रकृतिरूप अक्षर की मनःप्राणवाङ्मयता—

अव्ययपुरुष की आनन्दादि पाँचों कलाओं में से आनन्द–विज्ञान–भाव मुक्तिसाक्षी अव्यय है, प्राण–वाग्भाव सृष्टिसाक्षी अव्यय है। मध्यस्थ मन–**'उभयात्मकं मनः'** के अनुसार अपनी रसप्रधाना अवस्था से मुक्तिसाक्षी आनन्दविज्ञानरूप अव्यय का अनुगामी बनता हुआ 'मुमुक्षा' का प्रवर्त्तक बना रहता है। एवं अपनी बलप्रधाना अवस्था से सृष्टिसाक्षी–प्राण–वाग्रूप अव्यय का अनुगामी बना हुआ 'सिसृक्षा' का प्रवर्त्तक बना रहता है। मुक्तिभाव का सम्बन्ध **आनन्द–विज्ञान–मनो**–भावत्रयी से है, एवं सृष्टि का सम्बन्ध **मनः-प्राण–वाग्**–भावत्रयी से है। तभी तो सृष्टिसाक्षी अक्षरावच्छिन्न आत्मप्रजापति को–**'स वा एष आत्मा वाङ्मयः–प्राणमयः–मनोमयः'** इत्यादि रूप से मनःप्राणवाङ्मय ही बतलाया गया है।

७७–क्रियाशक्तिमय अक्षर के द्वारा व्यक्त क्षरविश्व की प्रवृत्ति—

सृष्टिसाक्षी अव्यय में हमने ज्ञानघन मन, क्रियाघन प्राण, एवं अर्थघना–वाक् की सत्ता बतलाई है। इन तीनों में प्रथमा, ज्ञानकला का विकासस्थान स्वयं 'अव्ययपुरुष' है। अव्यय में ज्ञानकला का ही प्राधान्य माना है आचार्य्योंनें। क्रियाकला का विकासस्थान 'अक्षरपुरुष' बनता है। एवं वाक्–रूपा अर्थकला का विकासस्थान क्षरपुरुष माना गया है। अर्थप्रधान क्षरपुरुष भी निष्क्रिय है, एवं ज्ञानप्रधान अव्ययपुरुष भी निष्क्रिय है। सक्रिय है तीनों पुरुषों में मध्यस्थ क्रियाप्रधान एकमात्र अक्षरपुरुष ही। क्रियानुगति एकमात्र अक्षर का ही प्रातिस्विक धर्म्म है। अतएव तीनों में से प्रधानरूपेण एकमात्र अक्षर को ही सृष्टिकर्तृत्व का उत्तरदायित्व उपलब्ध है। सचमुच अक्षर ही सृष्टिकर्त्ता है। अव्यक्ता अक्षरप्रकृति ही विश्व का प्रभवस्थान–प्रतिष्ठास्थान, एवं परायणस्थान है, इसी तथ्य को लक्ष्य बना कर निम्न लिखित श्रुति–स्मृति–वचन प्रवृत हुए हैं—

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथा अक्षराद् विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषत् ६।१।१।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ (गीता० १८।१८)।

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ! ।
अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना ॥ (गीता० २।२८) ।

७८-अक्षरप्रजापति की सृष्टिप्रक्रिया के साथ कुम्भकारप्रजापति की घटनिर्म्माणप्रक्रिया का प्रतीकात्मक समतुलन—

जिसप्रकार प्रजापति (कुम्भकार, लोकभाषाप्रसिद्ध कुह्मार) भूतल पर बैठ कर समुदायरूप से [अवयवीरूप से-समष्टिरूप से] सर्वथा ही गतिशून्य, किन्तु अवयवरूप से [व्यष्टिरूप से] सर्वथा ही गतिशील अलातचक्र नामक 'चक्र' [चाक] पर आपोमय-मृत्पिण्ड रख कर हस्तव्यापार से घटनिर्म्माण किया करता है । एवमेव अक्षरप्रजापतिरूप कुम्भकार भी आनन्दविज्ञानमनोघन मुक्तिसाक्षी अविकम्पित-गतिशून्यरूप अव्ययधरातल पर बैठ कर मनःप्राणवाग्घन-सृष्टिसाक्षी-विकम्पित-गतिशील अव्ययरूपचक्र पर क्षररूप आपोमय मृद्भाग से उख्यात्रिलोकीरूप घट का निर्म्मापक बना हुआ है । यों मानो त्रिभुनविधाता उस अक्षर-प्रजापति में, और बुध्न [पैंदा]-उदर-मुखरूप त्रैलोक्यभावापन्न घटनिर्म्माण करने वाले मानवशिल्पी-प्रजापति में निरन्तर स्पर्द्धा ही प्रक्रान्त है-'**घटानां निर्म्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः**' । और यों मानो कुम्भकारप्रजापति का चक्र सृष्टिप्रक्रिया का ही प्रतीक बना हुआ है ।

७९-भारतीय विवाहोत्सवारम्भ में प्रजापतिचक्र का पूजन, और तदनुबन्धी प्राजापत्य प्रतीकभाव —

तभी तो प्रतीकात्मक निदानभावों के आधार पर प्रकृतिसिद्ध सृष्टितत्त्वों को अपनी आचारपद्धति में समाविष्ट करने में महान् कुशल भारतीय आर्ष मानव नें सृष्टि के मूलप्रवर्त्तक दाम्पत्योत्सव [विवाहमहोत्सव] के उपक्रम में प्रजापतिचक्रपूजन को समाविष्ट कर लिया है * । सचमुच जो निर्म्माणक्रम घटनिर्म्माण-कर्म्म का है, वही क्रम उस ईश्वरप्रजापति के विश्वनिर्म्माणकर्म्म का है, जैसा कि ईशाभाष्य में अंशतः स्पष्ट कर दिया गया है । इसी रहस्य को अञ्जसा व्यक्त करने के लिए ही तो कुम्भकार को 'प्रजापति' उपाधि से समन्वित कर दिया गया है ।

८०-प्रासादशिल्पी (विश्वकर्म्मा के प्रतिनिधि कामगर--कारीगर) का शिल्पनिर्म्माणारम्भ में पूजन, और हमारी सांस्कृतिक--परम्पराएँ—

इसीलिए तो प्रासादशिल्पों के निर्म्माता शिल्पी कोलोकव्यवहार में-'**विश्वकर्म्मा**' उपाधि से भी समन्वित कर दिया गया है । इसीलिए तो हमारे सांस्कृतिक-जगत् में शिल्पी-प्रजापतियों का वास्तुनिर्म्माणोपक्रम में पूजन-सम्मान विहित है । सर्वत्र सर्वव्यापक समब्रह्मात्मक आत्मब्रह्म से समन्वित देवभाव का संस्मरण-

*-माङ्गलिक विवाहकर्म्म में विवाह से पूर्व शुभतिथि को मङ्गलपरायणा गृहदेवियाँ बड़े उल्लास से इष्टपरिजनसहित कुम्भकार के घर जाकर चक्रपूजन करतीं हैं । वहाँ ब्रह्मा का भी पूजन होता है । वहीं से मङ्गलकलश लाकर मातृकास्थान में वर्षपर्य्यन्त के लिए प्रतिष्ठित कर देतीं हैं ।

आराधन ही तो भारतीय प्रजा की सांस्कृतिक–निष्ठा है। **'देवेभ्यश्च जगत्सर्वम्'** का जैसा मर्म्म भारतीय मानव ने समझा है, समझ कर जिस कौशल से इसने इसे अपनी आचार–आयोजनात्मिका जीवनपद्धतियों में सुव्यवस्थित किया है, उसका अंशतः भी परिचय प्राप्त कर हमारी वर्त्तमानयुग की आत्मदेवभाववञ्चिता जड़प्रज्ञा तो सर्वथा ही स्तब्ध हो जाती है। और हम अपने जड़जीवनरूप वर्त्तमान मृत्युभावों में आबद्ध रहते हुए आत्मदेवभावानुप्राणित सांस्कृतिक–गरिमाभाव के इस पतन से सर्वथा ही विह्वल हो पड़ते हैं। क्या थे हम सांस्कृतिक–युगों में ?, एवं क्या से क्या बन गए उस सांस्कृतिक–जीवनधारा से पृथक् होकर आज हम ?, प्रश्न का अधिकार भी तो शेष नहीं रहने दिया वर्त्तमान युग के इन जड़-आयोजनों नें, प्रगतिवादात्मक कल्पित विकासवादों नें, एवं सर्वोपरि जड़ताप्रवर्त्तिका–आत्मदेवभाववञ्चिता प्रतीच्य–शिक्षापद्धति ने।

८१–सर्वज्ञ–सर्ववित् सर्वशक्तिमय अक्षर का विश्वकर्तृत्व—

हाँ, तो निवेदन यह किया जा रहा था कि, अक्षरप्रजापति ही वस्तुगत्या **विश्वकर्त्ता** है, जबकि–तद–पेक्षया अव्यय को **विश्वाधार**, एवं क्षर को **विश्वमूर्त्ति** ही माना जायगा। क्षरपुरुष अव्ययपुरुष की **'अपरा-प्रकृति'** है, अक्षरपुरुष अव्यय की–**'पराप्रकृति'** है, स्वयं अव्ययपुरुष **'परपुरुष'** है, जैसाकि–**'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः'** इत्यादि से स्पष्ट है। तीनो में परपुरुष अव्ययसृष्टि के अधिष्ठाना-त्मक अकारणात्मक–साक्षीरूप–**आलम्बनकारण** हैं। पराप्रकृतिरूप अक्षर कतमित्स्वित्‌रूप असमवायिकारणा-त्मक **निमित्तकारण** हैं। एवं अपराप्रकृतिरूप क्षर आरम्भणरूप–सममायिकारणात्मक **उपादानकारण** है। उस ओर के ज्ञानघन अव्यय की ज्ञानमात्रा लेकर **सर्वज्ञ** बनता हुआ, इस ओर के अर्थमय क्षर की भूतमात्रा लेकर **सर्ववित्** बनता हुआ मध्यस्थ क्रियामय, अतएव **सर्वशक्ति** बनता हुआ सर्वज्ञ–सर्वशक्ति–सर्ववित्–मूर्त्ति अक्षर ही विश्वकर्त्ता प्रमाणित हो रहे हैं।

८२–'पर' अव्ययब्रह्म, 'परावर' अक्षरब्रह्म, तथा 'अवर' क्षरब्रह्म के पर–परावर–अवर-भावों का स्वरूपदिग्दर्शन—

उपादानकारण के लिए साङ्केतिक नाम व्यवस्थित हुआ है (सृष्टिविद्याप्रसङ्गों में) **'ब्रह्म'**। तीनों पुरुषों में अक्षर से आविर्भूत क्षर ही उपादानकारण बनता है। अतएव सङ्केतानुसार इसे अवश्य ही–**'ब्रह्म'** कहा जा सकता है, कहा गया है-**'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'** (गीता) इत्यादिरूप से। यही क्षरब्रह्म **'अवरब्रह्म'** भी कहलाया है, जबकि अक्षरपुरुष इस अवरक्षर की अपेक्षा से 'पर', किन्तु 'पर' अव्यय की अपेक्षा से 'अवर' बनता हुआ–**'परावर'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। व्यक्तमूर्त्ति–व्यक्तप्रवर्त्तक (भूतप्रवर्त्तक) अवरक्षर, तथा अव्यक्तमूर्त्ति अव्यक्तप्रवर्त्तक (प्राणप्रवर्त्तक) परावर अक्षर, इन दोनों से सर्वथा 'पर' होने से ही अव्यय **'पर'** कहलाया है *। **'पर' अव्यय, 'परावर' अक्षर,** एवं **'अवर' क्षर,** तीनों की समन्वितावस्था ही त्रिपुरुषपुरुषात्मक षोडशी [षोडशकल] प्रजापति है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। 'परावरमूर्त्ति' अक्षर पर अव्यय, तथा अवर क्षर दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित होता हुआ **परसम्पत्ति (अव्ययसम्पत्ति)** से भी समन्वित है, एवं

---

* **यस्मात् क्षरमतीतोऽहं, अक्षरादपि चोत्तमः।**
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (गीता)।

अक्षरसम्पत्ति (क्षरसम्पत्ति) से भी समन्वित है। अतएव इसे अव्ययसम्पत्तिदृष्ट्या '**पर**' भी कहा जा सकता है, क्षरसम्पत्तिदृष्ट्या '**ब्रह्म**' भी कहा जा सकता है। अव्ययदृष्ट्या यह '**पर**' भी है, क्षरदृष्ट्या यह '**ब्रह्म**' भी है, एवं स्वदृष्ट्या '**परावर**' भी है। इत्थंभूत पर [अव्यय]–ब्रह्म [क्षर]–परावर [अक्षर]–मूर्ति, अतएव सर्वमूर्त्ति मध्यस्थ अक्षरतत्त्व के इस रहस्यपूर्ण स्वरूप को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म (क्षरात्मकम्–इति निष्कर्षः)।
एतद्ध्येवाक्षरं परम् (अव्ययात्मकम्–इति निष्कर्षः।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति, तस्य तत् ॥ [कठोपनिषत् १।२।१६।]।
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ —मुण्डकोपनिषत् २।२।८।

८३–सृष्टिविद्यात्मिका निगमागमविद्याओं का मूलप्रवर्त्तक सर्वमूर्त्ति अक्षरब्रह्म—

प्रसङ्ग 'विद्या' शब्दार्थ का प्रक्रान्त है–सूर्य्यमूला विराट्विद्या [निगमविद्या], एवं पृथिवीमूला दश–महाविद्या [आगमविद्या] से सम्बन्ध रखने वाले सृष्टिविद्यात्मक–'विद्या' शब्द को आधार बना कर। अतएव सृष्टिकर्त्ता का स्वरूप प्रासङ्गिक बन गया, एवं तन्निमित्त से ही सृष्टिकर्त्ता परावर अक्षर से अभिन्न–नित्यसमन्वित अव्यय, तथा क्षरभावों का भी प्रासङ्गिक दिग्दर्शन उपक्रान्त हो पड़ा। अबतक के निवेदन से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि, "**अव्यय, तथा क्षर से समन्वित मध्यस्थ परावर अक्षर ही सृष्टिकर्त्ता बनता हुआ सृष्टिविद्यात्मिका निगमागमविद्याओं का मूलप्रवर्त्तक है**"।

८४–चिदात्मा अव्यय, चेतनात्मक अक्षर, एवं चिन्मय क्षर के चिद्भावों का समन्वय, तथा सर्वमूर्त्ति अक्षर से त्रिविध–सामान्य सृष्ट्यनुबन्धों का आविर्भाव—

यद्यपि मध्यस्थ परावर अक्षरप्रजापति अव्ययज्ञान, क्षरार्थ, एवं स्वानुगत क्रिया–भावों से ज्ञान–क्रिया–अर्थ–रूप तीनों हीं सृष्ट्यनुबन्धों से समन्वित है। तथापि–क्रिया, और अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति तो क्रियार्थमय पाञ्चभौतिक व्यक्त विश्व में हीं हुआ करती है। पाञ्चभौतिकी इस व्यक्ता विश्वसृष्टि [मूर्त्तसृष्टि–रूपा–संसृष्टि–लक्षणा–विकारात्मिका भूतभौतिकसृष्टि] से पूर्वावस्था में तो केवल ज्ञानभाव ही प्रधानरूप से व्यक्त रहता है। यही कारण है कि, अक्षर के तपोरूप क्रियाभाव को '**ज्ञानमय**' ही माना गया है। इसीलिए तो ज्ञानघन अव्यय-पुरुष जहाँ '**चिदात्मा**' कहलाए हैं, वहाँ ज्ञानमात्रा से उपजीवित ज्ञानमय–पराप्रकृतिरूप अक्षर '**चेतना**' नाम से ही प्रसिद्ध हुए हैं आचारशून्या, अतएव नितान्त भावुकतापूर्णा दर्शनभाषा में। अव्यय, एवं क्षर से अविना-भूत, अतएव सर्वज्ञ, एवं सर्ववित् इत्थंभूत मध्यस्थ अक्षर के ज्ञानमय तप से अभिव्यक्त हो पड़ने वाली प्राथमिकी मूलसृष्टि का प्रारम्भिक स्वरूप क्या है ?, इसी रहस्यपूर्ण प्रश्न का अपनी रहस्यभाषा में हीं दिग्दर्शनात्मक–परोक्ष–सङ्केतमात्र कराते हुए ऋषि कहते हैं—

यः सर्वज्ञः, सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः
तस्मादेतत्–ब्रह्म, नामरूप, मन्नञ्च जायते ॥ —मुण्डकोपनिषत् १।१।६।

८५--अक्षरद्वारा आविर्भूत ब्रह्म-नामरूप--अन्न--लक्षण त्रिविध सर्ग----

मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य में विस्तार से प्रतिपादित उक्त रहस्यपूर्ण–वचन का प्रकृत में यही अक्ष–रार्थमात्र-समन्वय है कि, **प्रतिष्ठा–ज्योति–यज्ञ**, इन तीन तत्त्वों के लिए ही क्रमशः **ब्रह्म–नामरूप–अन्न–** ये तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इन तीनों में सृष्टिविद्या के यच्चयावत् सामान्य अनुबन्धों का अन्तर्भाव हो रहा है। अक्षरपुरुष अव्यय, एवं क्षर से समन्वित होते हुए सर्वप्रथम इन्हीं तीनों सृष्ट्यनुबन्धभावों से अभिव्यक्त होते हैं। प्रतिष्ठातत्त्व का ही नाम है-'**ब्रह्मा**' है, जैसाकि– '**प्रतिष्ठाह्येषा–यद्ब्रह्म**' [शत० ६।१।१।६।] इत्यादि से स्पष्ट है। ज्योतिर्भाव का ही नाम '**इन्द्र**' है। एवं **विष्णु–अग्नि–सोम**, इन तीनों तत्त्वों की समष्टि ही '**यज्ञ**' है।

८६--'ब्रह्म' नामक प्रथम अक्षरपर्व का प्रतिष्ठात्मक स्वरूप----

नामरूपकर्म्ममय प्रत्येक भूतभौतिक पदार्थ में आप जो एक प्रकार का स्थितिभाव [ठहराव] देखते हैं, अस्तित्त्व उपलब्ध करते हैं, वही प्रतिष्ठातत्त्व है। बीज को भूगर्भ में प्रतिष्ठित कर दीजिए, तभी अंकुर–सृष्टि होगी। उत्पन्न होने वाली वस्तुओं में उत्पत्तिरूपा क्रिया का आधारभूत प्रतिष्ठात्मक स्थितिभाव ही सर्वप्रथम मूलप्रतिष्ठा बना करता है। वस्तुमात्र में सर्वप्रथम आविर्भूत होने वाला वस्तुमात्र का मूलाधारभूत यही प्रतिष्ठातत्त्व है। इसी आधार पर–'**ब्रह्म [प्रतिष्ठा] वै सर्वस्य–प्रथमजम्**' [शत० ६।१।१।१०] यह प्रसिद्ध है। '**ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता, भुवनस्य गोप्ता**' इत्यादि उपनिषद्वचन स्पष्ट ही प्रतिष्ठालक्षण 'ब्रह्म' रूप 'ब्रह्मा' का प्रथमाविर्भावत्त्व प्रमाणित कर रहा है। क्या स्वरूप है इस सर्वादिभूत प्रतिष्ठालक्षण–स्थितिभावात्मक-'ब्रह्म' का ?, प्रश्न का वैज्ञानिक समाधान है–'**गतिसमुच्चय**'। सर्वतोदिग्गति, अथवा तो न्यूनतम दिग्द्वयगति का केन्द्रानुगत समसमन्वय ही गतिसमुच्चयात्मक '**स्थिति**' भाव है। अतएव समानबलशाली–विरुद्धदिग्द्वयानुगामी दो मल्लों से आकर्षित–प्रत्याकर्षित मध्य की बृहद्रज्जू [रस्सा] स्थिर बन जाया करती है। यही अक्षरप्रजापति की स्थितिरूपा प्रथमा सृष्टि है। इसी के लिए-'**तस्मादेतद् ब्रह्म**' यह कहा गया है।

८७--'नामरूप' नामक द्वितीयसर्ग से अनुप्राणित अमृत-मृत्युभाव----

दूसरी सृष्टि का स्वरूप है-'**नामरूप**'। नाम और रूप सापेक्ष 'कर्म्म' के भी संग्राहक बने हुए हैं। प्रत्येक पदार्थ में सर्वप्रथम उसकी स्थिति [अस्ति] रूपा प्रतिष्ठा का आविर्भाव होता है। अनन्तर अस्ति–भावानुबन्ध से ही नाम–रूप–कर्म्म–अभिव्यक्त हो पड़ते हैं वस्तु के। प्रतिष्ठा ही स्थिति है, स्थिति ही अस्ति–लक्षणा वह सत्ता है, जिसका-'**मनःप्राणवाचां संगतः-सत्ता**' यह लक्षण हुआ है विज्ञानभाषा में। अस्तिरूपा-स्थितिभावात्मिका –प्रतिष्ठा के मनोभाव से रूप का, प्राणभाव से कर्म्म का, तथा वाग्भाव से नाम का आविर्भाव हो पड़ता है। मनः-प्राण-वाग-भाग उसी का आत्मानुगत अमृतरूप है, एवं नाम-रूप-कर्म्म-भाग उसी का विश्वानुगत मर्त्यरूप [गतिशीलरूप] है। यों अपने अर्द्धभाग से अक्षरप्रजापति अमृतात्मक बने हुए हैं, एवं अर्द्धभाग से मर्त्यात्मक बने हुए हैं, जैसाकि—'**अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्, अर्द्धममृतम्**' [शतपथब्रा०] इत्यादि से स्पष्ट है।

८८--नामरूपात्मक द्वितीय सर्ग का 'ज्योति'-म्मर्यत्त्व—

कर्म्मानुगत नामरूप ही अस्तिभावात्मक पदार्थ की भाति (भाव–प्रतीति–प्रत्यय) के ऐन्द्रियक-बाह्य–निमित्त बना करते हैं। नामरूपकर्म्म के बिना पदार्थ हमारे लिए सर्वथा अन्धकार में हैं, अव्यक्त हैं। भाति का नाम ही तो ज्योति है, ज्योति ही तो आलोक है, आलोक ही तो पदार्थों के अवलोकन का एकमात्र निमित्त बनता है गायत्रतेज के प्रतिफलन के माध्यम से। अतएव अवश्य ही इस नामरूपात्मिका प्रतीतिलक्षणा भाति को–'ज्योति' कहा जा सकता है। यह ज्योति (अयं घटः–अयं मानवः–अयं सूर्य्यः इत्याकारक वस्तूपलब्धिरूप–प्रकाश) ही साक्षात् 'इन्द्र' है, जैसाकि—**'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'** (ऋक्संहिता)–**'इन्द्रो रूपाणि करिक्रदचरत्'** (ऋक्संहिता) इत्यादि से स्पष्ट है। अतएव अवश्यमेव कर्म्मानुगत नामरूप–ज्योतिःसर्ग को हम 'इन्द्र' कह सकते हैं, और यही अक्षरप्रजापति का दूसरा व्यक्तीभाव है जिसके लिए—**'नामरूपञ्च जायते'** यह कहा गया है।

८९--'अन्न' नामक तृतीय सर्गानुबन्धी अन्नादानविसर्गात्मक 'यज्ञ' स्वरूप का आविर्भाव--

"गतिसमष्टिरूपा–मनःप्राणवाङ्मयी सत्ता–से कृतरूप प्रतिष्ठात्मक ब्रह्म, तथा कर्म्मानुगत–नामरूपात्मक-ज्योतिर्भाव अभिव्यक्त हो गए" इसका अर्थ हुआ -"वस्तुस्वरूप सर्वात्मना सम्पन्न हो गया"। सम्पन्नावस्था के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं नामरूपकर्म्मात्मक पदार्थों में अन्नादानविसर्गात्मक **'यज्ञकर्म्म'** उपक्रान्त हो पड़ता है। जड़पदार्थ (असंज्ञ) हो, अथवा तो चेतनपदार्थ (संसज्ञ)। सभी पदार्थ इस अन्नाहरण–विसर्गरूप यज्ञ–कर्म्म से नित्य समन्वित रहते हैं। सत्र में निरन्तर अन्न आहुत होता रहता है। जो पदार्थशक्ति इस अन्नाहुति को अपने आहरणधर्म्म से आकर्षित करती रहती है, उसी शक्ति का नाम है–**'विष्णु'**। यच्चयावत् **'अन्नयज्ञ'** अपहरणधर्म्मा विष्णुशक्ति से ही सञ्चालित हैं। अतएव **'यज्ञो वै विष्णुः'–'विष्णुर्वै यज्ञः'** इत्यादिरूप से यज्ञ और विष्णु का अभेद मान लिया गया है।

९०--ब्रह्म-नामरूप-अन्न-लक्षण प्रतिष्ठा-ज्योतिः-यज्ञ-सर्गों से अक्षर की पञ्चाक्षरभाव में परिणति—

तथाविध 'अन्नयज्ञ' रूप जीवनीय कर्म्म में **अन्नाहर्त्ता, अन्नाहुतिग्रहणकर्त्ता**, एवं **अन्न**, ये तीन भाव नित्य समाविष्ट हैं। इन तीन शक्तियों की समन्वितावस्था का नाम ही नामरूपात्मक पदार्थों का स्वरूपसंरक्षक अन्नयज्ञ है। अन्नाहर्त्ता तत्त्व ही **'विष्णु'** है, अन्नाहुतिग्रहणकर्त्ता ही **'अग्नि'** है, एवं अन्न ही–**'सोम'** है। विष्णु की अशनाया (बुभुक्षा–भूख) से आकर्षित अन्नसोम जब अन्नादाग्नि में आहुत होता है, तभी जीवनीय **'विश्वदानि'** नामक अन्नयज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। यों अन्नात्मक यज्ञ में **विष्णु–अग्नि–सोम**–तीनों शक्तियों का समन्वय प्रमाणित हो जाता है। और यही अक्षरप्रजापति का तीसरा सृष्ट्यनुबन्ध है, जिसका–**'अन्नञ्च जायते'** रूप से पूर्वश्रुति ने स्पष्टीकरण किया है। यों **ब्रह्मरूप प्रतिष्ठासर्ग, नामरूपात्मक ज्योतिःसर्ग, अन्नरूप यज्ञसर्ग**, रूपेण–सर्वज्ञ–सर्ववित्–अक्षर के ज्ञानमय तप से सर्वप्रथम त्रिधारात्मक-त्रिसर्गात्मक यही सर्ग अभिव्यक्त होता है, जिसका विज्ञानभाषानुगत अर्थ है–एकाक्षर का **ब्रह्मा–इन्द्र–विष्णु–अग्नि–सोम**–रूपेण पञ्च अक्षरभावों में परिणत हो जाना। कथमिमिति चेत् ?, श्रूयताम्।

६१-क्रियाप्रधान अक्षर की गतिरूपता, एवं गतिभाव के पञ्चधा महिमाविवर्त्त, तथा तन्मूलक अक्षर के पञ्चकला-विवर्त्त—

अक्षर को क्रियाप्रधानत्त्वेन प्राणप्रधान बतलाया गया है। क्रिया का नाम है-**'गतितत्त्व'**। अतएव अक्षर को 'गतितत्त्व' ही माना जायगा विज्ञानभाषा में। यह गतिरूप अक्षर ही पूर्वोक्त पाँच विवर्त्तभावों में परिणत होरहा है, जैसाकि अन्य निबन्धों में यत्रतत्र विस्तार से प्रतिपादित है। अक्षरात्मक वही गतितत्त्व गति-समुच्चयावस्था में-**'स्थिति'** है, यही **'ब्रह्मा'** है। अक्षरात्मक वही गतितत्त्व विक्षेपणभावावस्था में **'गति'** है, यही **'इन्द्र'** है। आकर्षणभावावस्था में वही अक्षरात्मक गतिभाव-**'अग्नि'** है, यही **'विष्णु'** है। यदि गति स्वतन्त्र है, तो **'इन्द्र'** है। यही गति ब्रह्मात्मिका स्थिति से यदि नियन्त्रित हो जाती है, तो इसी गतिरूपा 'गति' का नाम **'अग्नि'** हो जाता है, जिसका नाम है-**'विकासगति'**। एवमेव यदि आगति स्वतन्त्र है, तो 'विष्णु' है। यही आगति ब्रह्मात्मिका स्थिति से नियन्त्रित होती हुई **'सोम'** रूप में परिणत हो जाती है, जिसका नाम है-**'संकोचगति'**। दूसरे शब्दों में स्थितिगर्भिता गति (इन्द्र) का नाम हीं 'अग्नि' है, एवं स्थितिगर्भिता आगति (विष्णु) का नाम हीं 'सोम' है। तदित्थं एक ही गत्यात्मक अक्षरतत्त्व **गतिसमुच्चय-शुद्ध गति-शुद्ध आगति-स्थितिगर्भिता गति-स्थितिगर्भिता आगति**, इन पाँच महिमाभावों में परिणत होता हुआ क्रमशः-**'ब्रह्मा-इन्द्र-विष्णु-अग्नि-सोम**-इन नामों से प्रसिद्ध हो जाता है। एक ही गतिरक्षर (प्राणाक्षर) गति के तारतम्य से यों पञ्चाक्षररूप में परिणत हो रहा है। इसी पञ्चाक्षर-विज्ञान को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभियत् संवहन्ति।
सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकीभवन्ति॥

६२-परब्रह्मानुगत अक्षर की पाँच कलाओं से समन्विता शब्दब्रह्मात्मक स्वर की पाँच कलाएँ, एवं शब्दब्रह्म का पारायणपाठात्मक महत्त्व—

जिसप्रकार शब्दब्रह्मसृष्टि में एक ही अकार स्वर [अक्षर] आरम्भ में * अ-इ-उ-ऋ-लृ-इन पाँच अक्षरों में परिणत होकर-'अकारो वै सर्वा वाक्। **सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति'** [ऐतरेय आरण्यक] इस वाग्विज्ञान के अनुसार सम्पूर्ण शब्दसृष्टि का अधिष्ठाता बना हुआ है, एवमेव एक ही अक्षर पञ्चाक्षररूप में परिणत होता हुआ सम्पूर्ण अर्थसृष्टि का प्रवर्त्तक बन रहा है। जो क्रम शब्दसृष्टि का है, ठीक वही क्रम अर्थसृष्टि का है। शब्दब्रह्म के बोध से अर्थब्रह्मानुगत परब्रह्म का बोध गतार्थ है। यही तो शब्दार्थ का वह तादात्म्यसम्बन्ध है, जिसके आधार पर ही मन्त्रशक्ति व्यवस्थित हुई है। भारतीय वाङ्मय सांस्कृतिक-शास्त्र कोई लोककल्पना नहीं है। अपितु उसका तो प्रत्येक शब्द पराशक्ति से अभिन्न है, जिस रहस्य के साक्षात्कार का श्रेय एकमात्र भारतीय ऋषिप्रज्ञा को ही उपलब्ध हुआ है। मन्त्रजप से, वेदपारायण से क्या अतिशय प्राप्त हो जाता है ?, प्रश्न का समाधान वे जड़ भूतवादी कदापि नहीं कर सकते, जिनकी वाणी केवल 'वैखरी' भाव पर ही परिसमाप्त है।

---

*-अइउण्--ऋलृक् (पाणिनीय-माहेश्वरसूत्र)

९३--द्वादश आदित्यप्राणों में 'इन्द्र' प्राण का महामहिमामयत्त्व—

प्रकृतमनुसरामः। ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता हैं, इन्द्र [रुद्र] संहारक हैं, विष्णु पालक हैं, अग्नीसोम उपादान है। जबतक ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूपा त्रिमूर्त्ति के साथ अग्नीषोमात्मक यज्ञ का सम्बन्ध रहता है, तबतक इन्द्रात्मक रूद्रदेवता शिव बने रहते हैं। अग्नीषोमात्मक यज्ञ के छिन्न होते ही वही इन्द्ररुद्र घोररूप में परिणत होकर विश्व का संहार कर दिया करते हैं। बारह प्रकार के सौरमण्डलस्थ आदित्यप्राणों * में शासक, सर्वव्यापक, शुन नामक, अमृतरूप अन्यतम प्राणविशेष का ही नाम 'इन्द्र' है। अतएव द्वादशादित्यप्राणघन सूर्य्य को त्वष्टा–भग–पूषा–आदि अन्य नामों से विशेषरूप से व्यवहृत न कर–**'अथ यः स इन्द्रः, असौ स आदित्यः'** [शत० ८।५।३।२।]–**'एष वा इन्द्रः, य एष तपति'** [शत० २।३।४।१२।] इत्याद्यनुसार 'इन्द्र' अभिधा से ही व्यवहृत किया गया है।

९४-सौर इन्द्र, चान्द्र सोम, पार्थिव अग्नि के स्व--पर--रूप--ज्योतिर्भाव, एवं पौराणिक त्रिदेवतावाद का नैगमिक समन्वय---

तथाविध सूर्य्यरूप इन्द्र, पार्थिव अग्नि, सोम [चन्द्रमा], तीनों ज्योतिर्म्मय हैं। सौर इन्द्र **स्वज्योतिर्म्मय** है, चान्द्रसोम **परज्योतिर्म्मय** है, एवं पार्थिवाग्नि **रूपज्योतिर्म्मय** है। इन्हीं तीनों ज्योतियों से विश्व प्रकाशित है, अभिव्यक्त है। इन तीनों की [सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि की] समष्टि का ही नाम **'शिव'** है। अन्नयज्ञ पर ही इन त्रिमूर्त्ति–त्रिनेत्र शिव का स्वरूप प्रतिष्ठित है। अग्नीषोमसमन्वय का ही तो नाम 'यज्ञ' है। पुराणशास्त्र **ब्रह्मा-विष्णु-शिव**–इस त्रिदेवताविज्ञान के आधार पर सृष्टिविद्याओं का स्वरूप-विश्लेषण करता है, जबकि निगमशास्त्र ब्रह्मादि पञ्चाक्षरविज्ञान के माध्यम से सृष्टितत्त्वों का समन्वय कर रहा है। निरूपणीया शैलीमात्र में विभेद है, वस्तुगत्या दोनों हीं पक्ष सर्वात्मना सुसमन्वित हैं। पुराणशास्त्र–इन्द्र–अग्नि–सोम–इन तीनों अक्षरों के भेद को उन्मुग्ध मान कर तीनों का 'शिव' शब्द से ग्रहण कर लेता है। उधर वेदशास्त्र शिव के इन्द्र–अग्नि–सोम–तीनों भावों को पृथक्–पृथक्रूप से लक्ष्य बना लेता है। जो अर्थ वैदिक पञ्चाक्षरदेवतावर्ग का है, वही अर्थ पौराणिक त्र्यक्षरदेवतावर्ग का है।

९५–त्र्यक्षरभाव का अन्तर्य्यामित्त्व, तथा द्व्यक्षरभाव का वस्तुस्वरूपत्त्व, एवं पञ्चाक्षरमूर्त्ति अक्षरप्रजापति का सृष्टिकर्तृत्त्व—

तदित्थं–पराव्यय, एवं अवराक्षर से समन्वित मध्यस्थ परावर अक्षरप्रजापति सिसृक्षु [सृष्टिकामुक] बन कर अपने ज्ञानमय तप से **ब्रह्म-नामरूप–अन्न**–भावों में, दूसरे शब्दों में **प्रतिष्ठा,-ज्योति,-यज्ञ,** भावों में, तीसरे शब्दों में ब्रह्मा–विष्णवादि **पञ्च अक्षर** भावों में परिणत हो रहे हैं। इन पाँचों अक्षरों में ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र [अ–इ–उ] नामक तीनों अक्षर प्रत्येक पदार्थ के हृदयस्थान [केन्द्रस्थान] में हृ-(विष्णु)–

---

* **इन्द्रो[१]--धाता[२]--भगः[३]--पूषा[४]--मित्रो[५]ऽथ--वरुणो[६]--ऽर्य्यमा[७]।**
अंशु[८]--र्विवस्वान्[९]--त्वष्टा[१०] च--सविता[११]--विष्णु[१२]--रेव च॥

द (इन्द्र)–यम् (ब्रह्मा) रूप से प्रतिष्ठित होकर पदार्थ का इन तीनों ह्वया शक्तियों से सञ्चालन करते हुए **'अन्तर्य्यामी'** नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। एवं अग्नि, तथा सोम [ऋ, तथा ऌ] नामक दोनों अक्षर वस्तुस्वरूप में परिणत होते हुए–**''अग्नीषोमात्मकं जगत्'** इस बृहज्जाबालीय सिद्धान्त को अन्वर्थ प्रमाणित कर रहे हैं। यों एकाक्षररूप से ब्रह्म–नामरूप-एवं अन्न के द्वारा पञ्चाक्षररूप में परिणत हो जाना हीं सृष्टिकर्त्ता अक्षरप्रजापति की सृष्टिसामान्यानुबन्धलक्षणा–प्रथमा–आधारसृष्टि है, जिसके आधार पर ही आगे की क्षरमूला विकारसृष्टियाँ, एवं मैथुनीसृष्टियाँ प्रक्रान्त होने वालीं हैं।

एकाक्षरमूर्त्तिरक्षरप्रजापतिः । तस्य पञ्चाक्षरविवर्त्तभावाः—

१–ब्रह्म—-प्रतिष्ठा–ब्रह्माक्षरभावः [१] २–नामरूपम्-ज्योतिः–इन्द्राक्षरभावः [२] ३–अन्नम्—यज्ञः—–विष्णुः, अग्निः, सोमश्च [३]	–सैषा अक्षरस्य प्रथमा सृष्टिः–सामान्या–सर्वाधारभूता

——*——

९६–परात्पराव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति षोडशीप्रजापति के इतिवृत्त का उपराम—

क्षरभावप्रधाना-प्रजासृष्टि के अधिष्ठातृपद पर समारूढ होने से ही अक्षरपुरुष **'प्रजापति'** कहलाए हैं। जैसा कि प्रतिष्ठात्मक–'अस्ति' भाव का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में कहा गया है–प्रकृतिरूप 'अक्षर–प्रजापति' के रसप्रधान अविपरिणामी अमृतभाव, एवं बलप्रधान विपरिणामी मर्त्यभाव-भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। रसप्रधान अमृतरूप से वही प्रजापति 'अक्षर' कहलाया है, एवं बलप्रधान मर्त्यरूप से वही प्रजापति 'क्षर' कहलाया है। अविपरिणामी अमृताक्षर कदापि विकृत नहीं होता। परिणामी मर्त्यक्षर ही विकारसृष्टि का उपादान बनता है, जब कि अविपरिणामी अमृताक्षर केवल निमित्त ही माना गया है विकारसृष्टि का। जो ब्रह्मादि पाँच कलाएँ अमृताक्षर की हैं, वे ही पाँच कलाएँ मर्त्यक्षर की हैं। यों पञ्चकल अव्यय, पञ्चामृतकल अक्षर, पञ्चमर्त्यकल क्षर, षोडशभाव–पूरक विश्वातीत परात्पर ही षोडशीप्रजापति का सम्पूर्ण इतिवृत्त है।

९७–षोडशीप्रजापति के सर्वान्तिम आत्मक्षर से विकारक्षरात्मक 'विश्वसृट्' तत्त्व का आविर्भाव, एवं उसका पञ्चीकरण—

पञ्चकल अव्ययरूप अधिष्ठानात्मक आलम्बन पर प्रतिष्ठित रहने वाले पञ्चब्रह्मादि अमृतकलाओं से सम्पन्न अमृताक्षररूप निमित्तकारण से पञ्चब्रह्मादि मर्त्यक्षर कलाओं से मर्त्यक्षररूप उपादानकारण हीं सर्वप्रथम अपञ्चीकृत–विशुद्ध–तन्मात्रारूप-गुणभूतात्मक–जिन पाँच विकारकलाओं में परिणत होता है, वे पाँचों विशुद्धा विकारकलाएँ हीं क्रमशः **प्राणः–आपः–वाक्–अन्नादः–अन्नम्**–इन नामों से प्रसिद्ध हैं। वैकारिकी सृटि के मूल ये ही पाँचों विकारक्षर बनते हैं। अतएव इनका साङ्केतिक नाम रख दिया जाता है–**'विश्वसृट्'**। इन्हीं के सत्त्व से वैकारिक जगत् का आविर्भाव होने वाला है। मर्त्यकलारूप-**ब्रह्मा–विष्णु–**

इन्द्र–अग्नि–सोम–इन पाँच क्षरकलाओं से क्रमशः उत्पन्न **प्राणः-आपः–वाक्–अन्नाद–अन्नम्**-रूप पाँचों विकारकलाओं का सर्वहुतयज्ञ के द्वारा पञ्चीकरण होता है। इस पञ्चीकरण से पञ्चात्मक भाव में परिणत होजाने वाले ये ही पञ्चात्मक [प्रत्येक–पञ्चात्मक] पाँचों विकारक्षर–'**पञ्चजन**' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं *। आधे में प्राण–आपः–वाक् अन्नाद–अन्न, एवं शेष प्रत्येक के आधे भागों में शेष चारों की आहुति, इसी का नाम है पञ्चीकरण, जिसका अर्थ है–पञ्चात्मक प्राणः–आपः–वाक्–अन्नादः–अन्नम्। '**वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः**' [व्याससूत्र] के अनुसार इनके नाम भी प्राणादि ही इसलिए रह जाते हैं कि, प्रत्येक में आधे में प्राणादि, एवं शेष में चारों रहते हैं। इसी वैशिष्ट्य से पञ्चात्मक भी प्राण कहलाया है प्राण ही, पञ्चात्मक भी आपः कहलाया है आपः ही। यही क्रम सर्वत्र द्रष्टव्य है।

९८–पञ्चीकृत विश्वसृजों के पञ्चीकरण से पञ्चजन, पुरञ्जनभावों का आविर्भाव, एवं पञ्चपञ्चीकृत पुरञ्जनों से पाँच विश्वपुरों का प्रादुर्भाव—

पञ्चात्मक उक्त पाँचों प्राणः–आपः-वाक्–अन्नादः-अन्नम्-इन पञ्चजनकलाओं का पुनः पञ्चीकरण होता है। इससे पञ्चात्मक पाँचों पञ्च–पञ्चात्मक रूप में परिणत हो जाते हैं। पञ्चपञ्चीकृत ये ही पञ्चजन प्राणादि पुरभावोत्पत्ति के मूल बनते हुए–'**पुरञ्जन**' नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं। और इस संस्था में आकर इनके नामों में भी परिवर्त्तन हो जाता है। पञ्चात्मक प्राणपञ्चजन के पञ्चीकरण से उत्पन्न पुरञ्जन '**वेदपुरञ्जन**' कहलाया है, आपःपञ्चजन से उत्पन्न पुरञ्जन **लोकपुरञ्जन**, वाक्पञ्चजन से उत्पन्न पुरञ्जन **देवपुरञ्जन**, अन्नाद–पञ्चजन से उत्पन्न पुरञ्जन **भूतपुरञ्जन**, एवं अन्नपञ्चजन से उत्पन्न पुरञ्जन '**पशुपुरञ्जन**' नाम से व्यवहृत हुआ है। **वेद–लोक–देव–भूत–पशु**–रूप पञ्चपञ्चीकृत इन पाँच पुरञ्जनों से ही पञ्चब्रह्मपुररूप पञ्चपुण्डीर–प्राजापत्यवल्शारूप–विश्वपुर का आविर्भाव हुआ है। इन पाँचों पुरञ्जनों में भी सर्वादिभूत वेदपुरञ्जन ही मूलाधार बनता है विश्वसंस्थाओं का, जैसा कि–'**वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्म्ममे**' [मनुः] इत्यादिरूप से आरम्भ में निगमागमीय–प्रथम प्रक्रम–प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जा चुका है। पञ्चधा पञ्चीकृत, अतएव पञ्च–पञ्चीकृत उक्त वेद-लोकादि पाँचों पुरञ्जनों से ही आगे जाकर क्रमशः **स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–पृथिवी–चन्द्रमा**–नामक पाँच पुर आविर्भूत होते हैं।

९९–षोडशकल षोडशीप्रजापति, एवं इस की क्षरकला से आविर्भूत–प्रादुर्भूत पञ्चकल पञ्चपर्वा विश्व, तथा समष्टिरूप–सर्वलक्षण–सर्वात्मक–प्रजापति का महामहिमामयत्व—

तदित्थं–अपने पञ्चकल क्षरभाग से विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन–रूपेण पञ्चपुरों को उत्पन्न कर–'**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' के अनुसार अव्यय–क्षर–से समन्वित मध्यस्थ वही अक्षरप्रजापति इन विश्वपुरों में समष्ट्या, और व्यष्ट्या उभयथा प्रविष्ट हो जाता है। अतएव यह ब्रह्मपुर–'**विशत्यत्र आत्मन्वी–अक्षरप्रजापतिरात्मा**' इस निर्वचन से–'**विश्वम्**' उपाधि से समन्वित हो रहा है।

---

*-**यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।**
तमेव मन्यऽआत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥ (शत० १४।२।१६।)

आनन्दविज्ञानमन:प्राणवाग्रूप पञ्चकल अव्यय, अमृतब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोमरूप पञ्चकल अक्षर, मर्त्यब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोमरूप पञ्चकल क्षर, एवं विश्वातीत परात्पर, इन चारों की समन्वितावस्था का नाम तो है–'षोडशी-षोडशकल–प्रजापति–विश्वात्मा'। एवं इस षोडशी विश्वात्मप्रजापति के उपादानकारणात्मक–मर्त्यब्रह्मादि पञ्चकलात्मक क्षर से विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जनरूपेण समुद्भूत पञ्चब्रह्मपुरसमष्टि का नाम ही है विश्वात्मगर्भीभूत–विश्व। अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, प्रजापति ही विश्वात्मा है, एवं अपने क्षरभाग से वही विश्व है। प्रजापति के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। निम्न लिखित मन्त्रश्रुतियाँ प्रजापति की इसी महिमा का यशोगान कर रहीं हैं–

प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ —ऋक् सं० १०।१२१।४।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी। —यजुः सं० ८।३६

इदमत्र विशेषरूपेणावधेयम्—

१	अव्ययः ५	अक्षरः ५	आत्मक्षरः ५	विकारक्षरः	पञ्चीकृत–विकाराः	पञ्चपञ्ची–कृतविकाराः	वैकारिक-भावाः
विश्वातीतः—परात्परः	१–आनन्दः	१–अमृतब्रह्मा	१–मर्त्यब्रह्मा—	शुद्धप्राणः	पञ्चीकृतप्राणः	वेदाः	स्वयम्भूः
	२–विज्ञानम्	२–अमृतविष्णुः	२–मर्त्यविष्णुः–	शुद्धापः	पञ्चीकृतापः	लोकाः	परमेष्टी
	३–मनः	३–अमृतेन्द्रः	३–मर्त्येन्द्रः—	शुद्धवाक्	पञ्चीकृतावाक्	देवाः	सूर्य्यः
	४–प्राणः	४–अमृताग्निः	४–मर्त्याग्निः—	शुद्धान्नादः	पञ्चीकृतान्नादः	भूतानि	पृथिवी
	५–वाक्	५–अमृतसोमः	५–मर्त्यसोमः—	शुद्धान्नम्	पञ्चीकृतमन्नम्	पशवः	चन्द्रमाः
	आलम्बनम् विश्वस्य	निमित्तम् विश्वस्य	उपादानम् विश्वस्य	विश्वसृजः	पञ्चजनाः	पुरञ्जनाः	पुराणि
	विश्वाधारः	विश्वकर्त्ता	विश्वमूर्त्तिः				

विश्वात्मा–षोडशी प्रजापतिः —	विश्वम्

प्रजापतिस्त्वेवेदं–सर्वं—यदिदं किञ्च

१००-आत्मन्वी (विश्वविशिष्ट) षोडशीप्रजापति के विश्वोपाधि-निबन्धन विद्या-वेद-ब्रह्म--नामक सोपाधिक तीन विवर्त्त—

आत्मन्वी, अर्थात् विश्वविशिष्ट-षोडशी-प्रजापति के तथाकथित स्वरूप के आधार पर ही अब हमें 'विद्या' शब्द का, एवं तत्सापेक्ष प्रतिज्ञात वेद, ब्रह्म, शब्दों का स्वरूपान्वेषण करना है। स्वस्वरूप से एकरस-निरुपाधिक भी बने रहने वाले षोडशीप्रजापति का ज्ञानात्मक स्वरूप तीन प्रकार की विशेषोपाधियों से सोपाधिक बनता हुआ क्रमशः **वेद, ब्रह्म, विद्या,** इन तीन भावों में परिणत हो जाता है, हो रहा है। एकवर्णात्मक भी सौरप्रकाश जैसे हरित-नील-रक्त-वर्णात्मक तीन आधारपात्ररूप आदर्शों (काचों) के भेद से सोपाधिक बनता हुआ हरित-नील-रक्तरूपात्मक विभिन्न उपाधिवर्णों में प्रतीत होने लग पड़ता है। एवमेव अक्षरप्रधान षोडशीप्रजापति से अनुप्राणिता ज्ञानमात्रा भी उपाधित्रयी से समन्विता बन कर वेद-ब्रह्म-विद्या-रूपों में परिणत हो रही है, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है। **शब्दोपाधि से समन्वित वही प्राजापत्य ज्ञान 'वेद' है, विषयोपाधि से समन्वित वही ज्ञान 'ब्रह्म' है, एवं संस्कारोपाधि से समन्वित वही ज्ञान 'विद्या'** है। **शब्द, विषय, संस्कार** तीनों हीं विश्वोपाधियाँ हैं। इन विभिन्न उपाधियों से ही अविभिन्न भी प्राजापत्य ज्ञान **वेद-ब्रह्म-विद्या-**रूप से प्रतीत हो रहा है। अतएव तीनों सोपाधिक-विवर्त्तों का विद्वानोंनें लक्षण किया है—

(१)—शब्दावच्छिन्नं तदेव प्राजापत्यज्ञानं——**वेदः**

(१)—विषयावच्छिन्नं तदेव प्राजापत्यज्ञानं——**ब्रह्म**

(३)—संस्कारावच्छिन्नं तदेव प्राजापत्यज्ञानं—**विद्या**

१०१-लौकिक उदाहरणविधि से 'वेद', 'ब्रह्म' तथा 'विद्या' नामक सोपाधिक प्राजापत्यरूपों का तात्पर्य्य-समन्वय—

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य यही कि शब्दात्मक वही प्रजापति 'वेद' है, विषयात्मक वही प्रजापति 'ब्रह्म' है, एवं संस्कारात्मक वही प्रजापति 'विद्या' है। समझे नहीं ?। तो भावुकता-संरक्षिका उदाहरण-विधि को माध्यम बनाइए। ईश्वरप्रजापति का अंशभूत * मानवीय-संस्थानुगत जीवभाव ही इस उदाहरणविधि का अनुरूप उदाहरण बनेगा। राम, कृष्ण, दुर्गादत्त, घट, पट, मठ, गो, अश्व, अवि, अजादि अनेक प्रकार के शब्द आप सुनते रहते हैं। इस शब्दश्रवण के अतिरिक्त अपनी चक्षुरिन्द्रिय से भी अनेक पदार्थों को आप देखते रहते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शब्दश्रवण से भी आपकी मानस-प्रज्ञा में शब्दवाच्य विषयों-पदार्थों का ज्ञान होता रहता है। एवं चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा दर्शन से भी दृष्टिलक्ष्यीभूत विषयों का बोध होतारहता है। यों श्रवण, तथा दर्शन, दोनों हीं माध्यमों से आपको पदार्थों का बोध होता रहता है। गोशब्द सुननेमात्र से भी आपका ज्ञान गोपशु के आकार से समन्वित हो जाता है, एवं गोपदार्थ को देखने से भी आपका ज्ञान तदाकाराकारित हो जाता है। इसप्रकार शब्द, तथा विषय के भेद से ज्ञान दो विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। इन दोनों में शब्दावच्छिन्न जो विषयज्ञान है, उसे कहा जायगा-'ब्रह्म'।

---

* **ममैवांशो जीवलोके-जीवभूतः सनातनः।** (गीता)

१०२--वेदावच्छिन्न ज्ञान, तथा ब्रह्मावच्छिन्न ज्ञान का सामान्य ज्ञानत्व, एवं तदाधारेण चिति-सञ्चिति-रूप से अभिव्यक्त उक्थरूप सोपाधिक ज्ञान का 'विद्या'-स्वरूपत्व—

उक्त दोनों ज्ञानभावों के अतिरिक्त एक तीसरा ज्ञानभाव और है, जिसे दर्शन की भाषा में 'पार्ष्ठिज्ञान' कहा गया है। शब्दश्रवण से, तथा विषयदर्शन से तात्कालिकरूपेण उदित ज्ञान 'सामान्यज्ञान, कहलाया है। यही सामान्यज्ञान श्रवणानन्तर, तथा दर्शनानन्तर प्रक्रान्त रहने वाले मनन–निदिध्यासन से दृढमूल बन जाता है। सहजभाषानुसार–सामान्यज्ञान ही अनुभवपरम्परा के द्वारा आगे चल कर विशेषभाव में परिणत होता हुआ **अनुभवाहित–संस्काररूप** से समन्वित हो जाता है भूतात्मानुगता प्रज्ञा के साथ। संस्कारावच्छिन्ना इसी प्रज्ञा को विज्ञानभाषा में '**विद्या**' कहा गया है। इस संस्काररूपा विद्या का ही साङ्केतिक नाम है—'**उक्थ**'। यही उक्थ मानवजीवन की मूलप्रतिष्ठा है। उक्थ से ही अर्क विनिर्गत हैं, अर्क ही अशीतिरूप अन्न का आहरण करते रहते हैं। इन उक्थ–अर्क अशीति-भावों के धारावाहिक चङ्क्रमण का ही नाम मानव की भौतिक–जीवनीया–स्वरूपव्याख्या है। जबतक विद्यात्मक संस्कारोक्थ हैं, तभी तक आप स्वस्वरूप में (भौतिक-भाव में) प्रतिष्ठित हैं। संस्काराभाव में तो आप विश्वसीमा से पृथक बनते हुए विश्वातीत हैं, मुक्त हैं, जीवन्मुक्त हैं, विदेहमुक्त हैं। विश्वसत्ता संस्कारसत्ता पर ही अवलम्बित है। अतएव शब्दात्मक वेद, तथा विषयात्मक ब्रह्म, दोनों की अपेक्षा हम संस्काररूपा विद्या को ही प्रधानरूप से विश्वस्वरूपसम्पादिका, किंवा निर्म्मात्री कहेंगे। उसी प्राजापत्य–ज्ञान पर चिति–क्रम से संस्कारपुटों की धारावाहिक–सञ्चिति होती है। इसी संस्कार–सञ्चिति से विश्व का प्रतीयमान मूर्त्तस्वरूप आज हमारे सम्मुख समुपस्थित है।

१०३- सञ्चितसंस्काररूपा प्राजापत्यविद्या, एवं तच्चितिरूप, अतएव विद्यात्मक विश्व—

जिसप्रकार हमारा पाञ्चभौतिक विश्व (शरीर) हमारा संस्कार है, तथैव वह महाशरीर (विश्व) उस विश्वेश्वर का सञ्चित संस्कार है। इस सञ्चित संस्कारानुबन्ध से ही विश्व को निश्चयेन–'**विद्या**' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है, किया गया है, जिसके आधार पर ही–'**विश्वविद्या**'–'**सृष्टिविद्या**' आदि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं। तदित्थं–एक ही प्राजापत्यज्ञान यों **शब्द–विषय–संस्कार**–भेद से **वेद–ब्रह्म–विद्या**–रूपों में परिणत हो रहा है। संसृष्टिलक्षण विश्व क्योंकि–सञ्चितसंस्काररूप ही है। अतएव 'विश्व' की स्वरूपव्याख्या के प्रसङ्ग में '**विद्या**' शब्द ही सर्वात्मना अनुरूप प्रमाणित हो रहा है। निगममूलक विश्व, तथा आगममूलक विश्व, दोनों हीं 'विद्या' शब्द से समन्वित हैं अपने संस्कारभाव से। अतएव विश्वविद्याविवर्त्त भी '**निगम–विद्या, आगमविद्या** रूपेण दो महिमाभावों में परिणत हो रहा है। और यही 'विद्या' शब्द का, तथा तत्-सापेक्ष वेद, एवं ब्रह्म शब्दों का प्रासङ्गिक संक्षिप्त इतिवृत्त है।

१०४–महदुक्थविद्यात्मिका विराड्विद्या, तदभिन्ना दशमहाविद्या, एवं विद्यात्मक निगमागमभावों का तात्त्विक-समन्वय—

सूर्य्य–चन्द्रमा–अग्नि–ओषधि–वनस्पति–नक्षत्र–ग्रह–कृमि–कीट–पक्षी–मनुष्य–धातु–रस–विष–आदि आदि सभी पदार्थ सञ्चित–संस्कारोक्थ–रूपमय बने रहते हुए संस्कारावच्छिन्ना 'विद्या' उपाधि से समन्वित हैं। इन सब अवान्तर छोटी–बड़ी-विद्याओं को जहाँ–'**उक्थविद्या**'त्मिका **अणुविद्याएँ** कहा जायगा, वहाँ इन समस्त उक्थविद्याओं की समष्टिरूपा-महाविश्वात्मिका विश्वविद्या को निगमदृष्ट्या '**महदुक्थविद्या**' लक्षणा

'**विराड्विद्या**' कहा जायगा, एवं आगमदृष्ट्या इसी को '**दशमहाविद्या**' कहा जायगा। निगममूला विश्वविद्या, तथा आगममूला विश्वविद्या–रूप विद्याविभेद भी केवल निरूपणीय-आधार क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाला सोपाधिक भेदमात्र ही है। वस्तुतः निगमागमतत्त्व अभिन्न वस्तुतत्त्व हैं, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। स्वयम्भूरूप निगम, तथा सूर्य्यरूप निगम को आधारबिन्दु मान कर विश्वात्मिका महाविद्या का स्वरूप–विश्लेषण करने वाली **विराड्विद्या** भी विश्वविद्या ही है। एवं परमेष्ठीरूप आगम, तथा पृथिवीरूप आगम को आधारबिन्दु मान कर महाविद्या का स्वरूप-विश्लेषण करने वाली दश महाविद्या भी विश्वविद्या ही है। दोनों हीं अपने दशावयवभाव से दश विवर्त्तभावों में विभक्ता हैं। तभी तो निगमविद्या को–'**विराड्विद्या**' कहना, एवं आगमविद्या को '**दशमहाविद्या**' कहना अन्वर्थ बन रहा है। विश्व का क्या स्वरूप है ?, विश्व का आधार कौन है ?, विश्वस्वरूपबोध से मानव अपनी आचारपद्धतियों में कैसा क्या उत्कर्ष कैसे प्राप्त कर सकता है ?, इत्यादि रहस्यपूर्ण प्रश्नों के समाधान के लिए ही निगमागमाचार्य्यमहर्षियों के द्वारा निगमशास्त्र–आगमशास्त्र–भेद से निगमात्मिका विराड्विद्या का, तथा आगमात्मिका दशमहाविद्या का स्वरूप–विश्लेषण हुआ है, जिसके इस समसमन्वय का समतुलन करते हुए दोनों विद्या–क्षेत्रों का सहज–सम्बन्ध जान लेना तो असाधारणी-अलौकिकी ऋषिप्रज्ञा से ही अनुप्राणित है। मादृश प्राकृत जन्तु तो इनके नामस्मरणमात्र से ही स्वस्वरूपेण सर्वात्मना विमुग्ध है।

१०५--शक्तिपूजनात्मक महान् सांस्कृतिक--विजयदशमीपर्व, एवं तत्प्रतिष्ठारूपा आगमीया दशमहाविद्या (पृथिवीमूला सृष्टिविद्या)--

लक्षीभूत है **विजयदशमी--पर्व**, जिसके प्रसङ्ग से ही निगमागमचर्चा प्रक्रान्त हो पड़ी है, एवं निगमागमप्रसङ्ग से ही 'विद्या' शब्द का प्रासङ्गिक समन्वय उपस्थित हो पड़ा है। विजयदशमी–पर्व का अर्थ है नव–रात्रान्त में व्यवस्थित विजया--दशमी को सम्पन्न होने वाला महान् पर्व। यों '**दशरात्रिभाव**' इस पर्व नाम से ही स्वतः ही समवेत है इस प्रसङ्ग में। **शक्ति–उपासनात्मक**, एवं **शक्तिपूजनात्मक** यह महापर्व वस्तुतः आगमानुगत पर्व ही माना जायगा। क्योंकि शक्तिरूप मातृभाव आगमशास्त्र का ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। निगमशास्त्र जहाँ पुरुषरूपेण विश्वविद्या का स्वरूपविश्लेषक है *, वहाँ आगमशास्त्र प्रकृतिरूपेणैव विश्वविद्या का स्वरूप–विश्लेषक बना हुआ है। वही आगमशास्त्रीया महाविद्या–'**दशमहाविद्या**' नाम से प्रसिद्ध है, जो विजयदशमी--पर्व की मूलाधिष्ठात्री बनी हुई है। निगममूला विराड्विद्या, एवं आगममूला दशमहाविद्या 'दशा–वयवा' क्यों, कैसे बन गई ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न भी समाधान की अपेक्षा रख रहा है। अतएव दो शब्दों में इसका भी समन्वय कर लेना अनुरूप ही मान लिया जायगा।

विद्या 'शब्द' का चिरन्तनेतिवृत्त उपरत

—२—

*–पुरुष एवेदं सर्वं-यद्भूतं-यच्च भाव्यम् (यजुःसंहिता)।

३–'दशमहाविद्या' शब्द का चिरन्तनेतिवृत्त

१०६–महर्षि बाध्वाभिमत छन्दःपुरुष–वेदपुरुष–महापुरुष–शरीरपुरुष–नामक चार पुरुष-विवर्त्त, एवं इन का कालपुरुष–यज्ञपुरुष–नामक दो विवर्त्तों में अन्तर्भाव—

'तत्तु समन्वायात्' लक्षण वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार पूर्व के निगमागमशब्देतिहासप्रसङ्गों में प्रकृति–पुरुष के समन्वय को ही विश्वनिर्म्माण का मूलाधार बतलाया गया है। जिस पुरुष के साथ प्रकृति देवी का समन्वय होता है, उस पुरुष के दो प्रधान विवर्त्त मानें हैं निगमशास्त्र नें, जो क्रमशः **कालपुरुष,** एवं **यज्ञपुरुष**–नामों से प्रसिद्ध हैं यत्र तत्र सृष्टिप्रसङ्गों में, जिन इन दोनों स्वरूपों का दिग्‌दर्शन श्वेतक्रान्ति-निबन्ध के चतुर्थ खण्ड में हीं देखना चाहिए। प्रकृत में तो इन दोनों महापुरुषों का नामस्मरण–मात्र ही कर लिया जाता है। भगवान् ऐतरेय नें **महर्षि बाध्व** के दृष्टिकोण को आधार मानते हुए जिन चार पुरुषों की मीमांसा की है, उनमें आदि के **छन्दःपुरुष,** तथा **वेदपुरुष,** इन दो का तो 'कालपुरुष' में अन्तर्भाव है। एवं अन्त के **महापुरुष, शरीरपुरुष,** (**ईश्वरीय यज्ञपुरुष, और मानवीय यज्ञपुरुष**) इन दोनों का यज्ञपुरुष में अन्तर्भाव है। यों ऐतरेयसम्मत, किंवा महर्षि बाध्यसम्मत चारों पुरुषों का **काल–यज्ञ**–भेद से दो पुरुषों में हीं अन्तर्भाव हो जाता है ÷।

१०७–अनन्त-व्यापक कालपुरुष, एवं सादि–परिच्छिन्न-यज्ञपुरुष, तथा कालपुरुष के सोपाधिक–अमृत–मर्त्यभाव—

दोनों में कालपुरुष अनादि है, व्यापक है, यज्ञपुरुष सादि है, परिच्छिन्न है। स्वयं यज्ञपुरुष (सम्वत्सर) भी कालपुरुष को आधार बना कर ही विश्वनिर्म्माण में समर्थ होते हैं। उस महाकालात्मक–कराल–काल के निःसीम उदर में यज्ञपुरुषानुगत अनन्त–असंख्य विश्वचक्र बुद्‌बुद्‌वत् इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं। मन्त्रसंहिताओं में 'काल' नाम से प्रसिद्ध यही पुरुषतत्त्व उपनिषदों में मायातीत–मायाप्रवर्त्तक–सर्वातीत–सर्वरूप **'परात्पर'** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। सर्वमृत्युघन (सर्वबलविशिष्ट) सर्वामृततत्त्व (सर्वरसतत्त्व) मूर्ति तत्त्व ही परात्पर का तटस्थ यशोवर्णन है। अमृततत्त्व सत् है, मृत्यु तत्त्व असत् है।

अन्तरं मृत्योरमृतं, मृत्यावमृतमाहितम् (शत० १०।५।२।)

तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः (ईश–उपनिषत)

१०८–नासदासीन्नो सदासील्लक्षण महाकालकरालात्मक-कालपुरुषरूप परात्परब्रह्म के तटस्थ लक्षण—

उक्त वचनों के अनुसार रसात्मक सत्–अमृत, तथा बलात्मक असत्–मृत्यु, दोनों हीं तत्त्व दोनों में अन्तरान्तरीभावसम्बन्ध से ओतप्रोत हैं। दोनों में अमृतरस निरञ्जन–निर्गुण–शान्त–शाश्वत–अभय–पूर्ण–

÷–'चत्वारः पुरुषाः' इति बाध्वः–शरीरपुरुषः (मानवः), छन्दःपुरुषः (पुरभावः), वेदपुरुषः (अपौरुषेयः), महापुरुषः (ईश्वरः)-इति। —ऐतरेय–आरण्य ३।२।३।

मृत्युलक्षण है, तो दूसरा मर्त्य बल साञ्जन–सगुण–अशान्त–अशाश्वत–अभय–अपूर्ण–एवं स्वलक्षण है। तमःप्रकाशवत् अत्यन्त विरुद्ध होते हुए भी दोनों नित्य अविनाभूत हैं। दोनों में कौन आधार है ?, कौन आधेय है ?, प्रश्न सर्वथा अनतिप्रश्न है, असमाधेयप्रश्न है। दोनों में एक सर्वथा 'सत्' ही है, जिसका कदापि विनाश सम्भव ही नहीं है। दूसरा सर्वथा 'असत्' ही है, जिसका स्वरूप विनाशलक्षण मृत्युभाव ही है। इसी आधार पर तो–**'अमृतं चैव मृत्युश्च, सदसच्चाहमर्जुन !'** (गीता) इत्यादि स्मार्त्त सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। वह क्योंकि केवल 'असत्' ही नहीं है। इसलिए तो उसे **'असत्'** नहीं कहा जासकता। वह क्योंकि केवल 'सत्' भी नहीं है। अतएव उसे **'सत्'** भी नहीं कहा जासकता। सत्, और असत् में परस्पर अत्यन्त विरोध है। अतएव उसे **'सदसत्'** भी नहीं कहा जासकता। सदसत् के अतिरिक्त वहाँ और कुछ भी नहीं है। इसलिए उसे सदसत् से अन्य भी नहीं कहा जासकता। यों कुछ भी तो नहीं कहा जासकता-उस अतद्व्यावृत्त–अनिर्वचनीय–अवाङ्मनसगोचर–मायातीत–मायाप्रवर्त्तक कालपुरुषात्मक परात्पर के लिए। इसी तथ्य का रहस्यपूर्ण भाषा में दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि को अन्ततोगत्वा यही कह देना पड़ा कि—

> **नासदासीत्–नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत् ॥**
> **किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥**
> **न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ॥**
> **आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥२॥**
>
> —ऋक्सं० १०।१२६।१,२,।

नैष वा इदमग्रे–असदासीत्, नेव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे–नेवासीत्। तस्मादेतत्–ऋषिणाभ्यनूक्तं–'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्'–इति। (शत० १०।४।१)।

१०६–महाकालात्मक कालपुरुष की महाशक्ति-सदसद्विलक्षणा--नासदासीन्नो सदासील्लक्षणा महामाया का तटस्थ लक्षण—

तथाभूत किसी अज्ञात–अप्रतर्क्य–अचिन्त्य–अलक्षण–विश्वातीत तत्त्व का नाम हीं 'परात्पर' है, एवं वही 'कालपुरुष' नाम से उपवर्णित है। उस महाकालात्मक परात्परब्रह्म में प्रतिक्षण विलक्षण माया-बलों का आविर्भाव–तिरोभाव होता रहता है। जिसप्रकार दिग्देश–कालापेक्षया अनन्त, किन्तु संख्या से एक महासमुद्र में दिग्देशकालापेक्षया सादि–सान्त, किन्तु संख्या से अनन्त–असंख्य बुद्बुद्, किंवा तरङ्गें आविर्भूत-तिरोभूत होतीं रहतीं हैं, ठीक इसीप्रकार मानो दिग्देशकाल से सादि–सान्त, किन्तु संख्या से अनन्त–असंख्य,–सीमाभावोत्पादक मायाबल तरङ्गवत् प्रतिक्षण विलक्षणरूप से नवीन नवीनरूपेण आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं। परात्पर का ही बलभाग 'माया' तत्त्व है, जो परात्परवत् ही सदसद्विलक्षण बनता हुआ अनिर्वचनीय–अचिन्त्य–विलक्षण तत्त्व ही प्रमाणित हो रहा है, जैसा कि आगमाचार्य्योंनें **'नासदासीन्नो सदासीत्'** इत्यादि निगमवचन के आधार पर ही माया के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—

> **न सती सा, नासती सा, नोभयात्मा विरोधतः।**
> **काचिद्विलक्षणा माया वस्तुप्रकृतिरिष्यते ॥**

११०–विश्वातीत-परात्पर–परमेश्वररूप–महाकालपुरुष की कालनिबन्धना नैगमिक-स्तुति—

प्रतिक्षण विलक्षण नित्य अशान्त बलों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले, रसदृष्ट्या सदा ही नित्य-शान्त बने रहने वाले परात्परब्रह्म मानो नित्य-अशान्तिगर्भित-नित्य शान्तिस्वरूप ही हैं। शान्त-अमृतरसतत्त्व की अपेक्षा से जहाँ वे ही परात्पर सर्वथा कम्परहित प्रमाणित होते हुए **'अनेजत्'** हैं, वहाँ अशान्त मर्त्य–बलतत्त्व की अपेक्षा से वे ही परात्पर सर्वथा कम्पात्मक प्रमाणित होते हुए–'एजत्' भी हैं। उनके इसी विलक्षण–अचिन्त्य–अरूपात्मक स्वरूप को लक्ष्य बना कर ऋषि को यही कह देना पड़ा है तत्सम्बन्ध में कि—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
तदेति, तन्नैजति, तद्दूरे, तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः (ईशोपनिषत् ४,५।)।

मृत्युरूप जो मायाबल उस परात्परांश को, किंवा प्रत्यंश को ससीम बना देता है, जिस मायाबल के प्रभाव से **विश्वातीत परात्पर** को आगे चल कर अपने इसी प्रत्यंशरूप से मायामय-मायी–**विश्वचर–पुरुष** बन जाना पड़ता है, जो बलात्मिका मायाशक्ति (पराशक्ति) उस महाकालात्मक परात्पर को पुरानुगत केन्द्र-भाव से समन्वित कर केन्द्रानुगत–मन से अनुप्राणिता अशनाया के माध्यम से अन्नाहरणद्वारा 'यज्ञपुरुष' रूप में परिणत कर देती है, वही महामाया आगमशास्त्र में **'प्रकृति'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। इसी के समन्वयानुग्रह से कालपुरुष अपने यत्किञ्चित् प्रदेश से सीमित बनता हुआ मनोमयी विश्वकामना का वशवर्त्ती बन जाता है, जिसका–**'सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सो ऽश्राम्यत्'** इत्यादि निगमवचनों से स्पष्टीकरण हुआ है। एक एक मायाबल एक एक विश्वपुरचक्र का अधिष्ठाता–प्रवर्त्तक–सर्ज्जक बन रहा है। अतएव संसिद्ध है कि, अनन्त–असंख्य–मायाबलात्मक परात्पर के क्रोड़ में असंख्य ही विश्वचक्र समाविष्ट हैं। परमभाग्य-शालिनी भारतीया संस्कृतिनिष्ठा–आस्तिकप्रजा की सहज भावना–**'जा के रोम–कोटि ब्रह्मण्डा'** रूप से इसी रहस्य का सहज रूपेणैव स्पष्टीकरण कर रही है। अनन्त–असंख्य–विश्वाधिष्ठाता वह परात्पररूप कालपुरुष नियतिदण्डरूप प्रचण्ड खड्ग हाथ में लेकर मानो सब पर अज्ञातरूपेण प्रचण्ड शासन ही कर रहा है। सप्तलोक, चतुर्द्दश भूतसर्ग, सम्पूर्ण विश्वचक्र, सब कुछ उसी से उसी के क्रोड़ में आविर्भूत–तिरोभूत होते रहते हैं। इसी सर्वेसर्वा कालपुरुष का यशोवर्णन करते हुए महर्षि (अथर्वश्रुति) कह रहे हैं कि—

(१)–कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥
(२)–सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभी रमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत्, कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥

(३)-स एव संभुवनान्याभरत्, स एव सं भुवनानि पर्यैत्।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥

(४)-कालोऽमूं दिवमजनयत्, काल इमाः, पृथिवीरुत।
कालेन भूतं-भव्यं-चेषितं ह वि तिष्ठते ॥

(५)-काले तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः (यज्ञपुरुषस्य) ॥

(६)-कालः प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयम्भूः-कश्यपः (सूर्य्यः) कालात्, तपः कालादजायत ॥

(७)-कालेयमङ्गिरादेवो-अथर्वा चाधितिष्ठतः।
इमञ्च लोकं परमञ्च लोकं पुण्यांश्च लोकान्, विधृतीश्च पुण्याः ॥
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ॥

*—अथर्वसंहिता १६।६।५३-५४-

१११-अनुपाख्य-अनिरुक्त-निरुक्त-भेद से 'कृष्ण' भाव के तीन विभिन्न विवर्त्त—

वैज्ञानिक महर्षियोंनें सुप्रसिद्ध 'कृष्ण' शब्द के चिरन्तनेतिहास के प्रसङ्ग में **अनुपाख्यकृष्ण, अनिरुक्तकृष्ण, निरुक्तकृष्ण**, भेद से तीन विवर्त्तों का स्पष्टीकरण किया है। जिसे-'**तम**' कहा गया है, वही यहाँ '**कृष्ण**' नाम से परिगृहीत है, जो त्रिविध महिमाभावों में विभक्त है । काला रँग, कोयला, काली स्याही, डामर, काला कज्जल, काले मेघ, आदि आदि रूप से चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष दृष्ट, एवं धामच्छद-रूपेण स्पर्श-ग्रहणादि-उपयोगभावों से समन्वित, लोकप्रसिद्ध कृष्णवर्णात्मक भूत-भौतिक पदार्थ हीं **निरुक्तकृष्णात्मक निरुक्ततम** हैं, जिनका सर्वात्मना भूतभाषा में भूतधर्म्ममाध्यनेन निर्वचन होता रहता है, और यही इस भौतिक कृष्ण की निरुक्तता है।

रात्रि का निबिडान्धकार भी कृष्ण है, नेत्रपटलों को अवरुद्ध कर लेने पर जो कुछ प्रतीत होता है, वह भी कृष्ण ही है। इत्थंभूत तमोभावों का चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष तो हो रहा है, किन्तु वागिन्द्रिय इन का न तो स्वरूपवर्णन ही कर सकती, न इन के साथ स्पर्शादि उपयोगभावों का ही कोई सम्बन्ध । विश्वसत्ता निरुक्ता है, यही अहःकाल है, यही सृष्टि का स्वरूप है। रात्रिकाल सर्वथा अनिरुक्त है, यही खण्डप्रलय का प्रत्यक्ष स्वरूप है। अतएव राज्यादि का तम '**अनिरुक्ततम**' ही मान लिया गया है।

---

* अथर्वसंहिता के दोनों कालसूक्तों में कालपुरुष का, तदनुबन्धी सापेक्ष दिग्-देश-काल-भावों का जैसा रहस्य-पूर्ण समन्वय हुआ है, उसके स्मरणमात्र से ही हमारी जड़प्रज्ञा स्तब्ध हो रही है। इसी स्तब्धता के समन्वय के लिए उक्त मन्त्रात्मक दोनों कालसूक्तों के अक्षरार्थमात्ररूपेण स्वतन्त्र निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है, जो सातसौ (७००) पृष्ठात्मक-'**दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा**' नाम से अनुगत है।

११२–तम आसीत्–तमसा गूढमग्रे का तात्त्विक समन्वय—

अब तीसरा वह अचिन्त्य तम उपस्थित होता है, जिसका विश्वसीमा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जब कुछ न था, तो क्या था ?, कदापि इस विश्वातीता स्थिति का हमें यत्किञ्चित् भी तो बोध नहीं है। हमारे लिए तो समझ में न आने वाला–अप्रतर्क्य–अनिर्देश्य–घोर–घोरतम तम ही था विश्वाभाव में। विश्वातीत तत्त्व हमारी प्रज्ञा की तटस्थता से ही **'अनुपाख्यतम'** नाम से प्रसिद्ध हो गया है। यह अनुपाख्यतम महाप्रलयकाल में प्रलयाधिष्ठात्री महारात्रि (महाकाली) के अनिरुक्त तमोभाव से ही आसमन्तात् परिवेष्टित रहता है। इसी तमोविज्ञान को लक्ष्य में रख कर अनिरुक्ततम (महाकाली रूपा महारात्रि) से आवृत अनुपाख्तम (महाकालरूप परात्पर) की ओर काली उपासकों का ध्यान आकर्षित करते हुए ऋषि कह रहे हैं—

तम आसीत्तमसा गूह्लमग्रे-अप्रेकतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभिपिहितं यदासीत्–तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥
—ऋक्सं० १०।१२६।३।

११३–'असदेवेदमग्र आसीत्, तत् सदासीत्' का तात्त्विक समन्वय—

तथोपवर्णित, विश्वातीत, अनुपाख्यतम ही आपका सुपरिचित परात्पररूप 'कालपुरुष' है, जिसे कि निर्वचनभाषा में **'विश्वाभावरूप'** ही तो कहा जायगा। अतएव तत्त्वतः सर्वथा सद्रूप (रसदृष्टया) होने पर भी हमारे ऐन्द्रियक ज्ञान से एकान्ततः अतीत होने के कारण ऋषि उसे सामान्यरूपेण यत्र तत्र–**'असत्'** भी कह दिया करते हैं। लोकसामान्य–प्रज्ञा में 'असत्' का अर्थ 'अभाव' है। कदापि इस ऋषिप्रयुक्त 'असत्' शब्द का अर्थ 'अभाव' नहीं है। किन्तु वह इस सद्विश्वापेक्षया कहीं विलक्षण सद्रूप है। इस वैलक्षण्य मात्र को सूचित करने के लिए ही ऋषिनें सर्वथा 'सद्रूप' भी उस अनुपाख्यतमोरूप कालपुरुष को 'असत्'-नाम से व्यवहृत कर दिया है, जो तत्त्वतः सद्घन (रसघन) ही प्रमाणित हो रहा है। देखिए !

असदेवेदमग्र आसीत् । तत् सदासीत् । कथमसतः सज्जायेत । तत् समभवत् । तत आण्डं निरवर्त्तत ।

११४–'एकोऽहं, बहु स्याम्' मूला प्राजापत्य–कामना का स्वरूपदिग्दर्शन—

वही असत्, किन्तु तत्त्वतः सत् कालपुरुष महामाया से परिच्छिन्न हो जाता है। अपरिमित–असीम में, किसी वस्तुभाव का अभाव नहीं। अतएव वह आप्तकाम है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही कामना का उदय हुआ करता है। उस व्यापक के लिए कुछ भी तो प्राप्तव्य नहीं है। अतएव उस में कामनामात्र का अत्यन्ताभाव है। अतएव च वह सर्वथा अकाम–निष्काम है। किन्तु इसी का मायाशबलित–मायी प्रदेश सीमात्मक पुरभाव से एकेन्द्र-समनरक बनता हुआ काममय प्रमाणित हो जाता है। इसी मायी पुरुष की कामना का–**'एकोऽहं बहु स्याम्'** इत्यादिरूप से सङ्केत हुआ है। मायाबलोदय के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं उस मायीपुरुष में हृदयबल (केन्द्रशक्ति) का आविर्भाव हो पड़ता है। रसबलात्मक–केन्द्रस्थ–वही कामनामय तत्त्व विज्ञानभाषा में–**'श्वोवसीयसमन'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। कामना मानसिक आभ्यन्तर–व्यापार है।

एवं–'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' के अनुसार मन हृदय में हीं प्रतिष्ठित माना गया है। सर्वप्रथम इस काममय मायी मन से विश्वरेतोभूता (विश्वोपादनकारणरूपा) कामना का ही आविर्भाव होता है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

—ऋक्सं० १०।१२९।४।

११५–महाकालपुरुष के आधार पर यज्ञपुरुष का आविर्भाव—

मायामय पुरुष की हृदयबलानुगता कामना से ही तो विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जनादि धारावाहिक क्रमानुपात से सर्वप्रथम उस वेदपुरञ्जन का ही आविर्भाव होता है, जिससे सम्बन्ध रखने वाले निगमागमभावों का पूर्व परिच्छेदों में यशोगान किया जाचुका है। तत्रैव यह सर्वात्मना स्पष्ट किया जाचुका है कि, **ऋक्–साम, यत्, जू** भेद से चतुष्पर्वा बना हुआ निगमपुरुष, एवं-**आपः–वायु–सोम,–अग्नि–यम–आदित्य**–रूप षड्विध भृग्वङ्गिरोमय आपःरूपा आगमप्रकृति, इन दोनों स्त्रीपुरुषों की दशावयव दश कलाओं से ही विराट-मूर्त्ति–दशावयव विराट्सूर्य्य–नारायण का प्रादुर्भाव हुआ है *। **ऋक्–साम–यत्–जू–रूप चतुष्पर्वा त्रयी-ब्रह्म ही अग्निपुरुषस्थानीय है, एवं आपः–वायुः–सोमादिरूप–षट्पर्वा–अथर्व–सुब्रह्म ही सोमप्रकृति-स्थानीय है**। इन अग्नि–सोम-भावों से ही हिरण्मयाण्डवृत्तावच्छिन्न विराट्पुरुष का आविर्भाव हुआ है। अतएव अवश्य ही इसे (अग्नि-सोम के दाम्पत्यभाव से) **'यज्ञपुरुष'** कहा जासकता है। और यों विश्वातीत-परात्पर–कालपुरुष ही मायाबलानुग्रह से पूर्वप्रतिपादिता–षोडशीप्रजापतिरूपा सृष्टिधारा के क्रमानुपात से विराट्रूपेण दशावयवमूर्ति **'यज्ञपुरुष'** रूप में परिणत हो रहा है।

११६–दशहोतुरनुगत यज्ञपुरुष की दशावयवता, एवं तन्मूला वैराजिकता—

दूसरे शब्दों में–कालपुरुष का मायामय–प्रत्यंशरूपात्मक,–**'तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः'** (मनुः १।३३) इत्यादि मानवीय–सिद्धान्तानुसार सृष्टिकर्त्ता–दशाक्षरमूर्त्ति विराट्पुरुष ही दूसरा 'यज्ञपुरुष' नामक विवर्त्त है। इसी से क्योंकि सम्पूर्ण त्रैलोक्य–प्रजाओं का आविर्भाव हुआ है। अतएव तत्-पतित्वेन इसे **'प्रजापति'** कह देना भी सर्वथा अन्वर्थ है। विश्व समष्टिरूप से, तथा व्यष्टिरूप से उभयथा यज्ञपुरुषात्मक बनता हुआ अग्नीषोमात्मक ही है, विराट्रूप ही है। यह विराट्रूप यज्ञप्रजापति क्योंकि दशावयव है। अतएव प्राजापत्या विश्वविद्या को पूर्वोक्ता–निगमागमविद्याओं के आधार पर हम अवश्य ही दशावयवा कह सकते हैं। यही यज्ञिय–दशावयवभाव यत्रतत्र **दशहोता–दशाह–विराट्–वैराज**–आदि विभिन्न नामों से उपवर्णित है। निम्न लिखित वचन विस्पष्ट शब्दों में विराट्–मूर्त्ति–यज्ञपुरुष की इसी दशावयवता का समर्थन कर रहे हैं—

---

*-**द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।**
अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ —मनुः १।३२।

१-यज्ञो वै दश होता (तै० ब्रा० २।२।१।६)।

२-विराट्-वा एषा समृद्धा, यद्दशाहानि (तां० ब्रा० ।८।६।)।

३-विराट्-वै यज्ञः (शत० १।१।१।)।

४-दशाक्षरा वै विराट् (शत० १।१।१।)।

५-यज्ञ उ वै प्रजापतिः (कौ० ब्रा उप० १०।१।)।

६-प्रजापतिर्वै दशहोता (तै० ब्रा० २।२।१।६।)।

७-अन्तो वा एष यज्ञस्य-यद्दशममहः (तै० ब्रा० १।२।६।१।)।

८-प्रतिष्ठा दशममहः (कौ० ब्रा० उप०२८।२।)।

९-एतद्वै कृत्स्नमन्नाद्यं, यद् विराट् (कौ० ब्रा० उप० १४।२।)।

१०-विराट्-विरमणात्-विराजनाद्वा (देवताब्रा० उ० ३।१२।)।

११७-'यद्वै न्यूनं तत्पूर्णं, यत्पूर्णं-तन्न्यूनम्' का समन्वय, एवं सृष्ट्याधारभूत न्यून-विराट्स्वरूप-यज्ञपुरुष—

'यद्वै न्यूनं, तत पूर्णम्'-'यत्पूर्णं-तत्-न्यूनम्'-मूलक-'न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते (११।१।२।४) इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार न्यूनविराट्रूप यज्ञपुरुष ही सृष्टि के प्रवर्त्तक बना करते हैं। कदापि पूर्ण से सृष्टि नहीं होती। इसीलिए अपूर्ण को पूर्णभाव मान लिया है यहाँ के सांस्कृतिक-आचारों में। पूर्णता में अवसानात्मक वह यमभाव (मृत्युभाव) आक्रमण कर बैठता है, जिसका-'**ददात्-यमोऽवसानं पृथिव्यै**' इत्यादि वचन से स्पष्टीकरण हुआ है। अपूर्णता में उत्तरानुगामिनी-समृद्धि प्रक्रान्त रहती है। अतएव दक्षिणा-विधान में ११-२१-५१-१०१-इत्यादिरूपेण अपूर्णभाव ही समाविष्ट कर लिए गए हैं। श्राद्धकर्म्म क्योंकि प्रकृत्यैव यमकर्म्म बनता हुआ अवसानात्मक ही है। अतएव श्राद्धदक्षिणा पूर्णा ही होती हैं। युक्तं चैतत्। पुरुष-पुरुष के संयोग से, स्त्री-स्त्री के संयोग से कदापि सृष्टि सम्भव नहीं है। पुरुष के वृषाप्राण, तथा स्त्री के योषाप्राण के दाम्पत्य से ही सर्ग प्रवृत्त होता है। स्त्री सौम्या बनती हुई 'भोग्या' है, पुरुष आग्नेय बनता हुआ भोक्ता है। अतएव स्त्रीभाव पुरुषभावापेक्षया-'न्यून' है। इस न्यूनसम्बन्ध से ही प्रजोत्पत्ति व्यवस्थित है। उधार विराट्संस्था में भी त्रयीब्रह्म आग्नेय बनता हुआ भोक्ता है, तो सुब्रह्मपर्व सौम्य बनता हुआ भोग्य है। ब्रह्म **प्राण** है, सुब्रह्म **रयि** है। प्रश्नोपनिषद्विज्ञानभाष्य में इन प्राण-रयि-भावों का विस्तार से उपबृंहण हुआ है। निवेदन-निष्कर्ष यही है कि, दशाक्षर-समन्वित पूर्ण विराट् से सृष्टि नहीं होती। अपितु नवाक्षर [९] समन्वित न्यूनविराट् ही प्रजासर्ग का अधिष्ठाता बनता है। एकाक्षर की न्यूनता से भी विराट् के विराट्त्व की कोई क्षति नहीं होती, जैसा कि-'**न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति, न द्वाभ्याम्**' इत्यादि छन्दःसिद्धान्त से स्पष्ट है।

११८--यज्ञविराट् के मूलभूत स्वायम्भुव--पारमेष्ठ्य--दाम्पत्य की तत्त्ववेदात्मिका न्यून--वैराजिकता का समन्वय—

हाँ, तो अपनी प्रज्ञा में इस स्थिति का समन्वय कीजिए कि, इस दृष्ट से पूर्व कुछ न था। सर्वत्र अनुपाख्यतम का ही साम्राज्य था, जिसे महाकालपुरुष कहा गया है। जोकि सर्वात्मना पूर्ण है, असद्‌रूप से उपगीयमान सद्‌रूप है। इस पूर्णता का अर्थ ही बना **'शून्यभाव'**। तभी तो ज्यौतिषशास्त्र शून्य-बिन्दु को 'पूर्ण' कहता है। यही उस ब्रह्माक्षर का प्राथमिक-पूर्ण-उन्मुग्ध स्वरूप है। इसी से नवाक्षरविराट्पुरुषरूप यज्ञपुरुष का सर्वप्रथम आविर्भाव होता है। यत्-और-जू-की उन्मुग्धावस्था एक-'यजुः' ही है। अतएव **ऋक्**[1]**-साम**[2]**-यत्**[3]**-जूः**[4]-इन चार पर्वों के स्थान में **ऋक्**[1]**-साम**[2]**-यजुः**[3]-ये तीन ही पर्व प्रधान बन जाते हैं। ६ पर्व सुब्रह्म के हैं। यों ३+६ के समन्वय से प्रादुर्भूत विराट्पुरुष नवाक्षरभाव में परिणत होता हुआ 'न्यूनविराट्' भाव से ही शेष रह जाता है। फलतः १० संख्या के स्थान में "**०-१-२-३-४-५-६-७-८-९**" यह नवाक्षरवितान ही प्रमुख बन जाता है।

११९--'नवो नवो भवति जायमानः'-मूला न्यूनविराट्लक्षणा नवसंख्या की नवधा-वितानात्मिका नवीनता—

स्थिति का थोड़ा और स्पष्टीकरण कर लीजिए। भारतीय संख्याविज्ञान नें- **नवो नवो भवति जायमानः**' इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनुसार नवभावात्मिका [नवीनभावात्मिका] नवसंख्या (९) को ही प्रधानता दी है। मूलसंख्या '९' पर ही परिसमाप्त है। अर्बुद-खर्बुद-न्यर्बुद-परमपराध्यादि समस्त संख्याराशियों का ९ संख्या के विराट्-उदर में हीं अन्तर्भाव होजाता है। अतएव इसे अवश्य ही-**'महासंख्या'** [विराट्संख्या] कहना अन्वर्थ बन रहा है। मूल में पूर्णरूपा शून्य बिन्दु है। उसी से क्रमशः **१-२-३-४-५-६-७-८-९**-इन ९ नौ संख्याओं का वितान-विस्तार-हुआ है। ९ के समाप्त होते ही शून्य के साथ पुनः १ का सम्बन्ध हो जाता है, यही १० है। पुनः ११--१२--१३--आदि क्रम से १९ पर समाप्ति है। अनन्तर शून्य के साथ २ का सम्बन्ध हो जाता है, यही '२०' है। २९ पर इसकी समाप्ति है। इसी धारावाहिक क्रम से ९--९--के व्यूहन से ही संख्याओं का वितान प्रक्रान्त होता रहता है। इसीलिए तो केवल ९ संख्या के अतिरिक्त अन्य किसी भी १--२--३--४--आदि संख्या का सङ्कलनफल समान नहीं रहने पाता। '९' संख्या में से '१' को पृथक् कर इसके साथ '८' का योग करा देने से '१८' होंगे, दोनो का संकलनफल '९' ही होगा। एवमेव २ में ७ के योग से, ३ में ६ के, ४ में ५ के, ५ में ४ के, ६ में ३ के, ७ में २ के, ८ में १ के संकलन से सम्पन्न होनें वाले २७-३६-४५-५४-६३-७२-८१-के संकलनफल अन्ततोगत्वा '९' पर ही विश्रान्त हो जायँगे। १० वाँ वही शून्यरूप परिपूर्णभाव होगा, जो मूलाधार होने से सर्वादि में प्रतिष्ठित माना जायगा। अतएव भारतीय परिभाषा में गणनशिक्षा का प्रकार १ से १० पर्य्यन्त का नहीं है। अपितु शून्य से ९ पर्य्यन्त के क्रम को ही यहाँ प्रधानता दी गई है। इस संख्यासम्पत्-विज्ञान का वैदिकविद्याओं में अत्यन्त ही महत्त्व माना गया है। बिना संख्याविज्ञान के वैदिक--तत्त्वविद्याओं का समन्वय ही असम्भव बन जाता है।

१२०-दशममहः से समन्विता न्यूनविराट् की पूर्णता, और दशावयव पूर्णपुरुष—

सर्वाधारभूत--पूर्णरूप--शून्यभाव [बिन्दु] ही महाकाल का प्रतीक है। इस शून्यरूप पूर्ण महाकाल के महिमामय महान् उदर में नवाक्षरमूर्त्ति--विराट्पुरुष समाविष्ट है। इनमें शून्यरूप पूर्णरूप को ही दसवाँ [पहिला] 'प्रतिष्ठा' नामक 'अहः' बतलाया है यज्ञपरिभाषा की दृष्टि से, जैसा कि--'**प्रतिष्ठा वा दशममहः**'--'**अन्तो वा एष यज्ञस्य--यद्दशममहः**' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। दशम -अहोरूप-शून्यात्मक--पूर्णरूप--यज्ञपुरुषविशिष्ट--सर्वव्यापक--इसी पूर्णेश्वर का दिग्दर्शन कराते हुए श्रुति ने कहा है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

१२१ दशावयव-विराट्पुरुषानुगता पूर्णभावात्मिका शून्यबिन्दु, एवं तन्मूला विराड्भावात्मिका दशमहाविद्या—

१० संख्याओं में 'एक' का स्वतन्त्र विभाग है। यही शून्य ० बिन्दु है। और यही कालपुरुषानुगत यज्ञपुरुषरूप दशावयव विराट्पुरुष की संक्षिप्ता स्वरूपव्याख्या है, जिसके आधार पर ही निगमविद्या, तथा आगमविद्याएँ दशावयवा बनीं हुई हैं। एक ही अवारपारीण पुरुष आरम्भ में '**कालपुरुष, यज्ञपुरुष** भेद से दो विवर्त्तभावों में परिणत होता हुआ अन्ततोगत्वा दशविध--पुरुषभावों में परिणत हो रहा है। पुरुषतत्त्व प्रकृतितत्त्व से अविनाभूत है। निगममूलक आगमशास्त्र सृष्टिविद्यात्मिका इन दशविध शक्ति-प्रकृति-विवर्त्तों का ही स्वरूपदिग्दर्शन करा रहा है, जो कि आगमीया सृष्टिविद्या दशावयवरूपत्वेनैव--'**दसमहाविद्या**' नाम से प्रसिद्ध हुई है।

१२२-आगमशास्त्र में उपवर्णिता दस महाविद्याएँ—

अन्यतम रहस्यपूर्णा, अतएव अत्यन्त ही दुरधिगम्या आगमीया ये दसों महाविद्याएँ क्रमशः **१-महाकाली, --उग्रतारा, ३-षोडशी, ४-भुवनेश्वरी, ५-छिन्नमस्ता, ६-भैरवी, ७-धूमावती, ८-वल्गामुखी (वर्त्तमान में बगलामुखी), ९-मातङ्गी, १०-कमला**, इन पावनतम अभिधाओं से प्रसिद्ध हैं। अब यह नैगमिक--प्रज्ञाशीलों की नैष्ठिक-प्रज्ञा का महान् उत्तरदायित्त्व है कि, वे इन दसों महाविद्याओं के नैगमिक मूलों का अन्वेषण कर निगमतत्त्व के साथ इस आगमतत्त्व का समन्वय ढूँढ निकालें, जिससे आगम-शास्त्रानुगता उस भ्रान्ति का सर्वथा ही मूलोच्छेद हो जाय, जिस भ्रान्ति ने आगमीय औपासनिक बलों से भारतीय मानव को पृथक् कर इसे सर्वथा ही अशक्त प्रमाणित कर दिया है।

१२३-निदानमूला दशमहाविद्याओं के रहस्यपूर्ण नैदानिक स्वरूप—

निगमविद्यात्मिका **विराड्विद्या** से सर्वात्मना समतुलिता दशावयवा आगमविद्यात्मिका **महाविद्या** के स्वरूप-दिग्दर्शन के बिना क्योंकि--नवरात्रान्त में दशम--अहःरूप से प्रतिष्ठित--विश्वविजयप्रवर्त्तक विजयदशमी-पर्व का यथावत् समन्व असम्भव है। अतएव दो शब्दों में उन महाविद्याओं का संस्मरण भी अनिवार्य्य बन जाता है। सुप्रसिद्धा 'निदानविद्या' ही इन पावन संस्मरणों का मूलाधार है। अन्यान्य देवविद्याओं की विस्मृति

रूपा विलुप्ति की भाँति उपासना की मूलाधारभूता निदानविद्या भी दुर्भाग्यवश आज विलुप्तप्राय है। अतएव निगमोपासना, तथा आगमोपासना के सगुणविवर्त्त यथाजाता महामोहग्रस्ता भ्रान्ता प्रज्ञा के लिए एक समस्या ही बन गए हैं, जिस मोहनिराकरण का प्राथमिक उपाय 'निदानविद्या' का ही पुनः संस्मरण है। खण्डद्वया-त्मिका-भक्तियोगपरीक्षा में विस्तार से इन निदान-भावों का स्वरूपविश्लेषण किया जा चुका है। प्रस्तुत निबन्ध कल्पना से भी कहीं अधिक विस्तृत होता जा रहा है। अतः अत्र नवीन विषयोत्थान असम्भव है। प्रसङ्गसम-न्वयमात्र के लिए एतावन्मात्र ही जान लेना अलं होगा कि—

"अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥"

इत्यादि आर्षसूक्ति के अनुसार प्राकृतिक-सुसूक्ष्म-अतएव इन्द्रियातीत प्राणात्मक तत्त्वों की प्राणरूपा विभिन्न शक्तियों के स्वरूपबोध के लिए ही तत्प्राणधर्मसमन्वित भूतों को मध्यस्थ मान लिया जाता है। एवं यह मान्यता ही 'निदानविद्या' का मूलाधार है, जिसके व्याख्यात्मक स्वरूपों का प्रतिपाद्य-दशमहाविद्या-ध्याना-वसरों पर यत्रतत्र दिग्दर्शन-प्रयास सम्भव बन सकेगा। अत्यन्त ही आस्था--श्रद्धा के साथ हमें निम्न लिखित दशमहाविद्यानुगत-ध्यानों को लक्ष्य बनाना चाहिए।

(१)—महाकालपुरुष, और उसकी महाशक्ति महाकाली
(प्रथमा-आद्या-महाविद्या)

१२४--परात्पररूप महाकाल, एवं उसकी महाशक्ति महाकाली, और उभय--समन्वया-त्मक अर्द्धनारीश्वर भगवान्—

'परात्पर' नाम से प्रसिद्ध विश्वातीत महाकालपुरुष की महामायारूपा महाशक्ति प्रकृतिदेवी का नाम हीं-'महाकाली' है। शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न है, अतएव निगममूलक-अद्वैत-सिद्धान्त निरपवादरूप से सुस्थिर है। अग्नि की दाहकशक्ति जैसे अग्नि से अभिन्न है, प्रकाशशक्ति जैसे सौर इन्द्र से अभिन्न है, तथैव चिदात्मा की चिच्छक्तिरूपा चेतनाशक्ति (अक्षरशक्ति) भी चिदात्मपुरुष (अव्ययपुरुष) से अभिन्न है। तत्त्वतः एक ही तत्त्व-'अर्द्धेन पुरुषोऽभवत्-अर्द्धेन नारी' रूपेण शिव-शक्ति लक्षण-पुरुष-प्रकृतिरूप में परिणत हो रहा है। शक्ति-शक्तिमान् में स्त्रीपुम्भाव की लोककल्पना का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। तभी तो भगवान् शिव 'अर्द्धनारीश्वर' नाम से उपस्तुत हैं। इसी अभेद को लक्ष्य बना कर आगमशास्त्र कह रहा है—

सा च ब्रह्मस्वरूपा च, नित्या सा च सनातनी॥
यथात्मा च तथा शक्तिर्यथाग्नौ दाहिका स्थिता॥१॥
अतएव हि योगीन्द्रैः स्त्रीपुम्भेदो न मन्यते॥
सर्वं ब्रह्ममयं ब्रह्मन्! शश्वत् सदपि नारद!॥२॥ —देवीभागवत ६।१।१०-११।

अहमेवासं पूर्वं तु नान्यत् किञ्चिन्नगाधिप !
तदात्मस्वरूपं चित्-संवित्-परब्रह्मैकनामकम् ॥३॥
तस्य काचित् स्वतःसिद्धा शक्तिर्मायेति विश्रुता ॥
पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः ॥
स्वशक्तेश्च समायोगादहं बीजात्मतां गता ॥४॥ —देवीभागवत ७।३२।६

मन्मायाशक्तिसङ्क्लृप्तं जगत्सर्वं चराचरम् ॥
सापि यत्तः पृथङ्माया नास्त्येव परमार्थतः ॥५॥ —दे० भा० ७।३३।५।

१२५-विश्वपूर्वावस्थानुगत--अनुपाख्यतम की महाकालता, एवं महारात्रिरूपा पारमेष्ठ्या महच्छक्ति का महाकालीत्व, और-'तम आसीत्-तमसा गूढमग्रे' का तात्त्विक समन्वय—

त्रिविध-तमोभावों का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में कहा गया है कि, आज हम जिस पाञ्चभौतिक-आलोकभावानुगत-अवलोकनधर्म्म से समन्वित-लोकात्मक विश्व का साक्षात्कार कर रहे हैं, उसकी पूर्वावस्थात्मिका-अग्रिमावस्था (कारणावस्था) अनुपाख्यतमोरूपा ही थी, जो सद्रूप असद्भावात्मक अनुपाख्यतम महाप्रलयलक्षण महारात्रिरूप अनिरुक्त तम से आसमन्तात् परिवेष्टित था, जैसाकि-'**तम आसीत्-तमसा गूढमग्रे**' से तत्रैव स्पष्ट किया जा चुका है। इसी श्रौती स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए राजर्षि मनु कहते हैं—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनुः १।५।)

कौन था वह अप्रज्ञात-अलक्षण-अप्रतर्क्य-अनिर्देश्य, अतएव प्रसुप्त-भावसमतुलित विश्वातीत अनुपाख्यतम ?, प्रश्न का एकमात्र समाधान परात्पररूप 'महाकालपुरुष' ही बन रहा है। इसकी महाशक्ति ही वह तमोभाव है, जिसका-'**तमसा गूढम्**' से संकेत हुआ है। '**तम आसीत्**' जहाँ महाकालात्मक विश्वातीत परात्पर का संग्राहक है, वहाँ '**तमसा गूढमग्रे**' इस वाक्य से महाकालपुरुष से अभिन्ना महाप्रलयरात्रिरूपा महाप्रकृति-महाकाली-परात्परशक्ति का ही संग्रह हो रहा है। यही प्रथम विवर्त्त है शिवशक्ति का, जिसे पूर्णत्वेन '**शून्यविवर्त्त**' कहा जा सकता है। शून्यबिन्दु से समतुलित विश्वातीत पुरुष कालपुरुष है, तच्छक्ति ही महाकाली है। इसके इस सर्वादिमूलक प्राथम्य के कारण हीं तो आगमशास्त्र में यह परात्परशक्तिरूपा महाकाली '**प्रथमा-आद्या**' कहलाईं हैं।

१२६-महाकालीरूपा महारात्रि, एवं तदनुबन्धी 'नवरात्र' शब्द—

अहोरात्रविवर्त्त के प्रत्यक्षदृष्ट 'रात्रि'-स्वरूप से, कृष्णपक्ष की पूर्ण सूर्य्य-चन्द्रसङ्गमरूपा-मेघाच्छन्ना-घोरघोरतमा अमावास्या की रात्रि से इस महाकाली का नैदानिक ध्यान अनुमेय बन सकता है अंशतः।

रात्रि मानो प्रलयकाल का ही निदान है। मध्यरात्रि का घोर कृष्णभाव ही महाकाली का नैदानिक स्वरूप है। इस नैदानिक समतुलन के कारण हीं तो शक्तिविद्यात्मिका महाविद्याओं को 'रात्रिविद्या' माना गया है, जैसा कि तदुपासनाकालात्मक स्वयं–'नवरात्र' शब्द से ही प्रमाणित है।

१२७--नवरात्ररूपा महाकाली के चतुरशीति (८४) महिमाविवर्त्त—

निगमभाषा में जो स्थान आपोमय-वरुण से समन्वित–भृग्वङ्गिराधारामय अनन्त पारमेष्ठ्य समुद्र का है, आगम में वही स्थान महाकालीरूपा महारात्रि का है। रात्रि को 'वारुणी' माना है वेद ने। क्योंकि पारमेष्ठ्य आप्यप्राण ही वरुण कहलाया है। एवं यही–'ततो रात्र्यजायत' (ऋक् सं० १०।१९०।१।) रूप से रात्रिभावात्मक आपोमय परमेष्ठी का प्रवर्त्तक बनता है। उपनिषद्भाषा में यही पारमेष्ठ्य वारुण–रात्रितत्त्व–'महत्प्रकृति' कहलाया है। प्राकृत खण्डात्मविवर्त्तों में 'महान्' का सम्बन्ध परमेष्ठी से ही माना गया है। यह महान् वही सुब्रह्म–सौम्य तत्त्व है, जिसमें **सत्त्व–रज–स्तमो–भाव**, एवं **आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति**–भाव आविर्भूत हो पड़ते हैं पार्थिव–चान्द्र–सौर–दर्शपूर्णमास–प्रक्रियात्मक–यज्ञविशेष से। यह पारमेष्ठ्य 'महान्' वही सौम्यभाव है, जिसमें अण्डज–पिण्डज–स्वेदज–उद्भिज्ज–रूप चतुर्विध–चतुरशीतिलक्ष (८४०००००) योनिरूप बीजभाव प्रतिष्ठित हैं, जिनका लोकभाषा में 'चतुरशीति' (चौरासी) संख्या से संग्रह कर लिया गया है।

१२८-चतुरशीति-महिमान्विता महाकाली की महद्ब्रह्मरूपता, एवं तदनुबन्धी ८४००००० (चौरासीलाख) योनिर्भाव—

चौरासी ही सौर–चान्द्र–पार्थिव–साहस्री–भावों के सहस्रधा–महिमानः-सहस्ररूप वितानभावों से अपने महिमारूपों से चौरासीलाख विवर्त्त बन जाते हैं। और यही महद्ब्रह्म (प्रकृति) मूला प्राणिसर्गों की समस्त-संख्या–व्याख्या (जातिव्याख्या) है, जिसका श्राद्धविज्ञानादि में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। प्रकृत में तो इस ८४ संख्या से केवल यही निवेदन करना है कि, पारमेष्ठ्य–भृग्वङ्गिरोमय–आप्य–वारुण–सौम्य–* महान् हीं पितृप्राणमय बनता हुआ २८ धनात्मक प्राणों, तथा ५६ ऋणात्मक पितृप्राणों से ८४ चतुरशीति-कल बनता हुआ अपने आपको प्रजा की योनिरूप में परिणत कर लेता है, जैसा कि–'**मम योनिर्महद्ब्रह्म०**' (गीता) इत्यादि से भी स्पष्ट है। यही पारमेष्ठ्य आप्यतत्त्व रात्रिरूपा आगमीया महाकाली है, जिसका पूर्व के निगमागम–शब्देतिहासप्रसङ्ग में यशोगान किया जा चुका है। इसी नैगमिक तथ्य के आधार पर आगमाचार्य्योंने रात्रिरूपा महाकाली के ८४ अवान्तर स्वरूप मान लिए हैं। महाप्रलयरात्रि के तमोभावानुबन्धी–चतुरशीति–सौम्य–पितृप्राणानुगामी चतुरशीतिभाव ही इन ८४ महाकाली-स्वरूपों के नैदानिक–स्वरूपों की मूलभित्ति है।

१२९-रहस्यपूर्णा---देवप्रतिमानुबन्धिनी---निदानविद्या, और उसकी विलुप्ति के दुष्परिणाम—

अब दो शब्द उस '**नैदानिक-ध्यान**' के सम्बन्ध में भी समन्वित करने का अनुग्रह कर लीजिए, जिसके बिना आज भारतीय निगमागमीय–उपासनाकाण्ड सर्वथा ही प्राकृत–भ्रान्त–मानवों की आलोचना

---

* त्वं परा प्रकृतिः साक्षात्–ब्रह्मणः परमात्मनः।
'महत्'–तत्त्वादि–भूतान्तं त्वया सृष्टमिदं जगत्॥

का विषय बन रहा है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, बुद्धयुग से आरम्भ कर वर्त्तमान युगपर्य्यन्त प्रक्रान्त रहने वाली सत्तासापेक्षतामूला–मतवादपरम्परासापेक्षतामूला, और आज तो विशेषरूपेण अर्थलिप्सात्मिका वणिग्–तन्त्रदासता–सापेक्षतामूला जिस परभावुकता के निग्रहात्मक अनुग्रह से निगमागम के रहस्यभावों की विश्लेषिका **गाथा–कुम्ब्या–नाराशंसी–निगद**–आदि आदि पारिभाषिकी पारम्परिक--विद्याएँ अन्तर्मुख बन गईं हैं, तथैव उपासनाकाण्डाधारमूला '**निदानविद्या**' के स्वतन्त्र ग्रन्थ भी आज उपलब्ध नहीं हो रहे। किंवा उपलब्धि का यत्न ही नहीं हुआ इन त्रिसहस्रवर्षात्मक--सापेक्षताभावात्मक दासयुगों में। उपास्य--प्रतिमाओं के वाहनों पर, आयुधों पर, बिम्बों के विविध आकार--प्रकार--वैचित्र्यों पर जो आज भ्रान्तिपूर्ण–अश्रद्धामूलक ऊहापोह प्रक्रान्त हैं, उसके अन्यान्य कारणों में से प्रधान कारण 'निदानविद्या' की विस्मृति भी एक मुख्य कारण माना जायगा।

१३०–राष्ट्रीय–प्रज्ञा की दासवृत्ति से राष्ट्रीय–संस्कृति के मूलस्वरूप की अन्तर्मुखता, एवं दासतापूर्ण बुद्धिवादों का महान् व्यामोहन—

तथापि--स्वयं निगमागम--पुराणशास्त्र में यत्र तत्र इस विद्या के सम्बन्ध में जो सङ्केत हमें आज भी उपलब्ध हो रहे हैं, वे भी वर्त्तमान भ्रान्तियों के निराकरण में तो सर्वात्मना सहायक बन ही सकते हैं। किन्तु दुर्भाग्य तो सबसे बड़ा यह है इस राष्ट्र की ब्राह्मणप्रज्ञा के सम्बन्ध में कि, वह जहाँ मान्यतानुबन्धी मत--वादात्मक--तीन सहस्रवर्षों के दासवृत्तियुग में विनिर्मित–शब्दाडम्बरमात्र ग्रन्थों के आलोडन–विलोडन के अतिरिक्त भारतीय मूलसंस्कृति के मूलाधाररूप निगमागमपुराणशास्त्र के तो सम्पर्क में भी नहीं जाना चाहती आज परवञ्चकोंनें। यदि पुराण को 'गप्प' कह दिया, तो भावुकतावश हम भी इस 'आर्य्यसर्वस्व' से वञ्चित होगए। आगमशास्त्र के अक्षरार्थ से भी वञ्चितोंनें यदि 'शाक्त'--'वाम' कह कर भ्रान्ति उत्पन्न कर दी, तो यह महतोमहीयान् आराध्य शास्त्र भी उपेक्षणीय बन गया। और 'वेद'?। वेद तो उसी रूप से आज हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है, जिस रूप से मतवादाभिनिविष्ट अपनी मान्यताओं के अनुसार जैसा मानसिक समन्वय कर देते हैं। और अब तो वेद भी एक वैसा बुद्धिवादात्मक शास्त्र ही आ ठहरा है, जिसके शब्दा--नुकरणमात्रव्यामोहन से हम पुरातत्त्व के व्यामोहनों के अनुगामी बनते जारहे हैं वेद की बुद्धिगम्या व्याख्याओं के प्रतीच्यभावनिबन्धन--महान् व्यामोहनों से। आलप्यालम्।

१३१-उपास्य देवता के गुण–कर्म्म-शक्ति–धर्म्म-प्रभावादि के आधार पर उपकल्पित नैदानिकध्यान —

जिसे व्यवहारभाषा में 'सङ्केत' कहा जाता है, शास्त्रीय भाषा में उसे ही '**निदान**' माना गया है। '**अमुक भूत-भौतिक पदार्थ का तात्पर्य्य अमुक समझो**' इस भाव को सूचित करने वाले सङ्केत का नाम ही 'निदान' है। उदाहरण–जैसे लोकव्यवहार में भी शोक का निदान 'कालावस्त्र' बना हुआ है, ऋद्धि–वृद्धि--समृद्धि का निदान हरित दूर्वा बनी हुई है। कीर्त्ति--यश का निदान श्वेत छत्र बना हुआ है। रक्त का निदान लालवस्त्र, शान्ति–स्वस्ति का निदान हरितवस्त्र, युद्धप्रसङ्गों में सन्धि का निदान श्वेतपताका। तथैव उपास्य प्राणशक्तिरूप देवताओं के गुण--धर्म्म--शक्ति--स्वरूपों के अनुपात से ही सम्पूर्ण निदानभाव उपकल्पित हैं, जैसा कि स्वयं शास्त्र इसी मध्यस्थभावात्मक निदान का इन शब्दों में स्पष्टीकरण कर रहा है—

ध्यानं तु द्विविधं प्रोक्तं स्वरूपारूपभेदतः ॥
स्वरूपं तत्र यद् ध्यानं–अवाङ्मनसगोचरम् ॥१॥
मनसो धारणार्थाय शीघ्रं स्वाभीष्टसिद्धये ॥
सूक्ष्मध्यानप्रबोधाय स्थूलध्यानं वदामि ते ॥२॥
अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः ॥
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना ॥३॥

—कालतन्त्रे

१३२–सङ्केतविधिरूप–निदानभावों के सम्बन्ध में कतिपय नैदानिक–वचन—

महाकालपुरुष की महाशक्ति को 'महाकाली' क्यों कहा गया ?, एवं उपासनाकाण्ड में महाकाली की प्रतिमा कृष्णवर्णा ही क्यों बनीं ?, क्यों मुण्डमाल से समन्वित माना गया भगवती के विग्रह को ?, सुरापात्र क्यों समन्वित किया गया हाथों में ?, इत्यादि सभी का उत्तर यही निदानभाव है, जैसा कि वहीं के निम्न–लिखित कतिपय वचनों से स्पष्ट है—

उपासकानां कार्य्याय पुरैव कथितं प्रिये ! ॥
गुणक्रियानुसारेण रूपं देव्याः प्रकल्पितम् ॥१॥
श्वेतपीतादिको वर्णो यथा कृष्णे विलीयते ॥
प्रविशन्ति तथा काल्यां सर्वभूतानि शैलजे ! ॥२॥
अतस्तस्याः कालशक्तेर्निर्गुणाया निराकृतेः ॥
हितायाः प्राप्तयोगानां वर्णो कृष्णो निरूपितः ॥३॥
नित्यायाः कालरूपायाः, अव्ययायाः शिवात्मनः ॥
अमृतत्वात्–ललाटेऽस्याः शशिचिह्नं निरूपितम् ॥४॥
शशिसूर्य्याग्निभिर्नित्यैरखिलं कालिकं जगत् ॥
सम्पश्यति यतस्तस्मात् कल्पितं नयनत्रयम् ॥५॥

—तत्रैव ५ उल्लासे

१३३–अनुरूप निदानभावों के कतिपय लौकिक, तथा शास्त्रीय उदाहरणों का समन्वय, एवं तन्मूला महत्त्वपूर्णा निदानविद्या—

पृथिवी का निदान 'कमल' है। मोहशक्ति का निदान 'सुरा' है। लक्ष्मी का निदान 'गज' है। विजय का निदान 'ध्वज' है। संहारशक्ति का निदान 'मुण्डमाल' है। न केवल हम भारतीय ही, अपितु

सभी मानव अपने अपने लोकभावों–लोकशिक्षणकर्म्मों में इसी निदानभाव से समन्वित हो रहे हैं, जब कि उनका निदानभाव केवल प्रत्यक्ष–भूतजगत् पर ही परिसमाप्त है। पाश्चात्य मानव भी शोकावसर पर हाथ में काली पट्टी बाँधता है, फाँसी का आदेश देने वाला न्यायाधीश कृष्णवस्त्र पहिनता है। हम पूँछते हैं कि–शोक, और फाँसी का काले वस्त्र से क्या सम्बन्ध ?। उत्तर एकमात्र 'निदानभाव' ही होगा, जिसके आधार पर विनिर्मित भारतीय औपासनिक नैदानिक भावों का आज प्रतीच्यशिक्षोच्छिष्टभोगी भ्रान्त भारतीय आलोचना करता हुआ अपने दीक्षागुरुओं के निदानभावों को भी तो भूल जाता है।

यह संस्मरणीय है कि, निदानभाव में अमुक अंशों में सजातीयता नहीं, तो आंशिक अनुरूपता तो अवश्य ही अपेक्षित है। भारतीय निदानभावों का यही सर्वोत्कृष्टत्त्व है कि, इसका प्रत्येक निदानभाव प्रायः अनुरूपता पर ही प्रतिष्ठित है। शोकाग्निजनित संघर्ष से–(सन्ताप से) मानसप्रज्ञा का सहज विकास मुकुलित होजाता है। चेतना ज्योति सचमुच शोकसन्ताप से आवृत हो जाती है। उधर कृष्णवस्त्र भी सौररश्मिरूप आलोक का निगरण कर लेता है। इसी अनुरूपता के कारण कृष्णवस्त्र को शोक का नैदानिक–रूप मान लिया गया है। यशोभाव मानव के प्राणात्मक महिमामण्डल में रश्मिवत् व्याप्त हो जाता है। प्राणरश्मि-प्रसारता ही यशोरूपा कीर्त्ति की स्वरूपव्याख्या है। उधर श्वेतवस्त्र से सङ्क्रमण करने वालीं प्रकाशरश्मियाँ भी–'**श्वः-इतो धावति**' रूपेण श्वेतवस्त्र में निमज्जित न होकर विकीर्ण होजातीं हैं। इसी अनुरूपता से श्वेतवस्त्र को–छत्र को–कीर्त्ति का निदान मान लिया गया है। पानी में रुद्रवायु के प्रवेश से उत्तरोत्तर घनता का उदय होने लगता है–अप् वायु–तेज की मूर्च्छा से। यही घन पानी हरित काई–शैवाल हैं, जिन्हें निगम-भाषा में–'**अवकाः**' कहा गया है। यही '**पुष्करपर्ण**' (पानी का पत्ता) है, जैसा कि–'**आपो वै पुष्कर-पर्णम्**' (शत० ६।४।२।२।) इत्यादि से स्पष्ट है। यही पुष्करपर्ण आगे जाकर फेन–मृत्-सिकता–शर्करा–अश्मा-अयः-हिरण्यरूप में आता हुआ पृथिवीपुर (भूपिण्ड) रूप में परिणत होता है। 'पुरकर' होने से ही इसे 'पुष्कर' कहा गया है। पृथिवी की सृष्टि इस पुष्करपर्ण से ही मानी गई है। अतएव उसी अप्तत्त्व से अप्गर्भ में उत्पन्न होने वाले '**कमल**' को पृथिवी का नैदानिक रूप मान लिया गया है। जिस देवविग्रह के हाथ में आप 'कमल' देखें, विश्वास करें कि, इस देवशक्ति का सम्पूर्ण भूमण्डल पर आधिपत्य है। माया-जनित मोह–मद–मान–से मानव की उसी प्रकार विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है, जैसे कि सुरापान से मानव राक्षसकोटि में आजाया करता है। इसी अनुरूपता से 'सुरा' को 'मोह' का निदान मान लिया गया है। भगवती के हाथ में सुरापात्र है, इस नैदानिक भाव से ऋषि यही शिक्षा प्रदान कर रहे हैं कि-उस महामाया की योगशक्तिरूपा विष्णुमायाने हीं अपनी मोहनशक्ति से सम्पूर्ण जीवों को व्यामुग्ध कर रक्खा है *। पर्य्याप्त वृष्टि के अनन्तर वृक्षों-लताओं-गुल्मों-दूर्वादि भूतृणों में अविःप्राणनिबन्धना हरितवर्णता (हरियाली÷)

---

* **ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।**
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥

इस पद्य का समन्वय 'भारतीय हिन्दू मानव की भावुकता' नामक निबन्ध के प्रथमखण्ड में द्रष्टव्य है।

÷–**अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परिवृता।**
तस्या रूपेणेमा वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥ (अथर्वसं० १०।४।८।)

का उदय हो जाता है। रूक्षता विलीन हो जाती है। पार्थिव आग्नेय ताप उपशान्त हो जाता है। सर्वत्र शान्ति समृद्धि का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। अतएव हरितदूर्वा को, एवं हरितवस्त्र को शान्तिभाव का सूचक मान लिया गया है। स्टेशनों पर निरुपद्रवता के लिए हरी झण्डी का प्रदर्शन, तथा उपद्रवाशङ्का पर लाल झण्डी का प्रदर्शन भी तो इस निदानसीमा में हीं अन्तर्भूत है। और यों शक्तिभावों की स्वरूपानुरूपता पर ही भौतिक निदानभाव व्यवस्थित हुए हैं।

१३४-महाकाली का निदानभाव-समन्वित आगमीय ध्यान, एवं तदक्षरार्थसमन्वय—

शक्तिप्रतिमाओं के शक्तिभेद से अनेक महिमाविवर्त्त हैं। किसी के ४ भुजा, किसी के आठ, तो किसी के १६, तो अन्यत्र ३२, तो अन्यत्र ६४, एवं-सहस्र-भुजाएँ भी उपलब्ध हैं इन शक्तिविग्रहों में। किसी नें जिह्वा का प्रसार कर रक्खा है, किसी के हाथ में नरमुण्ड है, किसी के हाथ में कर्त्री (कैंची) है, किसी के हाथ में परशु है। कोई 'शव' (मुर्दे) पर खड़ी है। कोई अट्टाट्टहासमुद्रा से समन्विता है। कोई सुरापान में निमग्ना है। कोई दिगम्बरा है। और यों ये नैदानिक स्वरूप ही भारतीय--रहस्यपूर्ण--उपासनाकाण्ड की मूल-प्रतिष्ठा प्रमाणित हो रहे हैं। इन नैदानिक रूपों के माध्यम से ही नीरूपा भी शक्तियों के सगुण विग्रह बना लिए गए हैं। प्रत्येक देवता की उपासनाविधि का आरम्भ ही इस नैदानिक-ध्यान से होता है। सर्वत्र उपक्रम में-**'अथ ध्यानम्'**, अनन्तर अर्चन-पूजनादि अनुष्ठान। यदि किसी महामहिम-महाभाग्यशाली शक्तिपुत्र को महाकाली आद्या भगवती की आराधना कर अभ्युदय-निःश्रेयस्-साधन करना है, तो उसे इसी ध्यान का सर्वप्रथम अनुगामी बन जाना चाहिए, अविलम्ब बन जाना चाहिए, निश्चयेन बन जाना चाहिए। **नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।**

> **शवारूढां महाभीमां-घोरदंष्ट्रां-हसन्मुखीम् ॥**
> **चतुर्भुजां-खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम् ॥१॥**
> **मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम् ॥**
> **एवं सञ्चिन्तयेत्कालीं श्मशानालयवासिनीम् ॥२॥**
>
> —शाक्तप्रमोद, कालीतन्त्र

"सौरत्रैलोक्यात्मक सम्वत्सरचन्द्ररूप काल की माता *, तथा विश्वातीत महाकाल की सहचारिणी महाशक्ति वह आद्या भगवती शव पर समासीना है (मुर्दे पर खड़ी है)। उसकी शरीराकृति घोरघोरतमोरूपा बनती हुई आसुर-दुष्ट-बुद्धियों के लिए (जहाँ) अत्यन्त ही भीमा-भयावहा है, वहाँ तदुपासकों के लिए माता का यही स्वरूप परम आकर्षक, तथा अभयप्रद है। उस की दंष्ट्राएँ [डाढें] अत्यन्त विस्तीर्ण-सुतीक्ष्ण-अतएव घोरा हैं। इत्थंभूत भयावह आकार को धारण करने वाली वह महामाया-आदिमाया हासोन्मुखा बनी रहती है। इसके चार हाथ हैं, जिनमें से एक हाथ में खड्ग है, एक में नरमुण्ड है, एक अभयमुद्रा से युक्त

***-अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः।**
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना ॥

है, एक में 'वर' है । ग्रीवा मुण्डमाल से सुशोभित है । करालकालसमतुलिता जिह्वा सर्पण करती हुई मुख से बाहिर निकल रही है । दिगम्बरा है ऐसी महामाया । प्रचण्डतम श्मशान ही उसका क्रीड़ाक्षेत्र है", और यही है तद्ध्यान का अक्षरार्थ ।

१३५–कालकलनात्मिका कालमाता महाकाली—

यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, सौरब्रह्माण्ड के आविर्भाव से पूर्व पारमेष्ठ्य–वारुण–रात्रिभाव से ही इस आद्याशक्ति का सम्बन्ध है, जिसमें केवल अनुपाख्यतम, तथा प्रलयरात्र्यनुगत तम ही प्रधान है । इस सद्रूप तमोभाव के कारण ही यह तत्त्व–'महाकाली' कहलाया है । अपिच सम्पूर्ण विश्व का संख्यात्मक–अवच्छेदात्मक कलन संख्यातीत–महाकाल से ही होता है । इस 'कलनधर्म्म' से ही वह प्रथमपुरुष महाकाल कहलाया है । काल को 'कलन' के लिए यह प्रथमा–आद्या शक्ति ही क्योंकि प्रेरित करती है । अतएव **'सर्वकलनकर्त्तु र्कालस्यापि कलनात्'** यह शक्तितत्त्व **'महाकाली'** कहलाया है * ।

१३६–शवारूढा–हसन्मुखी–महाकाली का नैगमिक स्वरूप–समन्वय—

सम्पूर्ण सौरत्रैलोक्य (व्यक्त विश्व) इस शक्ति से समन्वित होकर जहाँ 'शिव' है, स्वस्वरूप से (प्राणरूप से, जीवनसत्तारूप से) अभिव्यक्त है, वहाँ इस पारमेष्ठ्या महाशक्तिरूपा सोमाहुति से पृथक् होते ही सौरब्रह्माण्ड शक्तिशून्य बन जाता है, यही शक्तिशून्य ब्रह्माण्ड की शवरूपता है । इसी का निदान 'शवासन' है । शवपर ही खड़ी है यह महाकाली । सृष्टिकाल इसका प्रातिस्विक रूप नहीं है । सृष्टि का अभावात्मक प्रलयकाल ही इसकी विशुद्धावस्था है । दूसरे शब्दों में–शक्तिमान् विश्व उसकी प्रतिष्ठा नहीं है । अपितु शक्तिशून्य, अतएव शवरूप विश्व ही उसकी प्रतिष्ठा है । अपने आपको सर्वथा शक्ति के समर्पित कर देने वाला, स्वयं अपने व्यक्तित्व को विस्मृत कर देने वाला ही तो इस शक्त्युपासना का अधिकारी माना गया है, जिस अधिकारमर्य्यादा का गुप्तरहस्य **'शक्तिपात'** शब्द में अन्तर्गर्भित है । वह अनुपाख्यतमोरूपा है, सर्वविनाश की प्रतीकभूता सनातनी है । शत्रुसंहारक योद्धा की आकृति भयावहा हो जाती है । प्रलयरात्रिरूपा संहारकारिणी महाकाली के इसी सहज शक्तिभाव को व्यक्त करने के लिए **भयावहा** आकृति इसका निदान मान लिया गया है । शत्रुसंहार कर योद्धा विजयमद से हासोन्मुख बन जाता है । इस विजयभाव की सूचना ही 'हसन्मुखीम्' निदान से हो रही है ।

१३७–महाकाली की चार भुजाओं का नैदानिक समन्वय—

प्रत्येक वर्त्तुल वृत्त में ३६० अंश होते हैं, जिनकी ९०–९०–९०–९० के विभेद से चार भुजाएँ बनतीं हैं, जैसा कि ज्योतिर्विद्या में स्पष्ट है । ये चारों भाग ही वृत्त की चार भुजाएँ मानीं गईं हैं । इस खगोलीय–भूगोलीय–चतुर्भुजभावसमन्वित वृत्त को ही 'स्वस्तिक' कहा गया है । खगोल के वे ही स्वस्तिकभाव

***–कलनात् सर्वभूतानां महाकालः प्रकीर्त्तितः ॥
महाकालस्य कलनात् त्वमाद्या कालिका परा ॥
कालत्वादादिभूतत्वादाद्याकालीति गीयते ॥**

क्रमशः इन्द्रोपलक्षित चित्रानक्षत्र, पूषोपलक्षित रेवतीनक्षत्र, तार्क्ष्योपलक्षित श्रवणनक्षत्र, एवं बृहस्पत्युपलक्षित लुब्धकबन्धुनक्षत्र, इन चार षड्भान्तरीय नक्षत्रों से कृतरूप है। चित्रा से ठीक षड्भान्तर पर (१८० वें अंश पर) श्रवण है। रेवती से षड्भान्तर पर लुब्धक है। 'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः' (यजुःसं०) इत्यादि यजुर्म्मन्त्र इसी चतुर्भुज आकाशवृत्त का स्वरूप स्पष्ट कर रहा है, जिसकी व्याख्या पूर्व के रक्षाबन्धनपर्व-प्रकरण के–'शकुनप्रसङ्ग' में विस्तार से की जा चुकी है। महाकाल यदि शून्यात्मक पूर्णरूप है, तो तदभिन्ना महाकाली भी तद्रूपा ही मानी जायगी। अनन्ताकाश (स्वायम्भुव–'नभस्वान्' नामक 'परमाकाश') रूप महा अवकाश में, शून्यात्मक पूर्णवृत्त में चतुर्भुजभावानुबन्ध से ही वह महाकाली प्रतिष्ठित है। 'चार भुजाएँ' इसी आकाशवृत्तीय–चतुर्भुजभाव का नैदानिक स्वरूप है।

१३८–महाकाली के अन्यान्य निदानभावों का समन्वय—

नाशशक्ति का निदान 'खड्ग' है। नष्ट होने वाले प्राणियों का निदान 'छिन्न मस्तक' है। स्थिति–विच्युति का नाम ही कम्पन है, कम्पन ही भय है, यही क्षोभ है। विश्व ससीम है। अतएव अवश्य ही यह कम्पनभावानुगत बनता हुआ सभय है। उधर व्यापक–तत्त्व में कम्पनरूप भय का सर्वथा अभाव है। उस की स्थितिविच्युति असम्भव है। और ऐसा है एकमात्र विश्वातीत महाकालपुरुष [परात्परब्रह्म]। क्योंकि वह स्वस्वरूपेण अभय है। अतएव **'अभयं वै ब्रह्म'–'अभयं गतो भवति'** इत्यादिरूप से उपनिषत् उसका 'अभय' रूप से ही यशोगान कर रही है। सुतरां उस अभयब्रह्म–महाकाल की महाशक्ति महाकाली की भी अभयरूपता संसिद्ध है। वह संहार करती है, भयावहा है, डरावनी है, घोररूपा है, सभी कुछ है। किन्तु विश्वास कीजिए, अभयपदप्राप्ति भी एकमात्र इसी के अनुग्रह पर अवलम्बित है। **'अभयमुद्रा'** इसी अभयभाव का निदान है। विश्वसुख परिवर्त्तनशील है, ऐन्द्रियक बनता हुआ तात्कालिक है, क्षणिक है। परम सुख की अधिष्ठात्री तो एकमात्र वही विश्वातीता **'आद्या'** है। परमशिवरूपा तो वही है। **'वर'** भाव इसी भाव का निदान है। जीवितदशा में जो सबका आधार थी, प्रलयकाल में भी वही सर्वाधारा है। ध्वस्त विश्वात्मक निर्जीव–निष्प्राण–सुप्तबलात्मक विश्व भी उसी में विलीन रहता है। निष्कर्षतः वही सबका अन्तिम परायण है। **'मुण्डमाल'** इसी परमपरायणता का निदान है। विश्वावरण से वह प्रथमा काली सावरणा बनती हुई स्वस्वरूप से अन्तर्हित है। **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** रूप से वह शक्ति सम्पूर्ण विश्व का निर्म्माण कर तद्गर्भ में समाविष्ट है। अतएव विश्व को अवश्य ही उसका बाह्य आवरणात्मक परिधान [वस्त्र] माना जा सकता है। किन्तु प्रलयावस्था में तो वह इस विश्ववस्त्र से सर्वथा पृथक् ही बन जाती है। इस अवस्था का निदान ही **'दिगम्बराम्'** है। सचमुच उस महाकाली का पूर्ण विकासकाल है महाप्रलयकाल। जब सम्पूर्ण विश्व सौर–प्रचण्डताप से भस्मसात् बनता हुआ शवशरीरी बन जाता है, स्वयं सूर्य्य भी जब पारमेष्ठ्य समुद्र में बाष्परूप से विलीन हो जाता है, तो उसी अवस्था में अनुपाख्यतम का पूर्ण आविर्भाव होता है। **'श्मशान'** इसी का निदान है। और यही है महाकालपुरुष की महाशक्ति महाकाली के नैदानिक ध्यान का अक्षरार्थमात्र-समन्वय। उसी परमाराध्या 'आद्या' भगवती महाकाली का संस्मरण करते हुए अब क्रमप्राप्त इसीके दूसरे शक्तिभाव की ओर तदुपासकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

१

—*—

२--अक्षोभ्यपुरुष, और उसकी महाशक्ति तारा
(द्वितीया महाविद्या)

१३९-हिरण्यगर्भ-सूर्य्यनारायण का अक्षोभ्यपुरुषत्व—

मध्यरात्रि से आरम्भ कर सूर्योदय से १ होरा पूर्व पर्य्यन्त [सूर्य्योत्पत्ति से पूर्व] चतुरशीति [८४] भेदभिन्ना महाकाली का साम्राज्य बतलाया गया है। तदनन्तर इसी के द्वितीय महिमारूप **'तारा'** तत्त्व का का साम्राज्य उपक्रान्त हो जाता है। हिरण्यगर्भविद्या के अनुसार निगमशास्त्र ने सम्पूर्ण विश्वप्रजा का उद्गम सूर्य्य से ही माना है, जैसाकि-**'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'**--**'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः'**--**'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। सौरमण्डल सावित्राग्निप्रधान बनता हुआ 'हिरण्मय' है अग्नि के हिरण्यरेता होने से। उस हिरण्मयमण्डलात्मक सौरसम्वत्सरचक्र के केन्द्र में सौरब्रह्म [पुरुष] प्रतिष्ठित है। इसीलिए तो इस विश्वप्रजापति को-**'हिरण्यगर्भप्रजापति'** कहा गया है। भूः-भुवः-स्वः-रूपा रोदसी-त्रिलोकी के प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण, स्वयम्भू-परमेष्ठी-रूपा-अमृतासृष्टि के, तथा पृथिवी-चन्द्रमा-रूपा मर्त्या सृष्टि के विभाजक, व्यवस्थापक *-सञ्चालक, विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित ÷ इन्हीं भगवान् हिरण्यगर्भ-सूर्य्यनारायण का उस ब्रह्म [महाकाल]-सुब्रह्म [महाकाली] रूप प्रथम शिव-शक्ति के दाम्पत्य से प्रादुर्भाव हुआ है, जैसा कि निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ [यजुःसं० १३।४।]।

१४०-अक्षोभ्यपुरुष की महाशक्ति तारा के स्वरूपदर्शन—

जिसप्रकार विश्वातीत कालपुरुष की शक्ति 'महाकाली' कहलाई हैं, एवमेव व्यक्त-मूर्त्त-मर्त्य-विश्वाधिष्ठाता इस हिरण्यगर्भपुरुष की शक्ति **'तारा'** नाम से प्रसिद्ध हुई हैं। घोरघोरतम **'तम'** [अन्धकार] में दीपार्च्चि तारा सदृशा ही तो प्रमाणित होती रहती है। महाकालानुगत महाकालीरूप उस अनुपाख्यतम के केन्द्र में आविर्भूत सूर्य्य की भी एक दीपबिम्ब से अधिक कोई सत्ता नहीं है। इसीलिए तो पुराणशास्त्र ने सूर्य्य को महारात्रिरूप-पारमेष्ठ्य-सरस्वान्-नामक महासमुद्र का एक 'बुद्‌बुद' ही माना है। स्वयं निगमशास्त्र में भी-**'द्रप्सस्चस्कन्द'** [ऋक्संहिता] इत्यादि रूप से सूर्य्य को पारमेष्ठ्य आपः का 'द्रप्स' [स्थूल-बिन्दु] ही बतलाया गया है। सूर्य्य के इसी स्वल्पतम-प्रकाश-के अनुबन्ध से सूर्य्य को-'नक्षत्र' कहा गया है-[शत० २।१।२।१८।] । इसी नक्षत्रभावानुबन्धन से सौरी हिरण्मयी शक्ति आगमशास्त्र में **'तारा'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। यही सौरपुरुष आगम में--**'अक्षोभ्यपुरुष'** कहलाए हैं।

***-आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं- मर्त्यञ्च।** [यजुःसंहिता]।

÷-आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्। मध्ये एकल एव स्थाता। [छान्दोग्य०]

१४१--अक्षोभ्यपुरुष का विश्वसर्गक्रमानुगत जन्ममहोत्सव—

नैगमिक सिद्धान्तानुसार सूर्य्य त्रैलोक्य में सर्वथा स्थिर है *। 'बृहतीछन्द' नाम से प्रसिद्ध 'विष्वद्वृत्त' के ठीक मध्य में क्षोभरहित भाव से–स्थिररूप से ही सूर्य्य प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि–'**बृहतीमध्यूढस्तपति**'–'**बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः**'–'**नैवास्तमनमर्कस्य, नोदयः सर्वदा सतः**'–'**नैवोदेता, नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता**' इत्यादि निगम–पुराण- वचनों से स्पष्ट प्रमाणित है। इस 'स्थिरधर्म्म' से ही सूर्य्य को 'अक्षोभ्यपुरुष' कहना सर्वथा अन्वर्थ बनता है। पूर्व–परिच्छेदों में हमनें सूर्य्य को–'**असौ यस्ताम्रः**'० इत्यादि रूपेण '**क्षत्ररुद्र**' बतलाया है। वहीं इसके **शिवशरीर, घोरशरीर**-रूप से दो महिमाभावों का भी उल्लेख हुआ है। आपोमय पारमेष्ठ्य महासमुद्र में वायुजनित संघर्ष से अङ्गिरातत्त्व उदीप्त हुआ। 'श्वेतवराह' नामक प्राणवायुविशेष के संघात- संवरण–धर्म्म से वे उदीप्त अङ्गार एकत्र पुञ्जीभूत - चित–सञ्चित हुए। भार्गवसोम के सम्बन्ध से यह अग्निपुञ्ज उत्तरोत्तर संहत-प्रदीप्त होता गया। एक दिन कालपरिपाक से वही अग्निपुञ्ज प्रचण्डवेग से प्रदीप्त होता हुआ व्यक्त हो पड़ा। और यही सूर्य्यनारायण का जन्मोत्सवकाल मान लिया गया।

१४२–प्रचण्डोग्रमूर्त्ति अक्षोभ्यरुद्र, और उसकी महाशक्ति का नैदानिक--ध्यान—

अग्निचिति के सर्वात्मना सञ्चित होते ही 'क्षत्ररुद्र' में परिणत सौर–प्रचण्ड अग्नि में तत्क्षण 'अशनायाबल' प्रादुर्भूत हो पड़ा, जिसने इस रुद्र को अन्नेच्छा में प्रवृत्त कर दिया। क्योंकि अन्नादधर्म्मा रुद्राग्नि अन्नाहुति के बिना क्षणमात्र भी स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित–विकसित–प्रज्ज्वलित–नहीं रह सकता। अन्नाहुति से पूर्व यह सौर–क्षत्र–रुद्र अपने प्रचण्ड–रूक्ष–ताप से मानो संसार को भस्मावशेष ही कर डालने के लिए आतुर था। इस प्रचण्ड–उग्ररुद्र–भीम–भयावह–घोर–क्षत्ररुद्र की इस अवस्था से सम्बन्ध रखने वाली प्रचण्डा–उग्रा–भीमा–भयावहा–घोरा–रौद्री–शक्ति ही 'रुद्राणी' कहलाई, जो आगमशास्त्र में इसी उग्रता (विशुद्ध अन्नादावस्था) के अनुबन्ध से–'**उग्रतारा**' नाम से प्रसिद्ध हुई। अन्नरूप सोमाहुति से ही सौर-अग्निहोत्र सम्पन्न हुआ ×। इस शान्त–स्निग्ध–स्नेहगुणक–सोम की आहुति से सौररुद्र शिवशरीर में परिणत हुए। फलस्वरूप घोरशरीरी सूर्य्य–उग्ररुद्र की शक्ति 'उग्रतारा' भगवती भी इस सोमावस्था में उपशान्ता बनती हुई–'**तारा**' रूप में परिणत होगई। **क्षोभ्यपुरुष,** और **उग्रतारा** का सोमात्मक स्वरूप ही '**अक्षोभ्यपुरुष**' एवं **तारा** नाम से प्रसिद्ध हुआ। आज जिस इस अक्षोभ्यपुरुष [शिवात्मकरुद्र], तथा तारा का अनुग्रह विश्व पर होरहा है, प्रलयदशा में सोमाहुति से पृथक् रहने वाले ये ही अक्षोभ्य क्षोभ्य थे, घोररुद्र थे, एवं उनकी शक्ति संहार की अधिष्ठात्री बनी रहती हुई 'उग्रतारा' थीं। सृष्टिविद्याक्रम में क्योंकि उग्रतारा का ही प्राधान्य था। अतएव दशमहाविद्याप्रसङ्ग में आगमाचार्य्योंनें 'तारा' रूप से तत्पूर्व-रूपा 'उग्रतारा' को ही आराध्या मान लिया है, जैसाकि निम्न लिखित ध्यानमन्त्र से स्पष्ट है—

प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रिशवहृद्घोराट्टहासा परा–
खड्गेन्दीवरकर्त्रिखर्प्परभुजा हुङ्कारबीजोद्भवा ॥

---

*–जब कि परमेष्ठी की दृष्टि से तो इसके चारों ओर परिक्रमा लगाता हुआ सूर्य्य भी क्रन्दसीत्रैलोक्य की दृष्टि से गतिमान् (परिभ्रमणशील) ही है।

×--**सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्** [शतपथब्रा०]।

खर्वा नीलविशालपिङ्गलजटाजूटैकनागैर्युता-
जाड्यं न्यस्य कपालकर्तृ जगतां हन्त्युग्रतारा स्वयम् ॥
—शाक्तप्रमोद, तारातन्त्र

१४३–उग्रतारास्वरूपिणी भगवती तारा का नैदानिक--ध्यान, और तत्समन्वय—

महाकाली महाप्रलय की अधिष्ठात्रीं थीं, तो यह उग्रतारा भगवती खण्डप्रलयात्मिका सूर्य्यप्रलय की अधिष्ठात्री हैं। प्रलयकर्म्म दोनों शक्तियों का समानधर्म्म है। अतएव महाकाली, और उग्रतारा के ध्यान–भावों में थोड़ा ही विभेद है। इसकी चारों भुजाओं में सर्प आविष्ट–हैं। सचमुच प्रलयकाल में अपने महान् उस '**विष**' से ही यह संहारकर्म्म का प्रसार करती है, जो वायव्य प्राणात्मक महाविष–'**गर**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, एवं जिसके सम्बन्ध से निगम ने रात्रि को '**सगरा**' कहा है। संहारक उग्ररुद्र से सम्बन्ध रखनें वाले इन सर्पणशील विषाक्त–वायव्य–प्राणों का यजुःसंहिता में विस्तार से यशोवर्णन हुआ है। इसी संहारक–सर्पणशील–विषाक्त–वायव्यप्राण का नैदानिक स्वरूप '**सर्प**' हैं। विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठिता है यह रौद्री महाशक्ति उग्रतारा, जो कि विश्व संहारशक्ति के वारुणपाश में आबद्ध होकर शवशरीरी बना हुआ है। शवशरीर के हृदय पर प्रतिष्ठित बतलाना इसी स्थिति का नैदानिक स्वरूप है। पूर्वकथनानुसार सौर–रुद्राग्नि अन्नाहुति से पूर्व प्रचण्ड–आवेग–आवेश में आकर सायँ–सायँ शब्दानुगामी बन जाता है। इसी भीषण–गर्जन-तर्ज्जन-ध्वनि का निदान '**अट्टाट्टहास**' है। सौर प्रलयकाल में पृथिवी–चन्द्रमा-मनुष्य-पशु–पक्षी–ओषधि–वनस्पति-आदि आदि की रसमात्राएँ सौर–घोररुद्र से शुष्क बन जातीं हैं। सबका रस सूख जाता है। मानो सबका जीवनीय रस उग्रतारा ही पी जातीं हैं। 'रस' ही प्राणियों का 'श्री' भाग माना गया है, जो कि सप्तमर्त्यप्राणों का ऊर्ध्व-विनिःसृत अमृतरस [जीवनीयरस] प्राणियों के कपालप्रदेश में सञ्चित माना गया है। इस श्रीरूप रस के कारण हीं मस्तक-'शिरः' कहलाया है-[देखिए-शत० ६।१।१।६।]। इसे आधार बना कर ही रौद्री-शक्ति संहारकाल में रसपान करती है। इसी का निदान–'**खप्पर**' है। '**असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः। नीलग्रीवो विलोहितः**' [यजुःसंहिता] इत्यादि के अनुसार उग्र–क्षत्ररुद्र–नीलग्रीव हैं, पिङ्गल हैं, ताम्र हैं, अरुण हैं। इन की उग्रताराशक्ति का भी ऐसा ही स्वरूप है। सूर्य्यरूप मस्तकभाग से चारों ओर वितत रश्मियों का भी यही स्वरूप है। ये रश्मियाँ हीं उसके जटाजूट हैं, जिन की सप्तवर्णता, किंवा विविध–विचित्ररूपता विश्वविश्रुता है। प्रत्येक सौर रश्मि में [उस महाभीषण-संहार-काल में] तथाकथित विषाक्त-सर्पणशील वायव्यप्राण व्याप्त हैं। इसी स्थिति का नैदानिकरूप–'**नील–विशाल--पिङ्गल–जटाजूटैक--नागैर्युता**' है। वह महाशक्ति इत्थंभूत उग्ररूप में परिणत होकर ही विश्व का संहार करती है। और यही सृष्टिधारात्मिका इस द्वितीया महाविद्या का पावन संस्मरण है। महाकालीरूप विश्वातीत के अनन्तर उग्रतारारूप सूर्य्य का ही आविर्भाव होता है व्यक्त रूप से, यही सृष्टितत्त्वनिष्कर्ष है।

—२—

३-पञ्चवक्त्रशिव, और उसकी महाशक्ति षोडशी
(तृतीया-महाविद्या)

१४४--विश्वस्वरूपसम्पादक सर्वहुतयज्ञ का संस्मरण—

निवेदन किया गया है कि, स्वयम्भूरूप महामायी महेश्वर-महाकाल, एवं परमेष्ठीरूपा महामाया महाकाली के दाम्पत्य से ही, इन दोनों उग्र-उग्रतर-उग्रतम-पुरुष-प्रकृतिभावों से ही उग्रतम, सम्वत्सर-चक्रात्मक-ऋतुकालानुबन्धी क्षत्ररुद्ररूप सूर्य्य, तथा तदभिन्ना उग्रशक्ति उग्रतारा का आविर्भाव हुआ। कल्पना कर लीजिए, अभी सूर्य्याचन्द्रमसौ मूला अग्नीषोमात्मिका यज्ञप्रक्रिया का आरम्भ नहीं हुआ। अभी तो केवल यज्ञान्न के इच्छुक उग्रसूर्य्यरूप क्षोम्यपुरुषात्मक अक्षोम्यपुरुष, तथा उग्रताराशक्ति का ही उदय हुआ है। अनन्तर यज्ञप्रक्रिया आरम्भ होती है, जिसका आधार बनती है पञ्चीकरणप्रक्रिया। इसी पञ्चीकरण-प्रक्रिया से उस '**सर्वहुत**' यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है, जिसके विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जनादि-भावों से आगे चलकर पुरात्मक विश्वाण्डों का स्वरूपसम्पादन हुआ करता है, जिनका दिग्दर्शन पूर्व में कराया जा चुका है।

१४५-उग्रतारा की शिवभाव में परिणति, एवं यज्ञप्रवृत्ति—

उग्रतारासमन्वित-अक्षोम्यपुरुषरूप उग्रक्षत्ररुद्रात्मक सूर्य्य में पारमेष्ठ्य-सोम की आहुति हुई। इस सोमरूप शान्तदेवत्यान्न से-'**तेनैनं अशमयत्**' (शत० ६।१।१।) इत्यादिरूपेण रुद्रसूर्य्य '**शिवरूप**' रूप में परिणत होगए। और इसी से उग्रतारा भगवती भी शिवा-भवानी-रुद्राणी-सर्वमङ्गला-शान्ततेजोमयीं बन गईं। इत्थंभूता सुशान्ता-मङ्गलमयी (सुमङ्गला) इस शिवा शक्ति से समन्वित * सुमङ्गल-शिवसूर्य्य ही संसार के प्रभव बनें। शिवात्मक सूर्य्यनारायण हीं अपने सहजसिद्ध साम्बसदाशिवभाव से पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-रूप सौरब्रह्माण्ड के, एवं तद्गर्भीभूता समस्त-देवमानवादि-पशु-वृक्षादि-कीट-पतङ्गादि-प्रजाओं की प्राणप्रतिष्ठा बनें, जैसा कि-'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः**'-'**सूर्य्य-आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**'-'**निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च**'-'**नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः**' इत्यादि मन्त्रब्राह्मणश्रुतियों से प्रमाणित है।

१४६-पञ्चवक्त्रशिव, और तच्छक्ति षोडशी का नैगमिक (वैदिक) स्वरूपसमन्वय—

तथाविधा-शिवात्मिका-सर्वप्रभवात्मिका-शिवसूर्य्याभिन्ना-विश्वनिर्म्मात्री महाशक्ति ही आगम में-'**षोडशी**' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जबकि स्वयं शिवसूर्य्य इस शक्त्यपेक्षया '**पञ्चवक्त्रशिव**' नाम से प्रसिद्ध हैं। रुद्रशक्ति उग्रतारात्मिका 'तारा' थीं, तो शिवशक्ति '**षोडशी**' है, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है। ग्रीष्मकालीन-मध्याह्न के प्रचण्ड-सान्तपनाग्निरुद्रमूर्त्ति-उग्र-सूर्य्य को उदाहरणधिया 'रुद्र' समझिए, तच्छक्ति का उग्रतारा-रूप से ध्यान कीजिए। एवं श्रावणमासीय-प्रातःकालीन-आपोमय-सुशान्त-सूर्य्य को शिव मानिए, एवं तच्छक्ति का 'षोडशी' रूप से अनुध्यान कीजिए। षोडशी के नैदानिक-ध्यान से पूर्व प्रसङ्गोपात्त तदभिन्न-पुरुष-शिवसूर्य्यात्मक पञ्चवक्त्रशिव के इस नैदानिक ध्यान-संस्मरण से भी हम अपना दुरितक्षय कर लेते हैं, जिनके अनुग्रह से ही मानव यमपाशभीति से उन्मुक्त हुआ करता है। श्रूयताम्!

*** -असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः** [यजुःसं०]

१४७–शिवसूर्य्यात्मक–पञ्चवक्त्रपुरुष का नैदानिक ध्यान, एवं उसके नैदानिक आयुधों का तात्त्विक समन्वय—

मुक्ता–पीत–पयोद–मौक्तिक–जपा–वर्णैर्मुखैः पञ्चभि–
स्त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम् ।
शूलं–टङ्क–कृपाण–वज्र–दहनान्–नागेन्द्रपाशाङ्कुशान्–
पाशं भीतिहरं दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे ॥ —तन्त्रसार

गुण–कर्म्म–शक्ति–स्थान–कालादि भेद से भगवन् शङ्कर के अनेक महिमामय विवर्त्त हो जाते हैं । मूलोक्थरूप से–'**एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः**' (श्वेता० ३।२।) के अनुसार जहाँ वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में–एकाकी है *, वहाँ अपने अर्करूप (रश्मिप्राणरूप) महिमाभावों से–'**असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्राः**' (यजुःसं० १६।५४।) रूप से–'**न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः**' (रघुवंशः) इस कविसूक्ति को अन्वर्थं प्रमाणित कर रहे हैं । उन असंख्य–अनन्त–महिमारूपों में से उक्त ध्यानमन्त्र के द्वारा पञ्चवक्त्र–पञ्चमूर्त्ति एक विलक्षण शिवतत्त्व का ही स्वरूप–विश्लेषण हुआ है, जिसकी विलक्षणता का अनुग्रह आगमपरम्परानुगता रहस्यपूर्णा परोक्ष निष्ठा से ही प्राप्त करना चाहिए । क्योंकि–निगमशास्त्र की–'**परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः**' इस परोक्षनिष्ठा का आगमीया निष्ठा से सर्वथा तादात्म्य है । प्रकृत में तो परम्पराच्युत हम जैसे प्राकृत–पशुओं को तत्–अक्षरस्मरणमात्र से ही संन्तोष कर लेना पड़ेगा ।

पूर्वा–पश्चिमा–उत्तरा–दक्षिणा,–एवं **ऊर्ध्वा**–दिग्भेद से उस एक ही सूर्य्यशिव के पाँच मुख मान लिए हैं निदानमाध्यम से आगमशास्त्र ने, जो क्रमशः–**१–तत्पुरुष'–२–सद्योजात,–३–वामदेव,–४–अघोर,–५–ईशान,** इन अभिधाओं से सुप्रसिद्ध हैं । पाँचों मुख क्रमशः **चतुष्कल–अष्टकल–त्रयोदशकल–अष्टकल** एवं **पञ्चकल** है । एवं पाँचों क्रमशः **हरित, रक्त, धूम, नील, पीत**–वर्णों से समन्वित हैं । ऐसे पञ्चवक्त्र–भगवान् शिव की १० भुजाएँ हैं । दसों में क्रमशः **१–अभय, २–टङ्क, ३–शूल, ४–वज्र, ५–पाश, ६–खड्ग, ७–अङ्कुश, ८–घण्टा, ९–नाग (सर्प), १०–प्रज्ज्वलित अग्नि,** ये दस आयुध हैं । सर्वज्ञ हैं ये भगवान् शिव । त्रिनेत्र हैं ये महेश्वर । अनन्त शक्तिमान् हैं ये षोडशीपति । पाँचों दिशाओं में व्याप्त रहते हुए सर्वत्र व्याप्त हैं, भूतपति–सर्वपति हैं । पाँचों ओर इनका आभिमुख्य है । यह अभिमुखता ही इनका मुखत्त्व है, '**पञ्चवक्त्रता**' इसी का नैदानिकभाव है ।

पार्थिव आग्नेयभाव, आन्तरिक्ष्य वायव्यभाव, एवं दिव्य चान्द्र–सौम्यभाव भेद से अग्नि–वायु–सोम–भाव–इनके तीन स्वरूपधर्म्म मान लिए गए हैं । ये तीनों हीं तीन तीन महिमाभावों में विभक्त हैं । अग्नि–प्राणावच्छिन्न अग्नि के **अग्नि, वायु, इन्द्र,** ये तीन महिमाभाव हैं । वायव्यप्राणावच्छिन्न वायु के–**वायु, शब्द, अग्नि,** ये तीन महिमाभाव हैं । एवं सौम्यप्राणावच्छिन्न सोम के **वरुण–चन्द्रमा–दिक्,** ये तीन महिमाभाव है । यों तीन स्वरूपधर्म्मों के महिमामय ९ अवान्तर विवर्त्त हो जाते हैं । ये नवों हीं धर्म्म घोर हैं, उग्र हैं । एवं नवों का आधारभूत, सर्वाधार–निराधार–गगनसदृश–शान्ति–प्रतिष्ठा–रूप–परोरजाभाव

---

*–**एकाकी चरति सूर्य्यः ।**

(रजोगुण से अतीत–स्वायम्भुव–सत्त्वभाव) १० वाँ प्राजापत्य प्राण है । १० भुजाएँ इन्हीं दस स्वरूपधर्म्मों के नैदानिक–स्वरूप हैं । 'टङ्क' आग्नेय ताप का निदान है । शूल वायव्यताप का *, पाश वरुणताप का निदान है, जैसाकि–'**वरुण्या वा एषा-यद् रज्जुः**' (शतपथब्रा०) इत्यादि से स्पष्ट है । खड्ग चान्द्रशक्ति का नैदानिक स्वरूप है । अङ्कुश दिश्या हेति का निदान है । नाग से खगोलीया सञ्चर–नाड़ियाँ, तथा विविध विषप्राणात्मक आकाशीय–पूर्वाभिमुख नाक्षत्रिक सर्प, वायव्यप्राणविषात्मक ग्रह, आदि विषभाव अभिप्रेत हैं । जिस प्राणवायुसूत्र से रुद्र प्रविष्ट–व्याप्त हो रहे हैं विश्व में समष्टि, और व्यष्टि रूप से, वे ही वायव्य-नियतपथ (सछन्दस्कपथ) 'सञ्चरनाड़ी' नाम से प्रसिद्ध हैं । इन्हीं से नाक्षत्रिक–सर्पप्राण संगृहीत हैं । सम्पूर्ण ग्रहरूप सर्पों में सौररुद्रतेज अभिव्याप्त है । इसी तत्त्व को व्यक्त करने के लिए शिव के सर्वाङ्ग-शरीर को सर्पों से वेष्टित प्रदर्शित किया जाता है प्रतिमाभावों में । प्रचण्ड–सावित्राग्निपुञ्ज ही इनका मौलिक स्वरूप है । अतएव 'अग्निज्वाला' को इनका निदान मान लिया गया है । सोमाहुति का निदान मस्तकस्था चन्द्रकला है । शान्ति–प्रतिष्ठा–रूप-परोरजा-स्वायम्भुव–सुशान्त–ब्राह्मप्राण का नैदानिक स्वरूप 'अभयमुद्रा' है । आगमरहस्यानुसार–(दक्षिणेश्वरशिवतत्त्वानुसार ×) ध्वनिरूपा शब्दवाक् की विनिर्गम भूमि ये ही आग्नेय रुद्र हैं, जैसा कि–'**अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्**' इत्यादि से स्पष्ट है । 'घन्टा' इस ध्वनि का नैदानिक–स्वरूप है । नीचे लिखी तालिका इसी नैदानिक–भाव को व्यक्त कर रही है—

***-न वातेन विना शूलम्**

×-दक्षिणेश्वरस्य नैदानिकध्यानम्—

व्याख्यामुद्राक्षमालाकलशसुलिखिते बाहुभिर्वामपादं-
बिभ्राणो जानुमूर्ध्ना पदतलनिहितापस्मृतिर्दुर्द्रुमाधः ।
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः--
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो नः ॥

गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के–खण्डद्वयात्मक '**भक्तियोगपरीक्षा**' नामक सप्तमखण्ड में श्रीदक्षिणेश्वर–महादेवतत्त्व के नैदानिक–भावों का विस्तार से संस्मरण हुआ है ।

१	१—अभयम्—प्राजापत्यप्रतिष्ठा—शान्तिः—परोरजाप्राणः—— ०
२	२—टङ्कः——आग्नेयतापः——अग्निः—आग्नेयप्राणः (१)—१
	३—शूलम्——वायव्यतापः——वायुः— " (२)—२
	४—वज्रम्——ऐन्द्रतापः——इन्द्रः— " (३)—३
३	५—पाशः——वारुणहेतिः——वरुणः—सौम्यप्राणः (१)—४
	६—खड्गः——चान्द्रहेतिः——चन्द्रः— " (२)—५
	७—अङ्कुशः——दिश्यहेतिः——दिक्— " (३)—६
४	८—घन्टा——ध्वनिर्वाक्——शब्दः—वायव्यप्राणः (१)—७
	९—नागः——सञ्चरनाडी——वायुः— " (२)—८
	१०—अग्निः——प्रचण्डाग्निः——अग्निः— " (३)—९

१४८—सौर इन्द्र का षोडशीप्रजापति से अभिन्न सम्बन्ध, एवं इन्द्र का षोडशीप्रजापतित्त्व—

पूर्वोपवर्णित पञ्चवक्त्रशिव से अभिन्ना महाशक्ति हीं (सौरी विश्वनिर्म्मात्री शक्ति हीं) 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध हुई हैं। पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, एवं निष्कल—एकल [एकाकी] परात्पर, इन की समष्टि का नाम ही **'षोडशीपुरुष'** है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य्य—चन्द्रमा—पृथिवी—इन पाँचों ब्रह्मपुरात्मक—विश्वपुरों में से एकमात्र विश्वमध्यस्थ सूर्य्य में हीं तथोक्त षोडशकल—षोडशीप्रजापति अपनी सोलह कलाओं से अभिव्यक्त होते हैं। स्वयम्भू अव्यक्तभाव-प्रधान है। अतएव तत्र षोडशी का व्यक्तीभाव सम्भव ही नहीं। परमेष्ठी आपोमय है। अतएव तत्र षोडशी गर्भीभूत तो अवश्य हैं, किन्तु व्यक्त नहीं हैं इस ऋत—आपः—के सहज विलयन—धर्म्म के कारण। अतएव महत्परमेष्ठी से समन्वित षोडशी गर्भरूप से [गर्भवत्] अन्तर्लीन ही हो जाते हैं।

इधर सावित्राग्निमूर्त्ति मध्यस्थ सूर्य्य अग्नित्त्वेन चितिधर्म्मा हैं। आगत वस्तुतत्त्व को अपने सहज—चिति, सञ्चितिधर्म्म से अपने में लीन न कर ये उसे अपने ऊपर धारण कर उस विधृततत्त्व को भी व्यक्त कर देते

हैं। इसी धारण–धर्म्म से ही तो धर्म्मसृष्टि [प्राकृतधर्म्मसृष्टि] की प्रवृत्ति–'**यतो धर्म्माणि धारयन्**' रूप से चितिधर्म्मा, अतएव धृतिधर्म्मा सूर्य्य से ही मानी गई है। अतएव अत्र समागत षोडशी चिदात्मा सर्वात्मना व्यक्त हो जाते हैं। स्वयम्भू-परमेष्ठी-आदि पाँचों ब्रह्माण्डरूप छन्द:पुरों में क्रमशः **ब्रह्मा-विष्णु–इन्द्र-अग्नि-सोम**–इन पाँचों अक्षरों का प्राधान्य माना गया है। पाँचों में इन्द्राक्षर से समन्वित सूर्य्य ही क्योंकि षोडशीप्रजापति का व्यक्त स्थान है। अतएव पाँचों अक्षरों में सौर–इन्द्र को ही–'षोडशी' उपाधि का सम्मान-प्राप्त हुआ है, जैसाकि–'**इन्द्रो ह वै षोडशी**' [शत० ४।२।५।१४] इत्यादि से स्पष्ट है।

१४६--षोडशी--महाशक्ति का स्वरूप--समन्वय—

पञ्चकल अव्ययपुरुष का सृष्टिसाक्षी स्वरूप मनः–प्राण–वाग्–रूप [घन] बतलाया गया है पूर्व में। इन तीनों सृष्टिसाक्षी स्वरूपों में से स्वयम्भू में केवल 'वाक्' कला का प्राधान्य है, परमेष्ठी में वाक्–प्राण–दो कलाओं का प्राधान्य है। उधर मर्त्या विश्व के पृथिवीविवर्त्त में 'वाक्' का, तथा चन्द्रविवर्त्त में वाक्–प्राण का प्राधान्य है, जब कि मर्त्य–[चन्द्रमापृथिव्यात्मक], एवं अमृत [परमेष्ठी–स्वयम्भू रूप] विश्व के केन्द्रस्थ सूर्य्य में सृष्टिसाक्षी अव्यय के–'**मनःप्राणवाक्**' तीनों रूप सुविकसित माने गए हैं। इसी आधार पर तो–'**वागिन्द्रः**'–'**आदित्यं मनः**'–'**प्राणः प्रजानामुदयत्येषसूर्य्यः**' इत्यादि निगम–समन्वित हुए हैं। बृहदारण्यक ने तथाकथित सृष्टिसाक्षी आत्मा का लक्षण माना है–'**स वा एष आत्मा-वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः**'। इत्थंभूत त्रिकल–त्रिपर्वा–अव्ययात्मा क्योंकि पाँचों पर्वों में से एकमात्र विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य में हीं अभिव्यक्त है। इसीलिए सूर्य्य को ही स्थावर–जङ्गम–प्रपञ्च का 'आत्मा' मान लिया गया है, जैसा कि–'**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' [यजुःसंहिता] इत्यादि से प्रमाणित है। यों सूर्य्य का षोडशीप्रजापति-समन्वितत्त्व अनेक दृष्टियों से संसिद्ध है। अतएव शिवस्वरूपात्मक, आगम के शब्दों में पञ्चवक्त्रमूर्तिशिवस्वरूप सौरपुरुष को निगमदृष्ट्या यदि 'षोडशीपुरुष' कहा जासकता है, तो तदभिन्न आगमशास्त्र इस की महाशक्ति को–'**षोडशी**' नाम से भी अवश्य ही व्यवहृत कर सकता है।

१५०–षोडशी महाशक्ति से अभिन्ना शक्ति त्रिपुरसुन्दरी और उसका नैदानिक ध्यानमन्त्र–

सूर्य्यरूप द्यौः, चन्द्ररूप अन्तरिक्ष, एवं पृथिवी, तीनों की समष्टिरूप सौर–त्रैलोक्य के कर्त्ता–भर्त्ता–भाग्यविधाता षोडशी–भावान्वित सूर्य्य ही हैं, जो लोकत्रयी–'ओं भूः–भुवः–स्वः' से उपक्रान्त–'**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि**' इत्यादि लक्षण गायत्रीतत्त्व से अनुप्राणिता मानी गई है। सौरी षोडशी शक्ति ही इस सौरी-त्रिपुरी की जन्मदात्री है, जिनमें सौर–पुरी हिरण्मयी है, चान्द्रपुरी रजतमयी है, एवं पृथिवीपुरी अयोमयी है। सुवर्ण–रजत–लौह–भावात्मिका–तीनों पुरों का सर्वस्व सौरी षोडशी शक्ति पर ही प्रतिष्ठित है। इसी त्रिपुराधिष्ठातृत्त्वेन आगमशास्त्र में यही षोडशी भगवती दृष्टिकोणभेद से–'**त्रिपुर–सुन्दरी**' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसी के नैदानिक ध्यान की ओर तद्भक्तों का ध्यान आकर्षित करते हुए आगमाचार्य्य कहते हैं—

बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशशरंश्चापं धारयन्तीं शिवां भजे॥

—शाक्तप्रमोद, षोडशीतन्त्र

१५१-षोडशी शक्ति के नैदानिक-भावों का समन्वय—

सौरसंस्था में **प्रकाश**, **ताप**, एवं आहुत **सोम**, तीनों समन्वित रहते हैं। प्रकाश स्वज्योतिर्भाव है, यह सौर इन्द्र का स्वरूपधर्म्म है। ताप रूपज्योतिर्भाव है, यह पार्थिव–अग्नि का स्वरूपधर्म्म है। एवं सोम परज्योतिर्भाव है, और यह चान्द्रसोम का स्वरूपधर्म्म है। यों सौर इन्द्र–पार्थिव अग्नि–चान्द्र–सोम, तीनों ज्योतिर्भावों से त्रैलोक्यविधाता–षोडशीसूर्य्य ज्योतित्रयमूर्त्ति बने हुए हैं, जैसाकि–**'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'** (यजुसंहिता) इत्यादि से स्पष्ट है। इस ज्योतित्रयी से ही सौरपञ्चवक्त्रशिव, तथा तच्छक्ति षोडशी के शिवशक्त्यात्मक समन्वय से त्रैलोक्य आलोकित है। इसी ज्योतिस्त्रयी का नैदानिकभाव–**'त्रिलोचनाम्'** है। सौरी शक्ति द्यावापृथिवीरूप सम्पूर्ण ज्योतिष्चक्र (खगोल), तथा भुवनकोश (भूगोल) में व्याप्त है, यही स्वस्तिकभावमूला चतुर्भुजता है इसकी, जिसका पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। सोमाहुति ने ही इसके उग्ररुद्रात्मक उग्रतारारूप को सुशान्त कर रक्खा है। प्रातःकाल का बालसूर्य्य इसी सुशान्तभाव का निदान है। सूर्य्य से समुत्पन्न होने वाली प्रजा निश्चयेन सौर आकर्षण से (सुषुम्णा नाम की चान्द्र–नाड़ी के द्वारा) आकर्षित–आबद्ध रहती है। स्वयं पार्थिव विश्व भी विश्वद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्रानुगत ध्रुव के द्वारा सौर आकर्षण से ही आबद्ध है। अतएव कभी सौरक्रान्तिवृत्तरूप-दीर्घवृत्तात्मक (अण्डवृत्तात्मक) सम्वत्सर की वेला का अतिक्रमण नहीं कर सकता सूर्य्य के चारों ओर इसी क्रान्तिवृत्त पर परिक्रमा लगाता हुआ यह भूपिण्ड। निष्कर्षतः सम्पूर्ण त्रैलोक्य, त्रैलोक्यप्रजा, सभी कुछ इस सौरी षोडशीशक्ति के आकर्षण से नियन्त्रित है। 'पाशान्' इसी आकर्षण नियन्त्रण का निदान है। षोडशीप्रजापति के मध्यस्थरूप नियन्ता अक्षर को ही हमने पूर्व में सर्वज्ञ–सर्ववित्–सर्वशक्ति-प्रजापति कहा है। अन्तर्य्यामी मध्यस्थ अक्षर के कारण ही तो सौरीशक्ति षोडशीप्रजापति से अनुगृहीत होती हुई 'षोडशी' बनी है। स्वयं सूर्य्य भी इसी नियतिर्दण्ड से सञ्चालित है।

भयादस्याग्निस्तपति, भयात्तपति सूर्य्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

उक्त श्रौतवचन के अनुसार सब पर सौरी–अक्षरशक्ति का अनुशासन है। अंकुश इस अक्षरधर्म्म का नैदानिक–स्वरूप है। प्रज्ञापराधवश, अज्ञतावश जो प्राकृत मानव अक्षरप्रकृति के इन ऋत–सत्य–सूत्रात्मक–नियतिःसत्यलक्षण धर्म्मनियन्त्रणों की उपेक्षा कर देते हैं, वर्त्तमानभाषानुसार जो परप्रत्ययनेयता से धर्म्मनिरपेक्ष बन जाने जैसी भयावहा-घोरघोरतमा-भ्रान्ति कर बैठते हैं, वह प्रकृति निश्चयेन धर्म्मच्युत उन यथाजात नराधमों का सर्वनाश ही कर डालती है, जैसाकि—**'धर्म्म एव हतो हन्ति'** से भी स्पष्ट है। कैसे, किन माध्यमों के द्वारों से हो जाता है धर्म्मविरोधियों का मूलविनाश ?, प्रश्न का समाधान अन्य निबन्धों में ही द्रष्टव्य है। यहाँ इस समाधान–प्रसङ्ग में केवल यही जान लेना अलं होगा कि, **वरुण**, **निर्ऋति**, **यम**, **रुद्र**, ये पाँच प्राणदेवता ही विनाश के द्वार बना करते हैं, जिनमें से प्रकृत में 'रुद्र' का ही सम्बन्ध है। सौररुद्र की महाशक्ति उग्रतारा ही प्रकृति-विरुद्ध गमन-करने वाले असुर–राक्षसों का–**'हन्त्युग्रतारा स्वयम्'** रूप से नाश कर दिया करती है। रुद्र को ये अपनी महिमा से पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यु–नामक तीनों लोकों में आसुरमानवों को दण्ड देने के लिए ही मानों आयुधों से सुसज्जित सन्नद्ध कर प्रहरी की भाँति सन्नद्ध रखतीं हैं। द्युलोकस्थ रुद्र का आयुध 'वर्षा है, आन्तरिक्ष्य रुद्र का आयुध प्रचण्ड सान्तनपन वायु है, एवं पार्थिव रुद्र का आयुध

पार्थिव अन्न है * । वर्षा से सम्बन्ध रखने वाले–अतिवृष्टि-अनावृष्टि-हीनवृष्टि करकापातादि ही वर्षानुगत संहार है । प्रचण्ड–झञ्झावात, रूक्ष–आग्नेय–तापादि से सम्बद्ध रसशोषक संहार ही वातानुगत संहार है । एवं अभक्ष्य-भक्षणादि अन्नदोष ही अन्नात्मक संहार है । यों अधर्म्मपथानुगामी–मतिभ्रष्ट–मानवों के लिए लोकभावानुसार प्रकृति के **पानी–हवा–अन्न,** तीनों हीं जीवनीय साधन विकृत बन कर सर्वनाश के कारण बन जाया करते हैं । इसीलिए इन तीनों रक्षक साधनों को–'**इषवः**' रूप से संहार के भी साधन–माध्यम मान लिए हैं महर्षि ने । 'षोडशी' का-'**शर**' आयुध इस त्रिविधा -रौद्री संहारशक्ति का नैदानिक स्वरूप है । सृष्टिकर्त्ता **चतुर्म्मुख** ब्रह्मा, सृष्टिपालक **चतुर्भुज विष्णु,** एवं सृष्टिरक्षक–**त्रिनेत्र** शिव, खण्डप्रलय के अधिष्ठाता **यम,** चारों देवता अक्षरप्रधाना भगवती षोडशी के ही नियन्त्रण से नियन्त्रित हैं । मानो वह इन चारों को अपना वाहन ही बनाए हुए हैं । '**चतुर्व्वाहाम**' इसी रहस्य का नैदानिक स्वरूप है । और यही उक्त ध्यान का अक्षरार्थ-समन्वय है ।

—३—

४–त्र्यम्बकशिव, और उसकी महाशक्ति भुवनेश्वरी
(चतुर्थी–महाविद्या)

५२--शिव की तीन अम्बाएँ, एवं सुगन्धि--पुष्टिवर्द्धन--त्र्यम्बक शिव का नैगमिक--समन्वय—

स्वयम्भू–महाकालपुरुष की महाशक्ति पारमेष्ठिनी महारात्रिरूपा महाकाली के गर्भ में–अक्षोभ्यपुरुषरूप प्रचण्ड रुद्रसूर्य्य, एवं तदभिन्ना प्रचण्डा उग्रतारारूप 'तारा' भगवती का आविर्भाव हुआ । और यही शिवशक्ति का द्वितीय द्वन्द्व माना गया । अनन्तर इसी उग्रसूर्य्य का पञ्चवक्त्रानुगत शिवस्वरूप, तथा प्राजापत्य षोडशी शक्ति, दोनों का समन्वितभाव ही पञ्चवक्त्रशिवानुगत-षोडशीशक्ति–लक्षण तृतीय–महाविद्यायुग्म कहलाया । यह तृतीययुग्म ही अब '**विश्वानि–भुवनानि**' का उपक्रम बनने वाला है । पूर्व में षोडशीप्रजापति का स्वरूप–दिग्दर्शन–कराते हुए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, षोडशीप्रजापति का अन्तिम–आत्मक्षर भाग ही–'**क्षरः सर्वाणि भूतानि**' रूप से विकाररूप विश्वसृट्–पञ्चजन–पुरञ्जन–रूपेण अन्ततोगत्त्वा विश्वपुरात्मक 'भुवन' स्वरूपों में परिणत हुआ करता है । सूर्य्य से नीचे नीचे का सम्पूर्ण–प्रपञ्च क्षरप्रधान बनता हुआ भूतप्रधान है । अतएव भूतात्मक–'भुवन' शब्द अमृतसूर्य्य (अक्षरात्मक षोडशी सूर्य्य) से अर्वाक्–लोकों के साथ ही प्रधानरूप से सम्बद्ध माना जायगा । क्षरात्मक भुवनों की **आधारावस्था पञ्चवक्त्रशिवानुगता षोडशी** है, एवं क्षरात्मक भुवनों की **स्वरूपावस्था** का ही नाम **त्र्यम्बकशिवानुगता–भुवनेश्वरी** है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है । '**तत्सृष्ट्वा**' दशा में वही सौरी षोडशी 'षोडशी' है, एवं '**तदेवानुप्राविशत्**' दशा में

* **ये पृथिव्यां रुद्रास्तेषामन्नमिषवः ।**
येऽन्तरिक्षे रुद्रास्तेषां वात इषवः ।
ये दिवि रुद्रास्तेषां वर्षमिषवः । —यजुःसं० १६।६६।

वही सौरी षोडशी भुवनेश्वरी है । विश्वसर्जनदशा में वही शिव पञ्चवक्त्रशिव हैं, एवं विश्व को उत्पन्न कर तत्र प्रविष्ट होने पर वही भुवनेश्वर 'त्रिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन्०' के अनुसार त्रिवृद्भावापन्ना तीन माता (अम्बा) पृथिवी–विवर्त्तों के अनुगामी बनते हुए भुवनेश्वर–त्र्यम्बक हैं, जिनका गन्धतन्मात्रानुगता अम्बा-पृथिवी माता के सम्बन्ध से ही संहिताने–'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्' (यजुःसं० ३।६०।) इत्यादिरूप से यशोगान किया है । अलमतिपल्लवितेन–विस्तारभिया ।

१५३–महाशक्ति भुवनेश्वरी त्र्यम्बकशक्ति का नैदानिक ध्यानमन्त्र—

अम्बा–अम्बालिका–अम्बिका–नाम से प्रसिद्धा तीन मातृशक्तियों से समन्वित, अतएव 'त्र्यम्बक' नाम से प्रसिद्ध, सूर्य्य से अर्वाक्स्थित क्षरप्रधान–मर्त्यविश्व में अनुप्रविष्ट सौर-शिव की क्षरविश्वप्रतिष्ठा वही षोडशी शक्ति 'भुवनेश्वरी' नाम से प्रसिद्ध हुई है । और यही चौथा युग्म है 'शिव–शक्ति' तत्त्व का, जिसका ध्यान निम्न लिखित रूप से प्रसिद्ध है—

उद्यदिनद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम् ।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम् ॥

—शाक्तप्रमोद, भुवनेश्वरीतन्त्र

१५४–भुवनेश्वरी भगवती के नैदानिक ध्यान का नैदानिक-समन्वय—

क्षरात्मक–विश्व का आरम्भ हो गया इस भुवनेश्वरी की सत्ता में । विश्वकाल ही अहःकाल है, जब कि विश्वाभाव **'रात्रि'** माना गया है । 'सुप्रभात' अहःरूप विश्व का ही सूचक है । और **'उद्यदिनद्युति'** शब्द इसी अहःरूप सर्गकाल की ओर निदानभाव से सङ्केत कर रहा है । **'इन्दुकिरीटाम्'** शब्द पार्थिव-त्रैलोक्यसर्ग का ही स्वरूप–विश्लेषक है, जिसके स्वरूपबोध के लिए तो निगमशास्त्र की स्तोमवितानात्मिका **'वषट्कारविद्या'** की शरण में जाना चाहिए । यहाँ अवसर नहीं है तद्विश्लेषण का । सौरत्रिलोकी के अन्तिम पर्व 'भूः' पिण्ड के आधार पर वितत पार्थिव–चितेनिधेय–आग्नेयप्राण ही अपने घन–तरल–विरल–भावों से त्रिवृत् (६)–पञ्चदश (१५) एकविंश (२१) स्तोमसंस्थानलोकों में विभक्त होकर क्रमशः पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः–रूप में परिणत हो रहा है । यही त्रिपृथिवीरूपा (त्र्यम्बारूपा) वह महापृथिवी है, जिसके सम्बन्ध से तत्रप्रविष्ट–प्रवर्ग्यसौरतेज (किन्तु आज पृथिवी का ब्रह्मौदन बना हुआ पार्थिव अग्नि) 'त्र्यम्बकशिव' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । तच्छक्ति ही तो 'भुवनेश्वरी' है, जिसके तीसरे मस्तकस्थानीय–एकविंशस्तोमलोक से ऊपर वह त्रिणव (२७) स्तोमलोक नामक चतुर्थ लोक माना गया है, जिसका–**'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः'** [शत० ब्रा०] इत्यादि से स्पष्टीकरण हुआ है । यहीं भास्वरसोमात्मक चान्द्रसोम प्रतिष्ठित है । यों पार्थिव–भुवनत्रयरूप [त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंशरूप पृ० अन्त० द्यौः रूप] त्रैलोक्यमयी भुवनेश्वरी के किरीटरूप सप्तविंश लोक नामक चतुर्थलोक में चान्द्रसोम विराजमान है, एवं–**'इन्दुकिरीटाम्'** से इसी रहस्य का निदानमाध्यमेन सङ्केत हुआ है । अन्यच्च–त्रिणवसोमाहुति से ही तो सौराग्नि क्षरयज्ञ के स्वरूप-सम्पादक बन कर तद्द्वारा पार्थिवत्रैलोक्य को व्यक्त करने में समर्थ बने हैं । इस यज्ञमूला–क्षरसृष्टि का मूलप्रभव तो सोमाहुतिकर्म्म ही है । यों भुवनेश्वरी की इन्दुकिरीटता इस सोमाहुति के सम्बन्ध से भी अन्वर्थ बन रही है । पार्थिव–त्रैलोक्य के अग्नि–आदित्य तेज, तथा किरीटेन्दुरूप चान्द्र तेज से यह त्रिनेत्रा है । वरदा–अङ्कुश–

पाशा--अभीति--आदि के निदाभाव पूर्व ध्यानों से गतार्थ हैं। जो गतार्थ नहीं हो रहे, उन्हें शक्त्याराधनानुग्रह से गतार्थ करने का प्रयास करना चाहिए। यही चतुर्थी महाविद्या की संक्षिप्ता--यशोगाथात्मिका पुण्यकथा का संस्मरण है।

—४—

५–कबन्धशिव, और उसकी शक्ति–छिन्नमस्ता
(पञ्चमी–महाविद्या)

१५५--यज्ञमूर्त्ति प्रजापति के पाङ्क्त (पञ्चावयव) यज्ञों का संस्मरण—

अब निबन्धाकारविस्तारभिया हम शेष विद्याओं का नामस्मरणमात्र कर के ही इस दशमहाविद्येतिवृत्त को उपसंहृत कर देना चाहते हैं। सोमाहुति से कृतरूप यज्ञ के द्वारा ही–'**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा–पुरोवाच प्रजापतिः**' इत्यादि स्मार्त्त–सिद्धान्तानुसार षोडशीप्रजापति से अभिन्ना षोडशी शक्ति की विश्व-प्रविष्टा-अवतारभूता भुवनेश्वरी नाम की चतुर्थी महाविद्या से यज्ञात्मक-पार्थिव-त्रैलोक्य, एवं तत्प्रजारूप सर्ग का स्वरूप-निर्माण हुआ है, यह पूर्व के चतुर्थ संस्मरण से स्पष्ट है। '**पाङ्क्तो वै यज्ञः**' के अनुसार सृष्टिमूलभूत-क्षर--प्रधान यज्ञ **पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, महायज्ञ, अतियज्ञ, शिरोयज्ञ,** भेद से पाँच महिमाभावों में विभक्त है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ, पञ्च महाभूत, पञ्च अक्षर, पाँच ही क्षर, पाँच ही अङ्गुलियाँ, आदि आदि यच्चयावत् पाङ्क्तभाव यज्ञ की पाङ्क्तता पर ही तो अवलम्बित हैं, जिस इस यज्ञरहस्य के अभिभूत हो जाने से ही आज हमारा सम्पूर्ण कर्म्मवैभव केवल प्रतीकयज्ञों पर ही परिसमाप्त होता हुआ मानो हमारा उपहास, एवं तिरस्कार ही कर रहा है।

स्मार्त्त–गृह्य–यज्ञविशेषों को ही '**पाकयज्ञ**' कहा गया है, जो कि–'**एकाग्नियज्ञ**' नाम से भी गृह्यग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। **अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्म्मास्य–पशुबन्ध** [**अयन**] आदि यज्ञ '**हविर्यज्ञ**' नाम से प्रसिद्ध हैं। **भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ [अतिथियज्ञ], पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ,** ये पाँचों '**महायज्ञ**' कहलाए हैं। **अग्निचयन, राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय,** नामक यज्ञ '**अतियज्ञ**' माने गए हैं।

१५६–यज्ञ के ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्यरूप दो शिर, एवं प्रवर्ग्यरूप छिन्नशीर्षयज्ञ का स्वरूप--दिग्दर्शन—

ये सभी यज्ञ **ब्रह्मौदन, प्रवर्ग्य,** भेद से दो दो भावों में समन्वित रहते हैं। जो स्वरूप यज्ञ की अन्तर्य्याम–प्रतिष्ठा बना रहता है, उसे तो ब्रह्मौदन कहा गया है, एवं जो यज्ञभाग अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से पृथक् होकर यज्ञसीमा से विच्छिन्न हो जाता है, पृथग्भूत वही शेषभाग 'प्रवर्ग्य' कहलाया है, जो कि '**यज्ञोच्छिष्ट**' भी कहलाया है, जोकि दूसरे यज्ञात्मा का अन्नाहुतिरूप ब्रह्मौदन बन जाया करता है। यों प्रवर्ग्यों के सम्बन्ध से ही ब्रह्मौदनभागों की क्षतिपूर्त्ति होती रहती है। दोनों हीं यज्ञ के शिर हैं, जिनमें प्रवर्ग्य 'छिन्न--शिर' का ही नाम है। अतएव प्रत्येक यज्ञ–'**छिन्नशीर्षो वै यज्ञः**' के अनुसार कटे मस्तक का मान लिया गया है। प्रवर्ग्य के पृथक् हो जाने से प्रत्येक यज्ञपुरुष (यज्ञपुरुषात्मक विष्णु) कबन्धमात्र है। इसी रहस्यपूर्ण प्रवर्ग्यविद्या के स्वरूपविश्लेषण

के लिए 'घर्म्मयाग' व्यवस्थित हुआ है। सुप्रसिद्ध पौराणिक-**हयग्रीवोपाख्यान** के द्वारा इसी नैगमिकी प्रवर्ग्यविद्या का स्वरूपविश्लेषण हुआ है *। छिन्नशीर्ष प्रत्येक यज्ञ की इस क्षतिपूर्त्ति के लिए, यज्ञ के विस्त्रस्त-भाग के पुनःसंधान के लिए जो यज्ञविशेष होता रहता है प्रकृति में, उसी का नाम है-'**शिरोयज्ञ**'। इसके बिना यज्ञ मस्तकशून्य ही बना रहता है। यही शिरोभाग यज्ञरहस्यविश्लेषणपूर्वक यज्ञकर्म्मप्रतिपादक ब्राह्मण-ग्रन्थों में यत्रतत्र **सम्राट्-यज्ञ, प्रवर्ग्ययाग, घर्म्मयाग, महावीरोपासना**, इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। उदाहरण के लिए--पारमेष्ठ्य-ब्रह्मणस्पति-नामक पवित्र सोम की आहुति से कृतरूप अग्नीषोमात्मक उस सूर्य्ययज्ञ को ही लक्ष्य बनाइए, जिसका-'**सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्**'-'**सूर्य्यो वा ज्योतिष्टोमः**' इत्यादिरूप से यशोगान हुआ है। इस यज्ञमूर्त्ति, अतएव नारायण (विष्णु) मूर्त्ति सूर्य्यलक्षण यज्ञ को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है—

चत्वारि शृङ्गा, त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे, सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश॥

—गोपथब्राह्मण

१५६-'चत्वारि शृङ्गा, त्रयो अस्य पादा०' इत्यादि मन्त्राक्षरार्थमात्रसमन्वय—

निगमात्मक सूर्य्य अग्नीषोमात्मक यज्ञमूर्त्ति वह महादेव है, जो चान्द्री नाड़ी के द्वारा रसवर्षण करता हुआ सम्पूर्ण मर्त्य-क्षर-प्रजाओं का परिपालन करता रहता है। इस महादेवरूप महाविष्णु के सूर्य्यपुरुषात्मक यज्ञपुरुष के **महदुक्थ-महाव्रत-पुरुष-ब्रह्म**-रूप (तत्त्वात्मक) **ऋक्-साम-यजुः-अथर्व** ही चार सींग हैं। यज्ञिय प्रातःसवन-माध्यन्दिनसवन-सायंसवन-नाम के तीन सवन हीं त्रैलोक्यप्रतिष्ठात्मक तीन पाद (चरण) हैं। ब्रह्मौदन, प्रवर्ग्य, नामक दो मस्तक हैं। मन्त्र-कल्प-ब्राह्मण-इन तीनों से यह मर्य्यादित (आबद्ध) है।

---

* प्रसिद्ध है कि-यज्ञेश्वर विष्णु धनुष की प्रत्यञ्चा पर मस्तक रख कर सो रहे थे। "वम्रयः' नामक सूक्ष्म कृमियों (दीमकों के) द्वारा प्रत्यञ्चा 'धृङ् ङ्' शब्दध्वनिपूर्वक टूट जाती है, फलस्वरूप विष्णु का मस्तक कट गिरता है। और पुनः उसका सन्धान होता है देवताओं के द्वारा, वही 'हयग्रीवावतार' कहलाया है। कहीं कहीं भगवान् गणपति के नैदानिक-सशक्त वाहन मूषकराज के द्वारा भी धनुष की प्रत्यञ्चा की विच्युत्ति बतलाई गई है।

स धनुष्कम्यातिष्ठत्। ता उपदीका अब्रुवन्--वरं वृणामहै, अथ व इमं रन्धयाम। यत्र क्व च खनाम, तदपोऽभितृणदामेति। तस्मादुपदीका यत्र क्वच खनन्ति, तदपो--ऽभितृन्दन्ति। वारे वृतं ह्यासाम्। तस्य ज्यामप्यादन्। तस्य धनुर्विप्रवमाणं शिर उदव--र्चयत्। तद्द्यावापृथिवी अनुप्रावर्त्तत। यत्--प्रावर्त्तत--तत् प्रवर्ग्यस्य प्रवर्ग्यत्त्वम्। यत्--'घ्रां३'-इत्यपतत्। तद् घर्म्मस्य घर्म्मत्त्वम्। महतो वीर्य्यमपप्तत्-इति। तन्महावीरस्य महावीरत्त्वम्। यदस्याः समभरन्-तत्सम्राज्ञः-सम्राट्त्त्वम्।

—तैत्तिरीय-आरण्यक-प्र० ५। अ० १। वि० ४।

गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप् बृहती–पङ्क्ति-त्रिष्टुप्–जगती–नामक छन्दों नामों से प्रसिद्ध क्रान्तिवृत्तीय 'सप्ताश्व' रूप सप्त अहोरात्रवृत्तों से यह साथ हाथों वाला प्रमाणित हो रहा है। ऐसा यह यज्ञवृषभ प्रचण्ड निनाद ही कर रहा है (शब्दतन्मात्रा को मूल बना कर ही स्पर्श–रूप–रस–गन्ध–मात्राओं के द्वारा पञ्चतन्मात्रारूप क्षरविश्व का सर्जन कर रहा है भुवनेश्वरी शक्ति के द्वारा)। और यों यही महादेव मरणधर्म्मा भूत–प्राणियों का आत्मा बना हुआ है, सब में आत्मरूप (जीवनीय प्राणरूप से) प्रविष्ट हो रहा है, जैसाकि–'**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**'–'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः**' इत्यादि से स्पष्ट है।

१५७-ब्रह्म का ओदन, एवं ब्रह्म का उच्छिष्ट, तथा 'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे' का समन्वय—

तथाकथित यज्ञावयवों में से प्रकृत में ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्य, तत्रापि मुख्यरूप से प्रवर्ग्य ही अभिप्रेत है। क्योंकि '**छिन्नमस्ता**' भगवती का यज्ञ के प्रवर्ग्य भाग से ही सम्बन्ध है। जिस आगत वस्तु का भूतात्मा से ग्रन्थिबन्धनात्मक अन्तर्य्याम सम्बन्ध हो जाता है, वह आत्मभूत पदार्थ 'ब्रह्मौदन' कहलाया है। वह अन्न उस आत्मब्रह्म का '**ओदन**' (भोग्य) है। आत्मब्रह्म के अतिरिक्त इस ब्रह्मौदनभाग का अन्य कोई भी भोक्ता तबतक भोग नहीं कर सकता, जबतक कि आत्मब्रह्म इसे प्रवर्ग्य नहीं बना देता। एवं जो वस्तु उस आत्मब्रह्म से पृथक् होकर दूसरे आत्मब्रह्म का भोग्य बनने के लिए नियत हो जाती है, उसे ही 'प्रवर्ग्य' कहा गया है। इसी को अथर्वपरिभाषा में–'**उच्छिष्ट**' कहा गया है। जो सौरताप सूर्य्य का स्वरूपरक्षक बनता हुआ सूर्य्य में आबद्ध है, वह उसका ब्रह्मौदनताप है। परन्तु जो ताप भोग्यसीमा से पृथक् होकर ओषधि–वनस्पत्यादि के परिपाक में उपयुक्त हो जाता है, वही सूर्य्य का प्रवर्ग्य ताप माना गया है। धूप में पानी रख दीजिए, पानी गरम हो जायगा। सूर्य्य अस्त हो गया। किन्तु पानी अब भी गरम है। सूर्य्य इस पानी में अपना ताप छोड़ गए। रात हो गई है, किन्तु हवा गरम चल रही है। यही सूर्य्य के प्रवर्ग्यभूतों के उदाहरण हैं, जिनके माध्यम से प्राणात्मक–यज्ञिय–प्रवर्ग्यों का प्रज्ञा में समन्वय कर लेना चाहिए। प्रवर्ग्य का ही साङ्केतिक नाम 'घर्म्म' है। 'घर्म्म' शब्द ही निरुक्तपरम्पराओं में आकर–'घाम'–'घरम' बनता हुआ '**गरम**' बन गया है। सौरताप यच्च-यावत् सौर पदार्थों का उपलक्षण है। सम्पूर्ण सौर पदार्थ सूर्य्य से पृथक् होते रहते हैं। इसी को '**प्रजापति का विस्रंसन**' माना गया है। यदि सूर्य्य इस उच्छिष्ट का परित्याग नहीं करते, तो पार्थिव विश्वत्रयी, एवं प्रजा का निर्म्माण ही असम्भव हो जाता। इसी आधार पर–'**उच्छिष्टात्–जज्ञिरे सर्वम्**' यह नैगमिक सिद्धान्त स्थापित हुआ है।

१५८–छिन्नशीर्षरूप कबन्धशिव, और उनकी महाशक्ति छिन्नहस्ता भगवती का नैगमिक स्वरूप—

तथाकथित–उच्छिष्टरूप प्रवर्ग्य ही पूर्वश्रुत्यनुसार यज्ञ का मस्तक है। यह सृष्टिनिर्म्माणार्थ प्रवर्ग्यरूप से कट जाता है, कटता रहता है, अतएव तद्रूप घर्म्मयाग को '**छिन्नशीर्ष**' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। पार्थिव गणपति की प्राणप्रतिष्ठारूप, मूषक का प्राणात्मा बना रहने वाला, अश्मासोममय पार्थिव घनप्राण ही अपने व्यापार से उस सौरप्रवर्ग्य को सौरमण्डल से पृथक् करता है, जिस इस रहस्य के समन्वय के लिए तो पार्थिव–गायत्रीविद्या का ही अध्ययन करना चाहिए। सचमुच मूषक के द्वारा ही यज्ञविष्णु का मस्तक प्रवर्ग्य बन कर पार्थिव सर्ग का ब्रह्मौदन बनता है। प्रकृत में वक्तव्यांश केवल यही है कि, ब्रह्मौदन से स्वस्वरूप

का संरक्षण होता है, एवं प्रवर्ग्य से विश्व का आदानविसर्गात्मक यज्ञकर्म्म प्रक्रान्त रहता है। इस 'प्रवर्ग्य' को ही निगममूलक आगमशास्त्र **'कबन्ध पुरुष'** कहता है। एवं इस छिन्नशीर्षमूर्त्ति कबन्धशिव की महाशक्ति ही **'छिन्नमस्ता'** भगवती नाम से सुप्रसिद्ध हैं। छिन्नमस्ता बन कर ही यह शक्ति जहाँ संसार का निर्म्माण करती है, वहाँ इसी रूप से यही संसार का नाश भी कर डालती है। यज्ञमूर्त्ति सूर्य्य से समुत्पन्न सभी जड़--चेतन-पदार्थ अग्नीषोमात्मक बनते हुए 'यज्ञरूप' हैं। सभी में से विस्रंसन के सहजधर्म्मानुबन्ध से प्रवर्ग्य भाग विनिःसृत है। हम उसके प्रवर्ग्यांशों को अपना ब्रह्मौदन बना कर ही उपजीवित-सुरक्षित हैं। साथ ही हमारे प्रवर्ग्य भी उस में आहुत होते रहते हैं।

१५९-शिरःसन्धानात्मक-अन्नादानविसर्गात्मक-यज्ञ की सर्वव्यापकता—

सूर्य्यनारायण त्रैलोक्य को, एवं तत्रस्था जड़-चेतन प्रजा को प्रवर्ग्यान्न प्रदान करते रहते हैं। साथ ही आददानलक्षणा-आदित्यरूपा-रश्मियों से वे हमारे प्रवर्ग्य-रसों का शोषण भी करते रहते हैं। विसर्ग से जिस प्रकार उस प्रजापति का शरीर प्रतिक्षण विस्रस्त होता रहता है, एवमेव आदान से प्रतिक्षण उसका संधान भी होता रहता है। इसी सहजप्रक्रिया का नाम है-**'शिरःसंधान'**, और यही है प्रवर्ग्यभाग। जिसप्रकार मस्तक कट जाने से प्राणी निर्जीव हो जाता है, एवमेव बिना शिरःसंधानरूप प्रवर्ग्यभाग के यज्ञस्वरूप ही विनष्ट-यातयाम बन जाता है। अतएव ब्रह्मौदनवत् प्रवर्ग्यभाग को भी (जीवनहेतुत्त्वेन) हम यज्ञ का मस्तक कह सकते हैं। वह मुझे देता भी रहता है, तो साथ ही खाता भी रहता है। एवं उस मुझ खाने वाले उसको मैं भी तो खाता ही रहता हूँ। वस्तुमात्र में यह आदान-विसर्गात्मक-यज्ञकर्म्म जबतक प्रक्रान्त है, तभी तक वस्तु का स्वरूप-संरक्षण है। इसी अन्न-अन्नादात्मक यज्ञरहस्य का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि ने कहा है अपनी प्रचण्ड उदात्तभाषा में कि—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य, पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति, स इदेव मावत्, अहमन्नं-अन्नमदन्तमद्मि॥

—सामसंहिता पू० ६।३।

१६०-छिन्नशीर्षरूपा भगवती छिन्नमस्ता, एवं उसका आगमीय-ध्यानमन्त्र—

मैं छिन्नशीर्ष अवश्य हूँ। किन्तु अन्नागमनरूप शिरःसन्धानयज्ञ से स्वस्वरूप में भी नित्य प्रतिष्ठित हूँ। इसके साथ साथ ही यह भी यथार्थ है कि, शिरःसन्धानात्मक-अन्नागमनलक्षण-यज्ञ अवरुद्ध हो जाता है, तो उस दशा में वह शक्ति केवल **'छिन्नमस्ता'** ही रह जाती है, एवं तत्पुरुष केवल कबन्ध ही। और निश्चयेन उस अवसानकाल में वह छिन्नमस्ता शक्ति प्राणियों के रसों का सर्वात्मना शोषण कर उन्हें निःशेष ही प्रमाणित कर देती है। जो महामाया षोडशीरूप से विश्व का सर्ज्जन करती है, भुवनेश्वरीरूप से विश्व पालन करती है, वही अन्ततोगत्वा छिन्नशीर्षा बन कर विश्व का संहार कर डालती है। ध्यान-मन्त्रों क अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए। कबन्धशिव से अभिन्ना माता छिन्नमस्ता के इसी घोररूप का विश्लेषण उपलब्ध होगा तद्द्वारा आपको, जिस इत्थंभूत महामाङ्गलिक उपवर्णन की आराधना कर वित्त-लोकैषणा में आसक्त-व्यासक्त-मादृश प्राकृत मानव तो अपने भ्रान्ततम व्यक्तित्त्वविहीन कल्पित व्यक्तित्त्व के प्रति अवश्य ही उद्बोधन प्राप्त कर सकते हैं—

प्रत्यालीढपदां सदैव दधतीं छिन्नं शिरः-कर्त्रिकां-
दिग्वस्त्रां स्वकबन्धशोणितसुधाधारां पिबन्तीं मुदा ।।
नागाबद्धशिरोमणिं त्रिनयनां हृद्युत्पलालङ्कृतां-
रत्यासक्तमनोभवोपरि दृढां ध्यायेज्जपासन्निभाम् ।।१।।
दक्षे चातिसिता विमुक्तचिकुरा कर्त्रीं तथा खर्प्परं-
हस्ताभ्यां दधतीं रजोगुणभवां नाम्नापि सा वर्णिनी ।।
देव्याश्छिन्नकबन्धतः पतदसृग्धारां पिबन्ती मुदा-
नागाबद्धशिरोमणिर्मनुविदा ध्येया सदा सा सुरैः ।।२।।
(प्रत्यालीढपदा कबन्धविगलद्रक्तं पिबन्ती मुदा-
सैषा या प्रलये समस्तभुवनं भोक्तुं क्षमा तामसी ।।

* * * * *

शक्तिः सापि परात्परा भगवती नाम्ना पराडाकिनी ।।३।।)

—शाक्तप्रमोद, छिन्नमस्तातन्त्र

—५—

६–दक्षिणामूर्त्ति कालभैरव, और उनकी महाशक्ति भैरवी
(षष्ठी–महाविद्या)

१६१–महाप्रलय, तथा खण्डप्रलय का आपेक्षिक तारतम्य, एवं खण्डप्रलयाधिष्ठाता दक्षिणामूर्त्ति–कालभैरव—

कबन्धपुरुषानुगता परमशिवा माता छिन्नमस्ता का महाप्रलय (पार्थिव महाप्रलय) से सम्बन्ध है, जैसाकि तथोपवर्णित तद्ध्यानमन्त्रों से स्पष्ट है । दूसरा है नित्यप्रलय । 'सम्भूतिं च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं सह' के अनुसार सम्भूतिरूप निर्म्माण का नित्यसहचारी विनाशरूप ध्वंसभाव भी प्रत्येक पदार्थ में सतत प्रक्रान्त है, और इसी नित्यविनाश को वैज्ञानिकों नें–'नित्यप्रलय' कहा है, जिसका 'अहरहर्यज्ञविद्या' में स्वरूप-विश्लेषण हुआ है । सचमुच प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनष्ट भी होते रहते हैं, जो कि नाशकर्म्म रुद्रदेवता का धर्म्म माना गया है । रुद्र ही विनाशोन्मुख बन कर–'यम' कहलाने लगते हैं, जिस याम्य–रुद्राग्नि की प्रधानसत्ता दक्षिणदिशा में मानी गई है । अतएव यमराज दक्षिणदिशा के 'दिक्पाल' कहलाए हैं । दक्षिण में ऋताग्नि का प्राधान्य है, जबकि–उत्तर में ऋतसोम का प्राधान्य प्रकृतिसिद्ध है । सोम स्नेहतत्त्व है, अतएव संकोचधर्म्मा है । अग्नि तेजस्तत्त्व है, अतएव विकासधर्म्मा है । संकोचधर्म्म जहाँ वस्तुपरमाणुओं को सुसंघठित करता हुआ वस्तु का निर्म्मापक है, वहाँ विकासधर्म्म परमाणुसंघ को छिन्न–भिन्न करता हुआ वस्तु का विध्वंसक ही बनता

रहता है। और यही धर्म्म विकासधर्म्मावच्छिन्न दक्षिणाग्नि का माना गया है। अतएव ये याम्य रुद्र 'दक्षिणामूर्त्ति कालभैरव' नाम से ही व्यवहृत हुए हैं आगमशास्त्र में।

१६२-जगन्माता त्रिपुरभैरवी का माङ्गलिक संस्मरण—

इनकी नित्यसंहारिणी शक्ति का ही नाम **'भैरवी'** नाम की षष्ठी महाविद्या है, जोकि पार्थिव त्रैलोक्यानुबन्ध से-**'त्रिपुरभैरवी'** नाम से भी प्रसिद्ध है। **राजराजेश्वरी** जगन्माता भुवनेश्वरी (त्र्यम्बकशिवशक्ति) जिन तीनों पार्थिव भुवनों के पदार्थों की रक्षा करती रहती है अपने-**'उद्यद्दिनद्युतिमिन्दुकिरीटाम्'** लक्षण किरीटस्थ इन्द्र (सोम) के स्नेह–धर्म्म से, उन्हीं का दक्षिणामूर्ति कालभैरव की महाशक्ति त्रिपुरभैरवी के द्वारा स्वरूपोद्बोधन जैसे महामाङ्गलिक–विधान की पूर्त्ति के लिए प्रतिक्षण दक्षिणस्थ अग्निधर्म्म से विस्रंसनरूप विनाश भी होता रहता है। छिन्नमस्ता भगवती जहाँ पराडाकिनी थीं, वहाँ यह महामाया अवरा (क्षरात्मिका) डाकिनी हैं। इससे मादृश–स्वस्वरूपविमुग्ध-मानव तो प्रतिक्षण ही उद्बोधन–भिक्षा माँगते रहते हैं। अपने आपको सर्वात्मना मनसा तुष्ट ही अनुभूत करते रहते हैं इस महाशक्ति भैरवी के आराधक भाग्यशाली मानव-श्रेष्ठ उसके निम्नलिखित ध्यानमन्त्र की अनुगति से—

उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां-
रक्तालिप्तपयोधरां जपपटीं विद्यामभीतिं वरम्।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं-
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्दे समन्दस्मिताम्॥

—शाक्तप्रमोद–भैरवीतन्त्र

— ६ —

७–पुरुषशून्या, अतएव 'विधवा' नाम से प्रसिद्धा महाशक्ति धूमावती
(सप्तमी–महाविद्या)

१६३–निगमशास्त्रोपवर्णिता महाशक्ति निर्ऋति, एवं तच्छान्ति--स्वस्ति–भावप्रवर्त्तक निर्ऋतियज्ञ—

जैसाकि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है, सांसारिक तापप्रवर्त्तक पाँच प्राणदेवता प्रमुख हैं, जिनमें भी रुद्र–यम–वरुण–निर्ऋति–ये चार देवता प्रमुख हैं। तत्रापि **निर्ऋति** ही सर्वतः मुख्या है। विविध प्रकार के ज्वर, महामारी, उन्माद, आदि आदि अग्निसम्बन्धी (ताप–सन्ताप--सम्बन्धी) रोग रुद्रदेवता के द्वारा प्रवृत्त होते हैं। मूर्च्छा, मृत्यु, अङ्गभङ्ग, आदि आदि रोग यम के द्वारा प्रवृत्त होते हैं। ग्रन्थिशूल (गठिया), गृध्रसी, अर्द्धाङ्ग (लकवा), शोथ, जलोदर, आदि रोग वरुण की प्रसूतियाँ हैं। एवं इन यच्चयावत् सामान्य–विशेष रोगों से भी कहीं भयानक–घोरघोरतम शोक–कलह–दरिद्रता–आदि रोग निर्ऋति से प्रसूत माने गए हैं। जीर्णशीर्ण-कन्थाधारी दीनहीन भिक्षुक, क्षतविक्षत भूप्रदेश, प्रजननशक्तिशून्य भूप्रदेश, (ऊसरभूमि), भग्न–विनष्ट प्रासाद, बुभुक्षा, दिवाला, रुदन, वैधव्य, पुत्रसन्ताप, कलह, आदि आदि सभी भवावह सन्तापों की मूलाधिष्ठात्री शक्ति **'निर्ऋति'** ही मानी गई है, जैसाकि–**'घोरा वै निर्ऋतिः'** (शत० ७।२।१।१।) इत्यादि से स्पष्ट है।

मानवों के प्रज्ञापराधवश जब दुर्भाग्यवश राष्ट्र धर्म्मनिरपेक्ष बन जाता है, तद्दुष्परिणामस्वरूप त्रिपुर-सुन्दरी, षोडशी, आदि निर्म्मापिका शक्तियों के अनुग्रह से जब राष्ट्र वञ्चित हो जाता है, तो निश्चयेन ऐसे धर्म्म-शून्य-धर्म्मनिरपेक्ष-धर्म्मविप्लवात्मक अधर्म्मयुगों में 'निर्ऋति' का ही साम्राज्य हो जाया करता है। इस राष्ट्रीया घोरघोरतमा विपत्ति से राष्ट्र को तात्कालिकरूपेण मुक्त करने के लिए जो यज्ञप्रक्रिया यहाँ की ऋषिप्रज्ञा के द्वारा आविर्भूत हुई है, वही ब्राह्मणग्रन्थों में-'निर्ऋति-यज्ञ' (इष्टि)' नाम से प्रसिद्ध है।

१६४-वेदशास्त्र की निर्ऋतिरूपा आगमशास्त्र की महाशक्ति-सर्वोद्बोधनप्रदात्री वरदा-अभया माता धूमावती, एवं तन्नैदानिक ध्यानमन्त्र—

तथाविधा महामाया निर्ऋतिशक्ति का नाक्षत्रिक उक्थ (मूलस्थान) माना गया है वह **ज्येष्ठानक्षत्र**, जो विषप्राणमयी-दक्षिणस्था-वृश्चिकराशि से अनुप्राणित है। इस कलहप्रिया आसुरीशक्ति का नाक्षत्रिक-विनिर्गमन द्वार यही ज्येष्ठानक्षत्र है। अतएव फलादेशविज्ञाता गणकाचार्य्यों की ऐसी मान्यता है कि, जो सन्तति ज्येष्ठा (मूल) में उत्पन्न होती है, प्रायः वह दारिद्र्यादि कृच्छ्रों की ही अनुगामिनी बनी रहती है। अतएव '**ज्येष्ठाशान्ति**' विहित है मान्यतानुबन्धिनी शान्ति-स्वस्ति-कर्म्मपद्धतियों में। निगमशास्त्र की निर्ऋति, तन्मूला नाक्षत्रिकी ज्येष्ठा ही आगमशास्त्र में-'**धूमावती**' नाम से प्रसिद्ध हुई है। इसे उपक्रान्त कर मानव उत्तरोत्तर पतनोन्मुख ही बनता है। अतएव इसे-'**अवरोहिणी**' कहा गया है। यही माता निर्ऋति-ज्येष्ठा-अवरोहिणी-भगवती '**अलक्ष्मी**' नाम से भी प्रसिद्ध है निगमागमशास्त्र में। भयावहा आकृति, दन्तपंक्ति का बहुविवरयुक्त रहना, केशों की रूक्षता, आदि आदि श्रीविहीनभाव इसी घोरा निर्ऋति से सम्बन्ध रख रहे हैं। इसके इसी घोरभाव का ध्यान व्यवस्थित करते हुए आगमाचार्य्योंनें कहा है—

> **विवर्णा-चञ्चला-दुष्टा-दीर्घा च-मलिनाम्बरा ॥**
> **विमुक्तकुन्तला वै सा विधवा विरलद्विजा ॥ १ ॥**
> **काकध्वजरथारूढा विलम्बितपयोधरा ॥**
> **शूर्पहस्तातिरूक्षाक्षा धूतहस्ता वरानना ॥ २ ॥**
> **प्रवृद्धघोणा तु भृशं कुटिला कुटिलेक्षणा ॥**
> **क्षुत्पिपासार्द्दिता नित्यं भयदा कलहास्पदा ॥ ३ ॥**

—शाक्तप्रमोद, धूमावतीतन्त्र

१६५-देवशयन-कालानुगता धूमावती—

ध्यानमन्त्रों से ही निर्ऋति भगवती का नैदानिक-स्वरूप स्पष्ट हो रहा है। आप्य-वारुण-प्राण ही 'असुर' कहलाए हैं, एवं आग्नेय, तथा ऐन्द्रप्राण ही 'देव' नाम से प्रसिद्ध हैं। आषाढशुक्ल एकादशी से वर्षाकाल का उपक्रम मान लिया गया है वारुण-आसुर-मण्डल की प्रधानता की उपक्रान्ति से। एवं कार्त्तिक शुक्ल एकादशी को वारुणप्राणात्मक वर्षाकाल की उपसंहारबिन्दु मान लिया है पार्थिवमण्डल के आपःसमुद्र-सीमा से पृथक् हो जाने के कारण। क्योंकि आषाढी एकादशी से कार्त्तिकी एकादशी पर्य्यन्त इस चतुर्मासात्मक

वर्षाकाल में आप्य–वारुण–प्राणात्मक असुरों का ही साम्राज्य रहता है। अतएव चातुर्मास्य में पार्थिव आग्नेयप्राण, तथा सौर ऐन्द्रप्राण, दोनों हीं देवप्राण अन्तर्म्मुख बन जाते हैं। अतएव यह चातुर्मास्यकाल देवदेवताओं का सुषुप्तिकाल मान लिया गया है, जिसमें आत्मदेवभावानुगता 'संस्कृति' की उपासिका भारतीय सांस्कृतिक–प्रजा के देवप्राणप्रधान कोई भी कर्म्म (यज्ञोपवीत–विवाह–गृहप्रवेशादि) नहीं हुआ करते।

१६६–धूमावतीशक्ति की प्रतिद्वन्द्विनी कमलाशक्ति, एवं तन्निबन्धन कमलामहोत्सवा–त्मक–अग्निक्रीड़ात्मक–दीपावलीपर्व—

देवसुषुप्तिकालात्मक तथोपवर्णित चातुर्म्मास्य ही निर्ऋतिरूपा धूमावती का प्रधान क्रीड़ास्थल माना है ऋषिप्रज्ञाने। कार्तिककृष्ण–चतुर्द्दशी इसके साम्राज्य की अन्तिम तिथि मानी गई है। अतएव धर्म्माचार्य्योंनें इसे–'नरकचतुर्द्दशी' नाम से व्यवहृत किया है। इसी घोररात्रि में घोररूपा निर्ऋति भगवती का (अलक्ष्मी का) तो गमन होता है, एवं तत्क्षण से ही रोहिणीलक्षणा लक्ष्मी का उपक्रम हो जाता है, जिसकी पूर्वागमनदिशा, किंवा दशा तत्पूर्व की त्रयोदशी ही मानली गई है, जैसाकि इसके–**'धनत्रयोदशी'** नाम से ही व्यक्त है। कार्तिक–कृष्ण–अमावास्या कन्याराशिगत सूर्य्य से समन्विता है। कन्याराशिगत सूर्य्य स्वस्वरूप से अन्तर्म्मुख बना रहता हुआ ज्योतिषपरिभाषा में 'नीच' राशिगत सूर्य्य है। अवश्यमेव यह अमावास्या सौर–दिव्यप्राण के सहज विकास की प्रचण्डविरोधिनी है। रात्रि में तो सर्वथा ही सौरप्राण अभिभूत है। उधर अमावास्या के कारण चान्द्रज्योति से भी वञ्चिता है यह रात्रि। तथैव आषाढ–शुक्ल–एकादशी से उपक्रान्त, निरन्तर चार मास से प्रक्रान्त आप्यप्राण की प्रधानता से पार्थिव आग्नेय, सौर ऐन्द्रप्राण प्रकृत्या ही अन्तर्म्मुख (निर्बल–निस्तेजवत्) प्रमाणित हैं। यों इस अमातिथि को–**'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'** के अनुसार त्रिधा विभक्त पार्थिव **अग्नि**, सौर **इन्द्र**, चान्द्र **सोम**, तीनों ही ज्योतिर्भाव अन्तर्म्मुख प्रमाणित हो रहे हैं। अतएव **'पञ्चज्योतिरयं पुरुषः'** से ज्योतिरूप अन्न से ही देवसंस्कारसमन्वित रहने वाला भूतात्मा वर्षाऋतु में स्वच्छ–देवप्राणप्रधान–ज्योतिर्भाव के अवरोध से निर्बल–अशक्तवत् ही बना रहता है। अतएव वर्षाकाल में शक्तिसञ्चयार्थ शक्तिपुञ्जरूप भगवान् साम्बसदाशिव की आराधना का विशेष महत्त्व माना गया है। तदतिरिक्त भी अन्यान्य कई एक वैसे व्रत-पर्वानुष्ठान हैं, जिनके आचरण–आयोजन से इस ऋतु में शक्ति का संग्रह प्रक्रान्त रहता है, जिनमें रुद्राभिषेकमूलक–शतरुद्रियहोम, रुद्रपारायणादि आचारनिष्ठ ब्राह्मणवर्ग में सुप्रसिद्ध हैं। कार्त्तिक अमावास्या तिथि में इसी तमोभाव के निराकरण के लिए, ज्योतिःसंस्काराधान के लिए, साथ ही कमला के आगमनोपलक्ष्य में ऋषियों नें **वैधप्रकाशात्मिका–अग्निक्रीड़ा** का विधान किया है, जोकि अग्निक्रीड़ा–पर्व ही लोकभाषा में–**'दीपावलि'**–**'दीवाली'** **'दीपमालिका'** इत्यादि नामों से श्रुतोपश्रुत है, जिसका सम्भवतः अग्रिम पर्व–प्रकरण में स्वतन्त्ररूप से भी संस्मरण सम्भावित है।

१६७ माता धूमावती की 'वरानना' मुद्रा का नैदानिक-रहस्य—

प्रकृत में निवेदन यही करना है कि, रोहिणी नाम से प्रसिद्धा कमला–लक्ष्मी की प्रतिद्वन्द्विनी अव–रोहिणी नाम से प्रसिद्धा धूमावती–अलक्ष्मी ही निगमशास्त्र की वह निर्ऋतिशक्ति है, जिसकी उपासना से ही मानव लक्ष्मी का अनुग्रह प्राप्त कर सकता है, निश्चयेन कर लेता है। तभी तो इसके अन्यान्य भयावह

नैदानिकरूपों के उपवर्णन के साथ साथ तदुपासक आचार्य्यों नें इसे–'**वरानना**' कहा है। वह प्रवर्ग्यभाग ही तत्त्वदृष्ट्या निर्ऋति है, जो आत्यन्तिकरूप से प्रवर्ग्य ही बन जाता है, निःसत्त्व ही बन जाता है। पुनः जो किसी का भी ब्रह्मौदन बनने की स्थिति में नहीं रहता। जोकि 'जर्झरि' रूप निर्म्माणसीमा से पृथक् होकर विध्वंसक-उत्पीड़क ही बन जाता है। इस सीमापर्य्यन्त तो इस प्रवर्ग्यशक्ति का पञ्चमी महाशक्ति छिन्नमस्ता में अन्तर्भाव हो जाता है। किन्तु ब्रह्मौदनपरिणति के धर्म्म से एकान्ततः पृथक् होने की दशा में वही निःसत्त्व प्रवर्ग्य–'**निर्ऋति**' लक्षणा धूमावती–महामशक्तिरूप में परिणत हो जाता है। स्पष्ट है कि, जिस राष्ट्र के प्रवर्ग्यभाग निःसत्त्व बनते हुए ब्रह्मौदन बनने में असमर्थ बन जाते हैं, उस राष्ट्र में निश्चयेन दरिद्रा-धूमावती के अकाण्डताण्डव उपक्रान्त बन जाते हैं।

१६८–राष्ट्रीय प्रवर्ग्यभागों की उत्क्रान्ति से राष्ट्र के ब्रह्मौदन की महती क्षति, एवं राष्ट्रीय उर्वराशक्तियों की क्रमिक निःसत्त्वता, और तन्निबन्धन भारतराष्ट्र का भीषण-भविष्य—

बात थोड़ी अटपटी सी है, किन्तु है प्रासङ्गिक, और साथ ही में उद्बोधनसूत्रानुगता भी। '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' के परोक्ष–अलौकिक–प्राणात्मक–मर्म्म के साथ साथ ही यहाँ की अभ्युदयाकांक्षिणी प्रज्ञा ने प्रत्यक्ष–लौकिक–भौतिक कर्म्म को भी अपनी आचारनिष्ठाओं में सर्वात्मना समाविष्ट कर लिया था। '**त्यक्त से भोग करो**' का भौतिक समन्वय था–**राष्ट्र के जिन भूत–भौतिक परिग्रहों का शेषांश भोग–रूप ब्रह्मौदन से शेष रह जाय, उसे भी भोगसीमा से पृथक् मत होने दो**। क्योंकि यह प्रवर्ग्य ही तो परस्परादानविसर्गभावों से छिन्नशीर्षयज्ञ का पुनःसन्धाता बनता है, जैसाकि '**छिन्नमस्ता**' प्रकरण में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। पशु–पक्षी–मानवादि की हड्डियाँ, पश्वादि के गोमयादि सभी कुछ जबतक प्रवर्ग्यरूप से भारतराष्ट्र की भूमि के भोग बनते रहे, तबतक यहाँ की उर्वराशक्ति समृद्धा बनी रही। जिस दिन से राष्ट्र के ये प्रवर्ग्यभाग दुर्भाग्यवश विदेशों में पहुँचने, किंवा पहुँचाए जाने लगे यहीं के अर्थलिप्सु वणिग्बन्धुओं के द्वारा, उसी दिन से इस राष्ट्र की जीवनीया ब्रह्मौदनशक्ति को तद्विस्रस्तपूरक प्रवर्ग्य मिलना अवरुद्ध हो गया। यह भाषा आज सब के मुखविवरों से विनिर्गत है कि–'**आज किसी वस्तु में कण-(सत्त्व) नहीं रहा**'। क्यों ?, इसलिए ही सत्त्वरक्षक-अभिवर्द्धक–प्रवर्ग्यभागों की रक्षा से हमारा राष्ट्र विगत शताब्दी से [लगभग १४० वर्षों से] न केवल इस प्रवर्ग्यसम्पत्ति के उपयोग–उपभोग से तटस्थ ही रहा। अपितु इसी राष्ट्र के अर्थलोलुप-व्यवसायनिष्ठ वणिक्पुत्रोंनें राष्ट्र की सम्पूर्ण प्रवर्ग्य–सम्पत्ति कपर्दिकामात्र में [कौड़ियों के मोल] विदेशों के क्रव्यादाग्नि में आहुत कर राष्ट्र की जीवनीय शक्ति का ही अपहरण कर लिया। इन सब प्रवर्ग्यों में गोवृषभपशुओं के प्रवर्ग्य, अस्थिप्रवर्ग्य अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। ये सब प्रवर्ग्य इसी भूमि में निमज्जित होकर इसे जीवनीयरस से परिपुष्ट करते रहते थे। आज वही जीवनद्रव्य सर्वविनाशक ट्रकों-रेलयन्त्रों-जहाजों आदि लौहराक्षसों के द्वारा निरन्तर अजस्ररूप से पलायित किए जा रहे हैं। कहाँ से सत्त्व उपलब्ध हो आज के सत्त्वविहीन भूभाग से घुणाक्षरन्यायेन उत्पन्न भोग्यों में ? क्यों 'कण' नहीं रहा आज भोग्य पदार्थों में ?, प्रश्न के अन्यान्य कारणों में से यही प्रमुख कारण माना जायगा कि, हमने राष्ट्र की प्रवर्ग्यसम्पत्ति के प्रति अपने आपको विध्वंसक ही प्रमाणित कर लिया। विस्मृत ही कर दिया हमनें–'**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' का मर्म्म। और आज तो जिस निर्म्ममता से ये लौहराक्षस

[ट्रेक्टर] भूगर्भ को विदीर्ण करते जा रहे हैं विदेशों के अन्धानुकरण से, उनसे ५-१० वर्षों में ही भारतभूमि किस सीमापर्य्यन्त सर्वात्मना निःसत्त्व बन जायगी ?, प्रश्न के संस्मरणमात्र से भी हृत्कम्प हो पड़ता है ।

१६९-मौलिक तत्त्वों की अनभिज्ञता से राष्ट्रप्रज्ञा की अन्धानुकरणवृत्ति, एवं-तन्निग्रहेण राष्ट्र में धूमावती का प्राबल्य, और उसके 'वरानना' रूप से क्षमा-याञ्चापूर्वक-उद्बोधनभिक्षा की प्रार्थना--

जिस भारतराष्ट्र की पृथिवीमाता जीवनीयरसप्रदात्री गोमाता, तथा तत्सन्तति महावृषभों के जीवनरसों से सदा अपने पूषाप्राणप्रधान पुष्टिभाव को उत्तरोत्तर सुसमृद्ध बनाती रहती थी, वही माता धरित्री इस पशु-सम्पत्ति से वञ्चित होकर, इसके गोमयादि रसवर्गों से पृथक् होकर, तत्स्थान में क्षणमात्र के लिए गन्धर्व-लीलावत् प्रदीप्तवत् प्रतीयमान होने वाले-क्षारप्रधान-कल्पित खाद्यों (वर्त्तमान-विविध-खादों) से समन्वित होकर उत्तरोत्तर धूमावतीभाव में हीं परिणत होती जारही है । गोमय-गोमूत्र-के संस्पर्श से ही अपने भौतिकस्वरूप को पवित्र बनाने वाले भारतीय मानव ने आज इस राष्ट्रीय महान्बल की उपेक्षा कर मानो सर्वनाश का ही आमन्त्रण कर लिया है ।

सुनते हैं-बम्बई, और अब तो भारत की राजधानी देहली ने भी यह नियम बना लिया है कि, गाय से क्योंकि गन्दगी फैलती है, अतएव नगर में गोपशु रखना निषिद्ध । अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! गोचरभूमियों का अभाव, वनस्पतिवृक्षों के महान् विटामिन-भूतों का अनर्गल प्रचार, गोवंश का उत्तरोतर ह्रास, परिणामस्वरूप जीवनीय दुग्ध-घृतादि के दर्शनमात्र की भी दुर्लभता, पशुओं की कङ्कालावस्था, तत्परिणामस्वरूप ही प्रजा की सत्त्वहीनता, आदि आदि हमारे पापकर्म्मों की अजस्र-परम्परा नग्नरूप से आज राष्ट्रप्राङ्गण में ताण्डवनृत्य-माध्यम से सांस्कृतिक आयोजनों में हीं आत्मविस्मृत है । सर्वत्र समष्टि-व्यष्टिरूप से रूक्षता-हीनता-दीनता-पिशुनता-माङ्गलिक-स्वस्त्ययनाचारविहीनता-आशङ्का--भय--प्रतारणा-छल-मायाचार-आदि आदि उन भावों का प्राचुर्य्य, जिनकी प्रवृत्ति का उक्थ 'निर्ऋति' ही माना गया है । निश्चय ही वही धूमावती भगवती अपने आत्यन्तिक विकास पर पहुँचते ही राष्ट्र को उद्बोधन प्रदान करने का अनुग्रह करेंगी, यही इन महा-महिमामयीं-प्रचण्डशक्तिरूपा माता धूमावती से प्रणतभावेन अभ्यर्थना है ।

—७—

८-एकवक्त्ररुद्र और उनकी महाशक्ति बल्गामुखी
(अष्टमी-महाविद्या)

१७०-पारमेष्ठ्य-सुब्रह्मरूप अथर्वब्रह्म, एवं तदभिन्न-कृत्याप्रयोगाधारभूत अथर्वसूत्र—

प्राणियों के अग्नीषोमात्मक-पाञ्चभौतिक-शरीर का स्वरूपाविर्भाव भृगु, और अङ्गिरा के तपःकर्म्म से ही हुआ है, जैसाकि—'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तपध्वम्'-इत्यादि से स्पष्ट है । भार्गवप्राण, तथा आङ्गि-रसप्राण की समन्विताऽवस्था का नाम ही-'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्' के अनुसार 'आपः' रूप अथर्वतत्त्व है । भृग्वङ्गिरोमय अप्प्रधान यह अथर्वाप्राण ही सूत्रात्मा के रूप से प्राणिशरीरों का मूलोक्थ बनता हुआ प्राणिशरीर से अनुप्राणित होकर सगोत्र-सपिण्ड-सोदक-रूपेण बन्धुओं की सीमापर्य्यन्त महिमारूप से व्याप्त रहता है । प्राणात्मकत्त्वेन यद्यपि इसका भूतवत् प्रत्यक्षावलोकन सम्भव नहीं है । तथापि अमुक मानसिक-

संस्कारभावों से इसका स्पष्टरूपेण आभास होता रहता है। अत्यन्त विदूरस्थ–विदेशस्थ आत्मीय–परिजन–स्नेही के दुःख से तत्सम्बन्धी का मनस्तन्त्र सहसा उद्विग्न–खिन्न–सा बनता देखा गया है। जिस परोक्ष–प्राणसूत्र से विदूरस्थ भी दो परिजनों में यों कम्पन हो जाता है, वह अथर्वासूत्र के कारण मातापितृसम्बन्धी अमुक स्नायवीय शिराभावानुबन्धी रोग तत्सन्ततियों में सङ्क्रान्त हो जाते हैं। एक दूसरे के परिधान से, सहभाषण-सहगमन–सहशयन–सहभोजन–आदि से भी अथर्वासूत्रद्वारा परस्पर गुणदोषभावों का संक्रमण हो जाता है। इसी अथर्वा-सूत्रप्राणाकर्षण से विदूरस्थ प्राणी–परिजन का आगमीय-प्रकारमाध्यमों से सहजरूपेणैव आकर्षण सम्भव है।

१७१–अथर्वाङ्गिरा के 'घोराङ्गिरा' विभाग पर प्रतिष्ठित अभिचारप्रयोग—

श्वानपशु सहजरूपेणैव इस अथर्वाप्राण का उन्मुग्ध ज्ञाता माना गया है। जिस मार्ग से तस्कर (चौर) भागता है, पार्थिव मृद्भाग के साथ उसका अथर्वसंस्कार खचित हो जाता है। अपने घ्राणबल से तद्भूमिमार्ग-विशोधन के माध्यम से श्वान चौर के अन्वेषण में सफल हो जाता है, वस्त्र–नख–केश–लोम–आदि आदि में यह अथर्वाप्राण वासनारूपेण प्रतिष्ठित रहता है। इन वस्तुओं में से किसी एक को भी माध्यम बना कर तत्सम्बन्धी व्यक्ति के प्रति जारण–मारण–सम्मोहन–उच्चाटनादि यथेच्छ प्रयोग सम्भव माने हैं आगमाचार्य्यों नें। पुरा देवयुगात्मक वेदयुग में भौम–मनुष्यविध–देवता इसी अथर्वासूत्र के द्वारा यज्ञविनाशक असुरों पर 'कृत्याप्रयोग' किया करते थे। अथर्ववेदीय **घोराङ्गिरा**, तथा **अथर्वाङ्गिरा**, नामक सुप्रसिद्ध दोनों भेदों में से अथर्वाङ्गिरा–विवर्त्त में जहाँ मणि–मन्त्र–ओषधि–विज्ञान की प्रधानता है, वहाँ घोराङ्गिराविवर्त्त में कृत्यात्मक–**अभिचारप्रयोग ही** प्रधानरूपेण उपवर्णित हैं, जैसाकि–राजर्षि ने कहा है—

*** श्रुतिरथर्वाङ्गिरसी कुर्य्यादित्यविचारयन्।**
वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः॥

—मनुः ११।३३।

* जब ब्राह्मण उत्पीड़ित हो जाय आततायीवर्ग से, तो उसका रक्षक कौन ?, प्रश्न का सहज समाधान तो सत्तातन्त्र ही है। क्षात्रतेज ही आततायीवर्ग से ब्राह्मण के बाह्यस्वरूप की रक्षा किया करता है। किन्तु जब सत्तातन्त्र भी धर्म्मनिरपेक्ष बन कर इस वर्ग की रक्षा से न केवल तटस्थ ही बन जाय, अपितु मतवादाभि-निविष्ट बनकर ब्राह्मणसंस्कृति का विरोधी बन जाय, तो उस महाभयावहयुग में–'**कस्तत्र ब्राह्मणस्तात्र**'?, युधिष्ठिर के इस प्रश्न पर महात्मा भीष्म ने–'**विज्ञानबलमाश्रित्य०**' रूप जो समाधान किया है, राजर्षिमनु उसी का यहाँ स्पष्टीकरण कर रहे हैं। और कह रहे हैं कि—

न ब्राह्मणोऽवेदयेत किञ्चिद्राजनि धर्म्मवित्।
स्ववीर्य्येणैव ताञ्छिष्यान्मानवानपकारिणः॥
स्ववीर्य्यात्--राजवीर्य्याच्च स्ववीर्य्यं बलवत्तरम्।
तस्मात्स्वेनैव वीर्य्येण निगृह्णीयादरीन् द्विजः॥

—मनुः ११।३१,३२।

अथर्वाङ्गिरानुगत–कृत्यादि अभिचारकर्म्मों की ओर ही संकेत कर रहे हैं–राजर्षि, जिस संकेत को हम तो ब्राह्मण के 'मैत्रस्वरूप' की अपेक्षा से सर्वथा अपवादकोटि से ही समन्वित मानेंगे। प्राणात्यय जैसे अपवाद स्थलों को छोड़ कर कदापि ब्राह्मण को आथर्वणप्रयोगों का संस्मरण भी नहीं करना चाहिए।

निगमशास्त्र की यह अथर्वाप्राणशक्ति ही स्वयं निगम में जहाँ–'कृत्या-वल्गा' कहलाई है, वहाँ यही आगमशास्त्र में–'वल्गामुखी' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जो 'वल्गा' शब्द वर्णव्यत्यय के द्वारा आज आगम में–'बगलामुखी' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इस निगमनाम का समर्थन निम्नलिखित वचन से हो रहा है—

यदा वै कृत्यामुत्खिनन्ति, अथ सालसा, मोघा भवति। तथो एवैष एतद्यस्मा (स्मै) अत्र कश्चित्--द्विषन्--भ्रातृव्यः--कृत्यां--'वल्गां' निखनति, तानेवैतदुत्किरति।

—शत० ३।५।४।३।

१७२--माता वल्गामुखीरूपा बगलामुखी का नैदानिक ध्यानमन्त्र—

जिसप्रकार निरुक्तक्रमानुसार 'हिंस' शब्द वर्णव्यत्यय के द्वारा–'सिंह' शब्दरूप में परिणत हो जाता है, लोकभाषा में 'मतलब'–'मतबल' भी बनता सुना गया है, एवमेव निगमोक्त 'वल्गा' शब्द आगम में 'बगला' रूप में परिणत हो गया है। निम्नलिखित ध्यानमन्त्र से सभी सांस्कृतिक–शत्रुओं को सदा ही सावधान बने रहना चाहिए—

जिह्वाग्रमादाय करेण कर्त्रीं वामेन शत्रून् परिपीडयन्तीम्।
गदाभिघातेन च दक्षिणेन पीताम्बराढ्यां द्विभुजां नमामि॥

—शाक्तप्रमोद, बगलामुखीतन्त्र

—८—

९–मतङ्गशिव, और उनकी महाशक्ति मातङ्गी (नवमी–महाविद्या)

१७३–तमोमय पार्थिव दितिभाग, तदनुबन्धी दिग्गण, तदनुप्राणित दिङ्नाग, और मतङ्ग दिग्गजों से समन्वित पार्थिव मतङ्गपुरुष, एवं तच्छक्ति मातङ्गी भगवती–

स्वयम्भू से उपक्रान्त महाविद्यातत्त्व पार्थिव अदितिभाग पर उपसंहृत हुआ, एवं इसी के विविध आठ विवर्त्तों का अबतक क्रमिक यशोवर्णन हुआ। अब केवल पृथिवी का वह तमोमय दितिभाग शेष रह जाता है, जो सौरसम्वत्सरमण्डल से ठीक विरुद्ध भाग में अवस्थित माना गया है। सौर–अदिति–तेज से पृथक्-भूत–पार्थिव–दितिरूप कृष्णभाग भी वह 'दिग्'भाग है, जिसे, **'नाग'**, किंवा **'नागलोक'** माना है पुराणशास्त्र ने, एवं तमसाभिभूत जिस नागलोक के अतल–सुतल–रसातल–तलातल–पातालादि सात अवान्तर विवर्त्त माने गए हैं। दिक्गान्तदृष्ट्या ये ही नाग 'अष्टविध' हैं, जो **'अष्टदिङ्नाग'** नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं जो 'दिग्गज' नाम से पुराणों में यत्रतत्र उपवर्णित हैं। तमोमयी दितिपृथिवी के दिगनुगत-तमोमय–सर्पणशील–वायव्य प्राण हीं 'नाग' हैं, ये ही दिग्गज हैं, जिन एमूषवराहात्मक इन दिग्गज–नागों से ही धरा का पिण्डभाव सुरक्षित है। नागों के विकम्पन से ही धरा विकम्पित हो जाती है, जो भूकम्प 'वायव्यभूकम्प' नाम से प्रसिद्ध है। यही 'मातङ्ग', किंवा मतङ्गभाव है, जिसकी तमोमयी–पार्थिवी–वायव्या–शक्ति ही–**'मातङ्गी'** नाम से प्रसिद्ध हुई है।

१७४–मतङ्गपुरुषानुगता मातङ्गी भगवती का नैदानिक ध्यानमन्त्र—

वर्णावर्णसृष्टि–विज्ञानानुसार भूपिण्ड के सूर्य्याभिमुख–प्रकाशित–पूषाप्राणात्मक भौमप्राण से जहाँ सच्छूद्रसृष्टि होती है, वहाँ सूर्यविरुद्धदिगनुगता–दितिपृथिवी का भूभात्मक तमोभाग ही अवर्णात्मक–शूद्रसर्ग का प्रवर्तक बनता है, जिसे–'श्वपच' कहा गया है। मतङ्गसम्बन्ध से ही यह श्वपच 'मतङ्ग' कहलाया है, एवं तत्पत्नी मातङ्गी कहलाई है। इस मतङ्ग–मातङ्गी–दाम्पत्यरूपा अवर्णसृष्टि का प्रवर्तक शिवशक्तियुग्म ही–'मतङ्गशिवानुगत–मातङ्गी' युग्म है। इस नवमी महाविद्या के तत्त्वद्रष्टा, उपासक ऋषि ही आगम–सम्प्रदाय में–*'मतङ्ग' किंवा 'मातङ्ग' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। निवेदन–निष्कर्ष यही है कि–मतङ्गवर्ण (श्वपचरूप अवर्णात्मक वर्ण) की मूलाधिष्ठात्री वह महाशक्ति ही 'मातङ्गी' है, जिसका निशाचर–तमोभावात्मक–असुर–प्राणों से समन्विता दितिपृथिवी ही आवासस्थान है, जैसाकि तद्ध्यानमन्त्रों से स्पष्ट है—

श्यामां शुभ्रांशुमालां त्रिनयनकमलां रत्नसिंहासनस्थां—
भक्ताभीष्टप्रदात्रीं सुरनिकरकरासेव्यकञ्जाङ्घ्रियुग्माम् ॥
नीलाम्भोजांशुकान्ति निशिचरनिकरारण्यदावाग्निरूपां—
पाशं खड्गं चतुर्भिर्वरकमलकरैः खेटकञ्चाङ्कुशञ्च—
मातङ्गीमावहन्तीमभिमतफलदां मोदिनीं चिन्तयामि ॥१॥
ततो देवीं परां ध्यायेत् साधकः स्थिरमानसः ॥
श्यामाङ्गीं शशिशेखरां त्रिनयनां रत्नसिंहासनस्थिताम् ॥२॥
अथ वक्ष्ये महादेवीं मातङ्गीं सर्वसिद्धिदाम् ॥
अस्योपासनमात्रेण वाक्सिद्धिं लभते ध्रुवम् ॥३॥
—कामेश्वरतन्त्रे

—९—

१०–सदाशिवपुरुष, और उनकी महाशक्ति कमला
(दशमी–महाविद्या)

१७५–धूमावती की प्रतिद्वन्द्विनी महाशक्ति कमला के नैदानिक ध्यानमन्त्र का महा–माङ्गलिक–संस्मरण—

आगे के 'दीपावली' नामक राष्ट्रीय पर्व में इस दशमी महाविद्या का यशोगान सम्भावित है स्वतन्त्र–प्रकरणरूपेण। अतएव प्रकृत में तत्सम्बन्ध में प्रसङ्ग–समन्वयदृष्ट्या यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि,

* सम्भवतः मतङ्गोपासक, अतएव 'मतङ्ग' नाम से ही प्रसिद्ध किसी मुनि को लक्ष्य बना कर ही कवि की–'मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्त्वम्' (रघुवंशः ५।५३।) यह सूक्ति व्यवस्थित हुई है।

पूर्वोपवर्णिता सप्तमी महाविद्या धूमावती भगवती में, तथा इस दशमी महाविद्या कमला भगवती में प्रचण्ड–प्रतिस्पर्द्धा प्रक्रान्त रहती है। वह ज्येष्ठा थी, यह कनिष्ठा है। वह अवरोहिणी थी, यह आरोहिणी, किंवा रोहिणी है। वह दरिद्रा थी, यह सम्पन्ना लक्ष्मी है। रोहणीनक्षत्र से ठीक षड्भान्तर पर [१८० अंश पर] अवरोहिणी–ज्येष्ठा है। जिसका रोहिणी में जन्म होता है, वह समृद्धिभावानुगत बना रहता है। भूतसमृद्धिमूला सदाशिवरूप-विष्णु की अर्द्धाङ्गिनी इसी कमला के निम्नलिखित ध्यान से हम अपने भूतगजत् को समृद्ध्योन्मुख बनाते आ रहे हैं—

कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै–
हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम्।
बिभ्राणां–वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलां–
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बवलितां वन्देरविन्दस्थिताम्॥
—शाक्तप्रमोद, कमलातन्त्र

१७६–दश–महाशक्तिरूपा दशमहाविद्याओं का समष्ट्यात्मक नामसंस्मरण—

तथोपवर्णित–उपस्तुत दशमहाविद्याओं का हम स्वयम्भू- परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-अदितिपृथिवी-दिति–पृथिवी–रूप से ६ विश्वपर्वों के साथ भी समन्वय मान सकते हैं। स्वयम्भूप्रधान परमेष्ठीयुग्म का **महाकाली**[१] से सम्बन्ध माना जायगा। परमेष्ठीप्रधान बीजात्मक सूर्य्य का उग्रतारात्मिका **'तारा'**[२] से सम्बन्ध माना जायगा। यज्ञात्मक व्यक्तसूर्य्य के साथ **'षोडशी'**[३] का सम्बन्ध माना जायगा। सौरत्रिलोकीरूप सौरब्रह्माण्ड के साथ **'भुवनेश्वरी'**[४] का सम्बन्ध माना जायगा। सौर–प्रवर्ग्यरूप प्रवृक्त–सूर्य्य के साथ **'छिन्नमस्ता'**[५] का सम्बन्ध माना जायगा। नित्यप्रवर्ग्यरूप त्रैलोक्यगर्भित–व्यष्ट्यात्मक–पार्थिव–भूतों के साथ–**'भैरवी'**[६] का सम्बन्ध माना जायगा। यज्ञसम्बन्ध से वञ्चित पार्थिवाग्नि के साथ **'धूमावती'**[७] का सम्बन्ध माना जायगा। पार्थिवप्रतिष्ठारूप घोराङ्गिरा के साथ **'वल्गामुखी'**[८], (**किंवा बगलामुखी**) का सम्बन्ध माना जायगा। सूर्य्यविरुद्धदिगनुगता तमोमयी दिति–पृथिवी के साथ **'मातङ्गी'**[९] का सम्बन्ध माना जायगा। एवं दिति–अदिति-समष्टिरूपा–पुष्करपर्णरूपा पद्मात्मिका पृथिवी के साथ **'कमला'**[१०] का सम्बन्ध माना जायगा।

१७७-दशमहाविद्याओं का महासरस्वती–महालक्ष्मी–महाकाली–नामक सुप्रसिद्ध तीन महिमाभावों में अन्तर्भाव,–एवं तत्र निगमदृष्टि—

प्रकारान्तरेण इन दसों महाविद्याओं का सत्त्व–रज–स्तमो–गुणानुबन्ध से **महासरस्वती–महालक्ष्मी–महाकाली** के भेद से तीन शक्तिविद्याओं में भी अन्तर्भाव माना जा सकेगा, जिनका चिरन्तनेतिवृत्त अग्रिम प्रकरण में सम्भावित है विभिन्न दृष्टिकोणों से। तमोगुणप्रधाना महाकाली कृष्णवर्णा है, यही प्रलयकाल है।

रजोगुणप्रधाना महालक्ष्मी रक्तवर्णा है, यही सृष्टिकाल है। एवं सत्त्वगुणप्रधाना महासरस्वती * श्वेतवर्णा है, यही मुक्तिकाल है। उस अज-अव्यय-पुरुष की महदक्षररूपा अजा प्रकृति ही यों गुणत्रयभेद से तीन धाराओं में परिणत होती हुई प्रलय-सृष्टि-मुक्ति-की अधिष्ठात्री बनी हुई है। आगमवर्णिता दशमहाविद्या-समन्विता इसी शक्तित्रयी का दिग्दर्शन कराता हुआ निगमशास्त्र कहता है—

१७८-दशमहाविद्यात्मिका महाशक्ति महामाया भगवती का 'रात्रि' रूप से संस्मरण, एवं 'दशमहाविद्या' शब्द के चिरन्तेनतिवृत्त का विश्राम—

विश्वानुबन्धिनी-शत-सहस्र-आदि भेदभिन्ना असंख्या सृष्टिविद्याओं की अपेक्षा से यद्यपि पूर्वोक्ता आगमविद्याओं को '**महाविद्या**' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन रहा है। तथापि इन दसों सृष्टिविद्याओं में भी परस्पर आपेक्षिक सामान्य-विशेषभाव समन्वित माना जायगा। अतएव इनमें कोई '**महाविद्या**' है, तो अपरा '**सिद्धविद्या**' कहलाई है। अपरा '**श्रीविद्या**' है, तो अन्या केवल '**विद्या**' ही कहलाई है। यह संस्मरणीय है कि, शक्ति का मूलस्रोत आपोमय वह परमेष्ठी ही है, जिसे हमने स्वयम्भू-निगम से आगत अपौरुषेय-आगाम कहा है। पारमेष्ठ्य आपोमय सरस्वान्समुद्र ही वह '**महारात्रि**' है, जिस के गर्भ में बीजात्मक सूर्य्यनारायण प्रतिष्ठित हैं। इस 'रात्रि' के सम्बन्ध से ही महाविद्या-तत्व '**रात्रि**' नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है।

दूसरी दृष्टि से भी रात्रिभाव का समन्वय किया जा सकता है। अग्निप्रधान अहः-पुरुष है, तो सोमप्रधाना रात्रि स्त्री है। पुरुष शिव है, तो स्त्री शक्ति है। अतएव पारमेष्ठ्य-महारात्रिमूला-महाशक्ति-रूपा दसों महाविद्याएँ-**महारात्रि-कालरात्रि-मोहरात्रि-दारुणरात्रि**-रूपेण '**रात्रि**' भाव से ही उप-वर्णिता हैं आगमशास्त्र में। अतएव च आगमशास्त्रनें शक्त्युपासना के लिए रात्रिकाल ही अनुरूप माना है ×। तभी तो तदुपासनाकाल-'**नवरात्र**' नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि प्रकरणारम्भ में हीं निवेदन किया

***-शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीं—**
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम्।
हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थितां—
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम्॥
अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाम्।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।५।

×-रात्रियोगेन कर्त्तव्यं सदा पूर्णश्च साधकः।
एवं प्रयोगमात्रेण कविता जायते ध्रुवम्॥

जा चुका है, इन निगमागमीयतत्त्वों के सम्बन्ध में तो एकमात्र साक्षात्कर्त्ता ऋषि ही प्रमाण हैं। असम्भवतम है मादृश जड़–प्राकृत–यथाजात–मानवों के लिए इस दशा में अंशतः भी बोध प्राप्त कर लेना। एकमात्र '**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति**' इस महान् आश्वासन के अवलम्ब पर उसका स्मरण–मात्राधिकार मिल जाय, क्या यही कम है। सर्वान्त में परिलेख माध्ययेन समष्टिरूपेण उस दशमहाविद्यात्मिका–आगमीया–सृष्टिविद्यारूपिणी–पराम्बा का संस्मरण करते हुए ही यह आगममूलक ÷ दशमहाविद्या–संस्मरणात्मक पावन प्रकरण उपरत हो रहा है।

—१०—

÷आगमशास्त्र की '**दशमहाविद्या**' ही निगमशास्त्र की वह '**विराड्विद्या**' है, जिसका स्वयम्भू से आरम्भ कर पृथिवी पर विश्राम हो रहा है, जैसा कि पूर्व में यत्रतत्र अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। दोनों दशमहाविद्याओं में अन्तर केवल यही है कि, निगमशास्त्र निगमरूप स्वयम्भू ब्रह्म को प्रधान मान कर जहाँ '**अहः**' रूप से दसों सृष्टिविद्याओं का निरूपण करता है, वहाँ आगमशास्त्र आगमरूप सौम्य परमेष्ठी को प्रधान मान कर 'रात्रि' रूप से दसों सृष्टिविद्याओं का स्वरूपविश्लेषण करता है। ब्रह्मस्वयम्भू '**पुण्याह–काल**' है, सुब्रह्म परमेष्ठी '**पुण्यरात्रिकाल**' है। पुण्याहकालात्मक स्वायम्भुव अहः भी दशावयव है, पुण्यरात्रि–कालात्मक पारमेष्ठ्या–रात्रि भी दशावया है। यों स्वायम्भुवी अहरनुगामिनी विश्वविद्या '**दशाहविद्या**' प्रमाणित हो रही है, तो पारमेष्ठिनी रात्र्यनुगामिनी विश्वविद्या '**दशरात्रिविद्या**' प्रमाणित हो रही है। स्वयं निगमशास्त्र में भी रात्रिसत्ररूप से परोक्षविधि से दशरात्रिविद्यामूलक रात्रिसत्रों का यत्रतत्र स्वरूपविश्लेषण हुआ है। और यों दशावयवा दोनों विश्वविद्याओं का परमार्थतः '**एकवस्तुतत्त्वभावत्त्व**' ही प्रमाणित हो रहा है। निगमशास्त्र की दशावयवा विराड्विद्या ही स्वयम्भू–मूला '**सर्वहुतयज्ञविद्या**' कहलाई है, जिसके दशपर्व क्रमशः **प्रथममहः**, **द्वितीयमहः**, **तृतीयमहः**, **चतुर्थमहः**, **पञ्चममहः**, **षष्ठमहः**, **सप्तममहः**, **अष्टममहः** **नवममहः**, विश्वजित्–सर्वपृष्ठ–अतिरात्र नामक **दशममहः**, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। '**ब्रह्म वै स्वयम्भु–तपोऽतप्यत**' इस प्रथम कण्डिका से आरम्भ कर–'**सर्वपृष्ठोऽतिरात्रः–सर्वं सर्वमेवः–सर्वस्याप्त्यै, सर्वस्यावरुद्धयै**' इस १२ वीं कण्डिकापर्य्यन्त शतपथब्राह्मण के १३ वें काण्ड के–७ वें अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में इसी दशाहयज्ञात्मक सर्वहुतयज्ञ का स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिसका विश्वकर्म्मा-भौवन से सम्बन्ध माना गया है।

विराट्संख्या	क्रमसंख्या	शक्तिनामानि	नामान्तराणि	रात्रिभावाः	विद्याभावाः	शिवभावाः
०	१	महाकाली	आद्या	महारात्रिः	महाविद्या	महाकालपुरुषः
१	२	तारा	उग्रतारा	क्रोधरात्रिः	श्रीविद्या	अक्षोभ्यपुरुष-
२	३	षोडशी	त्रिपुरसुन्दरी	दिव्यरात्रिः	सिद्धविद्या	पञ्चवक्त्रशिवः
३	४	भुवनेश्वरी	राजराजेश्वरी	सिद्धरात्रिः	सिद्धविद्या	त्र्यम्बकशिवः
४	५	छिन्नमस्ता	कबन्धा	वीररात्रिः	विद्या	कबन्धशिवः
५	६	भैरवी	त्रिपुरभैरवी	कालरात्रिः	सिद्धविद्या	दक्षिणामूर्त्तिः—कालभैरवः
६	७	धूमावती	अलक्ष्मी	दारुणरात्रिः	विद्या	केवला शक्तिरेव
७	८	वल्गामुखी	बगलामुखी	कृत्यारात्रिः	सिद्धविद्या	एकवक्त्रो महारुद्रः
८	९	मातङ्गी	श्यामा	विमोहनरात्रिः	विद्या	मतङ्गशिवः
९	१०	कमला	लक्ष्मी	मोहरात्रिः	विद्या	सदाशिवो विष्णुः

अत्र–'दशमहाविद्या'–शब्दस्य चिरन्तनेतिवृत्तमुपरतम्

——३——

विजयदशमीपर्व का संक्षिप्त इतिवृत

——४——

१७९–'नवरात्र' शब्द, और 'नवो नवो भवति जायमानः' मन्त्र—

दशमहाविद्या के पावन संस्मरण–प्रसङ्ग से ही उस **'नवरात्र'** प्रसङ्ग का समागम हो पड़ा है, जिसे हम लक्षीभूत **'विजयदशमीपर्व'** का पूरक ही कहेंगे। अतएव दो शब्दों में **'नवरात्र'** शब्द का भी अक्षरार्थ–समन्वय तो प्रासङ्गिक बन ही जाता है। **'नव'**–और–**'रात्र'** इन दोनों शब्दों के समन्वय से–**'नवरात्र'** शब्द आविर्भूत है। कौन है यह **'नव'** भाव, एवं क्या स्वरूप है **'रात्र'** का ?, प्रश्न के समाधान का अन्वेषण कीजिए सर्वप्रथम निगमानुबन्ध से। तदनन्तर ही इसका आगमानुबन्धी समाधान गतार्थ बन सकेगा। नैगमिक समाधानान्वेषण की सफलता के लिए सुप्रसिद्ध इस निगमवचन की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है—

नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥

—ऋग्वेदसंहिता १०।८५।१९।

१८०–सूर्य्य–चन्द्र युग्म से त्रैलोक्य–प्रजा की सर्गप्रवृत्ति—

"कलावृद्धिक्षय–भावों से प्रतिदिन नवीन–नवीन रूप से उत्पन्न (प्रतीयमान) चन्द्रदेव सौर–पार्थिव ऐन्द्र–आग्नेय–प्राणदेवताओं के लिए यथाभाग सोमाहुति व्यवस्थित करते हुए प्रजावर्ग (मानव) को शतायुर्भाव प्रदान करते रहते हैं" यही मन्त्राक्षरार्थनिष्कर्ष है। प्रतिदिन नवीन–नवीन कलावृद्धि, तथा कलाक्षयभाव जहाँ **'नवो नवो भवति जायमानः'** का एक समन्वय है, वहाँ 'नव' शब्द नौ संख्या की ओर भी सङ्केत कर रहा है। कैसे ?, अन्वेषण कीजिए उस ज्योतिश्चक्रात्मक खगोल का, जिसमें सत्याग्निमूर्त्ति सूर्य्य, तथा सत्यसोममूर्ति चन्द्रमा, दोनों–**'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वकल्पयत्'** रूपेण यथानुपूर्वी से–(व्यवस्थापूर्वक–यथाक्रम) त्रैलोक्यप्रजा का सर्ज्जन कर रहे हैं।

१८१–सम्वत्सरचक्र की ७२० इष्टकाचितियाँ, और तच्चिति से सम्वत्सर के स्वरूप की निष्पत्ति—

खगोल से अभिप्राय यहाँ दीर्घवृत्तात्मक–त्रिकेन्द्ररूप–अण्डवृत्तलक्षण उस सम्वत्सर का है, जिसमें ७२० इष्टकाचितियाँ समाविष्ट हैं। जिसप्रकार अनेक ईंटों के चयन (चिति–चेजे) से एक प्रासाद का निर्म्माण होता है, एवमेव ७२० इष्टकाओं (ईंटों) की चिति से सम्वत्सररूप त्रैलोक्यभवन निर्म्मित हुआ है, जिनमें ३६० तो सोमगर्भित–अग्निप्रधान इष्टका हैं, एवं ३६० अग्निगर्भित सोमप्रधान इष्टका हैं। सौरी

आग्नेयी ३६० इष्टकाओं का ही नाम 'अहः' है, चान्द्री सौम्या ३६० इष्टकाओं का ही नाम 'रात्रि' है। एक एक अहः वक्रित, उस पर एक एक रात्रि ऋजुरूप से। ऋजु-वक्रात्मिका इन-ईंटों की चिति से ही सम्वत्सर का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। दो-दो ईंटें मिलकर एक एक 'चिति' का स्वरूप-सम्पन्न होता है। फलतः ७२० इष्टकाओं की ३६० हीं चितियाँ शेष रह जातीं हैं। एक सम्वत्सर में ३६० ही तो अहोरात्रयुग्म मानें गए हैं सावनमानानुसार। इन्हीं इष्टकाचितियों के अनुरोध से सम्वत्सरवृत्त में ३६० अंश मान लिए गए हैं। और यों वृत्तमात्र इसी चितिधर्म्म से ३६० अंशात्मक ही बनें रहते हैं, फिर भले ही वह सर्षपाकार जितना हीं वृत्त क्यों न हो। अणोरणीयान्, तथा महतोमहीयान्, प्रत्येक वृत्त में अहोरात्ररूपा-अग्निसोममयी ३६० चितियाँ समन्वित रहतीं हैं।

१८२-दक्षवृत्तानुगामी-नव-नव-रूपेण जायमान-सौम्य-चन्द्रमा के साथ अनुप्राणित सम्वत्सरचक्र के त्रिनाड़ी-नववीथी-त्रिमार्गात्मक भचक्र का स्वरूप-समन्वय—

विचार इन ३६० इष्टकाओं का हमें नक्षत्राधिपति-निशानाथ-उडुपति-सोममय चन्द्रमा की दृष्टि से करना है। क्योंकि नवसंख्यासूचक 'नव' भाव का चन्द्रमा से ही सम्बन्ध है। ग्रह-नक्षत्रादि समन्वित-क्रान्तिवृत्तीय-सम्वत्सरचक्र में २७ नक्षत्रों की प्रधानता है। इन २७ नक्षत्रों के साथ ही मेष-वृष-मिथुनादि १२ राशियों का समन्वय हो रहा है, जिसे फलिताचार्य्य-**'राशिभोग'** कहा करते हैं। इन २७ नक्षत्रों, १२ राशियों के प्राकृतिक संस्थानक्रम से ज्योतिश्चक्रात्मक-सम्वत्सर में तीन नाड़ीमार्ग, तदनुबन्धी तीन राजमार्ग, प्रत्येक नाड़ी में तीन तीन वीथियाँ (गलियाँ) व्यवस्थित हैं। नाड़ित्रयी-**आदि, मध्य-अन्त्य-नाड़ी**-नामों प्रसिद्ध है। राजमार्गत्रयी **ऐरावतमार्ग-जरद्गवमार्ग-वैश्वानरमार्ग**-नाम से प्रसिद्ध हैं। एवं वीथियाँ विभिन्न नामों से प्रसिद्ध हैं, जैसाकि नाड़ीपरिलेख से स्पष्ट हो जायगा। प्रत्येक वीथी में ३-३ नक्षत्र समाविष्ट हैं। तीन तीन नक्षत्रों से कृतरूपा तीन तीन वीथियों की समष्टि से एक एक राजमार्ग का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। एवं तीनों राजमार्गों में (प्रत्येक में) चार-चार राशियाँ स्व स्व-चरणों के अतिमानसम्बन्ध से अन्तर्भुक्त हैं। और यों तीन-तीन-नाड़ी, ६-६- नक्षत्र, तथा १-१-राजमार्गरूप से सम्वत्सरचक्र के तीन खण्ड हो जाते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

नाडी	राशयः				वीथी		मार्गः
१ आदिनाडी		१–अश्विनी	२–भरणी	३–कृत्तिका	नागवीथी	[१]	१ ऐरावतमार्गः
		२–आर्द्रा	२–मृगशिरा	१–रोहिणी	गजवीथी	[२]	
	४ राशयः अत्रभुक्ताः	३–पुनर्वसु	३–पुष्य	३–अश्लेषा	ऐरावतवीथी	[३]	
२ मध्यनाडी		३–उत्तरफल्गुनी	२–पूर्वफल्गुनी	१–मघा	आर्षभीवीथी	[१]	२ जरद्गवमार्गः
		१–हस्त	२–चित्रा	३–स्वाती	गोवीथी	[२]	
	४ राशयः अत्रभुक्ताः	३–ज्येष्ठा	२–अनुराधा	१–विशाखा	जारद्गवीवीथी	[३]	
३ अन्त्यनाडी		१–मूल	२–पूर्वाषाढ	३–उत्तराषाढ	अजवीथी	[१]	३ वैश्वानरमार्गः
		३–शतभिषक्	२–धनिष्ठा	१–श्रवण	मृगवीथी	[२]	
	४ राशयः अत्रभुक्ताः	१–पूर्वभाद्रपद	२–उत्तरभाद्रपद	३–रेवती	वैश्वानरवीथी	[३]	

अयमत्र–आर्य्यसर्वस्वानुगतः (पुराणानुगतः)–संगूहः—

वीथ्याश्रयाणि चरति नक्षत्राणि निशाकरः ॥
त्रिचक्रोभयतोऽश्वश्च विज्ञेयस्तस्य वै रथः ॥१॥
शतारैश्च त्रिभिश्चक्रैर्युक्तः शुक्लैर्हयोत्तमैः ॥
दशभिस्त्वकृशैर्दिव्यैरसङ्गैस्तैर्मनोजवैः ॥२॥
रथेनानेन देवैश्च पितृभिश्चैव गच्छति ॥
सोमो ह्यम्बुमयैर्गोभि शुक्लैः शुक्लगभस्तिमान् ॥३॥
क्रमते शुक्लपक्षादौ भास्करात्परमास्थितः ॥
देवैः पीतं क्षये सोममाप्याययति नित्यशः ॥४॥
पीतं पञ्चदशाहं तु रश्मिनैकेन भास्वरः ॥
आपूरयन् सुषुम्णेन भागं भागमनुक्रमात् ॥५॥
इत्येषा सूर्यवीर्य्येण चन्द्रस्याप्यायिता तनूः ॥
स पौर्णमास्यां दृश्येत शुक्लः सम्पूर्णमण्डलः ॥६॥

—लिङ्गपुराण ५६ अध्याय

अन्यच-"सर्वग्रहाणां त्रीण्येव स्थानानि द्विजसत्तम !
स्थानं जरद्गवं मध्ये, तथैरावतमुत्तरम्
वैश्वानरं दक्षिणतो निर्दिष्टमिह तत्त्वतः ॥"
"अश्विनी–कृत्तिका–याम्या–'नागवीथी' ति शब्दिता ॥
रोहि–एयार्द्रा-मृगशिरो–'गजवीथी' त्यभिधीयते ॥१॥
पुष्याऽश्लेषा–तथा ऽऽदित्या–वीथी–'चैरावती' स्मृता ॥
एतास्तु वीथयस्तिस्र 'उत्तरोमार्ग' उच्यते ॥२॥
तथा द्वे चाऽर्य्ये–फाल्गुनी–मन्दा--'चैवार्षभी' मता ॥
हस्त–श्चित्रा--तथा स्वाती–'गोवीथी' ति शब्दिता ॥३॥
ज्येष्ठा-विशाखा-ऽनुराधा--वीथी-'जारद्गवी' मता ॥
एतास्तु वीथयस्तिस्रो 'मध्यमोमार्ग' उच्यते ॥४॥
पूर्वाषाढो--त्तराषाढा--सा--'जवीथी' त्यभिशब्दिता ॥
श्रवणं--च--धनिष्ठा–च--मार्गी--शतभिषक् तथा ॥५॥
'वैश्वानरी', भाद्रपदे--रेवती--चैव कीर्त्तिता ॥
एतास्तु वीथयस्तिस्रो 'दक्षिणो मार्ग' उच्यते ॥"
—वायुपुराणे

१८३--नक्षत्राधिपति--निशानाथ--चन्द्रमा के त्रिखण्डात्मक--आकाशखण्डों से नव--संख्यात्मक नव--नव–विवर्त्त, एवं तदनुबन्धी--'नवरात्र' शब्द—

अश्विनीनक्षत्र से आरम्भ कर अश्लेषानक्षत्र पर्य्यन्त ९ नक्षत्रों में मेष–वृष–मिथुन–कर्क–इन चार राशियों का नक्षत्रचरण–संदंशात्मक एक विभाग है, जैसाकि 'अश्लेषान्ते च कर्कः' से प्रसिद्ध है। एवमेव मघा से आरम्भ कर ज्येष्ठानक्षत्र–पर्य्यन्त ९ नक्षत्रों में सिंह–तुला–वृश्चिक–धन, इन चार राशियों का अन्तरान्तरीभावात्मक समन्ध है। एवं मूल से आरम्भ कर रेवती नक्षत्रपर्य्यन्त ९ नक्षत्रों में धन–मकर–कुम्भ–मीन–इन चार राशियों का उसी सम्बन्ध से समन्वय हो रहा है, जैसाकि नाड़ीपरिलेख–द्वारा स्पष्ट किया जाचुका है। यही ९ वीथ्यात्मक–त्रिमार्गात्मक–२७ नक्षत्रात्मक-१२ राश्यात्मक वह चान्द्रपरिभ्रमण–मार्ग है, जिसे पुराणभाषा में–'दक्षवृत्त' कहा गया है। चान्द्रनक्षत्रानुरोध से दक्षवृत्त के २७ विभाग ही रहे हैं, जैसाकि–'सप्तविंशतिमिन्दवे' इत्यादि से स्पष्ट है। दक्षप्रजापति की ६० कन्याओं से सम्बन्ध रखनें वाले सुप्रसिद्ध पौराणिक–आख्यान का इस दक्षवृत्त से ही प्रधान सम्बन्ध है, जैसा कि पुराणरहस्यादि अन्य निबन्धों में स्पष्ट हुआ है।

प्रकृत में तथोक्त नाक्षत्रिक-चान्द्र-विवर्त्त से हमें निवेदन यही करना है कि, खगोलीय-नाक्षत्रिक-सम्वत्सराकाश के ९-९-९ नक्षत्रों के अनुपात से ४-४-४ राशिभेद से तीन प्रधान आकाशखण्ड व्यवस्थित हैं। इन खण्डों की सन्धियाँ हीं फलित ज्यौतिष में-'**खण्डान्तयोग**' कहलाई हैं, जो आजकल '**गण्डान्तयोग**' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। प्रतिरात्रि का एक नक्षत्र, ९ रात्रियों में ९ नक्षत्रों का भोग, प्रति ९ नक्षत्रों में चार राशियों का भोग, यों सम्वत्सर में नक्षत्रभोगानुबन्ध से जहाँ ३६० रात्रियाँ व्यवस्थित होतीं हैं, वहाँ ९-९-के क्रमिक संस्थान से ३६० रात्रियों में-'४०' चालीस '**नवरात्र**' प्रादुर्भूत हो जाते हैं। राशिचतुष्टयी से अनुप्राणित, ९-९ नक्षत्रों से समन्वित रात्रिभाव ९-९-रात्रियों का ही एक एक समूह बना हुआ है। अतएव इसे '**नवरात्र**' (९ संख्यात्मक नवरात्रिसमष्टि) कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है। '**नवानां रात्रीणां समाहारः**' ही-'**नवरात्रम्**' का सहज-अर्थ-समन्वय है, और '**नवो नवो भवति जायमानः (चन्द्रमाः)**' इत्यादि मन्त्र नव-नव-भावों में विभक्त ऐसे ४० नवरात्रों का स्वरूपसमर्थक बनता हुआ सचमुच रात्र्यनुगत-'नव' भाव के-'नवः-नवः' रूप पुनरावर्त्तन की ही प्रतिष्ठा प्रमाणित हो रहा है। आगे चलकर यही 'नवरात्र' शब्द दशमहाविद्यात्मिका महाशक्ति महामाया दुर्गा के पूजनार्च्चन-काल में निरूढ हो गया है आगमशास्त्र में।

१८४-संम्वत्सरचक्र के ४० नवरात्रों में चार नवरात्रों की प्रमुखता—

तथोपवर्णित ४० नवरात्रों में **उत्तरपरमक्रान्ति, दक्षिणपरमक्रान्ति, शरत्सम्पात , वसन्तसम्पात**, इन चार प्रमुख सम्वत्सर-विन्दुओं से सम्बन्ध रखने वाले चार नवरात्र प्रधान मान लिए गए हैं। उत्तर-परमक्रान्ति में सूर्य्य का दक्षिणायन है, यही **पैत्र्यनवरात्र** है। दक्षिणपरमक्रान्ति में सूर्य्य का उत्तरायण है, यही **देवनवरात्र** है। मानवप्रजा का सम्बन्ध क्योंकि सम्वत्सरवृत्त के मध्य में प्रतिष्ठित 'बृहतीछन्द' नामक विष्वद्वृत्त से ही माना गया है। अतएव तदनुगत वसन्तसम्पात, तथा शरत्सम्पात से सम्बन्ध रखने वाले चैत्रपक्षीय वासन्तिक नवरात्र, तथा आश्विनपक्षीय शारद-नवरात्र, दोनों को **मानवनवरात्र** मान लिया गया है। यों मानवप्रजानुबन्ध से तो ४० में से दो नवरात्र ही प्रधानरूपेण शेष रह जाते हैं।

१-दक्षिणपरमक्रान्त्यनुगतं-सूर्य्योत्तरायणात्मकं नवरात्रम्—दैवनवरात्रम्

२-उत्तरपरमक्रान्त्यनुगतं-सूर्य्यदक्षिणायनात्मकं नवरात्रम्-पैत्र्यनवरात्रम्

३-वसन्तसम्पातानुगन्तं—वासन्तिकं नवरात्रम् }
४-शरत्सम्पातानुगतं——शारदीयं नवरात्रम् } मानुषनवरात्रे

१८५-चार नवरात्रों में, दो नवरात्रों की, एवं दो में शारद-नवरात्र की प्रधानता का समन्वय—

पुनः यह संस्मरणीय है कि, सोममय परमेष्ठी ही आगम है, तत्प्रवर्ग्यभूत चन्द्रमा भी सोममय ही है। उमासहित तत्त्व ही 'सोम' है। अतएव चान्द्र सौम्यतत्त्व ही शक्तितत्त्व है। रात्रि ही इसका प्रातिस्विक व्यक्तकाल है। अतएव **चन्द्रमा-सोम-रात्रि-शक्ति**-आदि सभी भाव समानरूपेण आगमीया पराशक्ति

के ही परम्परया, एवं साक्षाद्–रूपेण संग्राहक बने हुए हैं। पूर्वोक्त दोनों मानुष-–नवरात्रों में भी शरत्सम्पाता–नुगत शारदीय-नवरात्र का इसलिए सर्वापेक्षया विशेष महत्त्व माना गया है कि, आश्विन–कार्त्तिकादि मास शक्तिक्षयात्मक बनते हुए '**यमदंष्ट्रा**' नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसाकि अग्रिम--दीपावलीपर्व में निवेदन किया जाने वाला है। अतएव यह काल शक्तिसञ्चय के लिए अनिवार्य्य मान लिया है आगमाचार्य्योंनें। और यों अन्ततोगत्वा ४० नवरात्रों में शारदीय-नवरात्र ही शक्तिसञ्चयरूपा उपासना की दृष्टि से सर्वतः मुख्य प्रमाणित हो जाता है। अतएव इस शक्तिपूजनकाल को '**महापूजा**' कहा गया है, जैसाकि–'**शरत्काले महापूजा क्रियते या च वार्षिकी**' इत्यादि से प्रसिद्ध है। अतीत का परमशाक्त (किन्तु वर्त्तमान में शक्तिप्रतीकभूता नारीशक्ति की उपेक्षा--अवमान करने वाला शक्तिशून्य हीं) बङ्गालप्रान्त 'पूजा' से इसी नवरात्र को प्रमुखता प्रदान कर रहा है।

१८६-नवरात्रतत्त्व का स्वरूपविश्लेषक–रहस्यपूर्ण दुर्गासप्तशतीशास्त्र —

दशमहाविद्यानिबन्धन–नवरात्र से अनुप्राणित शक्तितत्त्व ही वह आगमीय-शक्तितत्त्व है, जिसके अनुग्रह से ही राष्ट्र सशक्त बन कर राष्ट्रविरोधी असुर-राक्षसों का ध्वंस करता हुआ विजयलाभ करने में समर्थ प्रमाणित हुआ करता है। शक्तिरहस्यात्मक शक्तिपूजन का सम्पूर्ण निगमागमीय तत्त्व प्रतिपादन करने वाला मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत ऋषिदृष्ट--ऋषिप्रयुक्त--ऋष्युक्त–उपासना–प्रकारात्मक वह गोपनीय आगमग्रन्थ ही औपनिषद–रहस्य के प्रतिपादक ७०० श्लोकात्मक गीताशास्त्र की भाँति ७०० श्लोकों से ही अपने छन्दः–शरीर का निर्म्माण करता हुआ '**सप्तशती**' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। **आत्मा–बुद्धि-मनः–शरीर**–से चतुष्पर्वा प्रमाणित मानव का आत्मबुद्धिस्वरूप नैगमिक–नैष्ठिक–स्वरूप माना गया है, एवं मनःशरीरस्वरूप आगमिक भावुक-स्वरूप माना गया है। निगमशास्त्र मानव के नैष्ठिक स्वरूप का संरक्षक है, तो आगमशास्त्र मानव की भावुकता का संरक्षक है। इन दोनों महान् शास्त्रों की रहस्यपूर्णा दो सप्तशतियाँ भारतराष्ट्र में प्रसिद्ध हैं। निगमशास्त्र की **सप्तशती** '**श्रीमद्भगवद्गीता**' नाम से प्रसिद्ध है, जो अपने सातसौ श्लोकों से 'सप्तशती' प्रमाणित हो रही है। एवं आगमशास्त्र की सप्तशती '**दुर्गासप्तशती**' नाम से प्रसिद्ध है। गीतासप्तशती मानव के आत्मबुद्धिनिबन्धन, **मोक्ष-धर्म्मात्मक**-नैगमिक-कर्त्तव्य के कौशल का निरूपण कर रही है, तो दुर्गासप्तशती मानव के मनःशरीरनिबन्धन, **काम–अर्थात्मक** आगमिक–कर्त्तव्य–कौशल का रहस्योद्घाटन कर रही है। जिस राष्ट्र की प्रज्ञा में ये दोनों सप्तशती-ग्रन्थ प्रतिष्ठित हों, वह राष्ट्र भी अपनी समस्याओं के समाधान के लिए यदि परप्रत्ययनेय बनता रहे, तो इससे अधिक दुर्भाग्य और कुछ भी तो नहीं हो सकता उस राष्ट्र की प्रज्ञा का। प्रकृत में–प्रकरणानुबन्ध से 'दुर्गासप्तशति' के सम्बन्ध में दो प्रश्न प्रमुख–रूपेण–जिज्ञासारूप से सहजरूपेणैव हमारे सम्मुख समुपस्थित हैं।

१८७–शक्तिशाली 'राष्ट्र' के 'राष्ट्रत्त्व' की स्वरूपव्याख्या—

'राष्ट्र शक्तिशून्य बन जाता है', इस वाक्य के राष्ट्र शब्द का क्या अर्थ ?, यही प्रथम प्रश्न है। एवं कैसे राष्ट्र सशक्त बनता है ?, यही दूसरा प्रश्न है। दुर्गासप्तशती नामक रहस्यग्रन्थ अपने आम्नायसिद्ध–पारम्परिक–औपासनिक–सुगुप्त–रहस्य के साथ साथ (जिसके लिए न तो शब्दात्मक प्रश्न ही सम्भव, एवं न शब्दात्मक उत्तर ही सम्भव, अपितु जो केवल आम्नायनिष्ठ ऋषिपरम्परा में ही सुगुप्त–सुरक्षित है)

लोकानुबन्धी तथोक्त दोनों लोकप्रश्नों का लोकमानवों के इतिवृत्त के माध्यम से ही सर्वात्मना समाधान कर रहा है।

'राजते-इति राष्ट्रम्' ही राष्ट्र को स्वरूप-व्याख्या है, जिसकी प्राणप्रतिष्ठा राष्ट्र के विभ्राट्-तेजोमय क्षात्र-सत्तातन्त्र पर ही अवलम्बित है। जिस राष्ट्र का सत्तातन्त्र 'राजते' तेज से समन्वित रहता है, वही राष्ट्र 'राष्ट्र' कहलाया है। ठीक इसके विपरीत जिस राष्ट्र का सत्तातन्त्र अमुकामुक ज्ञात-अज्ञात कारणों से अपने विभ्राट्तेजोभाव से वञ्चित हो जाता है, वह राष्ट्र आक्रान्ता-आततायी वर्ग से आक्रान्त बन कर विप्लवात्मक-तेजःशून्य-अराष्ट्र ही बन जाया करता है। और यों राष्ट्र की शासनसत्ता के महान् पौरुष के आधार पर ही राष्ट्र का 'राजते' लक्षण 'राष्ट्रत्व' सुरक्षित रहा करता है।

१८८-रहस्यशास्त्र के द्वारा 'राष्ट्रशक्ति' की परोक्ष-स्वरूपव्याख्या -

इसी सम्बन्ध में एक अवान्तर प्रश्न और जागरूक हो पड़ता है। वह ऐसा कौनसा प्रमुख कारण है, जिसके आगमन से राष्ट्र का शासनदण्डधर्त्ता सत्तातन्त्र यों सहसा विभ्राट्तेज से वञ्चित हो जाता है ?। दूसरे शब्दों में इसी जागरूक-अवान्तर-महान् प्रश्न का इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि, राष्ट्रीय सत्तातन्त्र में वह ऐसा कौनसा महान् दोष समाविष्ट हो जाता है, जिसके समावेश से सत्तात्मक विभ्राट्-तेज अन्तर्मुख-कुण्ठित-हतप्रभ बन जाया करता है ?। रहस्यशास्त्र स्वयं ही परोक्षविधि से इस जागरूक अवान्तर-प्रश्न का भी समाधान कर रहा है।

१८९-राष्ट्र की बाह्य शक्तियों के प्रतीक सत्तातन्त्र, तथा वणिकतन्त्र की अर्थलिप्सा--लोकलिप्सा से राष्ट्रशक्ति की अन्तर्मुखता, एवं परिणामस्वरूप राष्ट्रक्षोभात्मक राष्ट्रविप्लव का आविर्भाव—

राष्ट्र की विभिन्न अर्थशक्तियों का पात्रविवेकपूर्वक यथास्थान विनिमय-व्यवस्थापन करने वाला, किन्तु स्वयं इन अर्थप्रलोभनों से (वित्तैषणाओं से) अपने आपको सर्वथा असंस्पृष्ट रखने वाला, सहजसिद्ध प्राणैश्वर्य्य--पौरुषैश्वर्य्य से सहजरूपेणैव ऐश्वर्य्यशाली बना रहने वाला सत्तातन्त्र जब दुर्भाग्यवश राष्ट्र के अर्थसंग्राहक-वैश्यवर्ग के पदचिन्हों का अनुगामी बन जाता है, दूसरे शब्दों में जो सत्तातन्त्र लोकैषणागर्भिता वित्तैषणा को ही राष्ट्र का प्रधान बल मानने--मनवाने की महा भूल कर बैठता है, निश्चयेन शीघ्र ही अर्थानुगत भौतिक--तमोभाव की लिप्सा--गृध्नुता इसके सहज शासन--ऐश्वर्य्य--शौर्य्यरूप--विभ्राट् तेज को सर्वात्मना अभिभूत कर लेती है। और उस दशा में न तो यह स्वयं अपने आप पर ही नियन्त्रण कर सकता, नापि अर्थतन्त्र के परमाचार्य्य उस वणिकतन्त्र का ही नियन्त्रण कर पाता, जोकि वणिकतन्त्र अपने अर्थतन्त्र में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र बन कर **'क्षोभयेतामिदं जगत्'** इस मानवीय--सिद्धान्तानुसार न केवल एक अपने राष्ट्र के ही क्षोभ का, अपितु सम्पूर्ण विश्व के क्षोभ का साक्षात्, एवं परम्परया उभयथा निमित्त--प्रवर्त्तक बन जाता है। और यों सत्तातन्त्र की अर्थलिप्सापरायणात्मिका वणिग्वृत्ति से ही राष्ट्र की पौरुषशक्ति, तथा अर्थशक्ति, दोनों हीं शक्तियाँ राष्ट्रस्वरूपरक्षण के स्थान में (वैय्यक्तिक, अथवा तो अधिक से अधिक पारिवारिक स्वार्थ--लिप्सामात्र में केन्द्रित होतीं हुईं) राष्ट्रध्वंस का ही कारण बन जाया करतीं हैं।

१९०–सत्तातन्त्र के प्रतीक 'सुरथराजा', एवं वणिक्तन्त्र के प्रतीक 'समाधि' नामक वैश्य के माध्यम से इन दोनों वर्गों की मोहशक्ति से उत्पन्न महान् क्षोभ के चिरन्तनेतिवृत्त का दिग्दर्शन, एवं तन्माध्यम से ही शक्तिशास्त्र (सप्तशती) की प्रवृत्ति—

यों सत्तात्मक क्षत्रियराजा, एवं अर्थात्मक वैश्य, इन दो राष्ट्रीय-प्रतिनिधियों के एवंरूपेण महामोह-ग्रस्त बन जाने के कारण ही, व्यक्तिप्रतिष्ठात्मक--स्वस्वरूपव्यामोहनात्मक--लिप्सापूर्ण--तमोभावों के कारण हीं राष्ट्र अराष्ट्र बन जाया करता है। ऐसे अराष्ट्ररूप अराजक--राष्ट्र की राष्ट्रीया 'संघशक्ति' सर्वथा ही छिन्न--भिन्न हो जाती है। विजयस्वप्न पलायित हो जाते हैं। पदे पदे कुनैष्ठिक--आततायी--असुरधर्म्मा मानवा--धमों के कुचक्रों से ऐसा शक्तिशून्य राष्ट्र उत्पीड़ित ही प्रमाणित होता रहता है। इसी लोकरहस्य का परोक्ष--सङ्केतरूप से स्पष्टीकरण करने के लिए ही शक्तिस्वरूपविश्लेषक रहस्यशास्त्र ने सत्ताधीश **सुरथराजा**, एवं अर्थाधीश **समाधिवैश्य**, इन दो महापात्रों के माध्यम से ही शक्तिस्रोतावरोधक मोहपाशों का चिरन्तन--इतिवृत्त उपक्रान्त करते हुए कहा है —

"सुरथो नाम राजाभूत्समस्ते क्षितिमण्डले"।

क्षितिमण्डलाधीश सुरथ महानुभाव दुष्टामात्य--सचिवादि के षड्यन्त्रों से सत्ताक्षेत्र से जब वञ्चित हो जाते हैं, तो दुःखार्त्त बन कर शून्य अरण्य की ओर निकल जाते हैं। वहीं इन्हें एक ब्राह्मणश्रेष्ठ का निरापद आश्रम उपलब्ध हो जाता है, और तत्र अपनी दुःखगाथा व्यक्त करने के लिए, साथ ही तन्निवृत्त्यु--पायबोधकामना से सुरथ तत्र प्रणतभाव से जब वहाँ पहुँचते हैं, तो—

तत्र विप्राश्रमाभ्याशे वैश्यमेकं ददर्श सः।

राज्यश्रीभ्रष्ट सुरथराज के--'**स शोक इव कस्मात्त्वं दुर्म्मना इव लक्ष्यसे**' यह प्रश्न करने पर मनोधर्म्मा वैश्यमहाभाग अपनी करुणगाथा यों उपक्रान्त करते हैं कि—

समाधिर्नाम वैश्योऽहमुत्पन्नो धनिनां कुले।
पुत्रदारैर्निरस्तश्च धनलोभादसाधुभिः॥

१९१-ऋषिप्रज्ञा के द्वारा उभयतन्त्र का उद्बोधन, एवं शक्त्याराधन का आदेश—

यों कुछ समय पर्य्यन्त सुरथ प्रश्न करते रहते हैं, समाधि महानुभाव अपनी मानस अनुभूतियों के के माध्यम से अपना दुःखेतिहास व्यक्त करते रहते हैं। और यों दोनों हीं परस्पर अपनी दुःखगाथाओं के प्रश्नोत्तरविमर्श से भी जब किसी निर्णयोपाय पर पहुँचने में असमर्थ हो जाते हैं, तो अन्ततोगत्वा राष्ट्र के एकमात्र अशरण--शरणस्थान, संस्कृतिनिष्ठ--शक्तिरहस्यवित्--शक्त्युपासक--निगमागमपरायण तथाकथित द्विजश्रेष्ठ के सम्मुख ही उपस्थित होते हैं दोनों आर्त्त महानुभाव। देखिए!

मार्कण्डेय उवाच—**ततस्तौ सहितौ विप्र! तं मुनिं समुपस्थितौ।**
समाधिर्नाम वैश्योऽसौ, स च पार्थिवसत्तमः॥

१६२–निगमागममूला–आत्मदेवभावानुप्राणिता–परोक्षा–सुसूक्ष्मा–शक्तियों से वञ्चित राष्ट्रमानवों के व्यक्तित्वविमोहनात्मक–प्रकृतिविरुद्ध–शाश्वतविध्वंसक–असदाचरण, एवं उनके घोरघोरतम दुष्परिणामों से राष्ट्र का आत्यन्तिक पतन—

आगे क्या होता है ?, क्या हुआ ?, ऋषि ने कैसे किन उपायों से इन दोनों को दुःखार्णव से विमुक्त किया ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए ही तो दुर्गासप्तशती जैसा शक्तिरहस्यविश्लेषक वैसा शास्त्र राष्ट्र की आम्नायपरायणा ब्राह्मणप्रज्ञा से आविर्भूत हुआ है, जिसके अनुगमन के बिना न तो सत्तातन्त्राधीश ही राष्ट्र का संरक्षण कर सकते, न वित्ताधीश वैश्य ही राष्ट्रीय–अर्थशक्ति का संरक्षण कर सकते। शक्त्युपासना से ही दोनों का मोह पलायित होता है, हुआ है पूर्वयुगों में। आज दुर्भाग्यवश वे शक्त्याराधनात्मक–सांस्कृतिक–अनुष्ठानप्रकार क्योंकि निरपेक्ष बन गए हैं सत्ता, तथा वणिक्–दोनों के लिए ही। अतएव दोनों हीं राष्ट्रीयवर्ग आज सर्वात्मना अशक्त प्रमाणित होकर राष्ट्र की अराष्ट्रकता के ही अज्ञातरूपेणैव उपोद्बलक बनते जा रहे हैं। सहजभावानुसार–आज के मानव का एकमात्र प्रधान राष्ट्रीय–कर्त्तव्य यही शेष रह गया है कि, वह राष्ट्र–राष्ट्रीयता–मानव–मानवता–सत्य–नैतिकता–अहिंसा–दया–सहास्तित्व–मैत्री–आदि आदि प्ररोचनात्मक आकर्षक शब्दच्छलों के माध्यम से अपनी, अथवा तो अधिक से अधिक अपने परिवार की आकल्पान्ता प्रलयान्ता–चिन्ता की निवृत्ति के लिए येन केन प्रकारेण अर्थ का ही समन्व. करने की वासनामात्र में हीं तल्लीन बना रहे, जिसका पुरुषतत्त्व–(अव्यय)–स्वरूपविश्लेषक ईश्वरावतार भगवान् वासुदेवकृष्ण ने ओजस्विनी वाणी में एवंरूपेण उद्घोष किया है—

असत्यमप्रतिष्ठं-ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥१॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्म्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥२॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भ-मान-मदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥३॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमाः–एतावदिति–निश्चयाः ॥४॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥५॥
इदमद्य मया लब्ध–मिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥६॥
असौ मया हतः शत्रुः, हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहं, अहं भोगी, सिद्धोऽहं, बलवान्, सुखी ॥७॥

आढ्यो--ऽभिजनवानस्मि--कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ॥
यक्ष्ये--दास्यामि--मोदिष्ये--इत्यज्ञानविमोहिताः ॥८॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ॥
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥६॥
तानहं द्विषतः--क्रूरान्--संसारेषु नराधमान् ॥
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१०॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ॥
मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥११॥

—गीता १६ अध्याय । ८ से २० पर्य्यन्त

"व्यक्तित्वविमोहनमूला लोकैषणात्मिका वित्तैषणा, किंवा वित्तैषणात्मिका लोकैषणा का आरम्भबिन्दु है—'अनीश्वरता'। आत्मदेवभाव से अपरिचित, अनात्मवादी देवविरोधी नास्तिक मानव ही विश्व को केवल कामहैतुक–प्रकृतिमात्ररूप--(एक्सडेन्टल Axidental) मानते हुए ही काममूलक अर्थ में आसक्त हुआ करते हैं। ईश्वरीय दण्ड से अपरिचित ऐसे नास्तिक ही केवल प्रकृतिवादी—नेचरवादी--बनकर इस प्रकार के जघन्यपथ के अनुगामी बन जाया करते हैं ॥ १ ॥ इस अनीश्वरदृष्टिरूपा नास्तिदृष्टि को मूलप्रतिष्ठा बना कर नष्टात्मा--बुद्धिशून्य बन जाने वाले केवल मनःशरीरपरायण मानवाधम ही विश्वविनाश के लिए उग्रकर्म्मों--कुकर्मों का अनुगमन करने लग पड़ते हैं ॥ २ ॥ कभी शान्त न होने वाले कामभाव को आधार बना कर शरीर से मदोन्मत्त, मन से मानोन्मत्त, तथा लोकबुद्धि से दम्भोन्मत्त बने रहने वाले ये भ्रष्टाचारपरायण मानवाधम मोहवश सर्वथा असन्मार्गों से असत् परिग्रहों का संग्रह करते रहने में हीं तल्लीन बने रहते हैं ॥ ३ ॥ अपनी वैय्यक्तिक, तथा पारिवारिक वैसी महती चिन्ता से ये नराधम उस सीमापर्य्यन्त चिन्तित बने रहते हैं, जो प्रलयान्त पर भी समाप्त नहीं हो पाती। इनका एकमात्र महान् पौरुष--काम--भोगपरायणता ही बना रहता है। कामार्थ ही इनके लिए निश्चित तत्त्व है (धर्म्म और मोक्ष शब्द से भी ये परिचित नहीं हैं) ॥ ४ ॥ अनेक प्रकार की शत-सहस्राधिक-आशा-कामनाओं के पाशों में सतत आबद्ध, तत्कामनाओं में सतत आसक्त, तत्प्राप्त्य-भाव में क्रोधातुर बनते रहने वाले ये नराधम अपने कामभोग की उपशान्ति के लिए अनेक प्रकार के छल--कपट--मायाचार--भ्रष्टाचारादि अन्यायपथों का अनुगमन करते हुए धनसञ्चय में हीं तल्लीन बने रहते हैं ॥५॥ आज मेरी अमुक योजना सफल हो गई, कल वह योजना सफल हो जायगी, पुनः उससे अमुक धनराशि उपलब्ध हो जायगी, इतना तो हो चुका है, इतना और हो जायगा ॥ ६ ॥ अमुक डाकुओं--शत्रुओं को मार दिया है, शेष को निकट भविष्य में हीं मार लेंगे। सत्ताबल हमारे साथ है, हम भोगैश्वर्य्यवान् हैं, सब लोकसिद्धियाँ हमारे वश में हैं, हम बलशाली हैं, सभी लोकसुख हमें प्राप्त हैं ॥ ७ ॥ हमारा पद सम्मानित हैं, हम कुलीन हैं, निष्कर्षतः कौन है हमारे जैसा ?, हम विविध प्रकार के लोकयज्ञ कर करेंगे, देंगे, हर्ष का अनुभव करेंगे, इत्यादिरूपेण तथाविध कामभोगपरायण यों अज्ञानपरम्पराओं से समन्वित रहते हुए ॥ ८ ॥ अनेक प्रकार के मनोभाव--कामभावों से सर्वथा भ्रान्त--दिग्भ्रान्त--लक्ष्यभ्रष्ट--बनते हुए, मोहजालों से सर्वात्मना परवश बनते हुए, एवं कामभोग में सतत आसक्त--व्यासक्त बने रहते हुए ऐसे नराधमों के लिए ही तामिस्र--अन्धतामिस्र—

कुम्भीपाक--रौरवादि--नरकस्थान नियत हुए हैं यमराज के द्वारा ॥ ९ ॥ आत्मा, देवता, द्विज, शास्त्र, आदि आदि सात्त्विक राष्ट्रीय विभूतियों से, एवं तदनुगामियों से प्रचण्ड द्वेष करने वाले, अत्यन्त क्रूर, ऐसे नराधम निश्चयेन अधमाधमा गति के ही सम्मानित अतिथि बनते रहते हैं ॥ १०,११ ॥"

१९३-राष्ट्र की चिन्त्या दुर्दशा के अचिन्त्य-प्रश्न का चिन्तापूर्ण-समन्वय—

सुरथ नामक भारतीय राजा, तथा समाधि नामक भारतीय वैश्य, दोनों यद्यपि सर्वात्मना-ईश्वरपरायण थे, धर्मपथानुगामी थे। तथापि एकमात्र भावुकतारूप मानसिक-मोह के कारण सुरथ राजा, तथा समाधि वैश्य दोनों हीं पराभूत हो गए अपने अपने तन्त्रों से (राज्यतन्त्र से, तथा परिवारतन्त्र से), जैसाकि--÷'**अमात्यैर्बलिभिर्दुष्टैः**' एवं-'**पुत्रदारैर्निरस्तश्च**' * इत्यादि वर्णन से स्पष्ट है। एकमात्र भावुकतापूर्ण मोह से ही सत्तातन्त्र, एवं वणिक्तन्त्र जब सर्वात्मना अशक्त बन जाते हैं, तो जब गीताप्रतिपादित अमुक आसुरभावों के आकर्षण से दुर्भाग्यवश सत्तातन्त्र, एवं वणिक्तन्त्र-केवल कामभोगपरायणता में आसक्त होकर अर्थगृध्नु-लोकैषणाकामुक बन जाते हैं, तो क्या दशा--दुर्दशा हो जाती है राष्ट्र की ?, प्रश्न तो सर्वात्मा अचिन्त्य-असमाधेयकोटि में हीं परिणत हो जाता है।

१९४-विजयदशमीपर्व की सांस्कृतिक-आयोजनता, और उसकी मूलप्रतिष्ठाएँ—

क्यों राष्ट्र अशक्त बन कर अराष्ट्र बन जाता है ?, प्रश्नसमाधान की चेष्टा की गई समाधि नामक वैश्यबन्धु से प्रधान सम्बन्ध रखने वाली अर्थैषणाप्रधाना लोकैषणा से अनुप्राणिता मोहशक्ति के माध्यम से। बड़े से बड़े ज्ञाननिष्ठ भी इस विष्णुमाया-मोहशक्ति से मोहित बन कर + स्वकेन्द्रस्थ उस अव्ययात्मबोध से वञ्चित × ही बने रहते हैं, जिस आत्मबोध के बिना मानव अपने वैय्यक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, एवं राष्ट्रीय-तन्त्रों में सर्वथा ही अशक्त-असमर्थ-प्रमाणित हो जाता है। कैसे राष्ट्र अपनी इस मोहशक्ति से आत्मत्राण करै ?, कैसे यह सशक्त बने ?, सशक्त बन कर यह कैसे राष्ट्रविरोधी प्रतिद्वन्द्वियों का पराभव कर विजय लाभ करै ?, इत्यादि

÷--अमात्यैर्बलिभिर्दुष्टैर्दुर्बलस्य दुरात्मभिः ।

*--पुत्रदारैर्निरस्तश्च धनलोभादसाधुभिः ।
विहीनश्च धनैर्दारैः पुत्रैरादाय मे धनम् ॥ —सप्तशती
कोशोबलं चापहृतं तत्रापि स्वपुरे ततः ॥ —सप्तशती

\+ ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥ —सप्तशती

× मोघाशा मोघकर्म्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ॥
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ (गीता ९।१२।)
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम् ॥
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ (गीता ७।१३।)।

प्रश्नों का एकमात्र समाधान महामाया–दशमहाविद्यात्मिका–नवरात्रस्वरूपिणी आगमीया शक्ति की उपासना पर ही क्योंकि अवलम्बित है । अतएव राष्ट्रसत्ता के अधीश शास्ता से सम्बन्ध रखने वाले विजयकर्म्म से अनुप्राणित 'विजयदशमीपर्व' प्रसङ्ग में हमें निगमानुगता आगमविद्या से सम्बन्ध रखने वाली दशमहाविद्याओं का, तदुपासनात्मक नवरात्र का भी प्रासङ्गिक-दिग्दर्शन करा देना पड़ा, जिस प्रासङ्गिक समन्वय के बिना प्रक्रान्तपर्व का आयोजनात्मक स्वरूप कदापि समन्वित नहीं हो सकता था ।

१६५–आगमशास्त्र के षड्दिग्भेदभिन्न सुप्रसिद्ध षडाम्नाय, एवं तदनुबन्धी शक्ति-संग्राहक उपायों का समन्वय—

आगमशक्ति की 'उपासना' का तो उस आम्नायपरम्परा से ही सम्बन्ध है, जो आम्नायपरम्परा के आश्रय से ही समन्वित की जा सकती है । कदापि वाणी, किंवा लिपिमाध्यम से लोकधरातल पर इस रहस्यपूर्ण औपासनिक तथ्य का संस्पर्श भी सम्भव नहीं है । अनेक प्रकार हैं आगमीय आम्नायपरम्परा में शक्तिसञ्चय के, जिनमें षट्दिग्भेद से ६ प्रकार तो प्राय: सभी को नाममात्रेण तो विदित हैं हीं । '**पूर्वा, पश्चिमा, उत्तरा, दक्षिणा, ऊर्ध्वा, अध:**, मातृ शक्तिमयी मातापृथिवी की इन छ दिशाओं से अनुप्राणित शक्तिसंग्राहक-षडविध आम्नाय ही क्रमश: **पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय, दक्षिणाम्नाय, ऊर्ध्वाम्नाय, अधराम्नाय,** इन नामों से प्रसिद्ध हैं, जो चतु:षष्टि (६४) तन्त्रों से आबद्ध हैं । निगमभावात्मक आगमाम्नाय ही पूर्वाम्नाय है । लोकभावानुगत-यच्चयावत् वाङ्मयभावों से अनुप्राणित–शाबरमन्त्रात्मक आम्नाय ही पश्चिमाम्नाय है । पञ्चदेवोपासनात्मक आम्नाय ही दक्षिणाम्नाय है । ब्रह्मरन्ध्रानुगत–सौषुम्ण-योगमार्ग ही ऊर्ध्वाम्नाय है । भूकेन्द्रानुगत पार्थिव मलात्मक-पूषाभावानुगत-नितान्त–रहस्यपूर्ण–सद्य:फलप्रद अघोरमार्ग (घोरघोरमार्ग) ही अधराम्नाय है । एवं जिस सौम्या, पञ्चमकारात्मिका उमा हैमवती भगवती का दशमहाविद्यारूप से अबतक यशोगान हुआ है, जोकि उत्तरत्त्वेन भी वाम है, एवं साधनाप्रकारापेक्षया भी वाम (दुस्तर-टेढा) है, वही उत्तराम्नाय है, जिसे स्पष्टरूपेण '**शक्त्याम्नाय**' भी कहा जा सकता है, कहा गया है आगमशास्त्र में । एकमात्र निगमागम–निष्ठ–गुहानिहित–तपस्वी ब्राह्मण ही इस उपासना में पूर्णरूपेण अधिकृत माना गया है, जिसके अनुग्रह से प्राप्त शक्तिपूजनप्रकारों के माध्यम से (आम्नायविधानपूर्वक–सांस्कृतिक–आयोजनमाध्यम से) ही क्षत्रिय वैश्य भी शक्तिलाभ करते हुए राष्ट्र को सशक्त बना कर विजय–श्री प्राप्त कर सकते हैं । वही विजयप्रकार, शक्तिलाभ का वही सांस्कृतिक–आयोजन–प्रकार राज्यभ्रष्ट सुरथ के प्रति, तथा परिवारभ्रष्ट समाधिवैश्य के प्रति निगमागमनिष्ठ महर्षि ने सप्तशती के माध्यम से विस्तार से व्यक्त किया है । सचमुच सप्तशती का केवल पारायण पाठ भी लोकमानवों को लोकविजयलाभ में सफल बना दिया करता है, निश्चयेन सफल बना ही देता है । इसी आधार पर–'**कलौ दुर्गा प्रकीर्त्तिता**' यह सिद्धान्त जागरूक है आस्थाश्रद्धापरायण शक्तिभक्तों में ।

१६६–शक्ति–उपासना, पूजनात्मक नवरात्र, एवं तदनुगत विजयीदशमी–पर्व—

विजयदशमीपर्व का मूलाधार तत्त्व शक्ति–उपासनात्मक, शक्तिपूजनात्मक 'नवरात्र' ही माना गया है । अतएव 'विजयदशमीपर्व' नामक सांस्कृतिक आयोजन का अनुष्ठान वसन्तऋतु में नवरात्र के अन्त में, तथा शरद्-ऋतु में नवरात्र के अन्त में हीं होता है, जिन दोनों पर्वों में से प्रधानता शारद–नवरात्र से अनुप्राणिता दशमी तिथि से सम्बद्ध विजयादशमी की ही मानी गई है । क्योंकि पूर्वकथनानुसार शक्तिसंग्राहक ४० नवरात्रों में से

४, चार में से २, तथा इनमें भी एक ही (शारद) नवरात्र प्रमुखरूप से शक्तिसंग्रह के लिए प्रधान काल बना हुआ है। तभी तो इसे 'महापूजा' कहना अन्वर्थ बनता हैं। संस्कृति से सम्बन्ध रखने वालीं सांस्कृतिक–आचारनिष्ठाओं का दिग्दर्शन कराते हुए प्रथम प्रकरण में यत्रतत्र अनेकधा यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, आचारधर्म्मों का आयोजनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये तो व्यक्तिगतरूप से साधना के क्षेत्र बने रहते हैं। शक्त्युपासनारूप नवरात्राचार रहसि-भावानुगता केवल उपासना से ही सीमित है। तत्प्रयुक्त विजयदशमीपर्व में नवकन्यापूजन, वेदपारायण, आदि आदि शास्त्रीय निगमागमाचार ही अनुष्ठेय बनते हैं, जिनका सर्वसामान्या-बहिर्मुखा लोकप्रजा से साक्षात्रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है, जबकि तथाविध तपस्वी एकान्तनिष्ठ उपासकों की उपासना से सञ्चिता शक्ति का उपयोग राष्ट्र के अभ्युदय–निःश्रेयस् में हीं होता है। और विजयीदशमीपर्व का सांस्कृतिक–आचारनिष्ठात्मक यह औपपत्तिक पक्ष ही तथ्यपूर्ण पक्ष माना जायगा, माना गया है, जिसके बिना बाह्य–आयोजनात्मक–सांस्कृतिक आयोजनरूप विजयदशमीपर्व का कुछ भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता। यही तो कारण है कि, विगत तीन सहस्रवर्षों से इस औपासनिक–शक्तिसंग्रहात्मक-वैज्ञानिक पथ से भ्रष्ट भारतीय द्विजातियों की दासता से ही राष्ट्र उत्तरोत्तर शक्तिशून्य ही प्रमाणित होता जा रहा है, जबकि सदा ही हमारा राष्ट्र प्रतिवर्ष विजयदशमीपर्व मनाता आरहा है आयोजनरूपेण। आयोजनात्मक–पूजन–कीर्त्तन तो प्रतीकमात्र है। जब मूल ही विस्मृत हो गए, तो ये प्रतीक क्या लाभ पहुँचाते ?। हम दुर्गा–दुर्गा चिल्लाते ही रहते हैं, और उधर आसुरीशक्तियाँ हमारे राष्ट्र का शोषण करतीं हीं जारहीं हैं। ऐसा क्यों ?, किसलिए ?। यों, और इसलिए कि, दृष्टान्त ही सिद्धान्त बन गए। प्रतीकों नें ही मूलतत्त्वों का स्थान ग्रहण कर लिया। बाह्य प्रदर्शनों नें हमारी मूलसंस्कृति की मूलनिष्ठा को विस्मृत ही करा दिया। मानस अनुरञ्जनात्मक आयोजन ही यहाँ दुर्भाग्यवश प्रधान धर्म्म बन गए। जबतक इस तथ्य का समन्वय भारतीय–प्रजा नहीं कर लेगी, तबतक इन प्रतीकमात्रों से कदापि राष्ट्र शक्तिलाभ नहीं कर सकेगा।

१६७-भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश से नवरात्रद्वारा शक्तिसञ्चय, एवं तद्बल पर महाभारतसमर में अर्जुन के द्वारा विजयमहोत्सवायोजन-सम्पादन—

एवं हि श्रूयते कर्णाकर्णिपरम्परया कि, राक्षसेश्वर रावण को पराजित करने की कामना रखने वाले मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामनें युद्धयात्रा से पूर्व नवरात्रोपासना से शक्तिसञ्चय किया, अनन्तर दशमी को युद्धयात्रा आरम्भ की। नवरात्र–द्वारा प्राप्ता विजयशक्ति से ही दशमी की यात्रा ने विजयप्रदान कराई। इसलिए भी यह तिथि भगवान् रामानुबन्ध से 'विजयदशमी' नाम से प्रसिद्ध होगई। सुप्रसिद्ध है कि, महाभारतयुगानुगता युद्धयात्रा से पूर्व पीताम्बरा भगवती के अनन्योपासक भगवान् वासुदेव कृष्ण ने अपने प्रियसखा अर्जुन को पीताम्बराशक्ति की उपासना के लिए ही प्रवृत्त किया, जैसा कि वहाँ के–**'दुर्गास्तोत्र-मुदीरय'** इस बाह्य सङ्केत से स्पष्ट है। इस शक्तिसञ्चय से ही अर्जुन इस युद्ध में विजयलाभ कर सके। और ऋषिश्रेष्ठ के द्वारा नवरात्रानुष्ठान में प्रवृत्त होकर ही निजगात्रासृगुक्षित सुरथ, तथा समाधि ने अपना विलुप्त वैभव प्राप्त किया। निश्चयेन उसी औपासनिक–वैज्ञानिक–पथ से शक्तिसञ्चय करता हुआ राष्ट्र का सत्तातन्त्र भी विजयलाभ कर सकता है, करेगा ही, निश्चयेन करेगा ही। क्योंकि सौभाग्य से अब शक्ति-अनुग्रह से उसका शनैः शनैः सांस्कृतिक जागरण हो रहा है।

१६८–शक्त्युपासनात्मक-(नवरात्रानुगत) सांस्कृतिक-आचार, एवं शक्तिप्राणात्मक-विजयदशम्यनुगत-सांस्कृतिक-आयोजन—

शक्तिसञ्चयमूलक–नवरात्रीय–औपासनिक–विजयदशमीपर्वरूप **सांस्कृतिक–आचार** का सम्बन्ध जहाँ निगमागमनिष्ठ उपासक द्विजाति के साथ है प्रकृति में व्याप्त प्राणात्मक–आसुरभावों के पराभव के लिए, वहाँ शत्रुपराभवमूलक–नवरात्रान्त में प्रतिष्ठित विजयदशमीपर्वरूप **सांस्कृतिक–आयोजन** का प्रधान सम्बन्ध राष्ट्र के सत्तातन्त्र से ही माना जायगा, जो राष्ट्र पर आक्रमण करने की इच्छामात्र करने वाले असुरधर्मा आततायी दुष्टों के पराभव से ही अनुप्राणित है। एकमात्र इसी भूतविजय के कारण यह पर्व क्षत्रियानुगत मान लिया गया है, जबकि रक्षाबन्धनपर्ववत् इसमें भी सभी का (पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहरूप चारों का) समन्वय स्वतःसिद्ध है। शासनसत्तानुबन्धी युगधर्म्मानुबन्धों के भेद से इस पर्व में अनेक मान्यतात्मक भाव समय समय पर प्रविष्ट होते गए हैं, जो संस्कृतिमूल के अनुरूप बनते हुए लोकसंग्रहदृष्ट्या तत्तत् युगों में मान्य बनते गए हैं।

२६६–विजयदशमीपर्वात्मक सांस्कृतिक–आयोजन की लोकविधि का समन्वय––

नवरात्रपर्य्यन्त भगवती की मृण्मयी प्रतिमाओं का अर्चन–पूजन, उपवास, व्रत, कन्या–बटुकपूजन, शमीवृक्षपूजन *, विजयदशमीपर्व के सफल अनुष्ठाता भगवान् राम के गौरवसंस्मरण में रामविग्रहयात्रा, आदि आदि अनेक सांस्कृतिक भाव इस पर्वात्मक–सांस्कृतिक–आयोजन में समाविष्ट हो गए हैं, जैसाकि निम्न लिखित कतिपय आम्नायवचनों से प्रमाणित है—

---

*–'खेजड़ा' नाम से राजस्थान में प्रसिद्ध, 'जाटी' नाम से भी प्रसिद्ध–सकण्टक–वृक्ष ही शमीवृक्ष कहलाया है। यज्ञिय वृक्षों में **शमी, विकङ्कत, उदम्बर,** तीनों का बड़ा महत्त्व माना गया है। शमी को अग्निगर्भ भी माना गया है। इस वृक्ष में विष्णुशक्ति महालक्ष्मी का आवास माना गया है। अतएव इसे–'लक्ष्मी' भी कहा गया है। हमारी कुलपरम्परा में अष्टमी को मातृपूजनावसर पर इस शमी का ही मातृरूप से पूजन विहित है। अतएव इसका काष्ठ महानसकर्म्म में असंस्पृष्ट मान लिया गया है। निगमभाषा में यही–'**विश्वजन्या**' नाम से प्रसिद्ध है। शत्रुशमनपूर्वक विजय–लक्ष्मी का संस्थापन इसी शमीशक्ति से अनुप्राणित है। निम्नलिखित निगमवचन इसी का यशोवर्णन कर रहा है—

"स वै शमीमयीं प्रथमामादधाति। त एतां शमीमपश्यन्। तयैनं–अग्निं–अशमयन्। तां सवितर्वरेण्यस्य चित्रामहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।

—शत० ब्रा० ६।२।३।३७

"शमीगर्भस्य यो गर्भस्तस्य गर्भस्य यो रिपुः।
रिपुगर्भस्य यो गर्भः स मे विष्णुः प्रसीदतु" ॥

इत्यादि सूक्ति से उपवर्णित पारमेष्ठ्य विष्णु से अभिन्ना आगमीय-शक्ति ही शमीवृक्ष के द्वारा सङ्केतिता है। अतएव नवरात्रानुबन्धी विजयदशमीपर्व में क्षत्रिय–राजा के द्वारा प्रजासहित उत्सवयात्रापूर्वक नगरान्तरस्थ वन में स्थित शमीवृक्ष का पूजन भी इस उत्सव का अङ्ग बन गया है।

आश्विनस्य सिते पक्षे दशम्यां विजयोत्सवः ॥
कर्त्तव्यो वैष्णवैः सार्द्धं सर्वत्र विजयार्थिना ॥१॥
रथमारोप्य देवेशं सर्वालङ्कारशोभितम् ॥
सामितूणधनुर्बाणपाणिं नक्तञ्चरान्तकम् ॥२॥
स्वलीलया जगत्त्रातुमाविर्भूतं रघूद्वहम् ॥
राजोपचारैः श्रीरामं शमीवृक्षतलं नयेत् ॥३॥
सीताकान्तं शमीयुक्तं भक्तानामभयङ्करम् ॥
अर्चयित्वा शमीवृक्षमर्चयेद्विजयाप्तये ॥४॥
गृहीत्वा साक्षतामार्द्रां शमीमूलगतां मृदम् ॥
गीतवादित्रनिर्घोषैस्ततो देवं गृहं नयेत् ॥५॥
कैश्चिद्वृक्षैस्तत्र भाव्यं, कैश्चिद् भाव्यञ्च वानरैः ॥
कैश्चिद्रक्तमुखैर्भाव्यं कोशलेन्द्रस्य तुष्टये ॥६॥
निर्जिता राक्षसा दैत्या वैरिणो जगतीतले ॥
रामराज्यं रामराज्यं रामराज्यमिति ब्रुवन् ॥७॥
आनीय स्थापयेद्देवं निजसिंहासने सुखम् ॥
ततो नीराज्य देवेशं प्रणमेद्दण्डवद् भुवि ॥
महाप्रसादवस्त्रादि धारयेद्वैष्णवैः सह ॥८॥
विधिः श्रीरामविजयोत्सवस्योत्सवकृत्सताम् ॥
सीता दृष्टेति हनुमद्वाक्यं श्रुत्वाकरोत्प्रभुः ॥
विजयं वानरैः सार्द्धं वासरेऽस्मिन् शमीतलात् ॥९॥

२००–भारतराष्ट्र के महान् सांस्कृतिक–विजयदशमी–पर्व का माङ्गलिक संस्मरण, एवं तदनुगत-महामाङ्गलिक विश्राम—

यह है उस 'विजयदशमीपर्व' नामक सांस्कृतिक–आयोजन की लोकविधि, जो प्रतीकात्मिका निदान-विधि के माध्यम से प्रतिवर्ष पूरी तो करली जाती है (करली जाती थी स्वतन्त्रता–प्राप्ति से पूर्व तक), किन्तु जिस से सम्बन्ध रखने वाला 'विजयभाव' तो विगत तीन सहस्रवर्षों से महासरस्वतीशक्ति के उपासक ब्राह्मण के द्वारा, महाकाली के उपासक क्षत्रिय के द्वारा, एवं महालक्ष्मी के उपासक वैश्य के द्वारा उपहासास्पद ही प्रमाणित होता आरहा है। इसलिए उपहास उत्तरोत्तर जागरूक बनता आरहा है कि, निगमागममूलक–सांस्कृतिक–शक्तिप्रवाह विगत तीन सहस्रवर्षों से अवरुद्ध ही हो रहा है, जिस अवरोध के लिए हम तो प्रधान-

दोषी उस ब्राह्मण को ही मानेंगे, जिसने सत्ताश्रय के व्यामोहन में आसक्त होकर अपनी सांस्कृतिक–निष्ठा को कपर्द्दिका-खण्डों के व्यामोहनों में हीं बेंच डाला है। ब्राह्मणनिष्ठा के पतन से ही संस्कृति, तन्मूलक निगमागम साहित्य का सशक्त–ओजपूर्ण–तथ्य तो हो गया अन्तर्म्मुख, एवं तत्स्थान में शक्तिहीनताप्रवर्त्तक कल्पित–अहिंसा-दया–करुणा–भीरुता–आदि पशुभाव बन गए जागरूक। राष्ट्र की पौरुषशक्तियाँ, वीरशक्तियाँ, साहसशक्तियाँ, कर्म्मठशक्तिाँ इस शून्यवाद के जाल में आबद्ध होकर–'जाने दो जाने दो'–'पाप लगेगा'–आदि षण्ढभावों की अनुगामिनीं हीं बन गईं। राष्ट्र का ब्रह्मवर्चस्व तिरोहित होगया, क्षात्र भ्राजतेज विलीन होगया, विडनुगत सुम्नभाव पलायित होगया, चतुर्थ एवं वर्णानुगत द्यु म्नभाव स्मृतिगर्भ में विलीन बन गया। अमर्षशून्य जन्तुमात्र की कोटि में आगत–समागत–भारतीय मानव का यह लोक, यह राष्ट्र यों सर्वथा ही अरक्षित बन गया। हम अहिंसा–अहिंसा -दया–दया–की भीख माँगते ही रहे, और हिंसक–निर्म्मम आततायी हम पौरुषशून्यों का सर्वस्व लूटते–लुटाते ही रहे। संस्कृति गई, साहित्य गया, धर्म्म गया, पौरुष गया, साहस गया, उद्यम गया, पराक्रम गया, बल–वीर्य्य–सबकुछ चले गए। और रह गए केवल–दयनीय–दासभाव। क्या यही स्वरूप था इस राष्ट्र की शक्तिपूजन का ?, क्या यही तथ्य था शक्त्युपासना का ?, क्या यही सुपरिणाम ? थे इन उत्सवपर्वों के आयोजनात्मक विजृम्भणों के ?। विवाहादि–पुत्र–जननादि उत्सवों पर समागत नट–विट–भाण्ड–षण्ढ (गतराड़े) आदि के द्वारा प्रदर्शित ताता थय्या नाचगान का ही नाम क्या सांस्कृतिक–आयोजन था ?, क्या ऐसे कुतुहलात्मक आयोजनों के बल पर ही भारत राष्ट्र ने अपने वैराज्य–सार्वभौम–चक्रवर्त्तित्व–साम्राज्य–राज्यादि वैभव सुरक्षित रखने में सफलता प्राप्त की थी ?, ये ही वे कतिपय प्रश्न हैं, जो इन पर्वोत्सवों की यशोगाथा के साथ साथ ही प्रत्येक प्रज्ञाशील के अन्तर्म्मन में महती वेदना उत्पन्न कर रहे होंगें। कैसे यह वेदना शान्त हो ?, कैसे हमारा राष्ट्र सशक्त बने ?, कैसे यह शक्तिपूर्वक विजयलाभ करता हुआ वास्तविकरूपेण विजयदशमीपर्व नामक सांस्कृतिक–आयोजन मानने–मनवाने का अधिकार प्राप्त करे ?, इत्यादि यच्चयावत् प्रश्नों का एकमात्र समाधान तत्काल तो सत्तानिरपेक्ष, एवं वणिक्-निरपेक्ष, किंवा सर्वनिरपेक्ष बन कर सर्वप्रथम भारतीय मूलसंस्कृति के मौलिक स्वरूप का आविर्भाव ही माना जायगा। तदनन्तर इस मूलधरातल के माध्यम से ही अन्य वेदनाओं के निवृत्युपाय भी ढूँढे जा सकेंगे। नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।

उपरता चेयं क्षत्रियानुगता

विजयदशमीपर्वस्वरूपमीमांसा–द्वितीया

२

——***——

श्रीः

तृतीय प्रकरणान्तर्गत—

बुद्धिनिष्ठ–राष्ट्रव्यवस्थापक–क्षत्रियानुगत राष्ट्रीय–'विजयदशमीपर्व' उपरत



श्रीः

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व

'दीपावली'

(मनोनिष्ठ–राष्ट्रप्रजारूप–वैश्यानुगत पर्व)

३



श्रीः

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक–राष्ट्रीय–पर्व
दीपावली–महोत्सव

३

सक्तु मिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां 'लक्ष्मी' निहिताधि वाचि ॥
—ऋक्संहिता १०।७१।२।

१–दीपावलीपर्व की व्यापक–उत्सवपरायणता में संस्कृतिविरोधियों का भी समावेश—

आज हम उस महान् पर्व का संस्मरण करने जारहे हैं, जिस के बाह्य–भौतिक–आकर्षण से न केवल भारतराष्ट्र ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व ही सर्वात्मना मनसा–वाचा–कर्म्मणा आकर्षित बनता हुआ अपनी उत्सव-परायणता ही मानो अभिव्यक्त कर रहा है । भारतराष्ट्र का यह महान् राष्ट्रीय पर्व अपने मूलस्वरूप से सर्वात्मना आत्मभाव, तथा देवभाव से नित्य समन्वित रहता हुआ भी अपने तथाकथित बाह्य-भौतिक–स्वरूप के आकर्षण से उन वर्गों का भी आराध्य–उत्सव प्रमाणित हो रहा है, जो वर्ग भारतीय ऋषिप्रज्ञा के द्वारा व्यवस्थित आत्म–देवानुगत सांस्कृतिक–सूत्रों के प्रति न केवल निरपेक्ष–तटस्थ ही हैं, अपितु उन्मुक्तहृदय से जो वर्ग-विशेष उद्घोषितरूप से भारतीय–सनातन–ईश्वरात्मा, विश्वविभूतिरूप, ईश्वरीय–शक्तिरूप विभिन्न देवता, आत्म–देव–निबन्धन श्रौत–स्मार्त्त–आचारधर्म्म, आदि आदि यच्चयावत् सांस्कृतिक–आचारों, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों के प्रति अपने आपको सर्वथा विरोधी ही प्रमाणित करते आरहे हैं ।

२–अनात्मवादी भारतीय मतवाद, और उनकी भारतीय-संस्कृति के प्रति विवशतानुगता अनुगति—

इसप्रकार जो वर्गविशेष भारतीय मूलसंस्कृति के मूलाधारभूत–मूलप्रवर्त्तक निगम–आगम–पुराणादि शास्त्र में उपवर्णित रक्षाबन्धन-विजयदशमी–व्रत–उपवास–आदि आदि यच्चयावत् सांस्कृतिक–आचारों, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों के उपहास में हीं अपना प्रज्ञा–पौरुष रिक्त करते रहते हैं, वैसे कृपालु वर्गविशेष भी विदित नहीं–क्यों उसी निगमागमशास्त्र के आधार पर प्रतिष्ठित भगवान् विष्णु की अर्द्धाङ्गिनी महालक्ष्मी की उपासना, पूजन–ध्यान–आदि से सम्बन्ध रखने वाले दीपावली–महोत्सव में सोल्लास समाविष्ट होते रहते हैं ? । इस प्रासङ्गिक क्यों ? का इसके अतिरिक्त–और क्या उत्तर हो सकता है कि, भारतीय सांस्कृतिक–आयोजन सृष्टि की मूलाधिष्ठात्री सुसूक्ष्मा जिस महामाया जगज्जननी जगदम्बा के सनातन–विधि–विधानों के द्वारा

व्यवस्थित हुए हैं, उस महाशक्ति से सम्बन्ध रखने वाले नित्यसिद्ध--विधिविधानों का 'न' 'न' करते हुए भी--**'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'-'कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्-करिष्यस्यवशोऽपि तत्'** इत्यादि आप्त सिद्धान्तानुसार विवश बन कर अनुगमन करते रहना हीं पड़ता है गच्छतः--स्खलन--रूप से उन आत्म--देवविरोधी, अतएव भारतीय-संस्कृतिविरोधी वर्गविशेषों को भी।

३-संस्कृतिविरोधी--अनात्मवादी मानवों के लिए भारतीय संस्कृति की कल्याणकामना-

'न त्वहं तेषु-ते मयि' रूपेण बहुत सम्भव है आत्मब्रह्मका साक्षात्‌रूप से उन पर अनुग्रह न हुआ हो। किन्तु तदपि आत्मसंस्कृति की, तदनुप्राणिता देवसंस्कृति की व्यापकता से तो वे अपना परित्राण नहीं हीं कर सकते। यही तो वह प्रतीकविधि है, जिसके माध्यम से ईश्वरसत्ता के महान् प्रचारक सर्वश्री श्रद्धेय **उदयनाचार्य्य** महाभाग ने अपने सुप्रसिद्ध **'न्यायकुसुमाञ्जलि'** नामक ग्रन्थ के उपसंहार में आत्मदेव-सत्ताविहीन ऐसे ईश्वरसत्ताविरोधियों के कल्याण के लिए भी परमकारुणिक जगदीश्वर से प्रार्थना कर देना अपना महान् सांस्कृतिक कर्त्तव्य मान लिया है इन शब्दों में कि—

> **इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोऽभिराक्षालिते—**
> **येषां नास्पदमादधाति हृदये, ते शैलसाराशयाः।**
> **किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः—**
> **काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः॥**
>
> —न्यायकुसुमाञ्जलिः ५।१८।

४-दीपावलीपर्व के बाह्य स्वरूप की सुपरिचितता—

सर्वाकर्षण की मूलाधिष्ठात्री सदाशिवविष्णु की अर्द्धाङ्गिनी महामाया **'कमला'** (लक्ष्मी) से प्रधान सम्बन्ध रखने वाले उसी महान् सांस्कृतिक **'दीपावलीमहोत्सव'** नामक पर्वविशेष के सम्बन्ध में तद्भक्तों के प्रति निगमागमदृष्ट्या हमें दो शब्द निवेदन कर देने हैं। सर्वविदित, एवं सर्वानुगत इस दीपावलीपर्व की इतिकर्त्तव्यता के बाह्य-भौतिक-यशोवर्णन के सम्बन्ध में इसलिए विशेष वक्तव्य नहीं है कि, इस महोत्सव के बाह्य-भौतिक-आचारों के पारदर्शी, अर्थशक्तिप्रधान, भारतीय भलन्दनवंशावतंस-वैश्य महाभागों के निग्रहात्मक अनुग्रह से आबालवृद्धवनिता, आमूर्खविद्वज्जन, सभी इस पर्वोत्सव के बाह्य स्वरूप से सर्वात्मना सुपरिचित हैं। यदि इस परिचय में कहीं कुछ थोड़ा बहुत अज्ञात-अविदित भी है, तो विगत दो शताब्दियों से एकमात्र इसी के बाह्य स्वरूप के आराधन में मनोयोगपूर्वक-अनन्यनिष्ठा से प्रवृत्त भारतवर्ष के तथाकथित वैश्यमहाभागों के द्वारा नव-नवरूपेण आविष्कृत आर्थिक-तन्त्राविष्कारों की महती कृपा से वह शेषांशभूत अज्ञात-अविदित भाग भी निकट-भविष्य में हीं सर्वात्मना सम्प्रज्ञात-सुविदित बन ही जायगा, निश्चयेन बन ही जायगा, जिस सम्प्रज्ञातारूपा असम्प्रज्ञाता 'समाधि' का अन्तिम परिणाम वही हुआ करता है, जिस परिणाम, किंवा दुष्परिणाम के कारण हीं सत्तातन्त्र के प्रतीक **सुरथ राजा** को तो राज्यश्री से वञ्चित हो जाना पड़ा था, एवं वणिक्तन्त्र के प्रतीक **'समाधि वैश्य'** को इसी मोहसमाधि से परिवारश्री से पृथक् हो जाना पड़ा था।

५--दीपावलीपर्व से अनुगणित अभ्युदय, तथा निःश्रेयस्--पथ—

तन्माभूत्, तथा माभूत्। एकमात्र इसी माङ्गलिक उद्देश्य से महालक्ष्मी के आराधनोपासन से सम्बन्ध रखने वाले 'दीपावलीपर्व' के सर्वानुभूत–सर्वविज्ञात–बाह्य–भौतिक–स्वरूप के मूलप्रतिष्ठात्मक अत्यन्त सुसूक्ष्म सांस्कृतिक उस शक्तिस्वरूप की ही आराधना में हमें प्रवृत्त होना है, जिस आराधना के बल पर ही महालक्ष्मी-स्वरूपिणी योगमाया का वैसा ही अनुग्रह हमें प्राप्त होता रहता है, जिससे लोकाभ्युदय का भी संरक्षण–परि-वर्द्धन गतार्थ बनता रहता है, एवं आत्मानुगता निःश्रेयससिद्धि भी गतार्था बन जाती है। ओमित्येतत्।

६-समुद्रमन्थनाख्यान-निबन्धन-चतुर्दश रत्नों का संस्मरण—

पुराणशास्त्र–श्रवण–मनन-निष्ठ श्रद्धालु मानवश्रेष्ठों से यह परोक्ष नहीं है कि, माता लक्ष्मी का प्रादुर्भाव समुद्र में हुआ है, होरहा है आज भी, एवं आकल्पान्त होता रहेगा। कौनसा वह समुद्र है, जिसमें माता कमला का आविर्भाव हुआ ?, किसने कैसे कब इसे आविर्भूत किया ?, इत्यादि रहस्यपूर्ण प्रश्नों के तात्त्विक स्वरूप- समाधान के लिए ही सुप्रसिद्ध -'**समुद्रमन्थनाख्यान**' व्यवस्थित हुआ है, जिसके यथावत् स्वरूपबोध के लिए तो पुराणशास्त्र का निष्ठापूर्वक अध्ययन–मनन ही अनिवार्य्य माना जायगा। कूर्म्मपृष्ठरूप भगवान् विष्णु की पृष्ठप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित 'मन्दर' नामक 'अचल' (पर्वत) ही वह मन्थनदण्ड (रई-दण्ड) है, जिसके संघर्षरूप मन्थन से समुद्र फेनमय बना हुआ है। प्रचण्ड–विषधर अनन्त शेषनाग ही वह मन्थनरज्जु (मन्त्रननेत्र) है, जिसके फणरूप मुखभागों को तो दितिपुत्र दैत्य–असुरों ने पकड़ रक्खा है, एवं पुच्छभाग अदितिपुत्र देवताओं के द्वारा गृहीत है। देवासुरमण्डल के द्वारा प्रचण्ड–दोर्दण्डबलमाध्यम से अनन्तनागनेत्र से चक्रायित मन्दरपर्वत से मथ्यमान महासमुद्र के महाफेनों से ही कालकूट नामक **महाविष**, कामगर्वी नाम की **कामधेनु** (गौ), **उच्चैःश्रवा** नामक '**श्वेत अश्व**' **ऐरावत** नामक **श्वेतगज**, **कौस्तुभ** नामक **पद्मरागमणि**, कल्पवृक्ष नामक स्वर्गीय **पारिजातवृक्ष**, देवासुरविमोहिनी **अप्सरा**, **महालक्ष्मी**, **चन्द्रमा**, **वारुणि**, **धन्वन्तरि**, **अमृतघट**, आदि सुप्रसिद्ध १४ महारत्न* प्रादुर्भूत हुए हैं, जिनसे महान् विश्व सर्वात्मना सुसमृद्ध बना हुआ है।

७-भारतीय सत्तातन्त्राधीश्वर के १४ रत्न—

इसी प्राकृतिक चतुर्दशविध-सुसमृद्धिभाव का निदानभाव से अपने सत्तातन्त्र में समन्वय करने के लिए भारतीय सत्ताधीश १४ प्रकार के रत्नों का सहयोग-प्राप्त करना आवश्यक मानता है (मानता था), जिन सत्तातन्त्रीय

***-चतुर्दश (१४) रत्नों का एक दृष्टिकोण—**

१—सोम (ब्रह्मणस्पति-सत्यसोम)
२—श्री (महालक्ष्मी)
३—अप्सरा (दिशाएँ)
४—तुरग (उच्चैःश्रवा)
५—कौस्तुभमणि (अश्मासोम)
६—पारिजात (ओषधिसोम)
७—कालकूट (रुद्रवायु)
८—धन्वन्तरि (भिषक्प्राण-आपो वै भेषजम्)
९—वारुणि (वृत्रमयी आपः)
१०—अमृत (ऋतसोम)
११—सुरभि (कामधेनु)
१२—ऐरावत (सौम्य–विधर्त्ता–प्राणवायु
१३–छत्र (स्वायम्भुव अर्द्धाण्डकटाह)
१४–कुण्डल (सौर–रुक्मज्योति)

१४ रत्नों में से क्रमशः–चक्र, रथ, मणि, सचर्म्म खड्ग (ढालयुक्त खड्ग), रत्न, केतु (ध्वजा), निधि, ये सात–'असंज्ञरत्न'–नामों से, तथा–राजमहिषी, महाअमात्य, सेनानी, रथी, क्षत्ता अश्व, कलभ, ये सात 'ससंज्ञ (प्राणी) रत्न' नामों से प्रसिद्ध हैं ÷ ।

८–त्रैलोक्य–त्रिलोकीरूप महान् विश्व के तीन महासमुद्र—

समुद्रमन्थनाख्यान का 'त्रिःसत्या वै देवाः' इस अनुगम श्रुति के अनुसार परस्पर–सर्वथा विभिन्न तीन सृष्टिधाराओं के विभेद से तीन प्रकार से समन्वय किया जा सकता है। क्योंकि तीनों हीं सृष्टिधाराओं के मूलाधार तीन महासमुद्र बने हुए हैं। तीनों हीं महासमुद्रों में देवासुर प्रतिष्ठित हैं। तीनों ही देवासुरयुग्म समुद्रमन्थन कर रहे हैं। एवं तीनों हीं समुद्रमन्थनों से चतुर्दश–चतुर्दश–रत्न आविर्भूत हो रहे हैं। त्रैलोक्य-त्रिलोकी के सम्बन्ध से महाविश्व में तीन त्रैलोक्य प्रसिद्ध हैं, जो क्रमशः **संयतीत्रैलोक्य, क्रन्दसीत्रैलोक्य-** एवं **रोदसीत्रैलोक्य,** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों के अन्तरिक्षरूप तीन महासमुद्र क्रमशः **नभस्वान्–सरस्वान्–अर्णव**–नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों महासमुद्रों के मन्थन से ही विश्वस्वरूपसमृद्धि स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है।

९–समुद्रत्रयानुगता संयती–क्रन्दसी–रोदसी–त्रिलोकियों की अधिष्ठात्री महाकाली, महासरस्वती, महालक्ष्मी- शक्तियों का संस्मरण—

स्वयम्भुमूला सृष्टिविद्या का आधार नभस्वान्समुद्र है, सूर्य्यमूला सृष्टिविद्या का आधार सरस्वान्समुद्र है, एवं पृथिवीमूला सृष्टिविद्या का आधार अर्णवसमुद्र है। संयतीत्रैलोक्य का सम्बन्ध नभस्वान्–समुद्रमन्थन से है, क्रन्दसीत्रैलोक्य का सम्बन्ध सरस्वान्–समुद्रमन्थन से है, एवं रोदसीत्रैलोक्य का सम्बन्ध अर्णव-समुद्रमन्थन से है। संयतीत्रैलोक्य के नभस्वान्–समुद्र के मन्थन से समुद्भूता वही विश्वलक्ष्मी **महाकाली** कहलाई है, क्रन्दसी-त्रैलोक्य के सरस्वान्-समुद्र के मन्थन से समुद्भूता वही विश्वलक्ष्मी **महासरस्वती** कहलाई है, एवं रोदसी-

---

÷–चक्रं, रथो, मणिः, खड्गचर्म्म, रत्नञ्च पञ्चमम् ॥
केतु, र्निधिश्च. सप्तैवमप्राणानि प्रचक्षते ॥१॥
भार्य्या, पुरोहितश्चैव, सेनानी, रथकृच्च यः ॥
पत्न्यश्वौ कलभश्चैव प्राणिनः सप्त कीर्तिताः ॥२॥

—विष्णुपुराण ४ अंश । १२ अध्याय ।

शतपथब्राह्मणान्तर्गत राजसूयप्रकरण में जिन १४ रत्नों का संग्रह हुआ है, वे इन नामों से प्रसिद्ध हैं–१–सेनानी, २–पुरोहित, –सूयमान, ४–महिषी, ५–सूत, ६–ग्रामणी, ७–क्षत्ता, ८–सारथि, ९–सव्यष्ठा, १०–भागधुक्, ११–अक्षावाप, १२–गोविकर्त्ता, १३–पालागल, १४–परिवृक्ति। (देखिए शतपथब्राह्मण ५।३।२ ब्राह्मण) ।

लोक्य के अर्णव-समुद्र के मन्थन से समुद्भूता वही विश्वलक्ष्मी **महालक्ष्मी** नाम से प्रसिद्ध हुई है। यों एक ही अव्यक्ता प्रकृति **अव्यक्ता-व्यक्ताव्यक्ता-व्यक्ता**-रूप से त्रिधा विभक्त होकर क्रमशः **काली-सरस्वती-लक्ष्मी**-रूप से प्रसिद्ध हो रही है।

१०-मूलप्रकृतिरूपा महत्प्रकृति, और उसके विलक्षण त्रिगुणभाव—

तीनों की मूलप्रकृति का नाम हीं 'महत्प्रकृति' है, जो **सत्त्व-रजः-तमो**-रूप त्रिगुणभावों से समन्वित है। **सत्त्वप्रधाना स्वायम्भुवी महाकाली, रजःप्रधाना सौरी महासरस्वती,** एवं **तमःप्रधाना पार्थिवी महालक्ष्मी,** रूप से महत्प्रकृति ही गुणभेद से यों तीन त्रैलोक्यों की सर्वस्व-प्रतिष्ठा बन रही है। और यही सत्त्व-रज-स्तमो-गुणात्मिका महत्प्रकृति का एकप्रकार का समन्वय है, जबकि विभिन्न सृष्ट्यनुबन्धों के भेद से आगे चल कर इन तीनों गुणों के, तथा गुणत्रयात्मिका प्रकृति के काली-सरस्वती-लक्ष्मी-नामक महिमा-विवर्त्तों के परस्पर विनिमय-सम्बन्ध समन्वित हो जाते हैं। अतएव कुत्रचन काली तमोगुणान्विता, सरस्वती सत्त्वगुणान्विता, एवं लक्ष्मी रजोगुणान्विता बन रही है। विभिन्न सृष्ट्यनुबन्धों की दृष्टि से सभी विभिन्नदृष्टिकोणों का निर्विरोध समन्वय हो जाता है। **'न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः'** के अनुसार विश्वमूर्त्ति अजपुरुष की प्रकृतिभूता इस अजाशक्ति का स्वरूप भी तत्प्रत्यंशांशभूत मानव कदापि 'इदमित्थमेव' रूप से निर्द्धारित नहीं कर सकता, नहीं कर सकता। विश्वस्वरूपदृष्ट्या सबकुछ सुनिश्चित-सुव्यवस्थित-गणनसिद्ध होने पर भी मानव की प्राकृता-जड़बुद्धि कदापि अपने जड़जीवन में तत्समन्वय--साक्षात्कार में नितान्त असमर्थ ही तो मानी जायगी।

११--समुद्रमन्थनाधारभूत कूर्म्म, एवं कूर्म्मपृष्ठात्मिका कूर्म्मत्रिलोकी—

जिस कूर्म्मपृष्ठ पर समुद्रमन्थन होता है, वह कूर्म्मपृष्ठ आदित्यमय वह द्युपृष्ठ है, जिससे **'कश्यप-त्रिलोकी'** का स्वरूपनिर्म्माण माना है निगमाचार्य्यों नें। 'कूर्म्म' शब्द का लौकिक अर्थ है कछुआ। कछुए का पृष्ठभाग छत्रवत् वर्त्तुल होता है, एवं बुध्न (पैंदा-अधोभाग) प्रदेश सर्वथा समधरातलवत् है। ठीक यही आकार कश्यपत्रैलोक्यरूप द्यावापृथिव्य मण्डल का है। किसी भी निरावरणप्रान्त में खड़े होकर आप जब भी धरातल, और आकाश पर दृष्टि डालेंगे, तो आपको इस द्यावापृथिवी का आकार कछुए जैसा ही दिखलाई देगा। भूधरातल-सम, एवं आकाश छत्रवत् वर्त्तुल प्रतीत होगा। पार्थिव दिक्सीमाएँ वर्त्तुलरूप से आकाश-छत्रसीमा से समन्वित प्रतीत होंगीं, और यही कूर्म्मस्वरूप का साक्षात् स्वरूपदर्शन माना जायगा।

१२-पारमेष्ठ्य विष्णु का नित्य कूर्म्मावतार, एवं वेदशास्त्र के कूर्म्मप्रजापति—

इस कूर्म्मत्रैलोक्य के अधिष्ठाता माने गए हैं भगवान् सूर्य्यनारायण। सौर आदित्यप्राण इस तथाविध त्रैलोक्य में कूर्म्माकार में परिणत होकर ही पार्थिव त्रैलोक्यप्रजा के सर्ज्जक बनते हैं, जैसाकि-**'एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः-प्रजा असृजत'** इत्यादि से स्पष्ट है। इसीरूप से ये द्रष्टा हैं, पश्यक हैं विश्व के। अतएव इन्हें **'पश्यकः'** कहा गया है, जो कि **'पश्यकः'** शब्द ही वर्णविपर्य्यय से-**'कश्यपः'** रूप में परिणत हो रहा है। यही 'कश्यपः' **'कूर्म्मप्रजापति'** है, जिसमें पार्थिव त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-रूप भूः-भुवः-स्वः-नामक त्रैलोक्य प्रतिष्ठित हैं। यह स्तौम्य-पार्थिव-त्रैलोक्य ही तद्व्याप्त-कूर्म्माकार-आदित्यप्राण-के सम्बन्ध

से–'कश्यपत्रिलोकी' कहलाया है। यही अग्नीषोमात्मक यज्ञमूर्त्ति, अतएव विष्णुमूर्त्ति भगवान् का नित्य कूर्म्मावतार है, जिसका परिधिरूप द्युपृष्ठ ही कूर्म्मपृष्ठ है, जिसे 'कमठपृष्ठ' भी कहा गया है। अश्मासोम के सम्बन्ध से अत्यन्त ही घनावयव–दृढ़ावयव–ध्रुवावयव–बने रहने वाले इस कूर्म्मपृष्ठ पर ही मन्दराचल–भ्रमण से समुद्रमथन–प्रक्रान्त है। समुद्रमन्थनाधारभूत इसी कूर्म्मप्रजापति के तथोक्त द्यावापृथिव्य,–दधि, घृत, मधु–रसात्मक स्वरूप को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है—

(१) सोऽकामयत--आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयमिति। तां संक्लिश्याप्सु प्राविध्यत्। तस्यै यः पराङ्रसोऽत्यक्षरत्, स कूर्म्मोऽभवत्।

—शत० ६।१।१।११।

(२)–यो वै स एषां लोकानां--अप्सु प्रविद्धानां पराङ्रसोऽत्यक्षरत्-स एष कूर्म्मः। तस्य यदधरकपालं--अयं स लोकः। तत्प्रतिष्ठितमिव--भवति। अथ यदुत्तरं--सा द्यौः। तद् व्यवगृहीतान्तमिव भवति। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत--अकरोत्--तत्। यदकरोत्--तस्मात् कूर्म्मः। कश्यपो वै कूर्म्मः। तस्मादाहुः--सर्वाः--प्रजाः काश्यप्यः--इति। स यः स कूर्म्मः--असौ स आदित्यः।

—शत० ७।५।१। १ से ६ पर्य्यन्त

१३-कश्यपमूर्त्ति कूर्म्मप्रजापति, एवं तदाधार पर प्रतिष्ठित ज्योतिर्म्मय मन्दराचल—

इस कश्यपमूर्त्ति–कूर्म्मप्रजापति (आदित्यप्रजापति) का क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न–हिरण्मय तेजोरूप केन्द्रानुगत–स्थिर–द्यावापृथिव्य–अवारपारीण–स्तम्भ ही वह अचल तत्त्व है, जिसका–'स्कम्भविद्या' रूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। एवं जो ज्योतिर्म्मय त्रैलोक्यपारावारीण स्कम्भ ही अव्यक्त–अमूर्त–प्रकृतिभावों का व्यक्त–मूर्त–लिङ्ग–(परिचायक) बनता हुआ पुराणशास्त्र में 'ज्योतिर्लिङ्ग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सौर सावित्राग्निपुञ्जरूप–केन्द्रानुगत यही ज्योतिर्लिङ्ग भूकेन्द्र से आरम्भ कर स्वायम्भुव परमाकाश पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला वह 'स्कम्भ' (स्तम्ब–थम्बा) है, जिस पर त्रैलोक्य त्रिलोकीरूप महाविश्व प्रतिष्ठित है। सौर सावित्राग्नि इन्द्रप्राणमय है। अतएव अथर्वश्रुति ने इस ज्योतिर्म्मय स्कम्भ को 'इन्द्रात्मक' भी कह दिया है *। केन्द्रप्रतिष्ठाभाव ही इस स्कम्भ की अचलता है। एवं इस अचल–स्कम्भ के आधार पर ही

---

*–स्कम्भे लोकाः, स्कम्भे तपः, स्कम्भे ध्यृतमाहितम्॥
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम्॥१॥
इन्द्रे लोकाः, इन्द्रे तपः, इन्द्रे ध्यृतमाहितम्॥
इन्द्र त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥२॥

—अथर्वसंहिता १० का०।७।२९,३०।

विश्वसमृद्धिजनक समुद्रमन्थनकर्म्म प्रक्रान्त है । द्यावापृथिव्य-कूर्म्ममूर्त्ति-प्रजापति के पृष्ठ से संलग्न अचलमूर्ति-महासमुद्रगर्भीभृत-ज्योतिर्म्मय-अग्निमय ऐन्द्र-स्कम्भ ही वह 'मन्दराचल' है, जिसे 'मन्थनदण्ड' बना रक्खा है स्वयम्भू-प्रजापति ने ÷ ।

१४--मन्दराचलरूप मन्थनदण्ड के द्वारा समुद्रमन्थन,--एवं मन्थनरज्जुरूप वासुकिनाग का स्वरूपपरिचय—

सौर-कान्तिवृत्तात्मक-ज्योतिर्म्मय-स्कम्भरूप मन्दराचल नामक मन्थनदण्ड जिस मन्थननेत्र (मन्थन-रज्जु) से समन्वित है, वह सर्पणशील प्रचण्ड प्राणात्मक वायु ही है, जिसे 'नाग' कहा गया है निदानविधि से । × । समुद्रमन्थन से मथ्यमाना त्रिगुणात्मिका प्रकृति में एक ओर यदि विश्वशान्तिकर सत्त्वभाव है, तो दूसरी ओर अशान्तिकर तमोभाव भी इसी के क्रोड़ में विराजमान है ।

१५--समुद्रमन्थनकर्त्ता देवता, और असुरों का स्वरूपपरिचय—

मन्थन करने वाले प्राणदेवता, और असुर, दोनों हीं तो हैं । सत्त्वभावानुगत सौर ऐन्द्र देवप्राण, तथा तमोभावानुगत वारुण असुरप्राण, दोनों से मथ्यमाना प्रकृति का गुण-दोषात्मिका रहना सर्वथा स्वरूपानुरूप ही तो माना जायगा । इसी आधार पर तो-'**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**' (गीता) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है । देवासुरप्राणात्मिका प्रकृति से आविभूंत विश्व में सभी पदार्थ मात्रातारतम्य से उभयात्मक ही बने हुए हैं *, जैसाकि-'**त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम्**' (गीता ७।१३)-इत्यादि से भी स्पष्ट है । '**गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी**' रूपेण गुणात्मक सत्त्वभाव, एवं दोषात्मक तमोभाव से समन्विता प्रकृति के अव्यक्तरूप से व्यक्त होने वाले विश्व में दैवीसम्पत्, आसुरीसम्पत्, दोनों का ही सहज संघर्ष अनादिकाल से ही प्रक्रान्त है, यावच्चन्द्रदिवाकरौ प्रक्रान्त ही रहेगा । इन दोनों के माध्यम से ही

÷--न मा मर्त्यः कश्चन दातुमर्हसि विश्वकर्म्मन्भौवन 'मन्द' आसिथ ।।
उपमङ्क्ष्यति स्या सलिलस्य मध्ये मृषैष ते संगरः कश्यपाय ।।
—शत० ब्रा० १३।७।१।१५।

मन्द इत्येष यो धातुरपामर्थे प्रकाशकः ।।
अपां विदारणाच्चैव 'मन्दरः' स निगद्यते ।। [मत्स्यपुराण-१२१।६१।]

×--मन्थानं मन्दरं कृत्वा, तथा नेत्रञ्च वासुकिम् । —महाभारत १।१८।१३।

*--न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ।। —गीता १८।४०।

अमृत, मृत्यु—दोनों परिणाम यथागुण—यथाप्रकृति व्यवस्थित हुए हैं। दैवानुगत सत्त्वभावानुबन्ध से मथ्यमाना वही प्रकृति अमृतफल की सर्जिका बनती है, एवं आसुरानुगत तमोभावानुबन्ध से मथ्यमाना वही प्रकृति मृत्यु की प्रवर्त्तिका बनती है। ÷।

१६—समुद्रमन्थन से आविर्भूत जीवनीय अमृतरस का स्वरूपपरिचय, एवं अमृतरस-संरक्षक गन्धर्व, तथा विषाक्त नागप्राण—

अमृतभाव सोमप्रधान है, जिससे यज्ञकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। मृत्युभाव कालकूट विषात्मक है, जिस से यज्ञकर्म्म का स्वरूप उच्छिन्न होता रहता है। कालकूट महाविष भी उसी प्रकृति की प्रसूति है, एवं सोमामृत भी उसी की प्रसूति है। सुप्रसिद्ध है कि, तीसरे द्युलोक में अवस्थित अमृत सोम की गन्धर्व रक्षा कर रहे हैं, एवं साथ ही विनता के पुत्र प्रचण्ड विषधर नागों नें भी इस सोम का रक्षण कर रक्खा है। परमेष्ठी ही वह तीसरा द्युलोक है, जिसमें-'**तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्**' इत्यादि के अनुसार यज्ञस्वरूप-सम्पादक-देवबलवर्द्धक-अमृतसोम प्रतिष्ठित है।

आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के सौम्य--प्राणविशेष का नाम हीं 'गन्धर्व' है। एवं पारमेष्ठ्य--सर्पणशील--प्रचण्ड--उग्र--विषाक्त--वायव्यप्राण हीं सर्पणशील वे विषधर अनन्त-वासुकी--कर्कोटकादि नाग हैं, जिन प्राणनागों के अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से ही पार्थिवी काश्यपी सृष्टि में प्राणीविध वासुकी--तक्षक--कर्कोटक आदि नागजातियाँ उत्पन्न हुईं हैं *।

१७—समुद्रमन्थन से सर्वप्रथम आविर्भूत 'कालकूट' नामक महाविष, एवं तत्पानकर्त्ता आधिदैविक, तथा आध्यात्मिक नीलकण्ठ आदिदेव महादेव—

सर्पजातियों के मूलप्रभव प्राणात्मक पारमेष्ठ्य विषाक्तप्राणात्मक नाग हीं मन्थननेत्र बनते हैं समुद्रमन्थनकर्म्म के। और इस मन्थनकर्म्म से सर्वप्रथम कालकूट नामक महाहालाहल-विष ही उत्पन्न होता है, जिसका विश्वस्वरूपसंरक्षक आदिदेव भगवान् महादेव पान कर लेते हैं, एवं तभी से ये '**नीलकण्ठ-महादेव**' नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं। पारमेष्ठ्य-अन्नसोमात्मक अमृत से समन्वित विष का पान कर सचमुच महादेव नीलकण्ठ—शितिकण्ठ ही प्रमाणित हो रहे हैं। वह पारमेष्ठ्य अन्नसोम प्रचण्ड रुद्राग्निमूर्त्ति सौर सावित्राग्नि में हीं आहुत होता है, जिस सोम का विषभाग सौरसावित्राग्नि के द्वारा ही सौरमण्डल में

÷—**दैवीसम्पद्विमोक्षाय, निबन्धायासुरी मता।**
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव!॥ —गीता १३।५।

* **अनन्तं-वासुकिञ्चैव-कम्बलञ्च-महाबलम्॥**
कर्कोटकञ्च राजेन्द्र! पद्मं चान्यं सरीसृपम्॥१॥
महापद्मं-तथा शङ्खं-कुलिकञ्चापराजितम्॥
एते कश्यपदायादाः प्रधानाः परिकीर्त्तिताः॥२॥ (पुराण)

हीं नियन्त्रित होजाता है। अतएव–'**नीलग्रीवो विलोहितः**' (यजुःसंहिता १६।७।) इत्यादि के अनुसार सौररुद्रदेवता 'नीलग्रीव' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं, जो 'नीलग्रीव' शब्द ही पुराण में–'नीलकण्ठ' नाम से प्रसिद्ध होगया है। मानव सायं प्रातः जिस अन्न की शारीराग्नि में आहुति देता है, उसमें भी (महाविश्व–मर्य्यादावत्) विष की मात्रा समाविष्ट है। कहते हैं–भुक्तान्न की वह विषमात्रा गले से नीचे नहीं जाने पाती। अपितु ललाटप्रदेश में स्थित आध्यत्मिक महादेव के द्वारा विषयन्त्रमाध्यम से अन्न का वह विषभाग मानवग्रीवा में हीं नियन्त्रित होता हुआ ऊर्ध्व निनिर्गत हो जाता है, एवं विषरहित शुद्ध अमृतरस ही मानव के आध्यात्मिक प्राणाग्निदेवताओं का संरक्षण करता है। ग्रीवा में जो एक बहिर्विनिःसृता–अस्थि है, वही वेद में 'विषयन्त्र' कहलाई है, यहीं पर भुक्तान्न के अमृत (सोम) मृत्यु (विष) का विभाजन होता है। और यों प्रजा विषशून्य अमृतान्नाहुतिग्रहण में समर्थ बनती रहती है।

१८–समुद्रमन्थनद्वारा लोकलक्ष्मीलक्षणा महालक्ष्मी का प्रादुर्भाव—

प्रकृत में निवेदन यही करना है कि, पारमेष्ठ्य विषाक्तप्राणरूप वायव्य तत्त्व ही वह नाग है, जिसके द्वारा स्कम्भरूप मन्दराचल नामक पर्वत मन्थानदण्डस्थानीय बनता है। और यों इन साधनपरिग्रहों से वह समुद्रमन्थन प्रक्रान्त होता है, जिसकी एक विशेष प्रसूति का नाम हीं '**महालक्ष्मी**' है, जिसे आधार बनाकर ही हमें '**दीपावलीपर्व**' नामक सांस्कृतिक आयोजन का समन्वय करना है।

१९–पारमेष्ठ्य महासमुद्र से आविर्भूता महालक्ष्मी का परमेष्ठीप्रजापति के विराट्पुत्र अब्गर्भित–सदाशिवमूर्त्ति भगवान् सूर्य्यनारायण (विष्णु) के साथ परिणय–सम्बन्ध—

पारमेष्ठ्यसमुद्र से समुद्रमन्थन के द्वारा देवासुरों के–दोनों के–श्रम–तप–अध्यवसाय से आविर्भूता महालक्ष्मी का वरण होजाता है पारमेष्ठ्य सदाशिवमूर्त्ति उन विष्णु भगवान् के साथ, जो विष्णु पारमेष्ठ्य–'नार' रूप आमोमय समुद्र को अपना आवास–निवास बनाने वाले 'नारायण' (सूर्य्यनारायण) रूप से विख्यात हैं त्रैलोक्य में। लक्षण हुआ करता है 'व्यक्त' का। एवं महालक्ष्मी का व्यक्तभाव आविर्भूत हुआ है सौरमण्डल में।

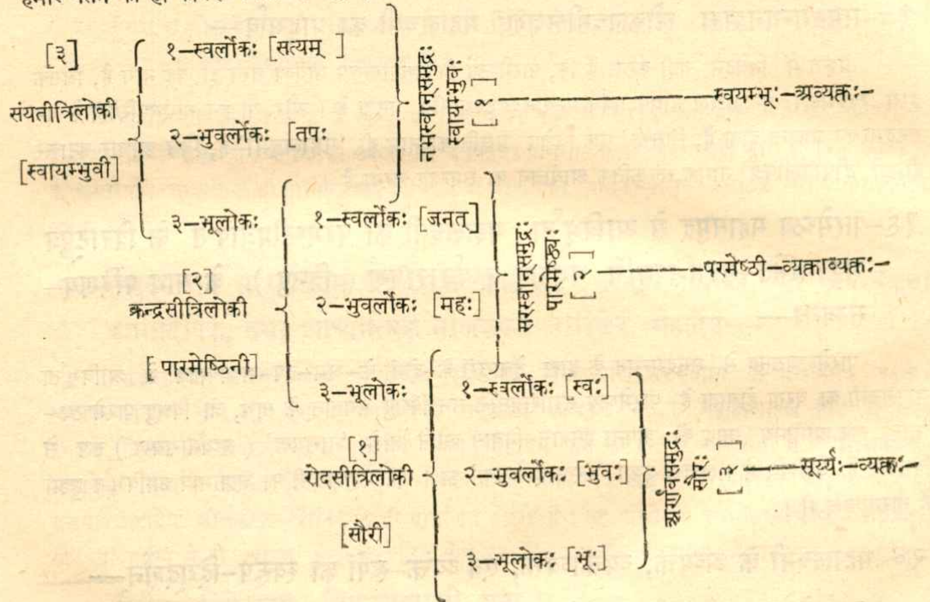
२०–महालक्ष्मी के अव्यक्त, व्यक्ताव्यक्त, एवं व्यक्त–रूपों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

सूर्य्य से परस्तात् अवस्थित आपोमय परमेष्ठी में जहाँ इसी शक्तितत्त्व का व्यक्ताव्यक्त स्वरूप प्रतिष्ठित है, तत्पर अवस्थित प्राणमय स्वयम्भू में जहाँ इसी प्रकृति का केवल अव्यक्त स्वरूप प्रतिष्ठित है, वहाँ व्यक्त स्वरूप तो एकमात्र सौरमण्डल में हीं अभिव्यक्त हुआ है। अतएव नामनिर्वचन–मर्य्यादानुगत 'लक्ष्मी' शब्द तो * व्यक्तभाव का ही समर्थक बना हुआ है। इसका 'व्यक्ताव्यक्त'

---

*–'लक्ष' दर्शनाङ्कयोः (चु० प० से०)–लक्षेर्मुट् च (उणा० ३।१६०।) इति 'ई' प्रत्ययः, तस्य च मुट्–इति–'लक्ष्मीः'।

रूप पारमेष्ठ्यरूप जहाँ '**सरस्वती**' कहलाया है, वहाँ अव्यक्तरूप-'स्वायम्भुवरूप' अनुपाख्यतमः सम्बन्ध से '**काली**' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। यों एक ही पराशक्ति-प्रकृतिदेवी **स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-**रूपेण अपने **अव्यक्त-व्यक्ताऽव्यक्त-व्यक्त-**भावों से **नभस्वान्-सरस्वान्-अर्णव**-समुद्रानुगता बनती हुई क्रमशः **स्वयम्भुलक्ष्मीरूपा महाकाली, परमेष्ठिलक्ष्मीरूपा महासरस्वती, सूर्य्यलक्ष्मीरूपा महालक्ष्मी,** इन तीन महिमाभावों में परिणत हो रही है। और यही समुद्रमन्थनोत्थिता विश्वलक्ष्मी का प्रारम्भिक वह चिरन्तन-इतिवृत्त है, जिसके माध्यम से ही हमें अब लक्ष्मीपूजनात्मक महान् सांस्कृतिक-दीपावलीपर्व के स्वरूपान्वेषण-समन्वय--में प्रवृत्त होना है। परिलेखद्वारा अवधानपूर्वक इस प्रारम्भिक चिरन्तन-इतिवृत्त को लक्ष्यारूढ कीजिए !, एवं तन्माध्यम से ही आज के उस भारतराष्ट्र की भाग्यलक्ष्मी का अन्वेषण कीजिए !, जो भाग्यलक्ष्मी हमारे सांस्कृतिक-पतनरूप महद् दुर्भाग्य से आज अव्यक्ता 'काली' रूप में परिणत होती हुई हमारे पतन का ही कारण बनती जा रही है।



---*---

१-स्वयम्भूरव्यक्तः——नभस्वान्समुद्ररूपः-अत्र अव्यक्ता विश्वलक्ष्मी--प्रतिष्ठिता-सैव '**काली**'

२-परमेष्ठी-व्यक्ताव्यक्तः-सरस्वान्समुद्ररूपः-अत्र व्यक्ताव्यक्ता विश्वलक्ष्मी-प्रतिष्ठिता-सैव '**सरस्वती**'

३-सूर्य्य-व्यक्तः——अर्णवसमुद्ररूपः-अत्र व्यक्ता विश्वलक्ष्मी——प्रतिष्ठिता-सैव '**लक्ष्मी**'

---*---

२१-महालक्ष्मी का अमृतलक्ष्मीरूप--'श्री' भाव, एवं मर्त्यलक्ष्मीरूप 'लक्ष्मी' भाव—

व्यक्ता-महालक्ष्मी के व्यक्त-आवासरूप-अप्समुद्रगर्भित भगवान् सूर्य्यनारायण विश्व के साक्षी (लोकसाक्षी-जगच्चक्षु) बनते हुए विश्वकेन्द्र में 'षोडशीप्रजापति' रूप से प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि विजयदशमी-प्रकरण की **'महाविद्या-षोडशी भगवती'** के यशोगान-परिच्छेदों में स्पस्ट किया जाचुका है (देखिए पृ० सं०४८०)। **'अर्द्ध ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्, अर्द्धममृतम्'** इत्यादि अनुगमश्रुति के अनुसार इस षोडशी-सूर्य्यप्रजापति का अर्द्ध-ऊर्ध्व-भाग अमृतप्रधान है, रसप्रधान है, एवं अर्द्ध अधः-भाग मृत्युप्रधान है, बलप्रधान है। सूर्य्य से पर-ऊर्ध्व-अवस्थित रसप्रधान परमेष्ठी, और स्वयम्भू-भाव **अमृतविश्व** है, एवं सूर्य्य से अधः-अवस्थित बलप्रधान-चन्द्रमा और पृथिवी-भाव **मर्त्यविश्व** है, जैसाकि-**'तद्यत्किञ्च-अर्वाचीनमादित्यात्-सर्वं तन्मृत्युनाऽप्तम्'** इत्यादि से स्पष्ट प्रमाणित है। इन दोनों अमृत-मर्त्य-भावों के मध्य में प्रतिष्ठित केन्द्रस्थ सूर्य्य उभयात्मक बनें हुए हैं। और यों मध्यस्थ सूर्य्य ऊर्ध्वानुगतभावेन **अमृतसूर्य्य**, तथा अधोऽनुगतभावेन **मर्त्यसूर्य्य**, भेदेन दो महिमाभावों में परिणत हो रहे हैं। तदित्थं पञ्चपर्वा विश्व मध्यस्थ सूर्य्य के दो महिमाभावों के अनुबन्ध से षट्पर्वा प्रमाणित हो रहा है, जिसका **स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य्य**, इन तीनों की समष्टिरूप भाग अमृतविश्व कहलाया है, एवं **मर्त्यसूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड**-इन तीनों की समष्टि मर्त्यविश्व नाम से प्रसिद्ध हुई है। ये ही दोनों विश्वविभूतियाँ क्रमशः **'अमृतलक्ष्मी-मर्त्यलक्ष्मी'** नाम से प्रसिद्ध हुई हैं यत्रतत्र पुराणशास्त्र में। अमृता लक्ष्मी का साङ्केतिक नाम है-**'श्रीः'**, एवं मर्त्या लक्ष्मी का साङ्केतिक नाम है-**'लक्ष्मीः'**। श्री, और लक्ष्मी, दोनों शब्द यद्यपि सर्वसाधारण में अभिन्नार्थक ही प्रमाणित हो रहे हैं। तथापि तत्त्वदृष्ट्या दोनों के मौलिक स्वरूप में महान् अन्तर माना गया है, जो अन्तर परिभाषाज्ञान की विलुप्ति से विस्मृतप्राय प्रमाणित हो चुका है। **अमृतरस-प्रधाना लक्ष्मी ही 'श्रीः' है**, एवं मर्त्यबलप्रधाना लक्ष्मी ही 'लक्ष्मी' है। दोनों हीं सदाशिव विष्णुमूर्त्ति भगवान् सूर्य्यनारायण की अर्द्धाङ्गिनीं मानीं गईं हैं, जैसाकि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है—

÷ श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ, अहोरात्रे पार्श्वे, नक्षत्राणि रूपं, अश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥

—यजुःसं० ३१।२२।

२२-सदाशिव विष्णु की श्री, और लक्ष्मी नामक दो पत्नियाँ, एवं 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' मन्त्रार्थ का समन्वय—

भातिसिद्ध सम्वत्सरकाल, एवं सत्तासिद्ध अग्न्यात्मक सम्वत्सरकालमूर्त्ति विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य के त्रैलोक्य-व्यापक स्वरूप को आधार मान कर ही उक्त मन्त्रवर्णन प्रवृत्त हुआ है। केन्द्रस्थ सूर्य्य से ऊर्ध्व अवस्थित स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-श्री भाग, तथा अधः-अवस्थित चान्द्र-पार्थिव लक्ष्मी भाग, दोनों इसके उस अर्द्धाकाश

÷ तैत्तिरीयारण्यक में-**'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ०'** यह पाठ है। 'ह्री' का लोकार्थ है लज्जा, शास्त्रीय अर्थ है-विनय। 'विनय' देवभावप्रधान है, और वह है-अमृता--श्रीरूपा--लक्ष्मी से अनुप्राणित, जैसाकि-'विद्या ददाति विनयम्' से स्पष्ट है।

के पूरक बनते हैं, जिसके लिए–'**सोऽयमाकाशः पत्न्याऽपूर्य्यते**' प्रसिद्ध है। अतएव पूरक–पूर्णताप्रवर्त्तक–सम्वत्सरस्वरूपसम्पादक अमृत–मर्त्यभावापन्न श्री–लक्ष्मीभाव इस सम्वत्सरादित्यपुरुष की 'पत्नी' कहलाई हैं। ३६० अहः चितियाँ, तथा ३६० रात्रिचितियाँ, तदित्थं सम्भूय ७२० संख्यायुक्त इष्टकाचितियाँ (अग्निसोम-चितियाँ) हीं इस सम्वत्सरपुरुष के दक्षिणोत्तर पार्श्व हैं। सोम (रात्रि) गर्भित अहः (अग्नि) चिति-समष्टि आग्नेय दक्षिणपार्श्व है, एवं अग्नि (अहः) गर्भित रात्रि (सोम) चितिसमष्टि सौम्य वामपार्श्व है। अम्बुगोलकात्मक–लोमगर्त्तसमतुलित–नक्षत्र ही इसके बाह्य–भौतिक–रूपसौन्दर्य्य के प्रतीक हैं *। द्यावापृथिवी ही अश्विनीप्राण हैं। यही इस सौरसम्वत्सर का व्याप्तिस्थानरूप मुखस्थान है, जैसाकि '**अश्विनौ हि द्यावा-पृथिव्यौ। इमे हीदं सर्वमश्नुवाताम्**' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है। ऐसे इस सर्वकामपूरक–सम्वत्सर-पुरुष से ही तद्यज्ञानुष्ठाता द्विजाति यही कामना अभिव्यक्त करता रहता है कि–(अर्थात् ऋषि देवभावापन्न मानव को इस प्रजापतिपुरुष से मानो यही कामना व्यक्त करने का आदेश दे रहे हैं कि)–'**इष्णन्–इषाण' कर्म्मफलमिच्छन्–इषाण-इच्छां कुरु–इच्छ–इति यावत्**-तुम उससे यही इच्छा करो। अमुं–इषाण, अर्थात् उससे परलोकात्मक आत्मबुद्धिरूपानुगता मोक्ष की इच्छा करो, सर्वलोकं मा इषाण, अर्थात् अभ्युदय-रूपा–लोकसमृद्धि की इच्छा करो। तात्पर्य्य–अमृत–मृत्युमय, श्री–लक्ष्मी–समन्वित सौरप्रजापति की आराधना–उपासना–एवं कर्म्मानुगति से मानव के अभ्युदय–निःश्रेयस्–काम संसिद्ध हो जाते हैं।

२३–'श्री' लक्षणा विद्यासम्पत्ति, एवं 'लक्ष्मी' लक्षणा भूतसम्पत्ति, और 'श्रीः' रूप अमृतरस का नैगमिक--स्वरूप--परिचय—

'श्रीः' का अर्थ है–'**विद्या**', एवं 'लक्ष्मीः' का अर्थ है '**भूतसम्पत्ति**'। 'विद्या' ही माता '**शारदा**' है, भूतसम्पत्ति ही माता '**लक्ष्मी**' है। शारदारूपा श्री से समन्विता भूतसम्पत्तिरूपा लक्ष्मी ही भारतीय–सांस्कृतिक–'लक्ष्मी' की मौलिक स्वरूपव्याख्या है। श्रीसमन्विता लक्ष्मी ही यहाँ वास्तविक 'लक्ष्मी' मानीं गई है। धर्म्म–ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य्य–नामक की भगसम्पत्तियाँ हीं 'श्रीः' हैं। यह अमृतसूर्य्यात्मिका है, जिसका अर्थ है–स्वयम्भुगर्भिता पारमेष्ठ्या–व्यक्ताव्यक्ता '**महासरस्वती**'। सरस्वती ही 'श्रीः' है, 'रस' को ही वेदभाषा में 'श्रीः' कहा गया है, जैसाकि–'**अथ या–एतेषां सप्तानां पुरुषाणां--श्रीः, यो रसः–आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन्**' (शत० ६।१।१।४।) इत्यादि से स्पष्ट प्रमाणित है।

२४–श्री से समन्विता लक्ष्मी का ही स्वस्ति--शान्ति--प्रवर्त्तकत्त्व—

आत्मानुगत बौद्धिक-ज्ञानविभूति ही वह 'श्रीरस' है, जिससे मानव ऐश्वर्य्यशाली बना करता है। कदापि केवल भूतसम्पत्ति का नाम ऐश्वर्य्य नहीं है। भूतसम्पत्ति तो निगमपरिभाषा में '**बहिर्वित्त**' रूप पशुभाव ही माना गया है मानव का, जो श्रीभाव को मूलप्रतिष्ठा बना कर ही यहाँ संग्राह्य बना करता है। इन्द्रियों से लक्षीभूत–बाह्य–परिग्रह का ही नाम 'लक्ष्मी' है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा वह 'श्री' ही मानी गई है, जिसके बिना प्रचुरमात्रा में विद्यमाना भी भूतपरिग्रहरूपा लक्ष्मी सर्वथा निरर्थक ही प्रमाणित हुई है। जहाँ मूल में श्री

---

*–"**यावन्त्येतानि नक्षत्राणि, तावन्तो लोमगर्त्ताः**" (शत० ब्रा० १०।४।४।२)–'**तेजसां गोलकः सूर्य्यः– नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः**' (ज्यो०)।

(सरस्वती) नहीं रहती, वहाँ लक्ष्मी प्रवर्ग्यरूप में हीं परिणत हो जाया करती है। एवं श्री–विहीना ऐसी लक्ष्मी कदापि निरापदरूप से स्वस्ति–शान्तिपूर्वक–भोग्या नहीं बन सकती।

२५–सहस्रवर्षत्रयी से प्रक्रान्ता भारतीय--विद्वत्समाज की सरस्वती (श्री)-लक्ष्मी--साहचार्य्यविरोधात्मिका महती भ्रान्ति, एवं तद्द्वारा सांस्कृतिक–ऐश्वर्य्य की उत्तरोत्तर अभिभूति—

निरन्तर तीन सहस्र--वर्षों से धारावाहिकरूपेण प्रक्रान्ता (चली आने वाली) सत्तातन्त्र–सापेक्षमूला, तथा वणिक्तन्त्र--सापेक्षमूला भारतीय-संस्कृति की दासता ने भारतीय मानवप्रज्ञा में, विशेषतः संस्कृति के सन्देशवाहक भारतीय विद्वद्वर्ग की दासतापूर्णा प्रज्ञा में इस अनार्ष--काल्पनिक--भ्रान्तधारणा को दृढ़मूल प्रमाणित कर दिया है–कि,–"**जहाँ सरस्वती का निवास है, वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती, एवं जहाँ लक्ष्मी का आवास है, वहाँ सरस्वती नहीं रहती**"। आज से अनुमानतः बीस वर्ष पूर्व वाराणसी--विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष माननीय श्री अमुक विद्वान् ने बड़े गौरव से अपने ये उद्गार व्यक्त कर डाले थे कि,–'**दारिद्र्य ही सरस्वती के उपासक की महती शोभा है**'। सम्भवतः इसी दारिद्र्याकर्षण से सर्वविनाशक वह सत्तासापेक्ष, एवं वणिक्तन्त्रसापेक्ष–भाव उत्तरोत्तर प्रबल बने होंगे, जिन सापेक्षताओं से आजतक भी भूसुर का दारिद्र्य तो हटा नहीं। हाँ सर्वैश्वर्य्यसम्पन्ना--संस्कृति और सर्वात्मना दरिद्र बने गई इस दरिद्री–दास–ब्राह्मण की तथाकथिता भ्रान्ति के निग्रहात्मक--अनुग्रह से। ब्राह्मण की इस दारिद्र्यवासना नें हीं राष्ट्रीय–ऐश्वर्य्य के प्रति भारतीय--जनमानस को उस सीमापर्य्यन्त उदासीन बना डाला कि, सभी वर्ग एकहेलया जगन्मिथ्यात्व-समर्पिका इस दरिद्रता की ही उपासना में तल्लीन बनते हुए राष्ट्रवैभव को उत्तरोत्तर सम्मानपूर्वक आक्रान्ता–सम्मान्य अतिथियों के लिए ही सुरक्षित ही बनाते रहे। और यों श्रीविहीना लक्ष्मी सचमुच ही इस राष्ट्र से पलायित ही तो हो गई। संस्कृतभाषा के परपारदर्शी तथाविध--सत्ता--वणिक्--सापेक्ष--दासानुदास--दरिद्री विद्वानों नें हीं वैसे पद्यों के निर्म्माण से ऐश्वर्य्यशालिनी सुरभारती को कलङ्कित ही तो कर डाला, जिन पद्यों के द्वारा श्रीविहीना लक्ष्मी का, सारस्वतगुणगरिमाविहीन लक्ष्मीपतियों का तो हुआ है यशोगान, एवं सरस्वती के उपासकों की हुई हैं प्रचण्ड निन्दा *। **अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् ! अहो खलु महतीयं विडम्बना** संस्कृतस्य, संस्कृतेश्चेत्यालम्यालम्। यतो हि--पापानां कथापि खलु--अश्रेयसे अलमेव भवति।

---

*-**धिगस्त्वेतां विद्यां, धिगपि कवितां, धिक् सुजनतां--**
वयोरूपं धिक्--धिक्--धिगपि च यशो निर्द्धनवतः।
असौ जीयादेकः सकलगुणहीनोऽपि धनवान्–
बहिर्यस्य द्वारे तृणलवनिभाः सन्ति गुणिनः॥
—कश्चिन्नितान्तभावुको दरिद्रः

२६-'आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्'-'न क्वचिदप्यलंबुद्धिमादध्यात्' मूला श्री-लक्ष्मी-समन्वयात्मिका नैगमिक-निष्ठा के अभिभव से भारतीय विद्या, एवं ऐश्वर्य्य का आत्यन्तिक पतन, एवं तदनुबन्धिनी भारतराष्ट्र की श्री-लक्ष्मी-विहीनता—

'अजितं जेतुमनुचिन्तयेत्- न क्वचिदप्यलंबुद्धिमादध्यात्'-'नात्मानवममन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः। आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्-नैनां मन्येत दुर्लभाम्' इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त-सिद्धान्त स्पष्ट-शब्दों में दारिद्र्यवासना का जब मूलोत्पाटन कर रहे हैं, तो कैसे, किस आधार पर यहाँ की प्रज्ञा ने शारदा, और लक्ष्मी का अश्वमाहिष्य मान लिया ?, प्रश्न का उत्तर उन्हीं सत्ता-वणिक्-सापेक्ष-परान्वित-दासों से हीं पूँछना चाहिए, जिनके अनुग्रह से ही आज तीन हजार वर्षों से भारतराष्ट्र श्रीविहीन, अतएव लक्ष्मीविहीन ही प्रमाणित होता आ रहा है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, जिस श्रीविहीन अशुभ क्षण में लक्ष्मी से श्री का (सरस्वती) पार्थक्य हुआ है, उसी क्षण से राष्ट्र इन दोनों हीं विष्णुपत्नियों के अनुग्रह से वञ्चित हो गया है। श्री-लक्ष्मी के इस पार्थक्य नें हीं राष्ट्र को श्री, एवं लक्ष्मी से विहीन बनाया है। और दुर्भाग्यवश आज के इस सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-युग में भी भारतराष्ट्र अपनी उस सर्वनाशकारिणी भ्रान्ति से आत्मत्राण नहीं कर सका है। अपितु आज तो और अधिक वेग से धर्म्मनिरपेक्षितारूपा श्रीविहीनता के माध्यम से ही राष्ट्रलक्ष्मी के आह्वान की भ्रान्ति की जा रही है। धर्म्म-ज्ञान वैराग्य-ऐश्वर्य्यरूपा-चतुर्विधा-भगसम्पत्ति का नाम हीं 'श्रीसम्पत्ति' है, जिसका अमृतसूर्य्य से सम्बन्ध है। तत्प्रतिष्ठा से वञ्चिता, केवल भूतपरिग्रह-लक्षणा मर्त्यभावापन्ना-श्रीविहीना लक्ष्मी तो कालान्तर में अलक्ष्मीरूप में हीं परिणत होजाया करती है, जिस इस सुसूक्ष्म-प्राणात्मक-सांस्कृतिक-दृष्टिकोण को भारतराष्ट्र सर्वथा ही विस्मृत करता जा रहा है श्रीविहीना, केवल भूतनिबन्धना-अलक्ष्मीभावात्मिका-जड़लक्ष्मी के पथिक प्रतीच्यराष्ट्रों के भावुकतापूर्ण-अन्धानुकरण के निग्रहात्मक अनुग्रह से।

२७-स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य्य-त्रयी का अमृतविश्वत्त्व, एवं मर्त्यसूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्डत्रयी का मर्त्यविश्वत्व—

प्रासङ्गिकमेतत्। पुनः प्रकृतमनुसरामः। श्रीरूपा शारदा, एवं भूतपरिग्रहरूपा लक्ष्मी का कैसे सह-समन्वय है प्रकृति में ?, प्रश्न का सम्भवतः आगे चलकर समाधान हो सकेगा। प्रकृत में अभी यही निवेदन करना है प्रक्रान्तप्रसङ्गधिया कि, विश्वमध्यस्थ सूर्य्य का अमृतभागानुबन्धी-प्राणात्मक-अमृतरूप उस अमृतार्द्ध विश्व का प्रातिनिध्य कर रहा है, जिसके-स्वयम्भू-परमेष्ठी-प्राणसूर्य्य, ये तीन महिमाविवर्त्त हैं। एवं इसी सूर्य्य का मर्त्यभागानुबन्धी-भूतात्मक-मर्त्यरूप उस मर्त्यार्द्ध विश्व का प्रातिनिध्य कर रहा है, जिसके भूतसूर्य्य [पिण्डात्मक दृश्य सूर्य्य]-चन्द्रमा, भूपिण्ड, ये तीन महिमाविवर्त्त हैं।

२८--अमृतविश्वानुबन्धिनी श्रीरूपा महासरस्वती, मर्त्यविश्वानुबन्धिनी कमलारूपा महालक्ष्मी, एवं उभयसंयोजिका कालकलनात्मिका कालमाता महाकाली के चिरन्तनेतिवृत्त का समन्वय-

अमृतमहिमात्रयी ही श्रीरूपा लक्ष्मी है, एवं मर्त्यमहिमात्रयी ही लक्ष्मीरूपा श्री है। श्रीरूपा लक्ष्मी ही सरस्वती है, लक्ष्मीरूपा श्री ही लक्ष्मी है। दोनों की संयोजिका सौरसम्वत्सरकालानुगता, कलनात्मिका-

सौरकालामाता-सौरी-अव्यक्ताशक्ति ही 'काली' हैं। और यों मर्त्य-अर्द्धविश्व में भी **काली-सरस्वती-लक्ष्मी-** तीनों का भोग प्रमाणित हो रहा है। यही शक्तित्रयी का मर्त्यप्रधान दूसरा विवर्त्त है। अमृतविवर्त्त में-स्वयम्भू कालीस्थान है, परमेष्ठी सरस्वतीस्थान है, अमृतसूर्य्य लक्ष्मीस्थान है। तीनों इन अमृतरूपों की समष्टि ही 'श्री' रूपा अमृतालक्ष्मी है। मर्त्यविवर्त्त में मर्त्यसूर्य्य कालीस्थान है, सौम्यचन्द्रमा सरस्वतीस्थान है, एवं भूपिण्ड लक्ष्मीस्थान है। तीनों इन मर्त्यरूपों की समष्टि ही 'लक्ष्मी' रूपा मर्त्यालक्ष्मी है। **'अन्तरं मृत्योरमृतं, मत्यावमृतमाहितम्'** के अनुसार दोनों स्वरूप दोनों में अन्तरान्तरीभावात्मक ओतप्रोतसम्बन्ध से सह समन्वित हैं। यही लक्ष्मी और श्री का अभेद है। और इस तात्त्विक दृष्टिकोण को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाए रखने की अवस्था में हीं श्री को लक्ष्मी का, एवं लक्ष्मी को श्री का पर्य्याय भी कहा जासकता है, कहा गया है, जैसाकि-**'याः श्री स्वयं सुकृतिनाम्'**-**'आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्'** इत्यादि आप्तवचनों से स्पष्ट है। विश्वमध्यस्थ-षोडशीप्रजापतिरूप-अमृतमृत्युव्यवस्थापक *-मध्ये एकल एव स्थाता-भगवान् सूर्य्यनारायण महालक्ष्मी के तथोपवर्णित-उपस्तुत-त्रिः-त्रिः-शक्तिसमन्वित-दोनों श्री-लक्ष्मी-रूपों के संग्राहक-अनुग्राहक-प्रवर्त्तक बने हुए हैं। और यही अमृत-मर्त्यभावात्मिका श्री-लक्ष्मी-समन्विता महालक्ष्मी का अमृतेतिवृत्तगर्भित मर्त्य चिरन्तन इतिवृत्त है, जिसे आराध्य मान कर ही हमें पार्थिवलक्ष्मी से अनुप्राणित-दीपावलीपर्वोत्सवानुष्ठान में आस्था-श्रद्धा-पूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए।

अमृतविश्वम्—

१-प्राणमयः(अमृतावाक्-रूपः) स्वयम्भूः-महाकाली
२-आपोमयः(अमृतापः-रूपः) परमेष्ठी-महासरस्वती
३-वाङ्मयः(अमृताग्निः-रूपः)अमृतसूर्य्यः-महालक्ष्मी

} श्री [अमृतलक्ष्मी]

—विश्वमध्यस्थः-सूर्य्यनारायणः प्रजापतिः——निवेशमन्नमृतं-मर्त्यञ्च

मर्त्यविश्वम्—

१-वाङ्मयः (मर्त्याग्निः-रूपः) मर्त्यसूर्य्यः-काली
२-सोममयः (मर्त्यापः-रूपः) चन्द्रमाः-सरस्वती
३-अग्निमयः(मर्त्यावाक्) रूपः) भूपिण्डः-लक्ष्मी

} लक्ष्मी [मर्त्यलक्ष्मी]

---

* **आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं, मर्त्यञ्च** [यजुःसं० ३४।३१।]

२६--'पद्मालया' श्रीः, और 'पद्मासना' लक्ष्मी, एवं पद्म का नैगमिक स्वरूप-दिग्-दर्शन--

पद्मालया है श्री, एवं पद्मासना है लक्ष्मी। 'पद्मालया' का अक्षरार्थ है-पद्मों के स्थान में रहने वाली, एवं पद्मासना का अर्थ है पद्म पर विराजमान रहने वाली। स्पष्ट ही दोनों शब्दों की विभिन्नार्थता व्यक्त हो रही है। कौन है पद्मालया ?, एवं कौन है पद्मासना ?, समाधान का अन्वेषण कीजिए अपनी निगमप्रज्ञा के द्वारा। लोकप्रसिद्ध 'कमलपुष्प' का ही नाम है-'पद्म', जो वेदभाषा में-**'पुष्करपर्ण'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। पुरकरता ही पुष्करता है। अर्थात् जिस तत्त्व से सीमात्मक-वयोनाधात्मक-छन्दोरूप--पुरभाव का निर्म्माण होता है, वही पुरकरतत्त्व है, जोकि परोक्षभाषा में 'पुष्कर' कहलाया है। यही 'पुर' शब्द वेदभाषा में-**'आण्डवृत्त'** कहलाया है, जिससे **'ब्रह्माण्ड'** शब्द का आविर्भाव हुआ है।

३०--ब्रह्माण्डस्वरूपसमर्पक आपोमय पारमेष्ठ्य पद्मालय, एवं तत्र प्रतिष्ठिता पद्मालया श्री-----

स्वायम्भुवी त्रयीविद्या के 'सत्यपुरुष' रूप 'यजुः' के जूभागरूप 'वाक्' से ही (यद्भागरूप प्राणवायु के व्यापार से) सर्वप्रथम जो ऋततत्त्व प्रादुर्भूत हुआ है, उसी का नाम है-**'आपोमय ऋतपरमेष्ठी'**, जैसाकि-**'तदस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्त। सोऽपोऽसृजत-वाच एव लोकात्, वागेव सा-ऽसृज्यत'** (शत० ६।१।१।८-६।) इत्यादि से स्पष्ट है। ऋत-आपः--परमेष्ठी को उत्पन्न कर त्रयीब्रह्म-**'सोऽनया त्रय्या विद्यया-सहापः प्राविशत्'** के अनुसार आपः के गर्भ में बीजरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है, **'तत आण्डं समवर्त्तत'**। यह आण्डवृत्त आपोमय पुर ही है, और यही इसकी पुष्करता है। इस पुरकरतारूपा छन्दस्या-चिति से ही आगे चल कर व्यक्त-मूर्त्त-भूतपुरों का स्वरूपाविर्भाव हुआ है। 'पुष्कर' ही वह 'पद्म' है, जिसका आलय (स्थान) आपोमय-परमेष्ठी ही तो माना जायगा। और अवश्य ही इस दृष्टिकोण से इस ऋत-परमेष्ठी को-'पद्मालय' कहा जा सकता है, कहा गया है, जैसाकि-**'आपो वै पुष्कर-पर्णम्'** (शत० ६।४।२।२।)-**'प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णम्'** (शत० ७।४।१।१२।)-**'वाक्पुष्करपर्णम्'** (शत० ६।४।१।७।)—**"पुरं मे कुरुत-इति। स योऽपां रस आसीत्-तमूर्ध्वं समुदौहन्। तामस्मै पुरमकुर्वन्। तत्-यत्-अस्मै पुरमकुर्वन्-तस्मात् पूष्करम्। पूष्करं ह वै तत्-पुष्करमित्याचक्षते-परोक्षम्"** (श० ७।४।१।१३।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। पद्म ही 'पुष्कर' नाम से भी प्रसिद्ध है। अक्षरक्रमानुसार आपोमय-परमेष्ठी ही विष्णु है, जिनका केन्द्रस्थानीय आपोमय पद्म ही गर्भीभूत-त्रयीमूर्त्ति ब्रह्मा के आविर्भाव का निमित्त बनता है, जिसका पुराणशास्त्र ने अत्यन्त ही प्रसादभाषा में यशोगान किया है। विष्णुनाभि से विनिर्गत पुष्कररूप पद्म ही चतुर्मुख-वेदमूर्त्ति-बीजात्मक ब्रह्मा की प्रतिष्ठा बना हुआ है। पुष्करस्थान परमेष्ठीस्थान है, यही 'श्री' की आवास-निवासभूमि है। अतएव अवश्य ही 'श्री' को 'पद्मालया' कहा जा सकता है। अतएव च पद्म 'श्रीपर्ण' नाम से भी प्रसिद्ध है। और इसी 'पद्मालय' के सम्बन्ध में कुछ और भी प्रासङ्गिक ज्ञातव्य है।

३१-अङ्गिरागर्भिता भृगुधारा से समन्विता आम्भृणीरूपा लक्ष्मी, एवं भृगुधारागर्भिता अङ्गिराधारा से समन्विता सरस्वतीरूपा श्री, तथा दोनों पारमेष्ठ्यधाराओं का ओतप्रोतभावसम्बन्ध—

जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है—'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम्' (गोपथब्रा० पू०) इत्यादि श्रुत्युपवर्णित आपोमय-परमेष्ठी का ऋतरूप 'आपः' तत्त्व परस्पर विभिन्न गुणधर्म्मा स्नेह-तेजो-मूर्त्ति-भृगु-अङ्गिरा-प्राणों से ही नित्य समन्वित रहता है । स्नेहगुणान्विता भृगुधारा के गर्भ में तेजोगुणान्विता अङ्गिराधारा समाविष्ट है, एवं अङ्गिराधारा के गर्भ में भृगुधारा समाविष्ट है । ये दोनों धाराएँ उभयात्मिका प्रमाणित हो रही हैं—'**तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः**' इत्यादि सहज सृष्ट्यनुबन्ध की अपेक्षा से । उभयात्मिका तेजःप्रधाना अङ्गिराधारा ही '**सरस्वती**' कहलाई है, एवं उभयात्मिका स्नेहप्रधाना भृगुधारा ही '**आम्भृणी**' कहलाई है, जिसका पूर्वप्रकरण में 'आम्भृणी' सूक्तमाध्यम से यशोगान किया जाचुका है ।

३२-आङ्गिरसी श्री-लक्षणा सरस्वती के द्वारा शब्दसृष्टि का, एवं भार्गवी-लक्ष्मी-लक्षणा आम्भृणी के द्वारा अर्थसृष्टि का प्रादुर्भाव, तथा शब्दार्थ का तादात्म्यलक्षण औत्पत्तिक-सम्बन्ध—

स्नेहगुणक भृगुतत्त्व को गर्भ में रखने के कारण हीं रसवती प्रमाणित होती हुई, अतएव '**स-रसवती**' रूपेण '**सरस्वती**' नाम से उपवर्णिता आग्नेयी वाग्देवी ही शब्दसृष्टि की अधिष्ठात्री-मूलप्रवर्त्तिका बन रही है । एवं तेजोगुणक-अङ्गिरातत्त्व को गर्भ रखने के कारण ही अग्निगर्भा प्रमाणित होती हुई सौम्यावाग्देवी ही अर्थसृष्टि की अधिष्ठात्री-मूलप्रवर्त्तिका बन रही है । दोनों सृष्टिधाराओं में दोनों वाग्धाराएँ समाविष्ट हैं । अतएव प्रत्येक शब्द अर्थमय है, एवं प्रत्येक अर्थ शब्दमय है । यही शब्दार्थ का औत्पत्तिक-तादात्म्य-नित्य-सम्बन्ध है, जिसके आधार पर ही शब्दब्रह्म-अर्थब्रह्म का अभेदसिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है । शब्दसृष्टि की मूलभूता अङ्गिरारूपा सरस्वतीवाक् ही-'श्री' है । अर्थसृष्टि की मूलभूता भृगुरूपा आम्भृणीवाक् ही 'लक्ष्मी' है । 'श्री' रूपा सरस्वती के गर्भ में लक्ष्मीरूपा आम्भृणी प्रतिष्ठित है, तो 'लक्ष्मी' रूपा आम्भृणी के गर्भ में श्रीरूपा सरस्वती प्रतिष्ठित है । और यों भृग्वङ्गिरोमय-भृग्वङ्गिरोरूप-आपोमय-ऋतपरमेष्ठी की श्रीरूपा अङ्गिराधारा (सरस्वतीधारा), एवं लक्ष्मीरूपा भृगुधारा (आम्भृणीधारा), दोनों धाराएँ अभिन्न-प्रमाणित हो रही हैं । कौन कहता है कि-श्री, और लक्ष्मी का अश्वमाहिष्य है ? । कौन कहता है कि-शारदा के साथ लक्ष्मी नहीं रहती, एवं लक्ष्मी के साथ शारदा नहीं रहती ? । जबकि दोनों अन्तरान्तरीभाव से समन्वित हैं, तो दोनों के अतिरिक्त तो विश्व में अन्य तत्त्वों का वैसा सख्य ही उपलब्ध न होगा । शब्दवाक्-रूपा सरस्वती ही तो लक्ष्मी की प्रवर्त्तिका मानी गई है वेदशास्त्र में, जैसाकि-'**भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि**' इत्यादि प्रारम्भिक-माङ्गलिक-संस्मरण से स्पष्ट है ।

३३-शारदात्मिका श्री से विहीना लक्ष्मी का जड़त्व, एवं तदुपासक-जड़प्रज्ञ-मानवों की रूक्षा-कर्कशा-मदमानदम्भान्विता अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी—

शारदाविहीना जड़प्रज्ञा, जड़वाणी के द्वारा तो लक्ष्मी का पलायन ही होजाया करता है । और यों मूर्खों की सम्पत्ति (लक्ष्मी) का तो उपभोग शारदोपासक प्रज्ञाशील ही कर लिया करते हैं । कदापि मूर्खता

के साथ विश्ववैभवरूपा लक्ष्मी का यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। बिना श्री को (सरस्वती को) आधार बनाए यदि मायाचारों–आसुरधर्म्मों से तात्कालिकरूपेण भूतपरिग्रहरूपा लक्ष्मी का आगमन घुणाक्षरन्यायेन हो भी जाता है, तो जानते हैं–मूर्खता के वातावरण में समागता वह लक्ष्मी कैसी लगती है ?। न जानना ही अच्छा है उस मलीमसा–उद्वेगकरी स्थिति–को। उसे जानने पहिचानने के अभ्यासवश ही तो मानव आज सर्वात्मना दीन हीन प्रमाणित हो गया है भूतपरिग्रहरूपा लक्ष्मी की विद्यमानता में भी। कहीं भी ऐश्वर्य्यरूपा श्री का साक्षात्कार नहीं हो रहा। जिसप्रकार क्रव्यादाग्नि से दग्ध–क्ष..–विक्षत–श्मशाना–लयों के फल–पुष्प–मञ्जरी–पर्णादि–विहीन रूक्ष शुष्क वृक्ष श्मशानपरिग्रहों से वेष्टित होकर अधिकाधिकरूपेण भयावह–उद्वेगकर–अमङ्गल–अशुचि–अभद्र–प्रतीत होने लगते हैं, एवमेव शारदात्मिका श्री से विहीन क्षेत्रों में समागता लक्ष्मी रूक्षा–कर्कशा–मद–मान–दम्भान्विता–उद्वेगकरी ही प्रमाणित हो जाती है। '**भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि**' के स्थान में इन शारदाश्रीविहीन क्षेत्रों में समागता लक्ष्मी सर्वथैव मनसा–वाचा–कर्म्मणा–अलक्ष्मीरूप में हीं तो परिणत होजाती है। शारदाविहीना लक्ष्मी लक्ष्मी ही नहीं मानी गई भारतीय उपासना–क्षेत्र में।

३४–सप्तपुरुषात्मक-पुरुषप्रजापति की अमृतरसात्मिका श्री से समन्विता लक्ष्मी का भद्रवाङ्मयत्त्व—

तभी तो लक्ष्मी के चित्रों के **साथ सरस्वतीबिम्ब का समावेश अनिवार्य्य माना है यहाँ की नैदानिक–उपासनाओं में**। लक्ष्मी को अमृता श्री से, अमृता शारदा से नित्य समन्विता बतलाने के लिए ही तो–दिग्गजों के द्वारा अमृतघटों से अभिषेक व्यक्त किया गया है नैदानिकभावों के माध्यम से। अमृतघटों में कौनसा 'अमृतरस' है ?। वही 'रस' है-जिसे–'**सप्तानां पुरुषाणां श्रीः–यो रसः**' कहा गया है। यही वह प्रज्ञात्मक-'शारदारस' है, जिस रसवती–सरस्वती से समाप्लुता बन कर ही लक्ष्मी स्वस्वरूप से प्रसन्न हुआ करती है।

३५–अमृतरससमन्वित देवताओं का अमरत्त्व, एवं विमोहिनी विष्णुमाया से विमुग्ध, अतएव अमृतरसवञ्चित जड़–भूतलक्ष्मी के अनुगामी असुरों का आत्यन्तिक–पराभव—

पारमेष्ठ्य भृगुतत्त्व की **आपः–वायुः–सोमः**, ये तीन अवान्तर–अवस्थाएँ मानीं गई हैं, जैसे कि पारमेष्ठ्य अङ्गिरातत्त्व की **अग्निः–यमः–आदित्यः**–ये तीन अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं। भार्गव सोम ही वह 'अमृत' है, जिसका पान कर सौर आदित्य–देवता अमर–निर्ज्जर–बने हुए हैं। इस अमृतप्राप्ति के लिए ही तो समुद्रमन्थन हुआ है, जिस मन्थनकर्म्म में सहयोग प्रदान किया था आपोमय वारुणप्राणात्मक असुरों नें, तथा आदित्यमय ऐन्द्र देवदेवताओंनें। किन्तु आदित्यदेवता अङ्गिरारूपा सरस्वती को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए जहाँ अमृतसोम से समन्वित होगए। वहाँ आपोमय–वारुण असुर आपोमयी–विमोहिनी–वैष्णवीमाया से विमोहित होकर सरस्वती से वञ्चित होकर लक्ष्मी के अनुग्रह के साथ साथ सोमामृतप्राप्ति से भी वञ्चित ही बने गए, और वञ्चित ही बने रहेंगे आकल्पान्त।

३६ अमृतरस से परिपूर्ण घटों से महालक्ष्मी का अमृताभिषेक करते रहने वाले ऐरावतप्रमुख दिग्गज—

कौन हैं वे हाथी, जिनके द्वारा महालक्ष्मी का अभिषेक होता रहता है सोमामृत से द्रोणकलशों के माध्यम से ?, प्रश्न का उत्तर है ऐरावत नामक वह रत्नविशेष, जो समुद्रमन्थन से समुत्पन्न हुआ है परमेष्ठी में, एवं व्याप्त है गजच्छायारूप से सम्पूर्ण त्रैलोक्य में। पारमेष्ठ्य-सोममय अमृतरस ही 'इरा' सम्बन्ध से—'सरिर' किंवा 'सलिल' कहलाया है, जैसाकि-'आपो वा इदमग्रे **सलिलमेवास**' (शत०११।१।६।१।) इत्यादि से स्पष्ट है। यही इरातत्त्वात्मक सौम्यभाग सौराग्नि में आहुत होकर श्वेतभाव में, ज्योतिर्भाव में परिणत होजाता है। इसी ज्योतिर्मय—इरारस को दर्भोत्पत्तिप्रसङ्ग में—'**वेन**' कहा गया है, और यही पुराणभाषा में—'**ऐरावत**' है। महाभारतीय-अमृतमन्थनप्रसङ्ग में यही '**ऐरावण**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है ×। इसी ऐरावत के सम्बन्ध से क्रान्तिवृत्तीय—उत्तरमार्ग (सौम्य—इरात्मक बनता हुआ) '**ऐरावतमार्ग**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जैसाकि पूर्वप्रकरण के नाड़ीपथ—प्रसङ्गमें दिग्दर्शन कराया जाचुका है (देखिए ! पृ०सं० ५०४)। ज्योतिर्मय सोममूर्त्ति ऐरावतगज ज्योतिर्मय-सौरमण्डल की दिग्रूपा वेनमयी-आपोमयी—परिधियों से समन्वित होता हुआ—'**दिग्गज**' नाम से भी प्रसिद्ध है। सौरज्योति का अधिष्ठाता प्राण ही 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव ज्योतिर्मय—इरा—आपः—रूप ऐरावतनागात्मक दिग्गज को—'**वज्रभृता धृतः**' रूप से इन्द्र का वाहन मान लिया है पुराण ने। पूर्वादि आठ दिशाओं के भेद से इस ऐरावत नाग के ही अवान्तर आठ महिमात्मक विवर्त्त हो जाते हैं *।

३७-दिग्गजानुबन्धी—मातरिश्वात्मक—वराहतत्त्व, एवं उसके आदि—यज्ञ-श्वेत—ब्रह्म--एमूष--वराह--नामक पञ्चपिण्डानुगत स्वायम्भुव--पारमेष्ठ्य--सौर--चान्द्र--भौम—विवर्त्त--

"दिग्गजोंनें पृथिवी को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित कर रक्खा है। यदि दिग्गज न होते, तो धरा खण्ड—खण्ड—रूप में परिणत हो जाती। दिग्गजों के काचित्क कम्पन से ही धरित्री प्रचण्डरूप से कम्पित होजाती

× श्वेतैर्दन्तैश्चतुर्भिस्तु महाकायस्ततः परम्।
ऐरावणो महानागोऽभवद्वज्रभृता धृतः॥
—महाभारत १।१८।४१।

* १—पूर्वादिक्—ऐरावत	५—पश्चिमादिक्—अञ्जन	इत्यष्टौ दिग्गजाः
२—ईशानकोण—पुण्डरीक	६—नैर्ऋतकोण—पुष्पदन्त	—सौम्यवायुविशेषाः
३—उत्तरादिक्—वामन	७—दक्षिणादिक्—सार्वभौम	
४—वायव्यकोण—कुमुद	८—आग्नेयकोण—सुप्रतीक	

है।" इत्येवंरूपेण उपवर्णित पौराणिक आख्यान वैदिक **'वराहतत्त्व'** का ही संग्राहक बना हुआ है। पृथिवी पिण्डमात्र का उपलक्षण है। प्रत्येक पिण्ड 'सत्य' है, और-**'ऋते भूमिरियं श्रिता'** के अनुसार प्रत्येक भूमि [पिण्ड] ऋततत्त्व के आवरण से आवृत होती हुई ही स्वस्वरूप से धृत-विधृत-प्रतिष्ठित है। इस संवरण, तथा-व्याप्तिवर्म्म से ही यह ऋतावरण-**'वराह'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। **'वृणुते-इति वरः-अह्वोतीति-अहः। वरश्चासौ अहश्चेति वराहः'** ही 'वराह' शब्द का निर्वचन है, जिसका साङ्केतिक-पारिभाषिक नाम है-**'मातरिश्वा'** [नामक प्राणवायु]। **'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति'** से यही वह वराहवायु संगृहीत है, जो पिण्डरूपा पृथिवीमाता का स्वरूपसम्पादक माना गया है। आपोमय समुद्र में व्याप्त पुष्करपर्णरूप-घनीभूत पार्थिव कणों-परमाणुओं-अणुओं का एककालावच्छेदेन चारों ओर से केन्द्र में संघात करते जाना ही संवरणकर्म्म है-इस वराहवायु का। संवरण के साथ साथ ही उन सञ्चित-परमाणु-पुञ्जों पर व्याप्त होते जाना ही व्याप्तिकर्म्म है। यों वरत्व, एवं अहत्त्व धर्म्म से पिण्डताप्रवर्त्तक, प्रवृत्त पिण्ड का स्वरूप--संरक्षक प्राणवायुविशेष ही 'वराह' कहलाया है। स्वयम्भू--परमेष्ठी--सूर्य्य--चन्द्रमा--भूः--रूप पाँच पिण्ड हैं पञ्चपर्वा विश्व में। इन पाँचों पिण्डों के साथ वराह की वही सामान्य व्याप्ति है। पाँचों के मातरिश्वा--वराहवायु पिण्डस्वरूपभेद से पुराणशास्त्र में क्रमशः १-**आदिवाराह (स्वायम्भुव)**, २-**यज्ञवाराह (पारमेष्ठ्य)**, ३-**श्वेतवाराह (सौर)**, ४-**ब्राह्मवाराह, (चान्द्र *)**, एवं ५-**एमूषवाराह (भौम)**, नामों से प्रसिद्ध हैं ÷। पाँचों हीं वराह 'वराहत्वेन' अभिन्न हैं। आपः के घनरसात्मक पुष्करपर्ण को आधार बना कर वराहवायु के द्वारा पिण्डस्वरूप का व्यक्तीभाव होता है। इसी नित्य वराहलीला का × 'वराहावतार' रूप से पुराणों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है, जिसका तत्त्वात्मक स्वरूप निम्नलिखित श्रौतवचन से स्पष्ट है—

आपो वा इदमग्रे--सलिलमेवास। तेन प्रजापतिरश्राम्यत्--कथमिदं--स्यात्--इति। सोऽपश्यत् पुष्करपर्णम्--तिष्ठत्। सोऽमन्यत--अस्ति वैतत्--यस्मिन्निदं--अधितिष्ठतीति। स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत। स पृथिवीमध आर्च्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत्। तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत्। यदप्रथयत्--तत्पृथिव्यै पृथिवित्त्वम्।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।३।६,७,।

---

* 'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः' के अनुसार चन्द्रमा 'ब्रह्मा' हैं प्राकृतिक यज्ञ के। अतएव चान्द्रवराह **'ब्रह्मवराह'** कहलाए हैं।

÷ 'आ-ईम्--वस्' ही 'एमूष' का निर्वचन है, जो इत्थंभूत निर्वचन प्रत्यक्षदृष्ट भूपिण्ड से सर्वात्मना समन्वित है। 'तां-[प्रादेशमात्रीं पृथिवीं] एमूष इतिवराह उज्जघान। सोऽस्याः पतिः, प्रजापतिः' [शत० १४।१।२।११] इत्यादि श्रुति 'एमूष' नामक इसी भौम-वराह की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है।

× **जलौघमग्ना सचराचराधरा विषाणकोट्याखिलविश्वमूर्त्तिना।**
समुद्धृता येन वराहरूपिणा स मे स्वयम्भूर्भगवान् प्रसीदताम्॥

३८-अमृतरसपरिपूर्ण द्रोणकलश, एवं तदभिषेककर्त्ता आठ दिग्गज—

पिण्ड की परिधि से आसमन्तात् संलग्न--वायव्यप्राणरूप ऋत 'वराह' ही वे दिग्गज हैं, जो चार प्रमुख दिशाओं से चार दिग्गज, चार दिक्कोणों के समावेश से आठ दिग्गज, तथा ऊर्ध्व-अधः-रूप दो दिशाओं से दशदिग्गज--रूप से अनेकधा उपवर्णित हैं—आर्थ्यसर्वस्वात्मक पुराणशास्त्र में। विशाल-उरु--अन्तरिक्ष ही वह द्रोणकलश है, जिस में—'त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षम्' (ऋक् संहिता१।६१।२२) रूपेण पिण्डाग्नि--स्वरूपसंरक्षक ऋतभावापन्न अमृतसोम ('ब्रह्मणस्पति' नामक 'पवित्र' गाङ्गेय 'अम्भो' लक्षण सोम) भरा हुआ है। दिग्गजरूप ऐरावतादि वराहगज द्रोणकलशात्मिका कृर्म्मत्रिलोकी के द्वारा (घटों से) यह सोमामृतधारा से अजस्ररूप से सौरसम्वत्सररूपा महालक्ष्मी का अभिषेक ही कर रहे हैं, जैसाकि—"हिमनिभै-श्चतुर्भिर्गजैर्हस्तप्राहितरत्नकुम्भसलिलैरासिच्यमानां सदा' इत्यादि ध्यानांश से स्पष्ट है।

३९-भूतसम्पत्तिरूपा महालक्ष्मी के साथ प्राणैश्वर्य्यरूपा श्री के समन्वय की अभ्यर्थना, एवं श्री-विहीना लक्ष्मी के सहयोगी गन्धर्व-अप्सरा-वारुणी-आदि असुरभावों से राष्ट्रपरित्राणकामना—

ऐरावतादि गजों से सदा ही अमृताभिषेक से समन्विता वरदा महालक्ष्मी यदि पद्मासना है, तो तदभिन्ना अमृतरसगर्भिता अभया महासरस्वती पारमेष्ठ्य-पुष्करालय-वासिनी बनती हुई पद्मालया है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है। पुनः हम राष्ट्रीय-प्रज्ञा से यह नम्र आवेदन कर देना चाहते हैं कि, इस सांस्कृतिक तथ्य को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए राष्ट्रप्रजा को भूतसम्पत्तिरूपा पद्मासना महालक्ष्मी के साथ अविलम्ब प्राणैश्वर्य्य-रूपा पद्मालया महासरस्वती (श्री) को समन्वित कर ही देना चाहिए। तभी लक्ष्मी समृद्धि-शान्ति-तुष्टि-पुष्टि-ऋद्धि-वृद्धि विभूति-सम्भूति-भावों की संग्राहिका बन सकेगी। श्रीशारदाविहीना लक्ष्मी कदापि अपने सहज चाञ्चल्य से स्थिरधर्म्मप्रयोजिका नहीं बन सकती। श्रीविहीना लक्ष्मी अपने भूतनिबन्धन-आसुरभाव में समाविष्ट होती हुई समुद्रोत्पन्ना गन्धर्व-वारुणी-अप्सरा-आदि आदि आसुरभावों की ही अनुगामिनी बन जाया करती है, जिन केवल लक्ष्मी-मद-जनित-अनर्थपरम्पराओं का महामन्त्री वयोवृद्ध ब्राह्मणश्रेष्ठ शुकनास के द्वारा युवराज-चन्द्रापीड़ के प्रति महता-समारम्भेण उद्बोधन हुआ है। अत्यन्त ही उपयोगी है कादम्बरी का वह प्रकरण, जिसे शारदाभक्ति से वञ्चित केवल लक्ष्मीभक्तों को तो अवश्यमेव अपने मानवीय-स्वरूपोद्-बोधन के लिए एकबार देख ही लेना चाहिए।

४०-श्री लक्षणा शारदा, तथा लक्ष्मी के समन्वय-प्रसङ्ग का उपराम—

मातासरस्वती के ध्यान से सम्बन्ध रखने वाला-'पद्मासने संस्थिताम्-वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम्' यह सुप्रसिद्ध अंश लक्ष्मीवत् सरस्वती को भी तो 'पद्मासना' ही बतला रहा है। एक ही उद्गम स्थान है दोनों का। दोनों में अन्तर केवल एक है शब्द, एवं अर्थ की प्रधानता का। शब्द-प्रधाना, अतएव 'वीणावादिनी' रूपेण उपगीयमाना माता सरस्वती शब्द के द्वारा अर्थ की प्रतिष्ठा बनी हुई है, एवं अर्थप्रधाना माता लक्ष्मी अर्थ के द्वारा शब्द की प्रवर्त्तिका बनी हुई है। इसीलिए तो सुप्रसिद्ध अश्वमेधयज्ञ में राज्यलक्ष्मी के संरक्षण-स्थायित्त्व के लिए वर्षपर्य्यन्त निगमनिष्ठ ब्राह्मणों के द्वारा वीणावादनकर्म्म

अनिवार्य्य माना है भगवती श्रुतिने–जैसाकि निबन्ध के प्रथमप्रकरण में भी निवेदन किया जाचुका है । अलमतिपल्लवितेन–शारदा–लक्ष्म्योः समन्वयप्रसङ्गेन ।

४१–पद्मासना महालक्ष्मी का पद्मासन भूपिण्ड, एवं तत्स्वरूप--परिचय—

पद्मालया (सरस्वतीरूपा) 'श्रीः' को मूलप्रतिष्ठा बनाने वाली महाशक्ति का स्वायम्भुव विवर्त्त ही महाकाली है, स्वयं का पारमेष्ठ्य विवर्त्त ही महासरस्वती है, एवं अमृत सूर्य्यात्मक सौरविवर्त्त ही महालक्ष्मी है । यों तीनों शक्तियों से समन्विता अमृतालक्ष्मी ही वह 'श्रीः' है, जिसे विष्णु की प्रथमा अर्द्धाङ्गिनी माना गया है, बतलाया गया है पूर्व में । अत्र पद्मासना 'लक्ष्मी' को लक्ष्य बनाइए, जिसका लक्षीभूत 'दीपावली' पर्व से सम्बन्ध है । **मर्त्यसूर्य्य, चन्द्रमा, भूपिण्ड,** रूपा रोदसीत्रिलोकी ही इस लक्ष्मी का आवासक्षेत्र है, व्याप्तिक्षेत्र है । मर्त्यसूर्य्यरूपेण यही लक्ष्मी सम्वत्सरकालानुबन्ध से 'काली' है, चन्द्रसोमसम्बन्ध से यही लक्ष्मी सरस्वती है, एवं पृथिवी (भूपिण्ड) सम्बन्ध से यही लक्ष्मी लक्ष्मी है । यों मर्त्य–अर्द्धविश्व की बलप्रधाना–भूतप्रधाना–लक्ष्मी भी काली–सरस्वती–लक्ष्मी–रूपेण त्रेधा विभक्त हो रही है । त्रिशक्तिरूपा भौतिकविश्वलक्ष्मी विष्णु की द्वितीया अर्द्धाङ्गिनी है, जिसका प्रतिष्ठास्थानात्मक आसन वह भूपिण्ड ही बना हुआ है, जिसकी स्वरूपनिष्पत्ति उसी आपोमय पुष्करपर्ण से **आपः-फेन-मृत्–सिकता-शर्करा-अश्मा–अयः–हिरण्य**-नाम की आठ गायत्र–व्यवहृतियों से **'एमूषवराह'** नामक (पार्थिव–भौम) वराह से हुई है । यों भूपिण्ड साक्षात् पद्मरूप में परिणत हो रहा है, जिसके सुमेरुरूप केन्द्र को आधार बना कर ही अष्टदलभेद से भारतीय उस **'पाद्मभुवनकोश'** (भूगोलविद्या) का स्वरूप-समन्वय किया है पुराणाचार्य्योंनें, जो अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण, अतएव चमत्कृत विषय है ।

४२–पद्मभू ब्रह्मा से समन्वित पाद्मभुवनकोशरूपा मर्त्या त्रिलोकी, एवं तत्र व्याप्ता शक्ति-त्रयरूपा महालक्ष्मी—

इसी भूपद्म के सम्बन्ध से भौमब्रह्मशक्तिरूपा केन्द्रशक्ति–**'पद्मभूः'** नाम से प्रसिद्ध हुई है । इसी भूपद्म पर क्योंकि मर्त्यात्रिलोकी में व्याप्ता शक्तित्रयरूपा लक्ष्मी विराजमाना है । अतएव इसे–**'पद्मासना'** कहना सर्वथा अन्वर्थ प्रमाणित हो रहा है । और यों औपनिषद–सिद्धान्तरूपा–शोणाधरा-वीणावाणी–भगवती 'श्री' (शारदा) का पारमेष्ठ्यलोकात्मक पद्मालयत्त्व *, एवं भूपिण्डानुगता त्रैलोक्यव्याप्ता-मर्त्य–भौतिक–विश्व-साक्षिणी माता लक्ष्मी का भौमलोकात्मक पद्मासनत्त्व सर्वथा प्रमाणित हो जाता है । अतएव हमने कहा है कि-**'श्रीः' जहाँ पद्मालया है, वहाँ 'लक्ष्मी' पद्मासना है** । प्राणविभूति ही पद्मालया श्रीः है, जिसका मानव के आत्मबुद्धिरूप सूक्ष्मजगत् से सम्बन्ध है । एवं भूतविभूति ही पद्मासना लक्ष्मी है, जिसका मानव के मनः-शरीररूप स्थूलजगत् से ही सम्बन्ध है ।

---

*-सिद्धान्तमौपनिषदं शुद्धान्तं परमेष्ठिनः ।
शोणाधरमहः किञ्चिद्वीणाधरमुपास्महे ॥

—लघुपाराशरी

४३-आत्मबुद्धिसमन्वित सूक्ष्मजगत् का परलोकत्व, एवं मनःशरीरसमन्वित स्थूलजगत् का इहलोकत्व, तथा उभयलोकात्मक अभ्युदय-निःश्रेयस्-भाव—

आत्मबुद्धिसमन्वित सूक्ष्मजगत् ही मानव का पारिभाषिक **परलोक** है, जिस इस आध्यात्मिक परलोक (आत्मलोक) का आधिदैविक स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य्य-रूप परलोक से सम्बन्ध माना गया है । मनःशरीरसमन्वित-स्थूलजगत् ही मानव का पारिभाषिक **इहलोक** है, जिस इस आध्यात्मिक इहलोक (मनोलोक) का आधिदैविक मर्त्य-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्डरूप इहलोक (भूतलोक) से सम्बन्ध माना गया है । उभयलोकसमन्वयभाव ही मानव का (आमुष्मिक-ऐहिक-भावसमन्वयात्मक) वह पूर्ण स्वरूप है, जिस इस उभयसमन्वयात्मिका मानव की परिपूर्णता के बोध से वञ्चित मानव के दुर्भाग्यवश वैसे दो विभिन्न वर्ग आज भारत राष्ट्र में आविर्भूत हो गए हैं (आज से तीन सहस्रवर्षों की भुक्त-प्रक्रान्ता पूर्वोक्ता दासताओं के युग में), जो क्रमशः **वेदान्तनिष्ठ विद्वान्**, तथा **यथाजात मनोवशवर्त्ती लोकमानव**, नामों से यथा-कथञ्चित् व्यवहृत किए जासकते हैं ।

४४-आत्मग्रहग्रस्त जगन्मिथ्यात्ववादी वेदान्तियों का काल्पनिक निःश्रेयस्, एवं शून्यवादग्रहग्रस्त शून्यवादी लोकायतिकों का काल्पनिक निर्वाण, तथा उभय-समन्वयाभाव से भारतराष्ट्र का सर्वात्मक पतन—

वेदान्तनिष्ठ-विद्वानों की दृष्टि में आत्मबुद्धिरूप आत्मजगत् तो बना हुआ है सत्य, एवं मनःशरीररूप भूतजगत् बना हुआ है मिथ्या । जगन्मिथ्यात्ववादी इन आत्मवादी विद्वानों नें ही केवल 'सरस्वती' का उद्घोष मात्र करते हुए लोकलक्ष्मी से राष्ट्र को सर्वथा ही वञ्चित कर दिया है । इन की इस लक्ष्मीविहीना आत्मभावना ने हीं राष्ट्र को निऋर्तिदेवी माता उस धूमावती-अलक्ष्मी का सम्मान्य अतिथि बना डाला है, जिसका पूर्व-प्रकरण के धूमावती नामक परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया जाचुका है । इधर लोकनिष्ठ-कुनैष्ठिक-लोकमानवों की दृष्टि में मनःशरीररूप लोकजगत् तो बना हुआ सत्य, एवं आत्मबुद्धिरूप आत्मजगत् बना हुआ है कल्पित । लोकसत्यवादी इन भूतवादी लोकमानवों नें हीं केवल 'लक्ष्मी' का ही उद्घोष करते हुए आत्मश्री से राष्ट्र को सर्वथा ही वञ्चित कर दिया है । इन की इस श्रीविहीना लोक-भूतभावना ने हीं राष्ट्र को उस दम्भ-मान-मद-छल-कपट-ईर्ष्या-द्रोह-असूया-कलह-मायाचार-आदि भावनाओं के माध्यम से राष्ट्र को वैसी लक्ष्मी का सम्मान्य अतिथि बना डाला है, जो श्रीविहीना लक्ष्मी आसुरभावानुग वारुणी-कामलिप्सा-लोकैषणा-मानस उपलालन प्रधान गीत-नृत्य-वाद्यादि के वैतालभावों से सर्वथा अलक्ष्मीरूप में हीं परिणत रहा करती है । और यों एक केवल पुरुषवादी (आत्मवादी) रूप से शून्यं-शून्यं प्रमाणित हो रहे हैं, तो दूसरे केवल जड़प्रकृतिवादी (भूतवादी) रूप से शून्यं-शून्यं-दुःखं-दुःखं-रूप में परिणत हो रहे हैं । मानव ने अपने-**'तत्तु समन्वयात्'** मूलक प्रकृतिपुरुष के दाम्पत्यरूप-गृहस्थाश्रमलक्षण आश्रमजीवन की उपेक्षा कर अपना परलोक, एवं इहलोक, दोनों हीं तो दूषित कर लिए हैं । मानवता की मूलप्रतिष्ठारूप इस प्रकृति-पुरुषात्मक समन्वय का प्रतिपादन करने वाली निगमागमपुराणरूपा मूलसंस्कृति के बोध से, तन्मूला आचारपद्धति से सर्वथैव पराङ्मुख बन जाने वाले आज का भारतीय-मानववर्ग वस्तुगत्या सर्वथैव लक्ष्यभ्रष्ट प्रमाणित होता हुआ अपने काल्पनिक-मानवता, सत्य, अहिंसा, दया, सहास्तित्व जैसे श्री-लक्ष्मीविहीन-शून्य-उद्घोषमात्रों

के माध्यम से अनुदिन वर्द्धमान दुःख- क्षोभ–अशान्ति–दीनता–परावलम्बनता के वारुणपाशों से सर्वात्मना आलोमभ्यः–अनखाग्रेभ्यः आबद्ध ही तो बनता जारहा है, इति-नु महतीयं विम्बना स्वमूलसंस्कृतिस्वरूपवञ्चितस्य श्रीविहीनस्य–लक्ष्मीविहीनस्य–प्रक्रान्त–दुर्द्दशाग्रहग्रस्तस्य भारतीय–मानवस्य ।

४५–महन्मूलक–आत्मभावप्रधान श्रीभाव, एवं प्रज्ञानमूलक मनोभावप्रधान लक्ष्मीभाव–

श्री–लक्ष्मी–समन्वयात्मकेतिवृत्त से अनुप्राणित उक्त मानवगाथा से अब हमें एक विशेष तथ्य की ओर भी स्वतः ही आकर्षित हो जाना पड़ा । भूपिण्डरूप पद्म को आसन बनाने वाली मर्त्य–त्रैलोक्यव्याप्ता माता लक्ष्मी के उस ओर मर्त्य सूर्य्य है, इस ओर भूपिण्ड है, मध्य में चन्द्रमा है । जैसे कि परमेष्ठीरूप पद्म को अपना आश्रय बनाने वाली अमृतत्रैलोक्यव्याप्ता माता शारदा के (श्री के) उस ओर अमृत–स्वयम्भू है, इस ओर अमृत सूर्य्य है, मध्य में पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति नामक पवित्र सोम है । पारमेष्ठ्य सोम का नाम है **महान्**, एवं चान्द्रसोम का नाम है **प्रज्ञान** । महान् आत्मभाव की गर्भभूमि है, तो चान्द्रप्रज्ञान मनोभाव की प्रतिष्ठा है । यों श्रीभाव महन्मूलक आत्मप्रधान बना हुआ है, तो लक्ष्मीभाव प्रज्ञानमूलक मनःप्रधान बना हुआ है । और इस स्वतःसिद्ध दृष्टिकोण के अनुसार पार्थिव–लोकलक्ष्मी का मनःप्राधान्यत्त्व ही प्रमाणित हो जाता है । आत्मानुगत बुद्धि के आधार पर (श्री पर) प्रतिष्ठित चान्द्रमन ही पार्थिवी–लोकलक्ष्मी का मूलोपक्रम बनता है, बना हुआ है । तभी तो सूर्य्यचन्द्रसङ्गमरूपा सोममयी अमावस्या ही तो दीपावलीपर्व की अन्यतमा माङ्गलिक–तिथि बनती है, जैसा कि आगे जाकर सम्भवतः स्पष्ट होसकेगा ।

४६–आत्मश्रीरूपा शारदा के आधार पर प्रतिष्ठिता मनोलक्ष्मीरूपा कमला, एवं मनः-प्रधान वैश्यवर्ग, तथा तत्प्रधान–लक्ष्मीपूजनात्मक–दीपावलीपर्व–

आत्मश्रीः रूपा शारदा को मूलप्रतिष्ठा बनाने वाली मनोरूपा लक्ष्मी को अवश्य ही चान्द्री कहा जासकता है । एवं इस दृष्टि से मनस्तन्त्र को ही 'लक्ष्मी' तत्त्व का उक्थ माना जासकता है । एकमात्र इसी मनःप्राधान्य से लक्ष्मी–भावानुगत-दीपावलीपर्व को लोक में '**वैश्यवर्णप्रधान–पर्व**' मान लिया गया है । क्योंकि चातुर्वर्ण्य–सर्ग में चान्द्रतत्त्व ही मनोरूपेण वैश्यवर्ण की मूलप्रतिष्ठा बना करता है, जैसाकि प्रथम-प्रकरण में विस्तार से निवेदन किया जाचुका है । परिवारभावानुगत–मनोधर्म्मा वैश्य अवश्य ही राष्ट्र का सुम्नतेज है, जिसे चान्द्रतेज ही माना है श्रुति ने । श्री के आधार पर प्रतिष्ठिता भूतसम्पत्तिरूपा लोकलक्ष्मी का ही नाम 'अर्थबल' है । जिसप्रकार ज्ञानशक्ति का प्रधान उत्तरदायित्त्व आत्मनिष्ठ ब्राह्मण से सम्बद्ध माना गया है, क्रियाशक्तिरूप पौरुष का उत्तरदायित्त्व बुद्धिनिष्ठ क्षत्रिय से अनुप्राणित माना गया है, एवमेव अर्थशक्तिरूप 'वित्त' का उत्तरदायित्त्व मनोधर्म्मा वैश्य से ही समन्वित माना गया है, जैसाकि इस वर्ग की '**गुप्त**' उपाधि से भी स्पष्ट है । मनस्तन्त्रानुगामिनी, किंवा चान्द्रतत्त्वानुगामिनी सौम्या मनोमयी, अतएव मनःप्रधान वैश्यवर्ग के द्वारा उपलालिता प्रमाणित होती रहने वाली लोकलक्ष्मी के इसी मानसभाव को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

> **सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रमत ।**
> **अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मी र्निहिताधि वाचि ॥**
>
> —ऋक्संहिता

४७-'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो०' मन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय, एवं तन्मूलक-'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत' रूप श्री-लक्ष्मी-समन्वयात्मक-आत्मश्री, एवं लोक-लक्ष्मी-भावों का दिग्दर्शन—

मन्त्र का अक्षरार्थ स्पष्ट है। "जिस प्रकार भ्राष्ट्र-पक्व-यव-सक्तु (भुने हुए जौ के-धाणी-धानी-के सत्तु *) के स्वरूप-सम्पादन के लिए (सक्तु निर्म्माण से पूर्व मुसलद्वारा उलूखल में कूटी हुई परिपक्व जौराशि को) परिपवन-साधनभूत 'तितउ' (शूर्प-छाजले) से कौशलपूर्वक कुशलगृहिणी वितुषीकरण-प्रक्रिया से स्वच्छ-तुषरहित करलेती है, एवमेव जिस परिवार में, किंवा समाज में, किंवा राष्ट्र में प्रज्ञाशील मानव तितउरूप मन से 'वाक्' रूपा परिपक्वा यवराशि को स्वच्छ-निर्म्मल बना लेते हैं, उस परिवार-समाज-राष्ट्र के धीर मानव हीं (दोषरहिता वाक् के अनुग्रह से रागद्वेषवियुक्तिपूर्वक परस्पर) सख्यभाव (मैत्रीभाव) स्थापित करने में समर्थ बन जाया करते हैं। ऐसे मानवों में हीं परस्पर मैत्रीसम्बन्ध समन्वित हुआ करता है। सख्यभावानुगत ऐसे पारिवारिक-सामाजिक, एवं राष्ट्रीय मानवों की वाणी में हीं अभ्युदय-कारिणी भद्रा-मङ्गलमयी लक्ष्मी निवास करती है।"

मन्त्राक्षरार्थ के द्वारा-'**लक्ष्मी का आवास निवास कहा है**?' इस तात्त्विक प्रश्न का ही समाधान हो रहा है। मन्त्र के '**धीराः-मनसा-वाचम्**' ये शब्द विशेषरूपेण अवधेय हैं। श्री के आधार पर प्रतिष्ठिता लोकलक्ष्मी का स्वरूप-बतलाते हुए पूर्व में यह निवेदन किया गया है कि, **मर्त्यसूर्य्य, चन्द्रमा, भूपिण्ड** इन तीनों भूतपिण्डों की समष्टि का ही नाम मर्त्यविश्व है, एवं लोकलक्ष्मी का इसी मर्त्यविश्व से सम्बन्ध है। **स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य्य**-इन तीन प्राणमण्डलों की समष्टि का ही नाम अमृतविश्व है, एवं आत्मश्री का इसी अमृतविश्व से सम्बन्ध है। 'प्राकृतात्मविज्ञान' के अनुसार इन ६ श्रों के, (तत्त्वतः **स्वयम्भू[1]-परमेष्ठी[2]-सूर्य्य[3]-चन्द्रमा[4]-भूपिण्ड[1]**-इन पाँचों के) प्रवर्ग्यभागों से ही मानव के **अव्यक्तात्मा[1]-महानात्मा-विज्ञानात्मा[4]-प्रज्ञानात्मा[3]-भूतात्मा[5]**, इन पाँच प्राकृतात्माओं का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। इन पाँचों में अव्यक्त, महान्, दोनों की समन्वितावस्था का नाम हीं '**आत्मा**' है। अमृतविज्ञान-मर्त्यविज्ञान-दोनों की समन्वितावस्था का नाम हीं '**बुद्धि**' है। प्रज्ञान का नाम हीं '**मन**' है, एवं भूत का नाम ही '**शरीर**' है। यों ६ के ५, पाँच के अन्ततोगत्त्वा चार ही विवर्त्त शेष रह जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

---

* जौ को भाड़ में परिपक्व कर लेने से निष्पन्न अन्न ही लोकभाषा में 'जौ की धाणी, किंवा धानी'-कहलाई है। इसे कूटा जाता है, ऊखल मूसल से। अनन्तर शूर्प (छाजले) से तुषभाग पृथक् कर इसे पीसा जाता है। यही पिसा हुआ द्रव्य 'सत्तु' कहलाया है, जिसे ग्रीष्मऋतु में शर्करादि मिश्रण से पीया जाता है। अत्यन्त ही मधुर होता है इस का स्वाद।

———*

१–स्वयम्भूः (१)—अव्यक्तात्मा १
२–परमेष्ठी (२)—महानात्मा २ } —आत्मा १

३–अमृतसूर्य्यः (३)—अमृतविज्ञानम्
———* ३ } —बुद्धिः २
१–मर्त्यसूर्य्यः (४)—मर्त्यविज्ञानम्

} —श्रीभावः (आत्मश्रीः)

२–चन्द्रमाः (५)—प्रज्ञानात्मा ४] —मनः ३
३–पृथिवी (६)—भूतात्मा ५] —शरीरम् ४

} —लक्ष्मीभावः (लोकलक्ष्मीः)

———*

६ ५ ४

४८–वाङ्मयी लक्ष्मी के अनुग्रह के लिए तदनुगत (वागनुगत) श्रम, तन्मूलक तपोरूप परिश्रम, तन्मूलक आश्रमरूप सन्तपन, एवं सर्वमूलभूत–आत्मप्रतिष्ठात्मक अध्यवसाय की सापेक्षता—

स्वायम्भुव **अव्यक्त**,–पारमेष्ठ्य **महत्**, अमृतसौररूप–**अमृतविज्ञान**, तीनों की समष्टिरूपा आत्मश्री ही मानव का '**आत्मभाव**' है, जिसके आधार पर मर्त्यसौररूपा–**बुद्धि**, **चान्द्रमन**, **पार्थिव शरीर**, इन तीनों की समष्टिरूपा लोकलक्ष्मी प्रतिष्ठित है। इन तीनों लक्ष्मीपर्वों के संग्रह के लिए ही मन्त्रश्रुति में क्रमशः **धीराः–मनसा–वाचम्**–ये शब्द उपात्त हैं। **बुद्धि–मन–शरीर, तीनों का जहाँ सह समन्वय है, सह सौख्य है, मैत्री है, वहीं लक्ष्मी का आवास-निवास है, यही निष्कर्ष है**। बौद्धिक श्रम **तप** कहलाया है, मानसिक श्रम **कामना** नाम से प्रसिद्ध है, एवं शारीरिक श्रम **श्रम** (लोकप्रसिद्ध–श्रम) नाम से प्रसिद्ध है। तप–काम–श्रम–के सहसमन्वय से ही मानव के अर्णवसमुद्र का मन्थन होता है। एवं इस मन्थनप्रक्रिया से ही लक्ष्मी का आविर्भाव होता है। काम-तपः-श्रमानुगत मानवों की तो वाणी में ही लक्ष्मी विराजमान रहती है। न केवल वाणी में हीं, अपितु वाणी में, नेत्रों में, अङ्ग–प्रत्यङ्ग में लक्ष्मी व्यक्त रहती है। ऐसे अध्यवसायनिष्ठ मानवश्रेष्ठ ही **पुण्यलक्ष्मीक** कहलाए हैं *। 'धीराः' शब्द 'बुद्धि' का, तदनुगत परिश्रमरूप

---

*–यत्रा हैव शिरः, तदेव हनू, तज्जिह्वाः। अथैताः पुण्या लक्ष्मीर्मुखतो धत्ते। तस्मात्–यस्य मुखे लक्ष्म भवति, तं–'पुण्यलक्ष्मीकः' इत्याचक्षते॥
—शत० ८।४।४।११।

'तप' का संग्राहक है, '**मनसा**' शब्द 'काम' का संग्राहक है, एवं '**वाचम्**' शब्द वाङ्मय शरीर, तदनुगत श्रम का संग्राहक है। यों तीन शब्द काम–तप:-श्रम के संग्रह के साथ साथ लक्ष्मी के मूलाधारभूत मन:प्राण-वाङ्मय आत्मभाव के भी संग्राहक प्रमाणित हो रहे हैं। '**सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्**' मूलक काम–तप:–श्रम का समन्वय ही लक्ष्मी का आविर्भावक बना करता है। सम्पूर्ण विश्वलक्ष्मी मन:प्राण-वाङ्मय प्रजापति के काम-तप:-श्रम-रूप अध्यवसाय से ही उत्पन्न हुई है। और आज भी प्रजापति के नेदिष्ठरूप मानव को इस प्राजापत्य–अध्यवसाय से ही लक्ष्मी के दर्शन हो सकते हैं, हुआ करते हैं, होते हैं, निश्चयेन हो जाते हैं।

४६–मनोवशवर्त्ती, अतएव धृतिगुणशून्य, अधीर–अनुकूलतावादी–पुरुषार्थशून्य–मानवों की व्यग्रता, एवं स्थिरलक्ष्मी की पराङ्मुखता—

लोकदृष्टि से '**धीरा मनसा वाचमक्रत**' का समन्वय कीजिए। सौर विज्ञानात्मा ही बुद्धि है, जिसका महान् गुण माना गया है–'धृति'। प्रत्येक वस्तु के परिणाम का आधार 'कालपरिपाक' माना गया है। बिना कालपरिपाक के किसी भी वस्तु में अतिशयाधानरूप फल का आविर्भाव नहीं हुआ करता। जो मानव केवल मनोवशवर्त्ती बने रहते हैं,–'**चञ्चलं हि मनः कृष्ण**'! के अनुसार ऐसे मनोराज्यपथानुगामी, अतएव चञ्चलप्रज्ञ, अधीर मानव तत्काल ही क्षणमात्र में हीं लक्ष्मी की आराधना में सफल बन जाने के लिए व्यग्र हो पड़ते हैं। यही व्यग्रता इन्हें वास्तविक–स्थिर–लक्ष्मी से सर्वथा ही पराङ्मुख बना देती है। बिना परिश्रम के, अध्यवसाय के केवल फूत्कारमात्र से तत्काल ही लक्ष्मी के लिए आतुर बने रहने वाले ऐसे अधीर मन हीं वैसे भातिसिद्ध हीनप्रकारों के अनुगामी बन जाते हैं, जिन प्रकारों से गन्धर्वनगरलेखावत्–लक्ष्मीयुक्त प्रतीत होते रहने वाले भी ये मनोजीवी मूलत: श्रीविहीना ऐसी चञ्चला लक्ष्मी से तिरस्कृत ही प्रमाणित होते रहते हैं।

५०–ऐश्वर्य्य-श्री:-से वञ्चिता, अतएव भातिसिद्धा, लक्ष्मीरूपा लक्ष्मी के आकर्षण से राष्ट्र की सत्तासिद्धा–वास्तविक–लक्ष्मी–कृषि–गोरक्ष–वाणिज्य कर्म्मत्रयी का उत्तरोत्तर–अभिभव, एवं तदभिभूति के दुष्परिणाम—

ऐश्वर्य्य–श्री:–यशो–वञ्चिता भातिसिद्धा इस अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी का ही तो आज प्राबल्य है, जिस आकर्षण से आकर्षित होकर ही राष्ट्र के वैश्यवर्ग नें कृषि–गोरक्षा–वस्तुविनिमयात्मक–सत्तासिद्ध–वाणिज्य का परित्याग कर राष्ट्र की श्रीसम्पन्ना वास्तविक लक्ष्मी को सर्वथा अन्तर्म्मुख ही बना दिया है। और आज तो सभी वर्गों नें वैश्यमहाभाग के द्वारा आविष्कृत भातिसिद्ध–कल्पित व्यवसायों, मायाचारों को ही अर्थसंग्रह के एकमात्र द्वार मान लिए हैं। तप–श्रम से आविर्भूता स्वेदधारा ही सत्तासिद्धा लक्ष्मी को जन्म दिया करती है। ऐसे अध्यवसायनिष्ठ धीर–मानवों को ही स्थिरलक्ष्मी का अनुग्रह प्राप्त हुआ करता है। बुद्धियुक्त मनोबल ही लक्ष्मी की बाह्य प्रतिष्ठा बना करता है। विचारशून्य, अधीर, स्खलितमना एक प्राकृत–मानव की वाणी में कहाँ है लक्ष्मी का निवास ?। न तो ऐसे यथाजात मानवों की वाणी में हीं बल, न पाणी में हीं कर्म्म-कौशल, न बुद्धि में हीं धैर्य्य। अपितु अविद्या–अस्मिता–आसक्ति–अभिनिवेश–मूलक–रागद्वेषात्मक–मोह–

मान-मद-दम्भ-दर्प से सतत आक्रान्त, अनुकूलतावादी, पराश्रयवर्त्ती, संघर्षशून्य ऐसे मानव लोकसंघठनों से सर्वथैव वञ्चित रहते हुए उस कारणसमुदायानुग्रह से भी सर्वथैव वञ्चित रह जाया करते हैं, जिस कारणसमुदाय को ही 'कार्य्यसिद्धि' के प्रति कारणता प्रदान की गई है । वैय्यक्तिक-लिप्साकर्षण से सर्वसहयोगपराङ्मुख ऐसे मनोवशवर्त्ती-कर्म्मशून्य-भाग्यहीन-यथाजात मानव कदापि लोकलक्ष्मी के दर्शन नहीं कर सकते । धीरतालक्षणा सुमति ही 'संघठन' का मूलबीज है । यही वही सख्यभाव है, जिसके लिए-**'अत्रा सखाय: सख्यानि जानते'** कहा गया है । 'सुमति' शून्य दुराशाओं का भी 'संघ' तो बन जाता है । किन्तु इस संघ में समवेत सभी व्यक्तियों का सख्यभाव छल से ही समाप्लुत रहता है । सब अपने अपने मनोभावों में अपने अपने जघन्य स्वार्थों की पूर्ति में ही संलग्न बने रहते हैं । तत्त्वतः किसी से किसी की मैत्री नहीं है । अपितु-**'अमुक-अमुक-भाई-भाई-परस्पर मित्र'** इस बाह्य आकर्षक-घोषणा के अन्तराल में वैय्यक्तिक वित्तलिप्सा-लोकलिप्सा दावानल की भाँति उदीप्त रहती है, जो किसी दिन इन सभी कल्पित-मित्रों-सखाओं को भस्मावशेष-भाव में हीं परिणत कर दिया करती है ।

५१-बुद्ध्यनुगत-पारस्परिक-सख्यभावमूला सुमति, और लक्ष्मी का अनुग्रह—

तात्पर्य्य यही है कि, जिस राष्ट्र के मानव विचारशील होते हैं, प्रत्येक समस्या का बुद्धिपूर्वक-(निष्ठापूर्वक)-धीरतापूर्वक चिन्तन-मनन करते रहते हैं, इस चिन्तनधारानुग्रह से ही जिनका प्रज्ञानमन विज्ञानबुद्धि से नियन्त्रित रहता हुआ निश्चित मन्तव्यों-लक्ष्यों का अनुगामी बना रहता है, शास्त्रीयभाषानुसार मनःप्राण-वाक् से अनुगत इच्छा-कर्म्म-वाणी-के समन्वय से जिनका मनःप्राणवाङ्मय आत्मा स्वस्वरूप से महान् बना रहता है, ऐसे धीर--मनस्वी--मानवों की वाणी में हीं एकप्रकार का ओज, पराक्रम, आकर्षण रहा करता है । एवं ऐसे महान् मानव ही पारस्परिक सख्यभाव से एकसूत्र में आबद्ध होते हुए राष्ट्र-लक्ष्मी के प्रवर्त्तक-संरक्षक-बना करते हैं । **जहाँ सुमति, तहँ सम्पति नाना** ।

५२-वैय्यक्तिक स्वार्थमूला कुमति, और राष्ट्रलक्ष्मी का विलयन—

और-**'जहाँ कुमति, तहँ विपति बिड़ाना'** भी प्रसिद्ध ही है । अमृतविश्वानुगता आत्मश्री के बोध से अपरिचित जिन मानवों की बुद्धि धीरता से पराङ्मुख बनी रहती है, क्षण-क्षण में परिवर्त्तनशीला विकारभूता जड़प्रकृति ही जिनकी उपास्या बनी रहती है, अतएव जो अधीरता--तात्कालिकता के ही अनुवर्त्मा बने रहते हैं, उनका मनस्तन्त्र सर्वथा ही चञ्चलप्रज्ञ बना रहता है । प्रज्ञाचाञ्चल्य से ऐन्द्रियक चाञ्चल्य का उदय, तदनुपात से कर्म्मचाञ्चल्य, सर्वत्र चञ्चलता का साम्राज्य, धृति का अत्यन्ताभाव, अतएव पारस्परिक--आत्मसमत्त्व का अभाव, अतएव च पारस्परिक कलह का आविर्भाव । एवं तद्ष्परिणाम-स्वरूप ही लक्ष्मी का पलायन, एवं अलक्ष्मी-धूमावती-निर्ऋति का प्रभुत्त्व, इत्यलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेन ।

५३-षट्-महिमान्वित वाक्तत्त्व, और-'वाचमक्रत' मूला लक्ष्मी—

'वाचमक्रत' वाक्य से सम्बन्ध रखने वाला 'वाक्' शब्द अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है । सर्वसाधारण में 'वाणी' नाम से प्रसिद्धा 'वाक्' ही आज वैदिक 'वाक्' शब्द का अर्थ समझा जारहा है । अतएव **'वाङ्मयवेद'** का अर्थ-**'शब्दात्मकवेद'** ही किया जारहा है । यदि 'वाक्' तत्त्व के चिरन्तन-सांस्कृतिक-

इतिहास को जान कर ऐसा समझा जाता है, तो कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु वाक् और शब्द में परस्पर पर्य्याय-सम्बन्ध मान बैठना तो सर्वथा ही वाग्विज्ञानविरुद्ध माना जायगा। ऋग्वेदीय मन्त्र के-'**वाचमक्रत**' से श्री और लक्ष्मीरूपा षट्-महिमान्विता '**सर्वावाक्**' का ही संग्रह होरहा है, जिस इस वाग्विवर्त्त के यथावत् समन्वय के लिए तो वेदशास्त्र का ऐकान्तिक स्वाध्याय ही शरणीकरणीय है। प्रसङ्गसमन्वयदृष्टि से प्रकृत में इस सम्बन्ध में किञ्चदिव ही निवेदन कर दिया जाता है।

५४-मनःप्राणगर्भित वाङ्मयप्रजापति की सर्वरूपता--

षोडशीप्रजापति का सृष्टिसाक्षीभाग मनःप्राणवाग्रूप है, जिसका मनोभाग अव्यय में, प्राणभाग अक्षर में, तथा वाग्भाग क्षर में अभिव्यक्त माना गया है। तीनों भाव मध्यस्थ अक्षर में समन्वित हैं। अतएव अक्षर को मनोमय प्राणमय वाङ्मय मान लिया गया है। अतएव यह मध्यस्थ अक्षर अव्ययत्त्वेन मनोमय बनता हुआ **सर्वज्ञ** (**ज्ञानशक्तिमय**), स्वस्वरूपत्त्वेन (अक्षरत्त्वेन) प्राणमय बनता हुआ **सर्वशक्ति** (**क्रियाशक्तिमय**), एवं क्षरत्त्वेन वाङ्मय बनता हुआ **सर्ववित्** (**अर्थशक्तिमय**) प्रमाणित होता हुआ षोडशीप्रजापति का ही प्रधान प्रतिनिधि बना हुआ है, जिस एवंविध प्रजापति से ही ब्रह्मरूप प्रतिष्ठासर्ग, नामरूपात्मक ज्योतिःसर्ग, एवं अन्नरूप यज्ञसर्ग, नामक तीन सर्गों का आविर्भाव हुआ है, जिनका पूर्वप्रकरण के आरम्भ में दिग्दर्शन कराया जाचुका है।

५५--अर्द्धनारीश्वर-प्रजापति की परा-परावरा-अवरा-नाम की शक्तित्रयी, और तदनुप्राणित विश्वस्वरूपसमन्वय-

ज्ञानक्रियार्थशक्तिमय प्रजापति ही पुरुष है, एवं इस पुरुष की शक्ति ही इसकी प्रकृति है। '**अर्द्धेन-पुरुषोऽभवत्, अर्द्धेन नारी**' सिद्धान्तानुसार एक ही पुरुषप्रजापति अपने अर्द्धभाग से **पुरुष**, तथा अर्द्धभाग से **प्रकृति** बना हुआ है। और यही शिवशक्तिसमन्वयात्मक प्राजापत्यसर्ग की उभयात्मकता है, जिसका दशमहाविद्या-परिच्छेदों में निरूपण किया जाचुका है। पुरुषप्रजापति क्योंकि अव्ययात्मक मन, अक्षरात्मक प्राण, एवं क्षरात्मिका वाक्-भेद से त्रिपुरुषपुरुषात्मक है। अतएव तदभिन्ना प्रकृतिरूपा शक्ति भी **पराशक्ति-परावरशक्ति-अवरशक्ति**-रूप से तीन विवर्त्तभावों में परिणत होती हुई त्र्यात्मका बन रही है। और इसी दृष्टिकोण से हमें तीनों महाशक्तियों का विश्वानुगत समन्वय ढूँढ निकाल लेना है।

५६--उसी पर, उसी से, उसी की विश्वरूपता का समन्वय—

अव्ययरूप मनोमयपुरुष, अक्षररूप प्राणमयपुरुष, एवं क्षररूप वाङ्मयपुरुष, इन तीनों पुरुषों से कृतरूप मनः-प्राण-वाङ्मय अक्षरप्रजापति ही अपनी मनोमयी अव्ययशक्ति, प्राणमयी अक्षरशक्ति, वाङ्मयी क्षर-शक्ति से विश्वकर्त्ता बनता है, बन रहा है। त्रिपुरुषमूर्त्ति-मनप्राणवाङ्मय अक्षरप्रजापति ही त्रिःप्रकृतिमयी मनःप्राणवाग्रूपा शक्ति से सर्वज्ञ-सर्वशक्ति-सर्ववित् बनता हुआ (ज्ञान-क्रिया-अर्थमय बनता हुआ) सम्पूर्ण विश्व (पञ्चपर्वा विश्व) का कर्त्ता बना हुआ है, यही वक्तव्य है। पुरुषप्रकृतिसमन्वयात्मक-अमृतमृत्युभय इस प्रजापति का अव्ययरूप मनोभाग सूक्ष्मतम है, अक्षररूप प्राणभाग सूक्ष्मतर है, एवं क्षररूप-वाग्भाग सूक्ष्म है। अव्ययात्मक सूक्ष्मतम मनोमयरूप, अक्षरात्मक सूक्ष्मतर-प्राणमयरूप, एवं क्षरात्मक सूक्ष्म वाङ्-

मयरूप, इन तीनों रूपों से क्रमशः यह प्रजापति विश्व का **अधिष्ठान–निमित्त–एवं उपादान** बना हुआ है। मनोभाग से यही विश्वालम्बनरूप अधिष्ठान है। प्राणभाग से यही विश्वकर्त्ता–विश्वनिमित्त है। एवं वाग्भाग से यही विश्वारम्भण–उपादानकारण है। **उस पर उससे वही विश्वरूप में परिणत होरहा है।** 'उस पर' का अर्थ है–मनोमय अव्ययाधिष्ठान पर। 'उससे' का अर्थ है प्राणमय अक्षर–निमित्त से। एवं–'वही' का अर्थ है 'वाङ्मय क्षर ही'। इस मौलिकदृष्टि को अवलम्ब बना कर ही हमें नवीनरूप से शक्तित्रयी के स्वरूप का समन्वय करना है।

त्रिपुरुषपुरुषात्मकोऽक्षरप्रजापतिः—

१—मनोरूपोऽव्ययपुरुषः–तन्मयोऽक्षरः–मनोमयः–सूक्ष्मतमः–सर्वज्ञः [ज्ञानमयः]—अधिष्ठानम्

२—प्राणरूपोऽक्षरपुरुषः–तन्मयोऽक्षरः–प्राणमयः–सूक्ष्मतरः–सर्वशक्तिः [क्रियामयः]—निमित्तम्

३—वाग्रूपः क्षरपुरुषः–तन्मयोऽक्षरः–वाङ्मयः–सूक्ष्मः–सर्ववित् [अर्थमयः]—आरम्भणम्

> **यः सर्वज्ञः सर्ववित्–यस्य ज्ञानमयं तपः।**
> **तस्यादेतत्–ब्रह्म, नामरूप, मन्नं च जायते॥** —उपनिषत्

५७–विश्वेश्वर का आत्मभाव, और विश्वभाव—

अपने सूक्ष्मतम–मनोमय–अव्ययात्मक अक्षरभाग में प्रतिष्ठित सूक्ष्मतर–प्राणमय–अक्षरात्मक अक्षरभाग के व्यापार से सूक्ष्म–वाङ्मय–क्षरात्मक अक्षरभाग के द्वारा ही अक्षरप्रजापति वाङ्मय (क्षरमय) विश्वरूप में परिणत हो रहा है। क्योंकि इसकी तीसरी अर्थशक्तिमयी क्षररूपा वाक्कला ही विश्वरूप में परिणत होती है। अतएव तीनों कलाओं में से सूक्ष्मतमा मनःकला, तथा सूक्ष्मतरा प्राणकला, इन दो कलाओं की समष्टि का तो एक स्वतन्त्र विवर्त्त मान लिया जाता है, एवं विश्वरूप में परिणता तीसरी सूक्ष्मा वाक्कला को स्वतन्त्र मान लिया जाता है, एवं क्षरत्वेन इसे भी विकारविश्वानुबन्ध से 'उत्पत्ति' कोटि में समाविष्ट मान लिया जाता है। फलतः विश्वकर्त्ता के स्वरूप में मनोमय–प्राणभाग की ही प्रमुखता शेष रह जाती है। अतएव **'विश्व के आत्मा'** के प्रसङ्ग में 'आत्मा' शब्द से 'मनः–प्राण' रूप दो कलाओं की समष्टि ही गृहीत होती है। तीसरी वाक्कला (तद्रूपा क्षरकला) विकारक्षरात्मक विश्व की उपादान बनती हुई आत्मकोटि से पृथक् हो जाती है [मानली जाती है]।

५८–विश्वात्मा से पञ्चकल विश्व का आविर्भाव, और उसकी प्रणववाचकता—

मनःप्राणमय अक्षरात्मा ही 'विश्वात्मा' रूप से शेष रह जाता है, जिससे सर्वप्रथम क्षरकला से जो कुछ उत्पन्न होता है, उसी का नाम है–'आकाश', जिस इस सूक्ष्मतत्त्वसमन्वय को लक्ष्य बनाकर ही–**'तस्माद्वा एतस्यादात्मन आकाशः सम्भूतः'** यह कहा गया है। **'आत्मनः' का मनःप्राणमयाक्षरात्मनः'** ही अर्थ है। **'आकाशः सम्भूतः'** का अर्थ है–**'वाग्रूपाविर्भावः'**। **'ब्रह्मैव वाचः परमंव्योम'** [तै० ब्रा० ३।६।५।५।] के अनुसार वाक् ही आकाश है, परमाकाश है। **'अयमेवाकाशो जूः'** रूप से भी इसी वागाकाश की ओर सङ्केत हुआ है। यही वाग्रूप आकाश बलचिति के तारतम्य से आगे जाकर क्रमशः वायु–तेज–जल–मृत्–रूप

में परिणत होता हुआ पञ्चात्मक–पञ्चपर्वा विश्वस्वरूप में परिणत हो रहा है। ये ही वाङ्मय पाँचों विवर्त्त क्रमशः **आकाश–वायु–तेज–जल–पृथिवी**-इन नामों से प्रसिद्ध हैं, जिनके छन्दोमय सुसूक्ष्म अण्डात्मक पुर ही क्रमशः **स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी**-इन नामों से सुप्रसिद्ध हैं विज्ञानपरिभाषा में। **'आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी'** इत्यादि तैत्तिरीयश्रुति इसी वाङ्मय विवर्त्त का स्पष्टीकरण कर रही है। यों मनःप्राणरूप अक्षरात्मा अपने वाग्भाग से आकाशादि पाँच विश्वभावों में परिणत होकर विश्वमूर्त्ति बन रहा है।

मन का साङ्केतिक अक्षर है **'अ'** कार, एवं प्राण का साङ्केतिक अक्षर है–'उ' कार। एवमेव 'वाक्' का साङ्केतिक अक्षर माना गया है 'म्' कार। सर्वथा असङ्ग मनोमय अव्यय सर्वथा असङ्ग [कण्ठताल्वादि से असंस्पृष्ट] अकार से समतुलित है। मन की अपेक्षा से ससङ्ग, किन्तु वागपेक्षया ससङ्ग, अतएव सङ्गासङ्ग प्राणमय अक्षर ससङ्गासङ्ग 'उ' कार से समतुलित है। अक्षरदृष्ट्या सर्वात्मना ससङ्ग 'क्षर' संस्पृष्ट 'मकार' से समतुलित है। यों मनः–प्राण–वाङ्मय प्रजापति–[ईश्वर] अकार–उकार–मकार-भावों से समतुलित होता हुआ **'ओम्'** रूपा प्रणवव्याहृति से समन्वित हो रहा है, जैसाकि–**'तस्य वाचकः प्रणवः'** [पा० यो० सू०] से स्पष्ट है।

५६–उ–अ–अच्, और वाक्, तन्मूलक वौक्, तदनुगत वौषट्, और वषट्कार, तथा उसकी देवपात्रता––

जो क्षरतत्त्व अकाररूप मन की उकाररूप प्राण के द्वारा स्वस्वरूपप्रतिष्ठा के लिए सतत वाञ्छा–इच्छा–याञ्चा–करता रहता है, उसी उ [प्राण] अ [मन] की इच्छा–रखने वाले क्षरतत्त्वविशेष को 'वाक्' कहा है वैज्ञानिकों नें। **'उ–अ–अच्'**, स्थिति ही 'वाक्' शब्द की स्वरूपनिर्म्मात्री है। प्राण के बिना मन अग्रगामी नहीं बनता। सृष्टिप्रक्रिया प्रक्रिया है, क्रिया है। क्रिया प्राण का ही धर्म्म है। अतएव सृष्टिदशा में 'प्राण' का प्राथम्य है, एवं मन का उत्तरसंस्थानत्त्व है। अतएव 'अ [मन]–उ [प्राण]' केस्थान में 'उ [प्राण]-अ [मन]' यह स्थिति हो जाती है। उकार को वकार–[यणादेश] हो जाता है। **'उ–अ–अच्'–'व्–अ–अच्'** रूप में परिणत हो जाता है। वही दीर्घत्त्वेन 'वाच्', किंवा 'वाक्' है, जिसका अर्थ है–**'प्राणमनोगर्भित क्षरतत्त्व'**। **'वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता'** का अर्थ है-**'प्राणमनोगर्भिते–क्षरे सर्वाणि भूतान्यर्पितानि'**। इसी आधार पर तो-**'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** [गीता] सिद्धान्त स्थापित हुआ है। जो अर्थ–**'अथो वागेवेदं सर्वम्'** का है, वही अर्थ–**'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** का है। मनःप्राणगर्भिता यही वाक्–**'वौक्'** नाम से भी प्रसिद्ध हुई है, जिसके आधार पर वेदशास्त्र की अत्यन्त रहस्यपूर्णा **'वौक्–षट्'**रूपा–'वाक्–षट्कारात्मिका' **'वषट्कारविद्या'** प्रतिष्ठित है। मनोऽनुगत देवरूप सम्पूर्ण प्राणदेव इसी वाग्धरातल पर प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि–**'देवपात्रं वा एष–यद्वषट्कारः'** इत्यादि निगमवचन से स्पष्ट है। **मनःप्राणगर्भिता, किंवा सृष्ट्यपेक्षया प्राणमनोगर्भिता क्षरवाक् ही 'वाक्' तत्त्व की मौलिक स्वरूप–व्याख्या है,** जोकि इत्थंभूता सर्वमयी [मनःप्राणवाङ्मयी] वाग्देवी प्राजापत्या–सृष्टिमूलभूता–सृष्टिस्वरूपा–वाग्देवी कहलाई है।

६० -मनःप्राणगर्भिता-ब्रह्माग्निरूपा वाक्, एवं तत्संघर्ष से आपोमय--पारमेष्ठ्य-सरस्वान् समुद्र का आविर्भाव—

तथाविधा 'वाग्देवी' को लक्ष्य बना कर ही वैज्ञानिक--महर्षियों नें कहा है कि--पञ्चपर्वा विश्व में सर्व--प्रथम वाङ्मय--अव्यक्त--आकाशात्मा स्वयम्भू का ही आविर्भाव हुआ है ×। इसी वाङ्मय अव्यक्त--स्वयम्भू से विश्वकामना से प्राणव्यापार के द्वारा स्व वाग्भाग में संघर्ष उत्पन्न हो पड़ा। मनोऽनुगत [कामानुगत] प्राणव्यापार से समुत्पन्न इसी संघर्ष से वह वाक्तत्त्व [जिसे **वेदाग्नि** कहा गया है, **ब्रह्माग्नि** माना गया है, '**वामपलित**' कहा गया है) उसी प्रकार द्रवावस्था में परिणत हो गया, जैसे कि श्रमगर्भित–परिश्रमात्मक तप से शारीराग्नि स्वेदधारारूप में (पसीने के रूप में) परिणत हो जाया करता है (देखिए गो० ब्रा० पू० १।१।१।)। किंवा चान्द्रतत्त्वानुगत शारीराग्नि अनुराग के संघर्ष से प्रेमाश्रु रूप में, सौरतत्त्वानुगत शारीराग्नि संघर्ष से शोकाश्रु रूप में परिणत हो जाता है। जैसे कि पर्जन्यवायुजनित संघर्ष से प्रवृद्ध आन्तरिक्ष्य वैश्वानराग्नि (ऊष्मा–ऊमस) वर्षाजलरूप में परिणत हो जाया करता है। तात्पर्य्य–संघर्षजनित संक्लेदन से वागग्नि तथैव द्रुत बन जाता है, और इसी आधार पर–'**अग्नेरापः**' वह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। यह ब्रह्माग्नि वाक् है, वाक् ही ब्रह्माग्नि है, जैसाकि–'**तस्य वा एतस्य–अग्नेः–(तत्त्ववेदाग्नेः)-वागेवोपनिषत्। सोऽपोऽसृजत-वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत**' इत्यादि शातपथीश्रुति से प्रमाणित है।

६१- विश्व की आपोमयता, एवं तन्मूलाधारभूता वाग्देवी का सर्वाधिष्ठातृत्व—

हमारे सर्वाङ्गशरीर में भौतिकशरीर का मूलाधिष्टाता यही वागग्नि वैश्वानराग्निरूप से व्याप्त है। इसी शारीराग्नि से सुप्रसिद्धा शब्दात्मिका वह वाक् आविर्भूत हुई है, जिसके लिए–'**अग्निर्वाग्भूत्त्वा मुखं प्राविशत्**' कहा गया है। अधिक बोलने से क्यों मानव निर्बलता का अनुभव करने लगता है ?, प्रश्न का यही 'अग्निबल' रूप 'वाग्बल' समाधान है। '**आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान्**' इत्यादि शिक्षासिद्धान्तानुसार कायाग्नि ही वर्णवाग्रूप (शब्दरूप) में परिणत होता है *। प्राधानिकदर्शन ने भी शब्दतन्मात्रारूप से 'वाक्तत्त्व' को ही विश्व की मूलाधिष्ठात्री माना है। '**वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः**' रूपेण स्मृतिशास्त्र भी वेदवाग्रूप ब्रह्माग्नि से ही विश्वप्रसूति मान रहा है। तात्पर्य्य–मनःप्राणगर्भिता–ऋक्सामावच्छिन्ना -अनादि-निधना स्वायम्भुवी–अव्यक्ता–वाक् का (स्वयम्भू का) ही साम्राज्य था व्यक्तविश्व से पहिले। इस से सर्वप्रथम विश्व–प्रजाकामना की पूर्त्ति के लिए अप्तत्त्व का ही प्रादुर्भाव हुआ, जैसाकि राजर्षि ने कहा है—

× योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः–सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥ —मनुः

*–भूतात्मा बुद्धि से युक्त होकर लक्षीभूत अर्थों को लक्ष्य बनाता है। कामयमान अर्थों की विवक्षा से मन में प्रेरणाबल (संकल्प) का उदय होता है। मानससंकल्प से वाग्रूप कायाग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है। क्षुब्ध कायाग्नि प्राणवायु की नोदना से ऊर्ध्व गमन करता है। ऊर्ध्वमुख–संक्षुब्ध यही कायाग्नि प्राणवायु के सहयोग से–'**वायुः–खात्–शब्दस्तत्**' इत्यादि प्रातिशाख्य–सिद्धान्तानुसार **वैखरीवाक्** (शब्दवाक्) रूप में परिणत होजाता है।

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ —मनुः १।८।

६२-स्वायम्भुवी-अनादिनिधना वाग्देवी की सर्वरूपता—

वाक्तत्त्व से समुद्भूत, अतएव सुसूक्ष्म अप्तत्त्वरूप वही आपोमय समुद्र विज्ञानभाषा में 'सरस्वान्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । यही आपोमण्डल पारमेष्ठ्य-वैष्णवधाम कहलाया पुराण में, सामवेद ने इसे ही- **'भूरिशृङ्गा अयासः'** लक्षण-'वैष्णव-गोसव' कहा । यही वाङ्मयी जलीया-आम्भृणी-शक्ति विश्वभूतप्रभवा बनती हुई 'लक्ष्मी' नाम से उपवर्णित हुई । भूत-पितर-देवता-गन्धर्व-पशु-असुर-ओषधि-वनस्पति-सभी स्थावर-जङ्गम प्रपञ्च इस आपोमयी-वाग्देवी से ही आविर्भूत हुए । लक्ष्मी-लक्षणा, सरस्वतीगर्भिता, अव्यक्तकालीमूला-सर्वजगन्मूला इसी स्वायम्भुवी वाग्देवी की तथोक्ता सर्वव्याप्ति को लक्ष्य बना कर ही महर्षि ने कहा है—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥ —तै० ब्रा०

६३-वाङ्मय विश्वात्मा, एवं वाङ्मयी विश्वशक्ति का अचिन्त्य-स्वरूप, तथा मानव-प्रज्ञा की तटस्थता —

ज्ञानशक्तिमय मनस्तन्त्र, क्रियाशक्तिमय प्राणतन्त्र, अर्थशक्तिमय वाक्तन्त्र, तीनों तन्त्रों से अनुप्राणित अव्ययप्रधान अक्षर, अक्षरप्रधान अक्षर, क्षरप्रधान अक्षर, ये तीन पुरुष मिल कर एक सृष्टिकर्त्ता अक्षरपुरुष है, जो अव्ययरूप से सृष्ट्यधिष्ठान भी बना हुआ है, एवं क्षररूप से सृष्ट्यारम्भण भी बना हुआ है । यही तो इस मध्यस्थ अक्षरपुरुष की सर्वात्मकता है । इन तीनों पुरुषों की तीनों शक्तियाँ हीं क्रमशः **महाकाली, महासरस्वती, महालक्ष्मी**, तत्त्व हैं । ज्ञानशक्ति महाकाली है, जो मुक्ति की अधिष्ठात्री है, जिसका अव्ययात्मक मनोमय अक्षर से सम्बन्ध है । क्रियाशक्ति ही महासरस्वती है, जो भुक्ति-मुक्ति-दोनों की अधिष्ठात्री है अपनी मध्यस्था सर्वरूपता से, जिसका अक्षरात्मक-प्राणमय-मध्यस्थ अक्षर से सम्बन्ध है । अर्थशक्ति ही महालक्ष्मी है, जो भुक्ति की अधिष्ठात्री है, जिसका क्षरात्मक-वाङ्मय अक्षर से सम्बन्ध है । यों तीनों पुरुषों की तीन महाशक्तियाँ हीं काली-सरस्वती-लक्ष्मी-नाम से प्रसिद्ध हैं । लक्ष्मी की प्रतिष्ठा वाक् है, सरस्वती की प्रतिष्ठा प्राण है, काली की प्रतिष्ठा मन है । अथवा मन काली पर, प्राण सरस्वती पर, एवं वाक लक्ष्मी पर प्रतिष्ठित है । दोनों में कौन आधार है, प्रतिष्ठा है, कौन आधेय है ?, यह निर्णय करना इस लिए असम्भव है कि, **'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी-उभावपि'** के अनुसार शिवशक्ति का सम्बन्ध अभिन्न सम्बन्ध है । अतएव-**'न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः'** ।

*	त्रिपुरुषात्मकः—पुरुषः, शिवः	१-ज्ञानशक्तिमयं—मनस्तन्त्रम्—अव्ययानुगतम्—तदनुगतः—उत्तमपुरुषः सर्वज्ञः (अव्ययात्मकोऽक्षरः)
		२-क्रियाशक्तिमयं—प्राणतन्त्रम्-अक्षरानुगतम्-तदनुगतः-मध्यमपुरुषःसर्वशक्तिः(अक्षरात्मकोऽक्षरः
		३-अर्थशक्तिमयं—वाक्तन्त्रम्—क्षरानुगतम्—तदनुगतः-प्रथमपुरुषः—सर्ववित् (क्षरात्मकोऽक्षरः)
	प्रकृतित्रयात्मिका—प्रकृतिः, शक्तिः	१-अव्ययात्मकाक्षरपुरुषशक्तिरेव-ज्ञानशक्तिः—सैव महाकाली (मनोमयी—मुक्त्यधिष्ठात्री)
		२-अक्षरात्मकाक्षरपुरुषशक्तिरेव-क्रियाशक्तिः-सैव महासरस्वती (प्राणमयी-भुक्ति-मुक्त्यधिष्ठात्री)
		३-क्षरात्मकाक्षरपुरुषशक्तिरेव—अर्थशक्तिः-सैव महालक्ष्मी (वाङ्मयी—भुक्त्यधिष्ठात्री)

६४—महिमामय प्रजापति के वाङ्मय कर्म्म की त्रिभावगर्भिता—पञ्चभावात्मकता का समन्वय——

पूर्वोपवर्णित त्रिपुरुष—त्रिप्रकृति—समन्वयात्मक मनःप्राणवाङ्मय—प्रजापति ही विश्व का आत्मा है, एवं तदुत्पन्न (उसके वाङ्मय क्षरभाग के माध्यम से उत्पन्न, अतएव व्यक्तक्षरप्रधान) विश्व ही उस मनःप्राण-वाङ्मय सृष्टिसाक्षी (अव्ययदृष्ट्या)—सृष्टिकर्त्ता (अक्षरदृष्ट्या)—सृष्टिमय (क्षरदृष्ट्या) प्रजापति का शरीर है। आत्मभाव मनः—प्राण—वाग्—भेदेन त्रिकल है, किंवा एक ही की तीन कलाएँ हैं *, एवं विश्वभाव **स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य्य—चन्द्रमा—पृथिवी**, रूपेण पञ्चकल है। तीन, और पाँच का समन्वयभाव ही आत्मन्वी—प्राजापत्य—सर्वभाव है। शरीरविशिष्ट आत्मभाव ही—**'आत्मन्वी'** शब्द से व्यवहृत हुआ है। तीन—पाँच रूप से (आत्मा, और विश्वरूप से) ही प्रजापति सर्वरूप में परिणत हुए हैं, जिस सर्वरूपता का मुख्य श्रेय मध्यस्थ—प्राणमूर्त्ति उस अक्षर को ही प्राप्त है, जिस की क्रियाशक्ति नें हीं, तपःकर्म्म नें ही तथोक्त सम्पूर्ण महिमाभाव व्यक्त किया है। **'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्'** लक्षण स्नेह—तेजोगुणक—भार्गवाङ्गिरस-अग्नीषोमात्मक तपःकर्म्म से ही तो एक ही ब्रह्म-**'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** (ऋक्सं० ८।५८।२।) रूप से महिमाभावात्मक—त्रिःपञ्चात्मक—सर्वभाव में परिणत हुआ है।

६५—त्रिपर्वगर्भित पञ्चपर्वों की (प्रत्येक की) त्रिपर्वात्मकता, एवं मानवानुगत—त्रिपर्व-गर्भित—पञ्चपर्वभावों के विविध विवर्त्त——

मानवीया अध्यात्मसंस्था में तपःकर्म्म के प्रतीक **'हस्त'** ही माने गए हैं, जिनके सहयोगी बने रहते हैं गतिधर्म्मा **चरणयुगल**, जैसाकि—**"हस्तावेवास्या एकमङ्गमुदूहम, तयोः कर्म्म पुरस्तात् प्रतिविहिता**

*** त्रयं सदेकमयमात्मा । आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम् ।** —शत० १४।४।४।३।

भूतमात्रा । पादावेवास्या एकमङ्गमुदूह --तयोरित्याः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा'' (कौषीतक्युपनिषत् ३।६।५।) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है । हस्तयुगल व्यक्तकर्म्म के प्रतिनिधि हैं, तो चरणयुगल अव्यक्तकर्म्म (गति) के प्रतिनिधि हैं । इन दोनों के समन्वय से निष्पन्न अध्यवसायात्मक तपःकर्म्म से ही तो मानव 'विश्वविभूति' का अध्यक्ष बन जाया करता है । सम्भवतः क्यों, निश्चयेन इसी त्रिगर्भित--पञ्चपर्वात्मक--विश्वविभूतिभाव के शिक्षण के लिए ही प्रजापति ने हाथों की पाँच--पाँच अङ्गुलियाँ बनाईं हैं, एवं प्रत्येक अङ्गुलि में तीन तीन पर्व (पोर) समाविष्ट किए हैं । यही स्थिति चरणों की है । केवल पर्वों की व्यक्तता--अव्यक्तता में ही थोड़ा अन्तर है । जितना अन्तर हस्तानुगता कर्म्मशक्ति, तथा चरणानुगता गतिशक्ति में हैं, उतना हीं अन्तर हस्त--पादाङ्गुलियों के पर्वों की व्यक्तता--अव्यक्तता में है । यही स्थूलनिदर्शन है तीन--पाँच का । प्राणदृष्टया (सूक्ष्मभावदृष्टया) भी यही त्रिभावानुगत--पञ्चपर्वत्त्व प्रतिष्ठित है माननीय--जगत् में । पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्चपर्वा विश्व से समतुलित हैं, पञ्च कर्म्मेन्द्रियाँ पञ्चपर्वा विश्व से समतुलित हैं, तो प्रत्येक इन्द्रिय से समन्विता ज्ञान--क्रिया--अर्थरूपा **'प्रज्ञामात्रा--प्राणमात्रा--भूतमात्रा'** नाम से प्रसिद्ध तीन तीन मात्राभाव त्रिकल आत्मभाव की संग्राहिका प्रमाणित हो रही हैं । और यों **'पञ्चधा--त्रिणि--त्रिणि'** की व्याप्ति प्रजापति के (त्रिकल आत्मा, पञ्चकल विश्व की समष्टिरूप) आत्मन्वी स्वरूप का ही समर्थन कर रही है ।

६६--पञ्चपर्वात्मक वाङ्मय विश्व के पाँचों विश्वपर्वों की (प्रत्येक पर्व की) काली--सरस्वती--लक्ष्मी--रूपता, एवं व्यष्टिरूपेण शक्तित्रयी का समन्वय--

उक्त आध्यात्मिक--स्थिति के माध्यम से ही अब दो शब्दों में आधिदैविक--ईश्वरीय विवर्त्त में भी त्रिः--पञ्च--भावों की शक्तित्रयरूप से व्याप्ति देख लीजिए समष्टया, एवं व्यष्टया । पहिले व्यष्टिरूप से ही समन्वय कीजिए । क्योंकि समष्टयात्मक समन्वय का पूर्व में भी विभिन्न दृष्टिकोणों से समन्वय किया जाचुका है । स्वयम्भू--परमेष्ठयादि पाँचों हीं पर्व (प्रत्येक पर्व) व्यष्टिरूप से (व्यक्तिगत--प्रातिस्विक--रूप से) **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** नियमानुसार मनःप्राणवाङ्मय स्रष्टा प्रजापति से नित्य समन्वित हैं । अतः पाँचों हीं विश्वपर्व व्यष्टिरूपेणापि अपने केन्द्रीय--भाव से मनःप्राणवाङ्मय--आत्मा से समन्वित रहते हैं । अतएव प्रत्येक विश्वपर्व ज्ञान--क्रिया--अर्थ--मय प्रमाणित होता हुआ काली--सरस्वती--लक्ष्मी--नाम की शक्तित्रयी से भी समन्वित हो रहा है, जिस इस समन्वय का तत्त्वात्मक समन्वय तो वेदशास्त्र की सुप्रसिद्धा **'मनोताविद्या'** पर ही अवलम्बित है, जिसका सामान्येतिवृत्त व्यक्त कर देना भी प्रसङ्ग को निःसीम बना डालना है । प्रकृत में पञ्चधा विभक्त उन त्रिः--त्रिः--मनोताओं के नाममात्र--संस्मरणपूर्वक तालिकामाध्यम से शक्तित्रय का नामस्मरणमात्र ही कर लिया जाता है । अत्यन्त ही दुरूह है यह पञ्चधा--विभक्त--त्रित्ववाद, जिसके बोध को ऋषि ने **'सर्वबोध'** की उपाधि प्रदान करदी है । देखिए !

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।
यस्तद्वेद, स वेद सर्वं, सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥ --छान्दोग्य--उप० २।२१।४।

१–नियतिः सत्यम्–[मनः—ज्ञानम्—अव्ययः]—काली
२–वेदाः सत्यम्—[प्राणः—क्रिया—अक्षरः]—सरस्वती
३–सूत्रं सत्यम्—[वाक्—अर्थः—क्षरः]—लक्ष्मी
}स्वयम्भूः १

*

१–अत्रिः [इट्]–[मनः—ज्ञानम्—अव्ययः]—काली
२–अङ्गिरा [ऊर्क्]–[प्राणः—क्रिया—अक्षरः]—सरस्वती
३–भृगुः [भोगाः]–[वाक्—अर्थः—क्षरः]—लक्ष्मी
}परमेष्ठी २

*

१–आयुः——[मनः—ज्ञानम्—अव्ययः]—काली
२–ज्योतिः——[प्राणः—क्रिया—अक्षरः]—सरस्वती
३–गौः——[वाक्—अर्थः—क्षरः]—लक्ष्मी
}सूर्यः ३

*

१–रेतः——[मनः—ज्ञानम्—अव्ययः]—काली
२–श्रद्धा——[प्राणः—क्रिया—अक्षरः]—सरस्वती
३–यशः——[वाक्—अर्थः—क्षरः]—लक्ष्मी
}चन्द्रमाः ४

*

१–द्यौः——[मनः—ज्ञानम्—अव्ययः]—काली
२–गौः——[प्राणः—क्रिया—अक्षरः]—सरस्वती
३–वाक्——[वाक्—अर्थः—क्षरः]—लक्ष्मी
}पृथिवी ५

६७-सर्वात्मिका अव्यक्ता महाकाली, शब्दात्मिका व्यक्ताव्यक्ता महासरस्वती, एवं अर्थात्मिका व्यक्ता महालक्ष्मी-नाम की तीन विश्वशक्तियों का आगमानुगत-ध्यानात्मक-संस्मरण—

सर्वत्र सब विश्वपर्वों के केन्द्र में मनःप्राणवाङ्मय-त्रिशक्तिमूर्त्ति 'आत्मा' प्रतिष्ठित है। इस त्रिकल आत्मा का शरीर पर्वपिण्ड है, जो 'पदम्' कहलाया है। पिण्ड को केन्द्र मान कर अनन्ताकाश में व्याप्त वस्तुपिण्ड का प्राणात्मक साहस्रीभाव ही पर्वमण्डल है, जिसे 'पुनःपदम्' कहा गया है। यों **आत्म-पिण्ड-मण्डल**-रूप से 'आत्मा-पदम्-पुनःपदम्' लक्षण त्रिसत्य आत्मन्वीप्रजापति पञ्चात्मक-पञ्चपर्वा विश्वमूर्त्ति प्रमाणित हो रहा है। प्रत्येक पर्व की इच्छा ज्ञानशक्ति ही महाकाली है, क्रियाशक्ति ही महासरस्वती है, एवं अर्थशक्ति ही महालक्ष्मी है। महाकाली **अव्यक्ता** है, महासरस्वती **व्यक्ताव्यक्ता** है, महालक्ष्मी **व्यक्ता** है। अव्यक्ता महाकाली सर्वात्मिका है, व्यक्ताव्यक्ता महासरस्वती शब्दात्मिका है, एवं व्यक्ता महालक्ष्मी अर्थात्मिका है। निम्नलिखित रहस्यमन्त्र इन्हीं तीनों विश्वशक्तियों का यशोगान करहे हैं।

१-सर्वात्मिका-अव्यक्ता—हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि दोषै—

महाकाली

र्न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा ॥
सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूत—
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ॥ १ ॥

—*—

२-शब्दात्मिका-व्यक्ताव्यक्ता—शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषांनिधान—

महासरस्वती

मुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्माम् ॥
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय—
वार्त्ता च सर्वजगतां परमार्त्तिहन्त्री ॥ २ ॥

—*—

३-अर्थात्मिका-व्यक्ता—या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेषु, अलक्ष्मीः—

महालक्ष्मी

पापात्मनां, कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ॥
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा—
तां त्वां नतास्म परिपालय देवि! विश्वम् ॥ ३ ॥

—*—

अब समष्टिरूप से भी दो शब्दों में इस शक्तित्रयी का साक्षात्कार कर लीजिए ! । समष्टि—रूप विश्व अमृतविश्व, मर्त्यविश्वरूप से दो भागों में विभक्त है, जैसाकि-पूर्वपरिच्छेदों में निवेदन किया जा चुका है । इस दृष्टि से **समष्ट्यात्मक अमृतविश्व, समष्ट्यात्मक मर्त्यविश्व,** एवं **समष्ट्यात्मक अमृतमर्त्यविश्व,** भेद से समष्टि का तीन प्रकार से समन्वय किया जा सकता है, किया गया है यत्रतत्र सृष्टिविद्याप्रसङ्गों में (वेद-शास्त्र में) । इन तीनों में आरम्भ के दोनों समष्ट्यात्मक दृष्टिकोणों का श्रीः, और लक्ष्मी के रूप से पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है । अतः सिंहावलोकनन्यायेन प्रसङ्गदृष्ट्या तत्सम्बन्ध में प्रकृत में यही पुनरावर्त्तन पर्य्याप्त होगा कि—

६८–समष्ट्यात्मक अमृतविश्व के तीन अमृत पर्व, एवं तदनुगता काली-सरस्वती-लक्ष्मी-रूपा शक्तित्रयी का समन्वय—

स्वयम्भू परमेष्ठी–अमृत सूर्य्य, इन तीनों की समष्टि ही **'अमृतविश्व'** है, जो मानव के अमृत–विज्ञानानुबन्धी **आत्मभाव** से समन्वित माना गया है । इस त्रिपर्वा अमृतविश्व का स्वयम्भूपर्व ज्ञानशक्तिरूपा महाकाली से, परमेष्ठीपर्व क्रियाशक्तिरूपा महासरस्वती से, एवं अमृतसूर्य्यपर्व--अर्थशक्तिरूपा महालक्ष्मी से समन्वित है । तभी तो इसे **काञ्चनसन्निभा** माना है आगमशास्त्र ने । हिरण्मय अमृतसूर्य्य से सम्बद्धा महा-लक्ष्मी इसीलिए तो--**'हिरण्यवर्णा'** कहलाई है । सर्वात्मिका--अव्यक्ता--स्वायम्भुवी महाकाली, शब्दात्मिका--वीणावादिनी--मयूरासना--हंसवाहिनी--व्यक्ताव्यक्ता--पारमेष्ठिनी महासरस्वती, अर्थात्मिका--पद्मालया--रात्रिचर प्राणी--वाहिनी [उल्लूवाहिनी]--व्यक्ता--सौरी--महालक्ष्मी, तीनों की समष्टिरूपा--त्रिपर्वात्मक--अमृतविश्व की अधिष्ठात्री--त्रिशक्तिमयी यही महाशक्ति **'श्रीः'** कहलाई है, जिसके द्वारा आत्मानुगता विद्याबुद्धि से धर्म्म--ज्ञान-वैराग्य--ऐश्वर्य्य--नामक चतुर्विध भगसम्पत्तियाँ व्यवस्थित हुई हैं ।

६९-समष्ट्यात्मक मर्त्यविश्व के तीन मर्त्यपर्व, एवं तदनुबन्धी ही काली--सरस्वती लक्ष्मी-रूपा शक्तित्रयी का समन्वय—

मर्त्यसूर्य्य--चन्द्रमा--भूपिण्ड, इन तीनों की समष्टि ही **'मर्त्यविश्व'** है, जो मानव की मर्त्यशरीरा-त्मिका लोकबुद्धि [कारणशरीर], प्रज्ञानमन [सूक्ष्मशरीर], भौतिकशरीर [स्थूलशरीर], इन तीनों पर्वों की अनुबन्धिका–व्यवस्थिका-प्रवर्त्तिका मानी गई है । इस त्रिपर्वा मर्त्यविश्व का मर्त्यसूर्य्यपर्व ज्ञानशक्तिरूपा काली से, मर्त्य चन्द्रपर्व क्रियाशक्तिरूपा सरस्वती से, एवं मर्त्य भूपिण्ड अर्थशक्तिरूपा लक्ष्मी से समन्वित है । तीनों की समष्टिरूपा, त्रिपर्वात्मक–मर्त्य विश्व की अधिष्ठात्री-त्रिशक्तिमयी महाशक्ति ही **'लक्ष्मी'** कहलाई है, जिसके द्वारा बुद्धि–मनः–शरीरानुगता लोकसमृद्धि व्यवस्थित हुई है । किस अवस्था में ? । उस अवस्था में, जबकि, त्रिरूपा यह लक्ष्मी त्रिरूपा पूर्वोपवर्णिता श्री को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाए रहती है । तात्पर्य्य यही है कि–आत्मरूप अमृतविश्व की अधिष्ठात्री त्रिरूपा आत्मश्री से समन्विता बुद्धि–मनः–शरीररूपा, अतएव त्रिरूपा लोकलक्ष्मी ही समृद्धि का कारण बना करती है । यदि मानव की बुद्धि अमृतविज्ञानानुगत-आत्मयुक्त-श्री-भाव से पराङ्मुख बन कर केवल लोकबुद्धि ही बनी रह जाती है, तो उस दशा में तमोमूलक आसुरभाव प्रधान बन जाता है । और उस अवस्था में अमृतात्माधार से वञ्चिता लोकबुद्धि 'अविद्याबुद्धि' रूप में परिणत हो जाती है, जिसके **अविद्या--अस्मिता--आसक्ति--अभिनिवेश**--नामक चतुर्विध क्लेश प्रातिस्विक स्वरूपधर्म्म मानें गए हैं । 'अविद्या' नामक क्लेश विद्याबुद्धि के 'ज्ञान' नामक भग का, 'अस्मिता' नामक क्लेश विद्या–

बुद्धि के 'ऐश्वर्य्य' नामक भग का, 'आसक्ति' नामक क्लेश विद्याबुद्धि के 'वैराग्य' नामक भग का, एवं 'अभिनिवेश' नामक क्लेश बुद्धि के 'धर्म्म' नामक भग का आवरक बन जाया करता है, जो कि चतुर्विध भगविद्याबुद्धिरूपा–आत्मानुगता–अमृताबुद्धि के स्वरूपधर्म्म माने गए हैं। यों श्रीरूप चतुर्विध भग–भावों के स्थान में तदनुगता अमृताबुद्धि के स्थान में जब 'श्री' से वञ्चित चतुर्विध–क्लेश–भावों का प्राधान्य हो जाता है, तदनुगता अविद्याबुद्धि प्रधान बन जाती है, तो उस दशा में त्रिरूपा लोकलक्ष्मी अलक्ष्मी के रूप में हीं परिणत हो जाती है। विद्यात्मिका श्री ही लोकात्मिका लक्ष्मी की मूलप्रतिष्ठा बना करती है, यही वक्तव्य–निष्कर्ष है। सहजभाषानुसार सरस्वती ही लक्ष्मी की स्थिरता का एकमात्र कारण है। सरस्वतीरूपा श्री से परित्यक्ता लक्ष्मी निश्चयेन कालान्तर में अलक्ष्मीरूप में हीं परिणत हो जाया करती है। लोकभाषानुसार--विद्या से परित्यक्ता, तत्स्थान में अविद्यारूप मायादि–छल-बलों से समन्विता लोकलक्ष्मी, अधर्म्म के द्वारा संग्रहीता लक्ष्मी अपने तमोगुणप्रभाव से क्षणमात्र के लिए चाकचिक्यवत् प्रतीत होती हुई भी अन्ततोगत्वा सर्वनाश का ही कारण बन जाया करती है *। सरस्वती, और लक्ष्मी के इस गुहानिहित–भार्गव–आङ्गिरस–मूलक–शब्दार्थतादात्म्यरूप–समन्वय से अपरिचित रहने के कारण हीं तो दुर्भाग्यवश विगत तीन सहस्राब्दियों से सरस्वती और लक्ष्मी का नितान्त–भ्रान्त अश्वमाहिष्य मान लिया है राष्ट्र की उस विद्वत्प्रज्ञा ने, जिसने सत्तासापेक्षता, तथा वणिग्दासता के चिरन्तन अभ्यास से अपने आपको निगमागमपुराणमूला मूल-संस्कृति से पराङ्मुख प्रमाणित करते हुए मनोराज्यपथानुगामी--मान्यतानुबन्धी मतवादों को ही धर्म्म मानने मनवाने की महती भ्रान्ति कर रक्खी है।

७०–समष्ट्यात्मक अमृतमर्त्या विश्व, तदनुगत तीन अमृत--मर्त्य--पर्व, एवं तदनुगता महासमष्टिलक्षणा काली--सरस्वती--लक्ष्मीरूपा शक्तित्रयी का समन्वय---

अब क्रमप्राप्त तीसरे अमृतमर्त्यविश्वानुबन्धी समष्ट्यात्मक समन्वय को लक्ष्य बनाइए। जब पञ्चपर्वात्मक--समष्टिरूप--विश्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है, तो श्रुति का--'**अग्नीषोमात्मकं जगत**' यह निगम हमारे सम्मुख उपस्ति होजाता है, जिसका स्पष्ट और सीधा अक्षरार्थ है,--'यह सम्पूर्ण विश्व अग्नि, और सोम की समष्टिमात्र ही है'। अग्नि का वैज्ञानिक नाम है अन्नाद, अर्थात्–भोक्ता (खाने वाला)। एवं सोम का वैज्ञानिक नाम है 'आद्य', अर्थात् भोग्य (अन्न, खाने की वस्तु)। भोक्ता, और भोग्य, अन्नाद, और आद्य, दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही है विश्व। इसी आधार पर यह निगम जागरूक हो पड़ा कि— '**द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति–अत्ता चैव, आद्यञ्च**'। अत्ता अन्नादाग्नि है, अग्नि शुष्क–रूक्ष तत्त्व है, तेजोगुणक तत्त्व है। अतएव इसे '**शुष्क**' कहना ठीक है। आद्य अन्नसोम है, सोम सरसतत्त्व है, स्नेहगुणक तत्त्व है। अतएव इसे '**आर्द्र**' कहना ठीक है। इसी आधार पर–'**द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति–शुष्कं चैवार्द्रञ्च। यच्छुष्कं–तदाग्नेयम्, यदार्द्र--तत्सौम्यम्**' यह निगम आविर्भूत हो पड़ा है। यों अग्नीषोमात्मक–अन्नाद–अन्नात्मक, अत्ता–आद्यात्मक, शुष्क–आर्द्रात्मक–दो तत्त्वों की सर्वात्मकता भलीभाँति प्रमाणित हो जाती है, और बृहज्जाबालोपनिषत् का 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' सिद्धान्त सर्वात्मना व्यवस्थित बन जाता है।

---

* **अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति।**
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति॥ —मनुः ४।१७४।

७१–पञ्चपर्वात्मक महाविश्व के ब्रह्माग्नि–सावित्राग्नि–गायत्राग्निरूप तीन अग्निपर्व, एवं ब्रह्मणस्पतिसोम–वृत्रसोम- नामक दो सोमपर्व—

पञ्चपर्वा विश्व पर दृष्टि डालिए, और अन्वेषण कीजिए कि, इन पाँचों में अग्निपर्व तो कौन से हैं ?, एवं सोमपर्व कौन से हैं ? । विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है । **ब्रह्माग्नि, सावित्राग्नि, गायत्राग्नि,** इन सुप्रसिद्ध तीन अग्नियों को लक्ष्य बना लीजिए, एवं **ब्रह्मणस्पति, वृत्र,** नामक इन सुप्रसिद्ध दो सोमों को लक्ष्य बना लीजिए । विश्वसमष्टि से अनुप्राणित अग्नि, और सोम का समन्वय सर्वात्मना गतार्थ बन जायगा । ब्रह्माग्नि वह अग्नि है, जिसका **'ब्रह्मनिःश्वसित'** नामक स्वायम्भुव वेद से सम्बन्ध है । सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसका **'गायत्रीमात्रिक'** नामक सौरवेद से सम्बन्ध है । एवं गायत्राग्नि वह अग्नि है, जिसका **'यज्ञमात्रिक'** नामक पार्थिववेद से सम्बन्ध है । एवमेव 'ब्रह्मणस्पति' सोम वह सोम है, जिस 'अम्भः–पवमान–पावक' धर्म्मावच्छिन्न, पवित्र नामक दिव्यसोम को पारमेष्ठ्य सोम माना है वैज्ञानिकों नें, एवं जिसका सुपर्णा–गायत्री के द्वारा रोदसीत्रैलोक्य में आगमन होता रहता है ।

७२–इन्द्र के वज्रप्रहार से वृत्रासुर का वध, और उसके दिव्य आसुरभावों से क्रमशः चन्द्रमा, एवं अशनायारूप जाठराग्नि का आविर्भाव—

'वृत्र' सोम नामक वह सोम है, जो–**'भास्वरसोम'** नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिसका इन्द्रदेव पने वज्र से वध करते रहते हैं । इन्द्रद्वारा निष्प्राण प्रमाणित यही भास्वरसोम विज्ञानभाषा में **'वृत्रसोम'** कहलाया है, जैसाकि–**'वृत्रो वै सोम आसीत्'** (शत० ३।४।३।१३।) **'अथैष एव वृत्रः, यच्चन्द्रमाः'** (शत०-१।६।४।१३।) इत्यादि से स्पष्ट है । कहते हैं–इन्द्र ने वृत्र का वध कर इसके पृथग्भूत सौम्यभाग से तो चन्द्रमा को रूप प्रदान कर दिया, एवं जो पृथग्भूत आसुरभाग था, उसे पार्थिव प्रजा की जाठराग्नि के साथ समन्वित कर दिया * । तदित्थं–तीन अग्निविवर्त्त, तथा दो सोमविवर्त्त, रूप से विश्व पञ्चविवर्त्तात्मक बनता हुआ–**'पञ्चपर्वामधीमः'** इस औपनिषद सिद्धान्त का समर्थक बन गया ।

७३–'पलितवाम' नाम से प्रसिद्ध ब्रह्माग्नि के ब्रह्मौदनरूप सावित्र--गायत्र--विवर्त्त, एवं गायत्राग्नि के प्रवर्ग्य से आविर्भूत आप्त्याग्निरूप तीन 'अग्निभ्रातरः'—

स्वायम्भुव ब्रह्मनिःश्वसिताग्नि ही **सत्याग्नि** कहलाया, ऋग्वेदभाषा में यही **'पलितवाम'** नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका अस्यवामीयसूक्त में विस्तार से उपबृंहण हुआ है । सौरगायत्री–मात्रिकअग्नि ही **'देवाग्नि'** कहलाया, जिसका प्रवर्ग्यभाग ही कृष्णरूप में परिणत होकर–**'अग्निभ्रातरः'** रूप में परिणत हो जाता है । जो कि **'अग्निभ्रातरः'** एकता–द्विता–त्रिता–नाम से प्रसिद्ध त्र्यात्मक-**'आप्त्याग्नि'** कहलाया है, जिसका कि परिधिरूप से वैधयज्ञाग्निकुण्ड में संस्थापन होता है । एवं पार्थिव यज्ञमात्रिक अग्नि हीं **'भूताग्नि'** कहलाया है । यों **सत्य--देव--भूत**--भेद से एक ही मूलाग्नि इन तीन तूलभावों में परिणत हो रहा है ।

---

* इन्द्रस्तं वृत्रं–द्वेधान्वाभिनत् । तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास, तं चन्द्रमसं चकार । अथ यत् आसुर्य्यमास, तेनेमाः प्रजा उदरेण–अविध्यत् । —शत० १।६।३।१७।

एवमेव ब्रह्मणस्पति, वृत्र, भेद से एक ही मूलसोम इन दो तूलभावों में परिणत हो रहा है। तीन अग्निविवर्त्त, तथा दो सोमविवर्त्त, इन पाँच विवर्तों की समष्टि का ही नाम **पञ्चपर्वा** विश्व है, जिसे अग्निसम्बन्ध से **'त्रिपर्वा'** ही विश्व माना जायगा।

७४-सत्याग्नि-देवाग्नि-भूताग्नि-मूलक त्रिसत्यवाद, एवं अन्न-अन्नाद की सर्वव्याप्ति का समन्वय—

इसलिए अग्नीषोमात्मक पञ्चपर्वा विश्व को त्रिपर्वा भी माना जा सकेगा, माना गया है— **'त्रिःसत्या वै देवाः'** सिद्धान्तानुरोध से कि, अन्नरूप आद्य-[भोग्य]-सोम अग्निरूप अन्नाद के गर्भ में भुक्त हो जाता है, तो उस अवस्था में अन्नसोम की स्वतन्त्र सत्ता उ क्रान्त हो जाती है। और उस दशा में सोमान्न अत्ताग्नि नाम से ही परिगृहीत हो जाता है, एवं यही यहाँ की तात्त्विक-मर्य्यादा है।

७५-वर्त्तमानयुग का नितान्त भ्रान्त-प्रकृतिविरुद्ध-लोकभावानुबन्धी 'श्रीमान्', और 'श्रीमती'-लक्षण पार्थक्य, एवं तन्मूलक पारिवारिक-सामाजिक, तथा राष्ट्रीय संघठन का मूलोच्छेद—

'श्रीमान्' के अर्द्धाकाश को पूर्ण करने वाली 'श्रीमती' श्रीमान् की सत्ता से अभिन्न बन जाया करती है, जिस अभिन्नसत्ता के आधार पर ही भारतीय वह सांस्कृतिक 'दाम्पत्य' धर्म्म प्रतिष्ठित है, जिसे आज के भिन्नसत्तावादियोंनें, किंवा भिन्नभातिवादियोंनें सर्वथा ही छिन्न-भिन्न कर डाला है, जैसाकि वर्त्तमान युग के महान् ? सांस्कृतिक ? आयोजनों, उत्सवों, एटहोमों, पार्टियों से सम्बन्ध रखने वाले आमन्त्रण-निमन्त्रण-पत्रों के **'श्रीमान्-श्रीमती'** लक्षण पार्थक्य-भावों से स्पष्ट है।

भारतीय आमन्त्रण-निमन्त्रण-पद्धति में जहाँ पति, और पत्नीरूप शिवभाव अर्द्धनारीश्वररूप से अभिन्न है, 'श्री' से [पत्नी से] युक्त होकर ही 'मान्' जी 'श्रीमान्जी' कहलाए हैं, वहाँ आज के केवल मनःशरीरधर्म्मा-भूतसम्बन्धों में सचमुच में आत्मबुद्धिमूलक-सत्यैक्य का अभाव ही तो है। अतएव दोनों का दाम्पत्य आज आत्मसत्त्वैक्य से पृथक होता जारहा है। और तद्रूपपरिणामस्वरूप ही श्रीमान्जी पृथक् हो गए हैं श्रीमतीजी से, एवं श्रीमतीजी पृथक बन गई हैं श्रीमान्जी से। यही है वर्त्तमानयुग की भूतसभ्यता का एक उदाहरण, जिसमें घोषणा तो की जारही है वर्गभेद के उच्छेद की। एवं वर्गभेद स्थापित किया जारहा है पारिवारिक जीवन में भी उत्तरदायित्वशून्य-कर्म्मशून्य-'अधिकार' शब्दमूलक व्यक्तित्त्वविमोहन के द्वारा।

७६-भारतीय-सांस्कृतिक-परम्परानुगत अभिन्नत्त्व, एवं तन्मूलक कुलवृद्धानुगत-समाजवृद्धानुगत-राष्ट्रवृद्धानुगत अभिन्न आमन्त्रण-निमन्त्रण-व्यवहार—

भारतीय-सांस्कृतिक-परम्परा में तो परिवार के भी एकमात्र वृद्ध-कुलपुरुष को ही प्रधानता दी जाती है लोक-विधि-विधानों में, जबकि आज के सांस्कृतिक ? वातावरण में हमारा सांस्कृतिक-ऐक्य सर्वथा नाना-भावों में हीं परिणत होता जारहा है। **'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** ही यहाँ का सांस्कृतिक-प्रतिष्ठान है, जिसके द्वारा प्रकृतिमूलक नानात्त्व ब्रह्ममूलक एकत्त्व से सर्वात्मना नियन्त्रित हुआ है। यही प्रकृतिसिद्ध वर्ग-

भेदात्मक वह अभेदसत्तात्मक प्रतिष्ठान है, जिसके इत्थंभूत निर्विरोध समन्वय का एकमात्र श्रेय शिवशक्तिसमन्वय के द्रष्टा इस सांस्कृतिक–पावन भारतराष्ट्र को ही प्राप्त हुआ है, जो दुर्भाग्यवश केवल जड़भूतवादी दृष्टिकोण के सङ्गदोष से आज अभिभूत ही हो चला है। जिस अभिभूति के कारण हीं वर्गोच्छेदभ्रान्ति के माध्यम से आज आत्मसत्ता-प्रतिष्ठा--शून्या यह समानतारूपा विषमता अङ्ग प्रत्यङ्ग में वर्गभेद का ही संस्थापन करती जारही है, इति नु महद्दुःखास्पदम्।

७७--पञ्चपर्वात्मक विश्व की अन्नादभावानुगता त्रिपर्वता का समन्वय—

हाँ, तो निवेदन किया जारहा था कि, अन्नादाग्नि, तथा आद्यसोम, दोनों समन्वित होकर 'अत्ता' रूप से ही शेष रह जाते हैं। स्वायम्भुव सत्याग्निरूप अन्नाद का आद्य पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पतिसोमरूप अन्न है। सौरदेवाग्निरूप अन्नाद का आद्य चान्द्र वृत्रसोमरूप अन्न है। एवं पार्थिव भूताग्निरूप अन्नाद का आद्य चान्द्र वृत्रसोम के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न ओषधिरूप अन्नसोम है। यों तीन विश्वाग्नियों के तीन सोम प्रमाणित हो रहे हैं। तीन अग्नि--सोम--युग्म सुप्रसिद्ध हैं अग्नीषोमात्मिका सम्वत्सरविद्या में। ओषधिसोम पार्थिव भूताग्नि में गर्भीभूत है, चान्द्रसोम सौरदेवाग्नि में गर्भीभूत है, एवं ब्रह्मणस्पतिसोम स्वायम्भुव सत्याग्नि में गर्भीभूत। यों तीन हीं पर्व प्रधानरूप से शेष रह जाते हैं पाँच पर्वों के, जिन्हें क्रमशः **स्वयम्भू-सूर्य्य--पृथिवी**--नामों से व्यवहृत किया गया है। स्वयम्भू–सूर्य्य–मध्यस्थ पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पतिसोम, सूर्य्य–पृथिवी--मध्यस्थ प्रत्यक्ष चन्द्रसोम, तत्प्रवर्ग्यभूत ओषधिसोम, तीनों सोमपर्व यों अन्नादाग्निगर्भ में आकर अन्नादाग्नि--व्यवहार के ही समर्थक बने हुए हैं। इसी अन्नादाग्निप्राधान्य को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

द्वयं वा इदं- अत्ता चैव, आद्यञ्च। तत्–यदा–उभयं समागच्छति, अत्तैवाख्यायते नाद्यम्। स वै यः स अत्ता, अग्निरेव सः। —शत० १०।६।२।१,२,।

७८–तात्त्विक नित्यवेद के पाँच विवर्त्त, एवं वेदात्मक विश्व—

अग्नीषोमात्मक उक्त प्रासङ्गिक विश्वस्वरूप–विश्लेषण के द्वारा अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य--चन्द्रमा-पृथिवी-की समष्टिरूप पञ्चपर्वा विश्व अन्नादाग्नि की दृष्टि से त्रिपर्वा ही बन रहा है। तीनों अन्नादाग्निपर्वों की समष्टि से भी विश्वस्वरूप परिगृहीत हो जाता है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१–ब्रह्मनिःश्वसितवेदः	[सत्याग्निः]—अग्निः—स्वायम्भुवः			
२–सुब्रह्मार्थववेदः	[ब्रह्मणस्पतिसोमः]-सोमः—पारमेष्ठ्यः	-स्वयम्भूः	(१)	—समष्टिर्विश्वम
३–गायत्रीमात्रिकवेदः	[देवाग्निः]—अग्निः—सौरः	-सूर्य्यः	(२)	
४–सुब्रह्माथर्ववेदः	[वृत्रसोमः]—सोमः—चान्द्रः	-पृथिवी	(३)	
५–यज्ञमात्रिकवेदः	[भूताग्निः]—अग्निः—पार्थिवः			

७६-संयती-क्रन्दसी-रोदसी-त्रैलोक्यात्मक-त्रिपर्वा-महाविश्व का स्वरूपसमन्वय—

अग्नी-सोमात्मक, अतएव अग्निप्रधान विश्व के उक्त **स्वयम्भू-सूर्य्य-पृथिवी**-तीनों पर्व क्रमशः सृष्टिसाक्षी प्रजापति की मनः-प्राण-वाक्-कलाओं से अनुप्राणित मानें जायँगे व्यष्टिविश्वपर्वों की भाँति। स्वयम्भू को मनोमय माना जायगा, सूर्य्य को प्राणमय कहा जायगा *, एवं पृथिवी को वाङ्मयी कहा जायगा। अतएव तीनों पर्वों को क्रमशः ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिमय माना जायगा। एवं इसीलिए मनोमय-ज्ञानशक्ति लक्षण स्वयम्भू को महाकाली से समन्वित माना जायगा, प्राणमय-क्रियाशक्ति-लक्षण सूर्य्य को महासरस्वती से युक्त माना जायगा। एवं वाङ्मय अर्थशक्तिलक्षण पार्थिवविवर्त्त को महालक्ष्मी से अनुप्राणित कहा जायगा। यों अमृत-मर्त्य-समष्टिरूप-त्रिपर्वा विश्व के तीनों पर्वों को क्रमशः त्रिशक्तिसमन्वित कहा जायगा। संयतीत्रैलोक्याधिष्ठाता स्वयम्भू, क्रन्दसीत्रैलोक्याधिष्ठाता सूर्य्य, एवं रोदसीत्रैलोक्याधिष्ठाता पार्थिवाग्नि, तीनों के समन्वय से कृतशरीरी महाविश्व इन्हीं त्रैलोक्यशक्तियों से सञ्चालित है।

८०-शक्तित्रयानुगता-शक्तिद्वयगर्भिता-महालक्ष्मी, एवं तत्प्रधान-मनोनिबन्धन-दीपावलीपर्व का संस्मरण, तथा तन्मूलक-'मनसा-वाचमक्रत' का समन्वय—

प्रस्तुत दीपावलीपर्व से अनुप्राणिता महालक्ष्मी का सांस्कृतिक-आयोजनात्मक लोकपक्ष तथाकथित तीनों महाशक्तियों में से मनोऽनुगता-[चान्द्रसोमानुगता], पार्थिवी-वाङ्मयी-महालक्ष्मी से ही प्रधान-रूपेण सम्बद्ध है। इसी सम्बन्धसूत्र के स्पष्टीकरण के लिए आरम्भ से अबतक के सन्दर्भ के द्वारा शिवशक्ति-स्वरूपानुबन्धी विभिन्न विवर्तों का दिग्दर्शन ही करा देना पड़ा है। समुद्रवसना, पर्वतस्तनमण्डला, विष्णुपत्नी [यज्ञपत्नी] पार्थिवी, चान्द्रमनोमयी-वाङ्मयी गाता लक्ष्मी के प्राकृतिक-नैदानिक-स्वरूप के पूजनार्च्चन-यशोवर्णन से सम्बन्ध रखने वाले महान् सांस्कृतिक-दीपावली-नामक-महालक्ष्मीपर्व की यही मूलप्रस्तावना है, जिसे आधार मानकर ही इस पर्व के लोकपक्ष का संक्षेप से दिग्दर्शन करा देना है। **'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत'** इत्यादि माङ्गलिक-संस्मरणमात्र से अनुप्राणित 'मनसा' शब्द चान्द्रसोमभाव का, तथा 'वाचम्' शब्द पार्थिवलक्ष्मी-भाव का सूचक बना हुआ है। इन्हीं सब अनुगम-भावों के कारण **'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत०** इत्यादि मन्त्र को हमने महालक्ष्मीसंस्मरणात्मक दीपावलीपर्व का माङ्गलिक-उपक्रम मान लिया है।

८१--ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिप्रधान विश्व के स्वयम्भू-सूर्य्य-पृथिवी--नामक तीन महिमा-विवर्त्त, तदनुगत ब्रह्म-क्षत्र-विट्-वीर्य्य, एवं तत्स्वरूपसंरक्षिका महाकाली-महासरस्वती महाकाली-रूपा तीन शक्तियाँ--

समष्ट्यात्मक विश्व के स्वयम्भू-सूर्य्य-पृथिवी, नामक ज्ञान-क्रिया-अर्थप्रधान पर्व ही क्रमशः ब्रह्म-क्षत्र-विट्-भावों के प्रवर्त्तक माने गए हैं, जो तीनों प्रकृतिसिद्ध वीर्य्य ही ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-वर्णों की अन्तर्य्यामप्रतिष्ठा बने रहते हैं। महाकालीप्रधाना महासरस्वती स्वायम्भुवी ज्ञानशक्ति है, यही ब्राह्मणवर्णा-

---

* **प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः** —प्रश्नोपनिषत्

धिष्ठात्री है। ब्रह्मवीर्य्य के द्वारा महासरस्वतीप्रधाना महाकाली सौरी क्रियाशक्ति है, पौरुषशक्ति है, यही क्षत्रियवर्ण की अधिष्ठात्री है क्षत्रवीर्य्य के द्वारा। एवं महाकालीरूपा ज्ञानशक्ति, महासरस्वतीरूपा क्रिया-शक्ति, दोनों सूक्ष्मशक्तियों के आधार पर व्यक्त होने वाली [तद्गर्भितैव] महालक्ष्मी-पार्थिवी-अर्थशक्ति है, यही वैश्यवर्ण की मूलाधिष्ठात्री है विड्वीर्य्य के द्वारा।

८२-पार्थिवपुष्टिसमन्वित मनःप्रधान वैश्यवर्ण, एवं तदनुगता अर्थशक्ति, तथा तत्प्रधान 'दीपावली' नामक राष्ट्रीय पर्व—

इसी दृष्टि से इस दीपावली पर्व को-'**मनसा वाचमक्रमत**' रूपेण मनस्तन्त्रप्रधान-अर्थशक्तिसंग्राहक [न तु उपयोगकर्त्ता] मात्र वैश्यवर्ण से अनुप्राणित मान लिया गया है, जो वर्त्तमानयुग का दीपावलीपर्व अपने आपको अर्थप्राधान्यवाद से अपनी प्राणप्रतिष्ठारूपा ब्रह्मक्षत्रसमन्विता [ज्ञान-पौरुष--भावात्मिका-महाकाली-महासरस्वती-रूपों को विस्मृत करता हुआ 'दीवाली' [दीवाला-लक्ष्मीविहीनता] रूप में हीं परिणत करता जारहा है। सचमुच आज का राष्ट्र दीपावलीपर्व का आयोजन कर अपनी ज्ञान-पौरुषशून्यता-अर्थैषणा के व्यामोहन से 'दीवाली' का ही आयोजनभक्त बनता जा रहा है। महाकाली-महासरस्वतीरूपा-ज्ञानपौरुषशक्तियों से समन्वित होकर राष्ट्र की वर्त्तमाना 'दीवाली' 'दीपावली' रूप में परिणत होती हुई राष्ट्र--लक्ष्मी को स्थिरत्त्व प्रदान करे, इसी मङ्गलभावना से दीपावलीपर्व का लोकपक्षात्मक आयोजनस्वरूप सांस्कृतिक-आयोजनपरायणा आस्था-श्रद्धाशीला प्रजा के सम्मुख प्रणतभाव से उपस्थित हो रहा है, जिस एवंविधा श्रद्धा--आस्थापरायणा श्रद्धेया राष्ट्रप्रजा की मङ्ग मयी वाणी का इन शब्दों में राष्ट्रऋषि ने यशोगान किया है कि—

अत्रा सखाया:--सख्यानि जानते--
"भद्रै षां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि"

८३-महालक्ष्मी के आगमानुगत स्वरूप का उपक्रम, एवं आगमीय ध्यानमन्त्र—

'**सक्तु मिव तितउना पुनन्त:**८' इत्यादि मन्त्र को आधार बना कर मनः-प्राण-गर्भिता वाङ्मयी लोकलक्ष्मी के अनेक विवर्त्तों का नैगमिकस्वरूप विज्ञ पाठकों के सम्मुख रखने की चेष्टा की गई। अब शेष रह जाता है महालक्ष्मी का आगमिक-स्वरूप, जिसका औपासनिक रहस्यपूर्ण स्वरूप तो रहस्यपूर्ण-आगमाम्नाय में हीं सुरक्षित-सुगुप्त है, जिसके आंशिकबोध से भी यह जड़प्रज्ञा अपरिचित है। रही बात इसी के लोकायो-जनात्मक-आगमीय स्वरूप की, सो तत्सम्बन्ध में तो सभी को अपने भावनाप्रसूनार्पण का समानाधिकार प्राप्त हैं। इसी सामान्याधिकारक्षेत्र से महालक्ष्मी के उस आगमिक ध्यानमात्र का संस्मरणमात्र कर लिया जाता है, जो पूर्व के विजयदशमीपर्व-प्रकरण में भी सन्निविष्ट है।

माणिक्यप्रतिमप्रभां हिमनिभैस्तुङ्गै श्चतुर्भिर्गजै—
र्हस्तग्राहितरत्नकुम्भसलिलैराषिच्यमानां सदा ॥
हस्ताब्जैर्वरदानमम्बुजयुगाऽभीतीर्दधानां हरेः—
कान्तां, काङ्क्षितपारिजाततिलकां वन्दे ! सरोजासनाम् ॥१॥

कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै—
हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैराषिच्यमानां श्रियम् ॥
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः, किरीटोज्ज्वलां—
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बललितां वन्देरविन्दस्थिताम् ॥२॥

८४–ध्यानमन्त्रों का अक्षरार्थसमन्वय—

"सौर हिरण्मय मण्डलानुगति से जिसके बाह्य–लोकात्मक- भौतिक शरीर की कान्ति सुवर्णसदृशा है, दिक्पालरूप ऐरावतादि चार श्वेतगजों के शुण्डादण्डों से परिगृहीत सोमरसामृत से परिपूर्ण अमृतघटजलों से जिसका निरन्तर अभिषेक होता रहता है, वरमुद्रा, कमलद्वय, अभयमुद्रा, आदि जिसके नैदानिक आयुध हैं, सप्तवर्णात्मक, अतएव श्वेतवर्णात्मक सूर्य्यबिम्बलक्षण ज्योतिःपुञ्ज, तथा चान्द्रज्योतिःपुञ्ज जिसके उज्जल किरीट हैं, सौर हिरण्मयाभरूप 'पीतपट' ही जिसका मसृण परिधान है, (अतएव जो उपास्या भगवती उपासक भगवान् वासुदेव कृष्ण की भांति पीताम्बरा नाम से प्रसिद्ध हैं), कमलासनरूप भूपद्म पर विराजमाना ऐसी पार्थिवत्रैलोक्यव्याप्ता वाङ्मयी महालक्ष्मी को हम प्रणतभाव से (दण्डवत्–मुद्रा से) प्रणामाञ्जलि ही समर्पित कर रहे हैं"—इत्यक्षरार्थक उक्त ध्यानमन्त्र के नैदानिक-भावों का समन्वय यद्यपि पूर्वप्रकरण के दशमहाविद्या–परिच्छेदों में यत्रतत्र किया जाचुका है। तथापि प्रसङ्गसमन्वयदृष्ट्या दो शब्द तत्सम्बन्ध में अत्रापि सापेक्ष बन रहे हैं।

८५–आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र, एवं तदनुगत प्रतिद्वन्द्वी दैव, तथा आसुरभाव—

भृग्वङ्गिरोधारामय, आपोमय पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र में ही आङ्गिरसी सरस्वती, तथा भार्गवी-आम्भृणी नाम से प्रसिद्धा लक्ष्मी का आविर्भाव माना है निगमागमाचार्य्योंनें । इस आपोमय पारमेष्ठ्य-मण्डल में **आसुर**, और **दैव**, दोनों प्रतिद्वन्द्वीभाव भी समाविष्ट माने गए हैं। विशुद्ध आपोमय मण्डल **आसुरमण्डल** है, जिसके अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) माने गए हैं **'वरुणदेवता'** । तमःप्रधान–आप्य–प्राण ही असुर है, तदुक्थरूप आप्य–मूलप्राण ही वरुण है। तदनुगामी वारुणरस ही तो समुद्रमन्थनानुगता **वारुणी**–कहलाई है। एवं ठीक इस से विरुद्धधर्म्मा सौरमण्डलानुगत, अतएव तेजोमय, ज्योतिर्म्मय आप्यमण्डल ही देवमण्डल है, जिसके द्वारा ऐरावत का आविर्भाव प्रतिपादित है पुराण में। जोकि ऐरावत इन्द्रवाहन मान लिया गया है। ज्योतिर्म्मय-सौरभावानुगत यही पारमेष्ठ्य मण्डल **दैवमण्डल** है, जिसके अतिष्ठावा माने गए हैं **इन्द्रदेवता**।

८६–देवघन हिरण्मय सूर्य्य, एवं हिरण्यतेजोमयी हिरण्यवर्णा काञ्चनकान्तिसन्निभा पद्मासना महालक्ष्मी के नैदानिक स्वरूप का समन्वय—

सौरतत्त्व से समन्वित, देवभावमय, पारमेष्ठ्य तत्त्व का ही नाम (अङ्गिरागर्भिता भृगुधारा का ही नाम) आम्भृणीवाक् है, जिसका आपोमयी पृथिवी से अनुप्राणिता लोकलक्ष्मीरूप से व्यक्तीभाव हुआ है। इसी सौर-ज्योतिर्म्मय देवप्राणानुगत–इन्द्रसम्बन्ध से **'काञ्चनसन्निभा'** को इसका नैदानिक स्वरूप मान लिया गया है । इसी इन्द्रगण के सम्बन्ध से दीपावली–महोत्सव में इन्द्रपूजन भी विहित है–(विहित था उन युगों में, जब कि

माता लक्ष्मी अपने आत्म-देवानुगत-सांस्कृतिक-स्वरूप से समन्वित थीं। आज तो पूजन होता है उन खाता-बहियों का ही प्रधानरूप से, जो अलक्ष्मीप्रवर्त्तक कल्पित-मायाचारों के ही अनन्य साधक प्रमाणित हो रहे हैं। **'हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्'** इत्यादि के अनुसार सौरदेवप्राण हिरण्य तेजोमय है अपने बाह्य-भूतभाव से। अतएव तत्तेजोमयी पार्थिवी-सौरी लक्ष्मी भी **'हिरण्यमयी'** ही कहलाई है।

८७–महालक्ष्मी कमला, तत्प्रतिद्वन्द्विनी महालक्ष्मी धूमावती, तथा दोनों के नाक्षत्रिक-रोहिणी--ज्येष्ठा--विवर्त्तों का समन्वय, एवं कमलानुगता सुखरात्रि, और धूमावत्यनुगता दारुणरात्रि—

अर्णवसमुद्र में निवास करने वाले सदाशिव-विष्णु की अर्द्धाङ्गिनी दशमी महाविद्या का नाम ही 'कमला' है, जो विश्वपर्वों में अन्तिमपर्व--स्थानीय पार्थिव-विवर्त्त से समन्विता होती हुई **'अन्तिम-महाविद्या'** मान ली गई है आगमशास्त्र में। क्षत--विक्षताङ्गी-विभिन्न-रुक्ष-वर्णात्मिका-चञ्चला-दुष्टप्रकृतिरूपा-लम्ब-लम्बायमाना-मलिन-जीर्ण-वस्त्रकन्थाधारिणी-रुक्ष-विकीर्ण-विमुक्तकेशान्विता-पुरुषवञ्चिता-विधवा-सच्छिद्र-विभक्त दन्तयुता-विनष्टाश्व-भग्न-काकध्वजयुक्त-रथारूढा-विलम्बितपयोधरा-शूर्प (छाजला) हस्तयुक्ता-अत्यन्त ही कर्कशा-विकम्पितहस्ता-स्थूलतम नासायुक्ता-अत्यन्त कुटिल-क्रूरदृष्टि--परायणा--बुभुक्षा--पिपासा से सदैव आतुरा-प्रचण्ड भयोत्पादिनी-सम्पूर्ण कलहों की मूलाधिष्ठात्री, किन्तु अपने उपास्य आश्रितों के लिए इत्थंभूतापि अभीप्सित वरप्रदान-निपुणा-सप्तमी महाविद्या माता धूमावती भगवती की कनिष्ठा भगिनी ही 'कमला' नामकी दशमी महाविद्या है। खगोलीय नक्षत्रों में **'रोहिणी'** नक्षत्र कमलाशक्ति का प्रतीक है, तो रोहिणीनक्षत्र से षड्भान्तर पर स्थित, वृश्चिक राशि में भुक्त अवरोहिणीरूप **ज्येष्ठा** * नक्षत्र धूमावती का प्रतीक माना गया है। धूमावती आसुरप्राण-समन्विता है, तो कमला दैवप्राणान्विता है। आसुरप्राण-**'जघान नवतीर्नव'** रूपेण अपने महिमारूपों से ९९ संख्याओं में विभक्त है, तो देवप्राण **'त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वे देवाः'** के अनुसार ३३ वर्गों, कोटियों-विभागों में हीं विभक्त है। देवताओं की ३३ कोटियाँ प्रसिद्ध हैं, तो असुरों की ९९ कोटियाँ (त्रिगुणित कोटियाँ) प्रसिद्ध हैं ऋग्वेद में। इस त्रिगुणित भावानुबन्ध से, तथा आपोमय वारुणभाव के प्राथम्य से असुर स्वयम्भू प्रजापति के ज्येष्ठ पुत्र कहलाए हैं, एवं सौरमण्डल में व्यक्त होने वाले इन्द्रप्रधान देवदेवता तदपेक्षया कनिष्ठ पुत्र माने गए हैं। अतएव देवप्राणप्रधाना शकटाकारा-रोहिणी को **'कनिष्ठा'** मान लिया गया है, एवं आसुरप्राणप्रधाना अवरोहिणी को-**'ज्येष्ठा'** मान लिया गया है। कनिष्ठा रोहिणी ही आकाशमण्डलीया-नाक्षत्रिक-लक्ष्मी है, जिस की सविताप्रधान-अर्द्ध दैवाकाश में प्रधानता मानी गई है। ज्येष्ठा अवरोहिणी आकाशमण्डलीया-नाक्षत्रिक-अलक्ष्मी है, जिस की वरुणप्रधान अर्द्ध आसुराकाश में प्रधानता मानी गई है। अतएव रोहिणीनक्षत्र का दर्शन जहाँ माङ्गलिक माना गया है, वहाँ ज्येष्ठानक्षत्र का दर्शन अमाङ्गलिक माना गया है। अतएव मनस्तन्त्रानुगता भावुकता के संरक्षक,

---

***–क्षुत्–पिपासा–मलं–ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्।**
अभूतिमसमृद्धिश्च सर्वं निर्णुदये पाप्मानम्॥
—तै० आ० १०।६६

मान्यतात्मक ज्यौतिषशास्त्र के फलितांश ने रोहिणीनक्षत्रानुगत जन्म को जहाँ माङ्गलिक माना है, वहाँ ज्येष्ठानक्षत्रप्रसूति को अमङ्गलमयी घोषित किया है। रात्रिविद्यापेक्षया कमलातत्त्व का **'सुखरात्रि'** से सम्बन्ध है, एवं धूमावती का **'दारुणरात्रि'** से सम्बन्ध है।

८८-विश्वलक्ष्मीरूपा कमला, तथा विश्व-अलक्ष्मीरूपा धूमावती के विभिन्न स्वरूपों का पार्थिवजगत् में साक्षात्कार—

रोहिणीनक्षत्रानुप्राणिता कमला जहाँ सृष्टिस्वरूपसंरक्षिका है, वहाँ अवरोहिणीनक्षत्रानुप्राणिता धूमावती सृष्टिस्वरूपविध्वंसिनी है। भोगैश्वर्य्य, सुख-सम्पत्ति, ऋद्धि-वृद्धि, जीवनीयरसानुगत उर्वरभूप्रदेश, पुष्पफल-सम्पन्न ओषधि-वनस्पतिवर्ग, सुमति, आदि जहाँ कमला के अनुग्रह हैं, वहाँ भोगशक्तिहीनता, अस्मितालक्षण अनैश्वर्य्य, दुःख-विपत्ति,-ह्रास-क्षय, जीवनीयतत्त्वविहीन-निष्प्राण ऊसर भूप्रदेश, फलपुष्पपत्रविहीन रुक्ष स्थाणुरूप वृक्षादि, कुमति, आदि धूमावती के उद्बोधनात्मक निग्रह हैं। पुरुषसमन्विता माता प्रकृति से नित्यसमन्विता माता धरित्री सर्वविध भोगैश्वर्य्य-परिग्रहों से सहजरूपेणैव समन्विता बनती हुई-**'वसुन्धरा'** नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु देखते हैं, देख रहें हैं कि, वर्त्तमानयुग का प्रकृतिवादी मानव इन प्राकृतिक भोगैश्वर्य्यों से वञ्चित रहता हुआ सभी क्षेत्रों में अपने आपको, परिवार को, समाज को, एवं सर्वोपरि आज तो सम्पूर्ण राष्ट्र को ही दीन-हीन-दरिद्री-अभावग्रहग्रस्त-घोषित करता हुआ-**'हाय रोटी, हाय कपड़ा, हाय मकान'** के करुणक्रन्दन से ही इतस्ततः दन्द्रम्यमाण है। क्यों ?, का उत्तर यही धूमावती है, जो लोककमला (लोकलक्ष्मी) का ही रूपान्तर माना गया है। जिस निर्ऋतिलक्षणा, घोरघोरतमा महापाप्मा-महाशना-धूमावती के रुद्र, यम, वरुण, आदि प्राण सहयोगी माने गए है वेदशास्त्र में। **'घोरा वै पाप्मा निर्ऋतिः'** (शत० ७।२।·····।११।) से उपवर्णिता निर्ऋति ही आगमशास्त्र की वह धूमावती है, जो सर्वैश्वर्य्यों की विद्यमानता में भी मानव को सर्वाभावग्रहग्रस्त बनाए रखती है।

८९-आत्मबुद्धिसमन्विता श्रीः, मनःशरीरसमन्विता लक्ष्मीः, दोनों के समन्वय से भाग्यलक्ष्मी की पूर्णता, एवं श्रीविहीना लक्ष्मी से भाग्यश्री का क्रमिक-अभिभव—

लोकलक्ष्मीरूपा, ऐश्वर्य्यलक्षणा कमला जब अपनी आत्मप्रतिष्ठारूपा 'श्री' से वञ्चित करदी जाती है भूतासक्ति के द्वारा, तो यही लक्ष्मी अलक्ष्मी बन जाती है। यों कमला ही आत्मश्री से पराङ्मुख बन कर धूमावती बन जाती है, कनिष्ठा ही ज्येष्ठा बन जाती है, दशमी हीं सप्तमी बन जाती है। प्रसिद्ध है कि, धर्म्मानुगत धन जहाँ मानव को उत्तरोत्तर अभ्युदय की ओर लेजाता है, वहाँ वही धन धर्म्मप्रतिष्ठा से वञ्चित होकर, आज की विधानभाषानुसार धर्म्मनिरपेक्ष बन कर अधर्म्मसहचारी बनता हुआ मानव के प्रत्यवायात्मक पतन का ही कारण बन जाया करता है। **'तस्मादु प्राणाः श्रियः'** (शत० १।१।४।····) के अनुसार भूतलक्ष्मी की मूलप्रतिष्ठारूप 'प्राण' ही वह 'श्री' है, जिसे पूर्व में अव्यक्तभावात्मिका **'अमृतालक्ष्मी'** कहा गहा है। **आत्मबुद्ध्यनुगता भगचतुष्टयी से समन्विता अव्यक्ता प्राणसम्पत्ति ही जहाँ-'श्रीः' है, वहाँ मनःशरीरानुगता-व्यक्ता भूतसम्पत्ति ही 'लक्ष्मीः' है।** अव्यक्ता आत्मबुद्धिलक्षणा श्री से विहीना व्यक्ता मनःशरीरनिबन्धना लक्ष्मी कदापि भोग्य नहीं बन सकती। अपितु यह तो अलक्ष्मीरूप में परिणत होती हुई निरन्तर नवीन नवीन अभावों-समस्याओं का ही सर्जन करती रहती है।

९०–श्रीविहीना लक्ष्मी के अनुगामी वित्तलोलुप वैश्यों के निग्रहात्मक अनुग्रह से भारतराष्ट्रलक्ष्मी की पराङ्मुखता—

क्या आज के भारतराष्ट्र में भूतलक्ष्मी का अभाव हो गया ?। नहीं। क्या लक्ष्मी के सञ्चयकर्त्ता भलन्दनवंशावतंस वैश्यमहाभाग भूगर्भ में विलीन होगए ?, नहीं। फिर यह दारिद्र्य–अभाव–हीनता–दासता–अभावग्रहग्रस्तता क्यों ?। इसलिए कि–आज की राष्ट्रलक्ष्मी आत्मश्री से सर्वथा वञ्चित हो चुकी है, किंवा आत्मश्री को निरपेक्ष मान बैठी है। इतना ही नहीं, आज तो राष्ट्रलक्ष्मी आत्मदेवभावों से सर्वथा ही असंस्पृष्ट उन अश्रीक भावों के ही पदचिह्नों के अनुधावनार्थ व्यग्र हो पड़ी है, जिस अनात्मवादात्मक श्रीविहीन शून्यवाद ने ही निरन्तर तीन सहस्रवर्षों से राष्ट्रलक्ष्मी को आत्मश्री से पराङ्मुख प्रमाणित करते हुए इसे धूमावतीरूप में ही परिणत कर रक्खा है। इसीलिए तो आज के राष्ट्र का प्रचुर भूतलक्ष्मीसम्पन्न मानव भी अपने आपको अहर्निश अभावग्रहग्रस्तवत् ही अनुभूत कर रहा है, जबकि पुरातन आत्मदेवात्मक सांस्कृतिक–भारत में थोड़ी भूतलक्ष्मी (भूतपरिग्रह) से भी आत्मश्रीरूप आत्मैश्वर्य्यानुग्रह से मानव तुष्टि–तृप्ति–पथानुगामी बना रहता था। आत्मश्री से वञ्चिता श्रीविहीना लक्ष्मी कदापि मानव के ऐश्वर्य्यभोग का माध्यम तो नहीं ही बन सकती। हाँ, श्रीविहीना, अतएव अलक्ष्मीरूपा इस लक्ष्मी से मानव वैसे निन्द्य–हीन–आचरणों में अवश्य ही निमग्न हो सकता है, निश्चयेन हो ही जाता है, जो असदाचरण कालान्तर में इससे–'मानव' उपाधि भी छीन लिया करते हैं। निष्कर्षतः–श्रीविहीना अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी राष्ट्र के वर्त्तमान लक्ष्मीपुत्रों के ऐश्वर्य्यात्मक सदुपयोग में किस सीमापर्य्यन्त आ रही है ?, इस अनतिप्रश्नात्मक दुरधिगम्य अचिन्त्य प्रश्न का यथार्थ समाधान तो उन लक्ष्मीपुत्रों से ही प्राप्त करना चाहिए–इत्यालम्यालमेव।

९१–श्रीलक्ष्मी संसाधक स्वस्त्ययन–कर्म्मों की विस्मृति, तत्स्थाने च अस्वस्तिरूप कुलक्षणों का प्राचुर्य्य, एवं तद्दुष्परिणामस्वरूप राष्ट्र के ऐश्वर्य्य का विलयन—

महालक्ष्मी के तात्त्विक स्वरूपोपवर्णन के साथ साथ इसके सापेक्ष धूमावतीस्वरूप का ही यशोगान प्रसङ्गतः समन्वित हो पड़ा। अब लोकलक्ष्मी से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक वैसे स्वस्त्ययनभावों का संस्मरण कर लिया जाता है, जिनके अनुगमन से पार्थिवी लोकलक्ष्मी से राष्ट्रप्रजा समन्वित हो सकती है। **'स्वस्त्ययनकर्म्म'** भारतीय कर्म्मक्षेत्र का वह महत्त्वपूर्ण अंश है, जो दुर्भाग्यवश आज अन्यान्य आचार–पद्धतियों की भाँति न केवल उपेक्षणीय ही बन गया है, अपितु आलोच्य भी बनता जारहा है। सुधारवादी की सुधारासक्ति के दुराग्रह से राष्ट्र का महान् माङ्गलिक यह स्वस्त्ययनविभाग सर्वथा ही अन्तर्मुख बन गया है, एवं तत्स्थान में अस्वस्तिप्रवर्त्तक वैसे अकर्म्म–विकर्म्मभाव ही जागरूक हो पड़े हैं, जिनसे लक्ष्मीपरिग्रहों की विद्यमानता में भी राष्ट्र उत्तरोत्तर अलक्ष्मीक ही प्रमाणित होता जारहा है। मादृश जो प्राकृत प्राणी ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा शास्त्रीया आचारपद्धतियों के यथावत् अनुष्ठान–अनुगमन–में असमर्थ हैं, परमकारुणिक महर्षियोंनें ऐसे मादृश–लोकासक्त–प्राकृत–जीवों के लोकाभ्युदय के लिए ही सुसूक्ष्म–प्राणों के परोक्ष–समन्वय–माध्यम से जो सामान्य–जीवनीय–नियम निर्द्धारित किए हैं, उनसे विना शास्त्रीय आचारों के भी

हम यथाकथंवित्–स्वस्ति–शान्ति–तुष्टि–पुष्टि–पूर्वक जीवनयात्रा का अनुगमन कर सकते हैं। स्वस्तिपूर्वक–जीवन–गमन के साधन होने से ही यह कर्म्मविभाग **'स्वस्त्ययन'** * नाम से प्रसिद्ध हुआ है शास्त्र में।

९२-प्रजापति–ऋषि–पितर–देव–असुर–राक्षसादि से वन्दिता उपस्तुता सर्वैश्वर्य्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी का देवेन्द्र की प्रार्थना से भूतल पर आगमन, एवं तदनुग्रह से देवाधिपति इन्द्र की निरापदता---

"देवेन्द्र, नल, सुबल, केदार, नील, ध्रुव, उत्तानपाद, बलि, कश्यप, दक्ष, कर्दम, विवस्वान्मनु, प्रियव्रत, चन्द्रमा, कुबेर, वायु, यम, वह्नि, वरुण, आदि आदि यच्चयावत् नृपतियों, देवताओं. प्रजापतियों से पूजिता, वन्दिता, सर्वैश्वर्य्याधिष्ठात्री श्रीसमन्विता, अतएव 'श्री' रूपा, सर्वलोकभूतसम्पत्स्वरूपिणी वैकुण्ठवासिनी-गोलोकनिवासिनी-पारमेष्ठ्या महालक्ष्मी पार्थिवजगत् में कैसे क्यों प्रतिष्ठित होगई ?, इस प्रश्न का नारद, तथा श्रीनारायण की सम्वादभाषा में पुराण ने जो समाधान किया है, उसका निष्कर्षार्थ यही है कि, "एकबार भौमस्वर्गाध्यक्ष 'हरिवाहन' नामक देवेन्द्र ने तपस्वी दुर्वासा का अपमान कर दिया। यों ब्राह्मणापमान से देवेन्द्र का लक्ष्मी ने परित्याग कर दिया। स्वदेवमण्डलसहित अत्यन्त शोकनिमग्न देवेन्द्र प्रजापति ब्रह्मा को अग्रणी कर नारायणधाम-विष्णुलोक पहुँचे। अत्यन्त दैन्य–दारिद्र्यभाव से समन्वित देवगण की यह दीनदशा देख कर करुणावरुणालय नारायण ने लक्ष्मी से आग्रह किया कि, वे पुनः पृथिवीलोक जायँ, वहाँ पार्थिव–अर्णव–समुद्ररूप सिन्धु के यहाँ जन्म धारण करैं, एवं पार्थिव–वासवेन्द्र को पुनः अपने अनुग्रह से समन्वित करैं। फलस्वरूप वैकुण्ठवासिनी लक्ष्मी का पृथिवीतल पर पार्थिव समुद्र में अवतरण हुआ, देववर्ग ऐश्वर्य्य से समन्वित हुआ, एवं देवताओं नें पूजन–अर्चन–वन्दन से लक्ष्मी को प्रसन्न कर निरापदता प्राप्त की"। [देखिए–ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, प्रकृतिखण्ड ३५–३६ अध्याय]।

९३-वैकुण्ठनाथ-शेषशायी भगवान् विष्णु की प्रेरणा से भूतल पर समागता महा–लक्ष्मी के मनोभावों की अभिव्यक्ति, एवं तन्मूलक त्याज्य–स्थानों का महालक्ष्मी के द्वारा स्वरूपोद्घाटन–(लक्ष्मी के त्याज्यस्थानों की परिगणना)

जब यों विष्णुभगवान् से प्रेरित होकर सरस्वान्समुद्रवासिनी माता आम्भृणी लक्ष्मी लोकलक्ष्मीरूप से पार्थिवार्णवसमुद्र में अवतीर्ण हुई थीं, तो उसी समय इन्होंनें सन्धात्मक अपने ये मनोभाव व्यक्त कर दिए थे कि—(१)–जिस मानव के प्रति विद्याप्रदाता आचार्य्य, जन्मप्रदाता मातापितृयुग्म, सगोत्र–सोदक–सपिण्ड–बन्धु–बान्धव, अतिथि, एवं सापिण्ड्यसम्बन्धप्रवर्त्तक–संरक्षक–पार्वण–एकोद्दिष्ट–श्राद्धानुगत कुल–पितर–रुष्ट हो जायँगे, वैसे घर में मैं कदापि प्रवेश नहीं करूँगी। (२)–निरन्तर मिथ्या ही बोलते रहने वाले, अपनी कुत्सित काम–वासनाओं की पूर्त्ति के लिए दूसरों के सम्मुख सदा अभाव–परम्पराओं का करुण–क्रन्दन करते हुए माँगते ही रहने वाले, पुरुषार्थ से सर्वथा तटस्थ रहने वाले सत्त्वशून्य, शय्यारूढ बन कर भोजन–निमग्न बने रहने वाले, स्वार्थसाधनार्थ न्यायालयों में मिथ्यासाक्षी (झूँठी गवाही) देते रहने वाले, मित्र–

---

* नवखण्डात्मिका गीताभूमिका के–**'कर्म्मयोगपरीक्षा'** नामक तृतीय खण्ड में कतिपय–अहोरात्रीय-जीवनकर्म्मानुगत–स्वस्त्ययनकर्म्मों की परिगणना हुई है। प्रकृत में धूमावती से सम्बद्ध अस्वस्तिभाव, तथा कमला से अनुप्राणित कतिपय स्वस्तिभावों का ही स्मरण कर लिया जाता है।

परिजनादि के साथ विश्वासघात करने वाले, आश्रयदाताओं के प्रति कृतज्ञता के स्थान में कृतघ्न प्रमाणित होते रहने वाले, ऐसे हीनाचार के घर में कदापि प्रवेश नहीं करूँगी। (३)-काल्पनिक-चिन्ताओं से अहोरात्र चिन्तित, अनागत-काल्पनिक भयों से सदा भयग्रस्त, अपनी क्रोधावेशपूर्ण अभिनिविष्ट-वृत्तियों से उत्पन्न होते रहने वाले शत्रुओं से ग्रस्त, सुरापान-अगम्यागमन-अखाद्यखादन-ब्राह्मणापमान-धर्म्मनिन्दा-आदि आदि घोरघोर अतिपातकों से समन्वित, अपनी विलासलीलाओं की पूर्ति से ऋणग्रस्त, अपनी वैय्यक्तिक-गृध्नुता के कारण अत्यन्त ही कृपण, ऐसे नराधम के घर में भी मैं प्रवेश नहीं करूँगी।

(४)-जिस भावुक की पत्नी, तथा पुत्रवधु अरक्षिता-अतएव उन्मर्य्यादा-अतएव पुंश्चली बन जाती है, उस घर में मैं कदापि प्रवेश नहीं करती। जो व्यक्ति ऐसी पुंश्चली का अन्न खाता है, अवीरा* स्त्री का अन्न खाता है, पूषाप्राणप्रधान मानवों का अन्न खाता है, ऐसे मानवों का ही जो पौरोहित्य करता है, कदापि मैं उस घर में प्रवेश नहीं किया करती। (५)-जो व्यक्ति सदा ही उद्वेगकरी हीनवाणी बोलता रहता है, जो सदा ही कलहकर्म्मों में आविष्ट बना रहता है, जो साक्षात् कलिरूप में (पापवासनाओं) निनग्न रहता है, जो व्यक्ति सदा ही स्त्रीप्रधान बना रहता है, अर्थात् जो स्त्रियों के परामर्श से ही चलने में अभ्यस्त है, कदापि उसके घर में मैं प्रवेश नहीं किया करती। (६)-जिस घर में कभी भी भगवन्नाम नहीं सुनाई देता, जिस घर में कभी भग-वदाराधना-उपासना नहीं होती, जिस घर में कभी ईश्वरात्मा के जानने के सम्बन्ध में कोई औत्सुक्य-नहीं देखा जाता, जिस घर में ईश्वरात्मा का यशोवर्णन नहीं होता, ऐसे आत्महीन-अनीश्वरभावात्मक-नास्तिकतापूर्ण घर में मैं कदापि दृष्टिपात भी नहीं करती। (७)-जो व्यक्ति स्वार्थवश कन्याविक्रय करता है, दिव्यान्नों का विक्रय करता है, ज्ञात-अज्ञातरूपेण मानवों की हिंसा का निमित्त बनता रहता है, अन्यान्य प्राणियों की हिंसा किया करता है, नरकागारसमतुलित ऐसे घर में मैं कदापि प्रवेश नहीं करती। (८)-जो नराधम अपनी दी हुई, तथा दूसरों के द्वारा दी हुई ब्राह्मणवृत्ति (भूमि-गौ-धन-दानादि) का अपहरण कर लेता है, कदापि उस दानहर्त्ता के घर में मैं प्रवेश नहीं किया करती। (९)-जो व्यक्ति बिना सम्मान-दक्षिणा के ही अपने कर्म्म करा लेता है ऋत्विक्-ब्राह्मणों से, ऐसे पापात्मा-पुण्यहीन के घर में कदापि गमन नहीं करती। (१०)-माता, पिता, भार्य्या, गुरुपत्नी, गुरु, आश्रयहीना भगिनी, कन्या, आश्रयविहीन बन्धुवर्ग, आदि का अपनी घोरकृपणता के कारण वैभव रहते भी जो पालन-पोषण नहीं करता, अपितु इन सबको उत्पीड़ित करता हुआ जो कृपण धनसञ्चय के लिए ही आतुर बना रहता है, नरकागार ऐसे घरों में कदापि मैं दृष्टिपात भी नहीं करती। (११)-जो मन्दबुद्धि-मलविसर्गकाल में मूत्र-पुरीष पर दृष्टि डालता है, जो पैरों को पानी से धोकर आर्द्र बना कर सोता है, उसका मैं परित्याग कर देती हूँ। (१२)-जो व्यक्ति अपने गुप्ताङ्गों को आवरणरहित कर (नग्न रूप से) सोता है, जो सदा सोता ही रहता है, सन्ध्या वेलाओं में विशेषतः सोता रहता है, कर्म्मकाल में दिन में भी जो सोता ही रहता है, कदापि तत्र मेरा गमन सम्भव नहीं।

जो व्यक्ति मस्तक, एवं अन्याङ्गों पर तैलमर्द्दन करने के अनन्तर शौचक्रिया करता है, किंवा अन्य कोई नमनादि-पुण्यादि कार्य्य करता है, उसकी 'श्री' उच्छिन्न हो जाया करती है। नखों से तृणच्छेदन, नखों से पादाङ्गुष्ठादि से भूविलेखन, शरीर का, विशेषतः पैरों का मलयुक्त बने रहना, दन्त, वस्त्र, शय्या-आदि की

*-पतिपुत्रयुक्ता नारी जहाँ-'**वीरा**' (अरी वीरा-राजस्थान में, एवं अरी बीर-ब्रज में) कहलाई है, एवं 'पतिपुत्रविहीना नारी '**अवीरा**' कहलाई है। पति, और पुत्र ही नारी का लोकवीरत्व है।

मलिनता, रूक्ष–श्रीविहीन–उघाड़ा–मस्तक, दन्तद्वारा ग्रासकृन्तन आदि दोष कभी लक्ष्मी को स्थिर नहीं बनने देते। क्रोधावेश में, किंवा सहज दुष्टता के आवेश में आकर जो व्यक्ति किसी के सम्भावित दाम्पत्य (विवाह–सम्बन्ध) का, धर्म्मकार्य्य का अन्यान्य सत्कार्य्यों का विघात करता है, शास्त्रमन्त्रादि विद्याओं को अपनी जीविका का साधन बनाता है, ग्रामयाचक बना रहता है, अर्थलोलुपता से चिकित्साकर्म्म में आसक्त रहता है, दिवा–मैथुनानुगामी बना रहता है, अङ्गताडन करता रहता है, कदापि तत्र में निवास नहीं करती। [ब्रह्मवैवर्त्तपुराण-लक्ष्मीचरित नामक २३ वाँ अध्याय]।

कुचैलिनं–दन्तमलोपधारिणं–बह्वाशिनं–निष्ठुरवाक्यभाषिणम् ॥
सूर्य्योदये चास्तमये च शायिनं विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम् ॥
* नित्यं छेदस्तृणानां, धरणिविलखनं, पादयोरल्पमार्ष्टि—
दन्तानामल्यशौचं, वसनमलिनता, रूक्षता मूर्द्धजानाम् ॥
द्वे सन्ध्ये चापि निद्रा, विवसनशयनं, ग्रासहासातिरेकः—
स्वाङ्गे पीठे च वाद्यं निधनमुपनेयत् केशवस्यापि लक्ष्मीः ॥
मन्त्रैरयुक्तः, परदारसेवी, आचारहीनः, परसेवकश्च।
सङ्कीर्णचारी परिवादशीलस्तं निष्ठुरं दम्भमयं त्यजामि ॥
अजरजः-खररजस्तथा सम्मार्जनीरजः।
स्त्रीणां पादरजो राजन् ! शक्रादपि हरेत् श्रियम् ॥
तृण तोरे, नख लिखे भूमि, निज अङ्ग बजावे।
कौर काट के खाय, भोग कबहू नहिं लाये।
शीघ्र मुखारी करे, पाँव कर सूक्षम धोवे।
नगन वसन तन, खाट प्रात-सन्ध्या को सोवे।
रूख शिखा, मैला वसन, दिन मैथुन जे करहिं नर।
इन तेरह अवगुननतें, रहे न विद्या (श्री), लक्ष्मी राजघर ॥

---

* नित्यं छेदस्तृणानां भुवि नखलिखनं पादयोरल्पपूजा (पाठान्तर)

६५ मेरुपृष्ठ पर समासीन नारायण के प्रश्न करने पर महालक्ष्मी के द्वारा स्वनिवास-योग्य--(स्वस्त्ययनकर्म्मनिबन्धन--अतएव) महामाङ्गलिक स्व--ावास--निवास--स्थानों का स्वरूपविश्लेषण--(लक्ष्मी के संग्राह्य स्थानों की परिगणना)—

मेरुपृष्ठ पर सुखपूर्वक समासीना महालक्ष्मी से नारायण यह प्रश्न करते है कि–देवि ! वे ऐसे कौन से स्वस्तिकर्म्म है, जिनके अनुगमन से आप सद्गृहस्थों के घरों में निश्चलरूप से प्रतिष्ठित हो जातीं हैं ×। भगवान् के प्रश्न करने पर महालक्ष्मी उत्तर दे रही हैं कि—"जो घर लिपे पुते–स्वच्छ–श्वेत–निर्म्मल-रहते हैं, एवं जिस घर की गृहलक्ष्मी गृहिणी जहाँ विचारों से, आचार से, वस्त्रों से, परिग्रहों से सर्वात्मना सत्त्वगुणा-न्विता–शुक्ला–उज्ज्वला–कुशला–कलहरहिता–बनी रहती है, ऐसी सर्वगुण–कर्म्मसमृद्धा गृहिणी तथाविध जिस स्वच्छ घर में निवास करती है, जिस परिवार के व्यक्ति कलह से पृथक् रह कर सुमतिपूर्वक समन्वयबुद्धि से निवास करते हैं, हे नारायण ! वहीं मैं निवास करती हूँ । ऐसी गृहणी के कारण हीं जिस घर में गोधूम–यव–आदि धान्य सुवर्णकान्तिसम बने रहते हैं, तण्डुल (चाँवल) जहाँ रजतकान्तिसम बने रहते हैं, सभी अन्नपरिग्रह साफसुथरा किया हुआ–तुषरहित–यथास्थान–सुव्यवस्थित रहता है, निश्चयेन ऐसे व्यवस्थित घर में मैं निवास कर लेती हूँ *। एवमेव जिस घर का सद्गृहस्थ (गृहपति) मानवश्रेष्ठ अपने पारिवारिक व्यक्तियों के प्रति समानविभागशील बना रहता है (परिग्रहविभाजन में विषमता नहीं करता), सदा प्रिय--सत्य--मधुर--वाणी ही बोलता रहता है परिवार में, परिवार के, तथा जाति–समाज के कुलवृद्ध--समाजवृद्धों का श्रद्धापूर्वक परामर्श लेता हुआ वृद्धोपसेवी बना रहता है, स्वयं अपने वाङ्मय भौतिक शरीर से स्वच्छ--निर्म्मल बना रहता हुआ प्रियदर्शी प्रमाणित होता रहता है ÷, यथावसर बहुत कम बोलता है, दीर्घसूत्रता से पृथक् रहता हुआ सदा ही सोत्साह कर्म्म में संलग्न रहता है, निश्चयेन मैं वहाँ निवास कर लेती हूँ । जो मानव सहजरूप से ही धर्म्मा--चरणशील है, इन्द्रियों को वश में रखता है, विद्यासंस्कारद्वारा जो सहजरूप से ही विनयावनत है, कदापि जो दूसरों के परिताप का कारण नहीं बनता, जो अतिमानात्मक गर्व से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता है, जो मानवमात्र के प्रति अनुराग--[हितभावना] रखता है, निश्चयेन वहाँ मैं निवास कर लेती हूँ ।

नारायण ! मुझे वैसा मानव प्रिय है, जो मलविशोधनार्थ पर्य्याप्त स्नान करता है, शीघ्र भोजन कर लेता है, रागभावप्रवर्त्तक पुष्पादि के सान्निध्य पर भी जो उनके गन्धघ्राण में आसक्त नहीं होता, जो स्त्रियों

× मेरुपृष्ठे सुखासीनां लक्ष्मीं पृच्छति केशवः ।
केनोपायेन देवि ! त्वं नृणां भवसि निश्चला ॥

* शुक्लाः पारावता यत्र, गृहिणी यत्र चोज्ज्वलाः ॥
अकलहा वसतिर्यत्र, तत्र कृष्ण ! वसाम्यहम् ॥१॥
धान्यं सुवर्णसदृशं, तण्डुला रजतोपमाः ॥
अन्नं चैवातुषं यत्र, तत्र कृष्ण ! वसाम्यहम् ॥ २ ॥

÷ कृत्यकेशनखश्मश्रू शान्तो दान्तः शुचिव्रतः ।

को नग्नावस्था में नहीं देखता , त्याग, सत्य, शौच, श्रद्धा, आस्तिकता, आदि महान् गुण जिसमें विद्यमान रहते हैं, वहीं मैं निवास करती हूँ । देश-काल-पात्र-श्रद्धा-आदि की अनुरूपता से जो सञ्चित लक्ष्मी का पात्रों में त्याग (दान, और दत्त) करता रहता है, वही मानव मुझे विशेषरूप से प्रिय है । धात्रीवृक्ष (आमले के वृक्ष) में, गोमय (गोबर) में, आचारशुद्ध मानव में, कमलपुष्प में, श्वेतवस्त्र में मेरा सदा ही निवास रहता है । नारायण ! मैं पद्मकर्णिका में निवास करती हूँ (परमेष्ठी मेरा प्रधान आवासस्थान है), पारमेष्ठ्यसोम के प्रवर्ग्यरूप सौम्य चन्द्रमा में मेरा निवास है, सोमयुक्त सौर महेश्वर में मेरा निवास है, पारमेष्ठ्य विष्णु में मेरा निवास है, यज्ञपत्नीरूपा पृथिवी में मेरा निवास है, और निवास है मेरा वहाँ, जहाँ-जिन घरों में नित्य ही उत्सव-मङ्गलाचार होते रहते हैं । मैं उस साध्वी नारी के शरीर में निवास करती हूँ, जो कदापि पति की मर्य्यादाओं का अतिक्रमण नहीं करती, जो सदा अपनी गृहस्थ-स्थिति से सन्तुष्ट रहती है, प्रत्येक आपत्ति को धीरतापूर्वक सह लेती है, सदा ही मधुरभाषण करती रहती है, जो सौभाग्यवती है, शोभन-मन्दस्मित-मुद्राओं से नित्य युक्ता है, जो लावण्यधर्म्म से समन्विता है, अतएव जो प्रियदर्शना है । ऐसी सर्वगुणसम्पन्ना पतिपरायणा नारियों में हीं मैं प्रधानरूपेण निवास करती हूँ । नारायण ! जो नारी पापकर्म्मों में रुचि रखती है, अत्यन्त ही क्रूरस्वभावा है, **जो अपने पति को नियन्त्रण में रखना हीं अपना महान् कौशल मानती है,** अतएव जो उन्मर्य्याद बन कर हीनचरित्रशीला बनी रहती है, ऐसी प्रेतमुखी पिशाचिनी नारी का तो मैं सर्वथा ही परित्याग कर देती हूँ ÷ । निष्कर्षतः-सद्गृहिणी, एवं सद्गृहस्थ से युक्त परिवारों में हीं लक्ष्मी का निवास रहा करता है । दाम्पत्य का सहज-धार्मिक-आचारात्मक-आश्रमजीवन हीं लोकलक्ष्मी की प्रतिष्ठा बना करता है । ऐसे परिवारों की समष्टिरूप समाज ही पुण्यलक्ष्मीक बना करते हैं । ऐसे समाजों की समष्टिरूप राष्ट्र ही राष्ट्रलक्ष्मी के स्थायी निकेतन बना करते हैं । जिस राष्ट्र की नारी, और नर उन्मर्य्याद बन कर पूर्वोक्त अस्वस्तिभावप्रवर्त्तक अलक्षणात्मक कुलक्षणों-हीनाचारों-अधर्म्माचरणों को लक्ष्य बना लेते हैं, उस राष्ट्र की दाम्पत्यव्यवस्था ही सर्वप्रथम श्रीविहीना बन जाती है । श्रीविहीन दाम्पत्य परिवारों को श्रीविहीन कर देते हैं । श्रीविहीन परिवार कुलरूप समाजों की श्री का अपहरण कर लेते हैं । एवं ऐसे अकुलात्मक-श्रीविहीन कुलों से कालान्तर में राष्ट्र ही श्रीविहीन बन जाता है । लक्ष्मीरूप भूतपरिग्रहों की विद्यमानता में भी तथोक्त अस्वस्तिभावों से लक्ष्मी श्रीविहीना बन कर अलक्ष्मी-धूमावती-रूप में परिणत हो जाती है, जबकि लक्ष्मीरूप-भूतपरिग्रहों की अल्पता में भी तथोक्त स्वस्त्ययनकर्म्मों से लक्ष्मी की वृद्धि हो जाया करती है, सुसमृद्धा लक्ष्मी इसी स्वस्ति-श्री-भाव से स्थिरा-निश्चला-ऐश्वर्य्यभावानुगता बन जाती है अपने सहचारी कुबेर-इन्द्र-अग्नि-आदि प्राणदेवताओं के साहचर्य्य से, इति नु प्रासङ्गिकम् ।

एवं यः कुरुते नित्यं मयोक्तानि च केशव ! ।
तुष्टा भवामि तस्याहं त्वय्येषा निश्चला यथा ।।

—स्कन्दपुराणान्तर्गते-लक्ष्मीकेशवसंवादे लक्ष्मीचरित्रम्

÷-या पापरक्ता-पिशुनस्वभावा--स्वाधीनकान्ता-परिभूयते च ।
अधर्म्मकामा, कुचरित्रशीला, तामङ्गनां प्रेतमुखीं त्यजामि ।।

९६- महाभारतीय प्रसङ्ग, एवं तद्द्वारा लक्ष्मी के त्याज्य, तथा संग्राह्य स्थलों की पावन-गाथा—

धर्म्मराज युधिष्ठिर शरशय्यासीन महात्मा भीष्म से प्रश्न करते हैं कि,

कीदृशे पुरुषे तात ! स्त्रीषु वा भरतर्षभ !
श्रीः पद्मा वसते नित्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ! ॥ १ ॥

अर्थात् "किंलक्षण पुरुष, तथा स्त्री में श्रीरूपा पद्मा (सरस्वती-समन्विता-लक्ष्मी) निवास करती है ?, अनुग्रह कर मेरी यह जिज्ञासा शान्त कीजिए"। महात्मा भीष्म इस प्रश्न का समाधान भगवान् कृष्ण, तथा जगन्माता रुक्मिणी के संवादरूप से व्यक्त करते हुए कहने लगे कि—

अत्र ते वर्णयिष्यामि यथावृत्तं यथाश्रुतम् ।
रुक्मिणी-देवकीपुत्रसन्निधौ पर्य्यपृच्छत ॥ २ ॥
नारायणस्याङ्कगतां ज्वलन्तीं दृष्ट्वा श्रियं पद्मसमानवर्णाम् ॥
कौतूहलाद्विस्मितचारुनेत्रा पप्रच्छ माता मकरध्वजस्य ॥ ३ ॥
कानीह भूतान्युपसेवसे त्वं, सन्तिष्ठसे कानिव सेवसे त्वम् ।
तानि त्रिलोकेश्वरभूतकान्ते ! तत्त्वेन मे ब्रूहि महर्षिकल्पे ! ॥४॥

भीष्म कहते हैं कि-युधिष्ठिर ! किसी समय प्रद्युम्नमाता जगन्माता रुक्मिणी ने भगवान् नारायण के वक्षस्थल से समालिङ्गिता, अपने प्रचण्ड-प्रखर-ज्योतिर्भाव से तम को जलाती हुई ही मानो ऐसी नारायणाङ्कगता पद्मकान्तिसमतुलिता श्री को लक्ष्य बना कर यही प्रश्न किया था। श्री को इसप्रकार नारायणाङ्क में समालिङ्गित देखने से आश्चर्यविमुग्धनेत्रा बन जाने वाली जगन्माता रुक्मिणी ने स्वयं श्रीरूपा लक्ष्मी से ही यह जिज्ञासा व्यक्त की थी कि (३) ॥—हे लक्ष्मी ! आप किन किन भूतों-प्राणियों-सत्त्वभावों के लिए अनुग्रह करतीं हैं ?, किन में स्थिररूप से प्रतिष्ठित होती हैं ?, एवं किन पर आपका सामान्य अनुग्रह होता है ?। हे महालक्ष्मी ! पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य्य-रूप त्रैलोक्य के अधिष्ठाता भगवान् पारमेष्ठ्य विष्णु की 'कान्ता' जैसे पद पर समासीना, तथा स्वायम्भुव ऋषिप्राणात्मक यजुःप्राण के 'जू' रूप वाग्भाग से उत्पन्न आपोमय परमेष्ठी के ऋषिकल्प भृग्वङ्गिरोभाव से ऋषिकल्पा बनीं रहने वालीं ऐसी आप से मैं (श्रीरुक्मिणी) उन सत्त्वों का ही स्वरूप जानना चाहती हूँ, जिन पर आपका अनुग्रह होता रहता है (४) ॥

वसामि नित्यं सुभगे ! प्रगल्भे-दक्षे नरे-कर्म्मणि वर्त्तमाने ।
अक्रोधने देवपरे-कृतज्ञे-जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे ॥ ५ ॥

हे सुभगे ! सत्या-प्रिया-मधुरा-वाणी से लोकविमोहन करने वाले ऐसे वाग्मी-(प्रगल्भे) में, आलस्य रहित होकर कार्य्य में सफलता प्राप्त करने वाले दक्ष में, प्रकृतिभेदभिन्न-वर्णाश्रमाचारसिद्ध स्वकर्त्तव्य--कर्म्मनिष्ठ

में, प्राकृतिक सम-विषम घटनाओं से समुत्तेजित न हो पड़ने वाले सुशान्त में, देव–द्विज–गुरु–शास्त्र–पूज्य-जनों के प्रति सदैव आस्था–श्रद्धा रखने वाले, अपनी इन्द्रियों को ऐन्द्रियक विषयों की लोलुपता से पृथक् रखने वाले, सर्वोपरि महाप्राण–महासत्त्व–महानिष्ठ में, एवंविध पुरुषश्रेष्ठ में हीं मैं निवास करती हूँ । (५)—ठीक इसके विपरीत—

नाकर्म्मशीले पुरुषे वसामि, न नास्तिके, साङ्करिके, कृतघ्ने ।
न भिन्नवृत्ते, न नृशंसवर्णे, न चापि चौरे, न गुरुष्वसूये ॥ ६ ॥
ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः क्लिश्यन्ति कुप्यन्ति च यत्र तत्र ॥
न चैव तिष्ठामि तथाविधेषु नरेषु संगुप्तमनोरथेषु ॥ ७ ॥
यश्चात्मनि प्रार्थयते न किञ्चित्–यश्च स्वभावोपहतान्तरात्मा ।
तेष्वल्पसन्तोषपरेषु नित्यं नरेषु नाहं निवसामि सम्यक् ॥ ८ ॥

अर्थात्–जो मनुष्य कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा से पराङ्मुख बनते हुए अकर्म्मण्य–सालस बने रहते हैं, ऐसे कर्म्महीन * अकर्म्मण्य में मैं (लक्ष्मी) कदापि निवास नहीं करती । जो व्यक्ति कर्म्मठ तो है, किन्तु ईश्वर–देव–धर्म्म-आदि पर आस्था–श्रद्धा–नहीं रखते, ऐसे आत्मेश्वरदेवश्रद्धाविहीन कर्म्मठ भी नास्तिकों में मैं निवास नहीं करती । जो स्वयं-सङ्करदोष से समन्वित हैं, अर्थात् जो स्वैराचारपरायण–कामभावों से अज्ञात-कुलशील–गोत्र–वर्णादि से वर्णसङ्करभावाक्रान्त हैं, साथ ही स्वयमपि इस संकरदोष के ही अनुगामी बने रहते हुए अपने सङ्करसम्बन्धों से सङ्करप्रजा ही उत्पन्न करते रहते है ऐसी सङ्करप्रजा में भी मैं निवास नहीं करती। मैं वैसे कर्म्मठ–आस्तिक–शुद्धवर्णयुक्त मानव में भी निवास नहीं करती, जो उपकारी के उपकार को विस्मृत कर उसके प्रति अपकार करने में प्रवृत्त हो जाता है, जोकि ऐसा नराधम ही 'कृतघ्न' कहलाया है । मैं उस मनुष्य में भी निवास नहीं करती, जो क्षण–क्षण में अपने उद्देश्य, कर्म्मपद्धति बदलता रहता है । मैं उस में भी निवास नहीं करती–जो अपनी उद्दण्डताओं से परिवार का, एवं समाज का उत्पीडक बना रहता हुआ पदे पदे अपनी नृशंसता ही व्यक्त करता रहता है । मैं उस तस्करकर्म्मा नराधम चौरमानव में भी निवास नहीं करती, जो कर्त्तव्यकर्म्मात्मक–पौरुष–से पराङ्मुख बना रहता हुआ अपने मानसिक-शारीरिक–व्यासङ्गों को सफल बनाने की आतुरता से गुप्तरूपेण परसम्पत्ति के अपहरण को ही अपना महान् चातुर्य्य–कौशल मानता रहता है ÷ । वैसे नराधम में भी मैं निवास नहीं करती, जो सावित्रीमन्त्रप्रदाता आचार्य्य के प्रति, तथा विद्याप्रदाता आचार्य्य के प्रति द्रोह–ईर्ष्या–करने लग पड़ता है (६) ॥

और सुनो रुक्मिणीजी ! जो व्यक्ति शारीरिक बल से, मानसिक वीर्य्य से, तथा बौद्धिक पराक्रम से हीन बने रहते हुए, अनुकूलतावश–संघर्षों के साथ तस्करवृत्ति करते हुए प्रकृत्या विद्यमान भी बल-वीर्य्य–पराक्रमों से पराङ्मुख बने रहते हुए, अपने आपको सर्वत्र सभी पुरुषार्थ–कर्म्मों–क्षेत्रों में अपनी मानसिक दुर्बलता–

---

* राजस्थानीभाषा में ऐसे कर्म्मशून्य आलसी को ही **'करमफूटा'** कहा गया है ।

÷ सूक्ति प्रसिद्ध है कि—**'चोरों के भी क्या कभी चोबारे हुए हैं'** । अर्थात् कभी भी तस्करकर्म्मा सम्पत्ति का उपभोक्ता नहीं बन सकता स्वस्ति–शान्ति–समृद्धि–पूर्वक ।